Peer Reviewed Journal
ISSN 2454-2725

# जनकृति

अंक 72-73

अप्रैल-मई 2021 (सयुंक्त अंक)

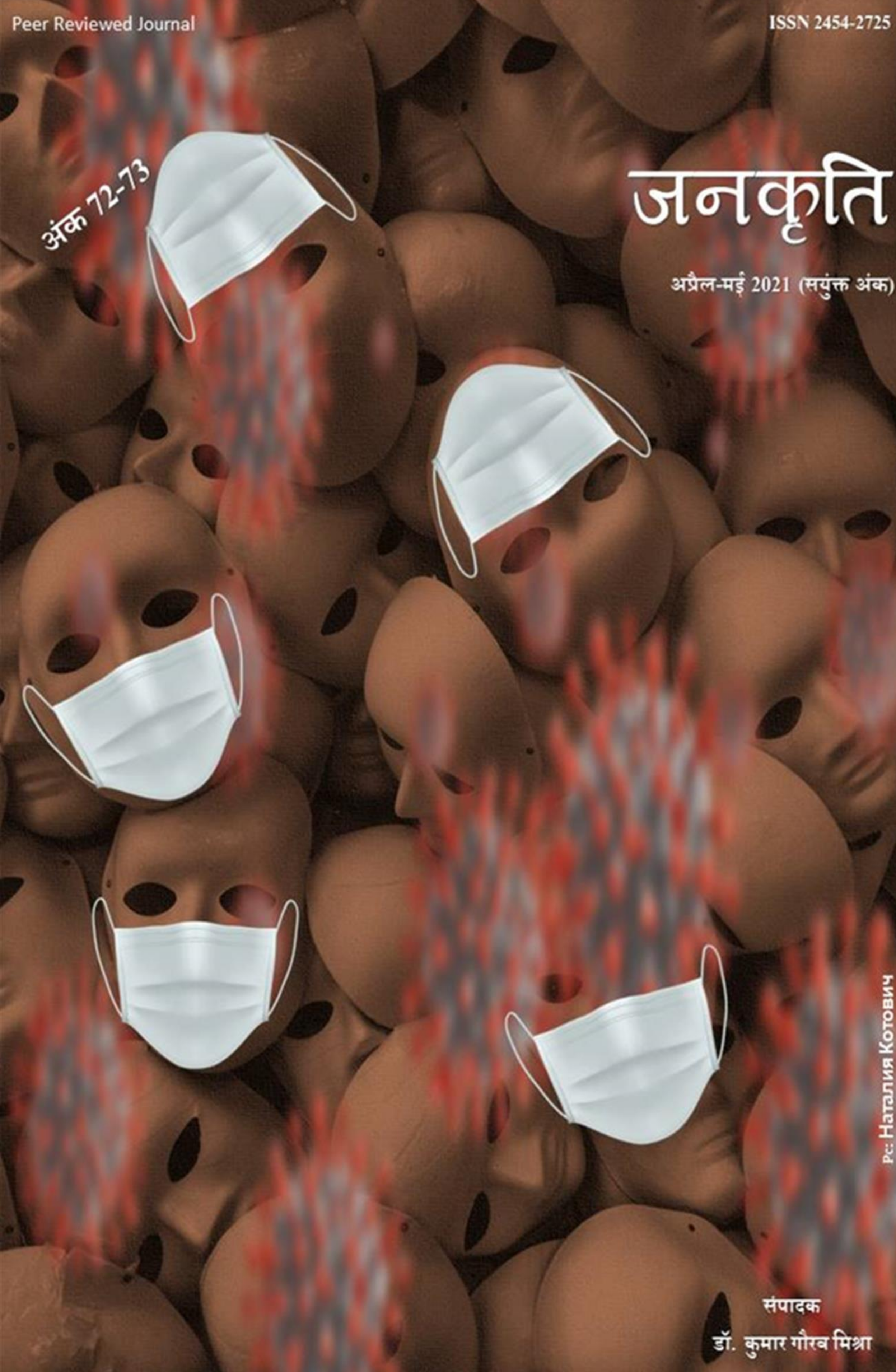

Pc: Наталия Котович

संपादक
डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

Volume 6, Issue 72-73, April-May 2021 ISSN: 2454-2725
(Peer-Reviewed) (विशेषज्ञ समीक्षित)

# JANKRITI जनकृति

Multidisciplinary International Magazin । बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका

अप्रैल-मई 2021(सयुंक्त अंक)

संपादकीय कार्यालय: फ्लैट जी-2, बागेश्वरी अपार्टमेंट,
आर्यापुरी, रातू रोड़, रांची, 834001, झारखंड, भारत
ईमेल: jankritipatrika@gmail.com
वेबसाईट: www.jankriti.com
संपर्क: 8805408656

इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए प्रकाशक से अनुमति आवश्यक है।

# जनकृति

बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका


## परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा (अमेरिका),
प्रो. सरन घई (कनाडा),
प्रो. राज हीरामन (मॉरीशस),
डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय (मुंबई)
प्रो. उदयनारायण सिंह (कोलकाता),
प्रो. चौथीराम यादव (उत्तर प्रदेश),
डॉ. हरीश नवल (दिल्ली),
डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली),
डॉ. प्रेम जन्मेजय (दिल्ली),
प्रो.जवरीमल पारख (दिल्ली),
प्रो. रामशरण जोशी (दिल्ली),
डॉ. दुर्गा प्रसाद अग्रवाल (राजस्थान),
डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा (दिल्ली),
प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (उज्जैन),
प्रो. कपिल कुमार (दिल्ली)
प्रो. जीतेंद्र कुमार (दिल्ली)

## अंतरराष्ट्रीय सदस्य

प्रो. अरुण प्रकाश मिश्रा (स्लोवेनिया)
डॉ. इंदु चंद्रा (फ़िजी)
डॉ. सोनिया तनेजा (स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी)
डॉ. अनिता कपूर (अमेरिका)
डॉ. शिप्रा शिल्पी (जर्मनी)
राकेश माथुर (लंदन)
रिद्मा (श्री लंका)
मीना चोपड़ा (कैनेडा)
पुर्णिमा वर्मन (शाहजहां)
पूजा अनिल (स्पेन)
सोहन राही (सुरे)

## संपादक

डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

## सहायक संपादक

डॉ. पुनीत बिसारिया

## संपादन मण्डल/विशेषज्ञ समिति

डॉ. नाम देव (दिल्ली)
डॉ. प्रज्ञा (दिल्ली)
डॉ. रचना सिंह (दिल्ली)
डॉ. रूपा सिंह (राजस्थान)
डॉ. पल्लवी (असम)
डॉ. मोहसिन खान (मुंबई)
डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा (मिजोरम)
डॉ. प्रवीण कुमार (मध्य प्रदेश)
डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय (दिल्ली)
डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी (राजस्थान)
डॉ. ज्ञान प्रकाश (बिहार)
डॉ. शैलेंद्र कुमार शुक्ला (झारखंड)
डॉ. संजय सेफर्ड (दिल्ली)
श्री चन्दन कुमार (गोवा)
राकेश कुमार (दिल्ली)

## संस्थापक सदस्य

कविता सिंह चौहान (मुंबई)
डॉ. जैनेन्द्र कुमार (बिहार)

**संपादक की कलम से .....**

आप सभी पाठकों के समक्ष जनकृति का अप्रैल-मई सयुंक्त अंक प्रस्तुत है। इस अंक में आप साहित्य, कला, पत्रकारिता, इतिहास इत्यादि क्षेत्रों के महत्वपूर्ण विषयों पर आधारित शोध आलेख, लेख पढ़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त अंक में आप साहित्यिक रचनाएँ भी पढ़ सकते हैं।

जनकृति एक बहुविषयी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका है। यह पूर्ण रूप से विमर्श केन्द्रित पत्रिका है, जहां विभिन्न क्षेत्रों के विविध विषयों को एकसाथ पढ़ सकते हैं। पत्रिका में एक ओर जहां साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएँ प्रकाशित की जाती है वहीं विविध क्षेत्रों के नवीन विषयों पर लेख, शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। अकादमिक क्षेत्र में शोध की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। शोध आलेखों का चयन विभिन्न क्षेत्रों के विषय विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है, जो विषय की नवीनता, मौलिकता, तथ्य इत्यादि के आधार पर चयन करते हैं। जनकृति के माध्यम से हम सृजनात्मक, वैचारिक वातावरण के निर्माण हेतु प्रतिबद्ध है।

जनकृति वर्तमान में विश्व के कई रिसर्च इंडेक्स में शामिल है। इसके अतिरिक्त जनकृति की इकाई विश्वहिंदीजन से हिन्दी भाषा सामग्री का संकलन किया जा रहा है साथ ही प्रतिदिन पत्रिकाओं, लेख, रचनाओं का प्रचार-प्रसार किया जाता है। जनकृति की ही एक अन्य इकाई कलासंवाद से कलाजगत की गतिविधियों को आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है साथ ही कलासंवाद पत्रिका का प्रकाशन भी किया जा रहा है। जनकृति के अंतर्गत भविष्य में देश की विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों में उपक्रम प्रारंभ करने की योजना है।

जनकृति के द्वारा लेखकों को एक मंच पर लाने के उद्देश्य से विभिन्न देशों की संस्थाओं के साथ मिलकर ‘विश्व लेखक मंच’ के निर्माण का कार्य जारी है। इस मंच में विश्व की विभिन्न भाषाओं के लेखकों, छात्रों को शामिल किया जा रहा। इस मंच के माध्यम से वैश्विक स्तर पर सृजनात्मक कार्य किये जाएँगे।

देश-विदेश के सृजनकर्मियों के सहयोग आज जनकृति के 73 से अधिक अंक प्रकाशित हो चुके हैं। आशा है आगे भी इसी प्रकार सहयोग हमें मिलता

**-डॉ. कुमार गौरव मिश्र**

# अनुक्रम


| क्रमांक | विषय | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| | **कला-विमर्श** | |
| **1.** | Idea of form in tat aḍavu of Bharatanāṭyam dance style: Sonal Nimbkar | 10-28 |
| **2.** | दिल्ली हिंदी रंगमंच का पार्श्वकर्म: डॉ. धर्मेन्द्र प्रताप सिंह | 29-33 |
| **3.** | बिरसा मुंडा के जीवन और संघर्षों को दर्शाता नाटक ‘धरती आबा’: डॉ. कुमारी उर्वशी | 34-42 |
| **4.** | इक्कीसवीं सदी का लोक और भोजपुरी सिनेमा: डॉ. अमरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, डॉ. अर्पिता कपूर | 43-49 |
| **5.** | गाँव: श्याम बेनेगल की नज़र में- लक्ष्मी | 50-55 |
| | **दलित एवं आदिवासी -विमर्श** | |
| **6.** | दलित विमर्श और हिंदी की दलित आत्मकथाएँ: भारती | 56-61 |
| **7.** | विमुक्त-घुमंतू जनजातियाँ: साहित्य और वर्तमान संदर्भ- डॉ. रक्षा गीता | 62-69 |
| | **अल्पसंख्यक -विमर्श** | |
| **8.** | साझा संस्कृति के मूल में निम्नवर्ग एवं मुस्लिम राजनीति: डॉ. नुसरत जबीं सिद्दिकी | 70-76 |
| | **इतिहास** | |
| **9.** | गुप्त कालीन ऐरण : ऐरण से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन: प्रिंस कुमार सिंह | 77-85 |
| | **किन्नर-विमर्श** | |
| **10.** | हिंदी उपन्यास और किन्नर समुदाय का संघर्ष: शिवांक त्रिपाठी | 86-96 |
| **11.** | ‘मैं पायल’ - उपन्यास में चित्रित किन्नर जीवन की महागाँथा का एक झलक: डॉ. नुरजाहान रहमातुल्लाह | 97-101 |
| | **मीडिया- विमर्श** | |
| **12.** | डिजिटल दुनिया और युवा पीढ़ी: दिव्या शर्मा | 102-105 |
| | **शिक्षा- विमर्श** | |
| **13.** | आधुनिक तकनीकी युग में गांधी की बुनियादी शिक्षा के प्रयोग,वर्तमान परिस्थिति और भाषा (विशेष संदर्भ: वर्धा): सद्दाम होसैन, श्रीप्रकाश पाल | 106-113 |

| | | |
|---|---|---|
| **14.** | मध्यकालीन हिंदी काव्य के शिक्षण- शास्त्रीय आयाम: संगीता केशरी | 114-118 |
| **15.** | नाच न जाने आँगन टेढ़ा: संदीप तोमर | 119-125 |
| | **स्त्री-विमर्श** | |
| **16.** | पितृसत्ता: अर्थ, उत्पत्ति एवं व्यापकता: पूजा मिश्रा | 126-132 |
| **17.** | स्त्री विमर्श और ‘हंस’ पत्रिका : एक अध्ययन - नुरुल होदा | 133-139 |
| **18.** | हिंदी नवजागरण और स्त्री: सुमित कुमार | 140-145 |
| **19.** | स्त्री विमर्श और समकालीन हिंदी कविता: डॉ. गंगाधर चाटे | 146-158 |
| **20.** | स्त्री का मानसिक पर्यावरण: लेखक मुद्राराक्षस के दृष्टिकोण से- रूपांजलि कामिल्या | 159-163 |
| **समसामयिक-विमर्श** | | |
| **21.** | Bouncing back from failure is our duty: Manish Singh | 164-165 |
| **22.** | हिन्दी साहित्य और सिनेमा में एल०जी०बी०टी० समुदाय का मूल्यांकन: सविता शर्मा | 166-170 |
| **23.** | वैकल्पिक विकास में जैविक कृषि की भूमिका: आशीष कुमार | 171-176 |
| **24.** | ‘एक भारत श्रेष्ठ भारत’ की शिक्षक, शिक्षा और शिक्षार्थी ही आधार - प्रदीप सिंह | 177-179 |
| **साहित्यिक-विमर्श** | | |
| **25.** | 19वीं शताब्दी में हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में भाषा संबंधी बहसें: संजय कुमार | 180-185 |
| **26.** | साहित्य और कला के अध्ययन में मार्क्सवाद का महत्त्व: अनीता | 186-188 |
| **27.** | साहित्य के समाजशास्त्र की दृष्टि से मार्क्सवाद की उपयोगिता: रमन कुमार | 189-193 |
| **28.** | दीर्घतपा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन- शेषांक चौधरी | 194-199 |
| **29.** | फणीश्वरनाथ रेणु की ‘जलवा’ कहानी में देशप्रेम: डॉ० पवनेश ठकुराठी | 200-202 |
| **30.** | निम्नवर्गीय आक्रोश और रेणु की रचनादृष्टि: डॉ. रामउदय कुमार | 203-206 |
| **31.** | पूंजीवादी-उपभोक्तावादी संस्कृति और स्त्री (विशेष संदर्भ- पंकज सुबीर की कहानियाँ): दिनेश कुमार पाल | 207-213 |

| | | |
|---|---|---|
| **32.** | तुलसी और समाज: डॉ. भारती मोहन | 214-216 |
| **33.** | तुलसीदास से पहले के अवधी भाषा साहित्य में रामकथा संदर्भ: राम कुमार | 217-223 |
| **34.** | हिन्दी भक्ति-काव्य में राम-महिमा: डॉ. चंद्रकांत सिंह | 224-229 |
| **35.** | 'रामलला नहछू': सामाजिक सौहार्द का सांस्कृतिक समारोह- रमेश कुमार राज | 230-236 |
| **36.** | पदमावत व मधुमालती में स्त्री पुरुष सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन: रेखा | 237-241 |
| **37.** | नवजागरण के अग्रदूत श्रीनारायणगुरु: डॉ.विजी.वी | 242-246 |
| **38.** | प्रसाद का आरंभिक काव्य: विराट संभावना का उन्मेष- डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय | 247-251 |
| **39.** | महादेवी वर्मा की कविताओं में चित्रित प्रेम-भाव: अनुज कुमार | 252-258 |
| **40.** | श्रृंखला की कड़ियाँ में निहित स्त्री-चेतना: डॉ. चैताली सिन्हा | 259-269 |
| **41.** | 'अवाक': कैलाश मानसरोवर की अंतर्यात्रा का वृतांत- स्वाति चौधरी | 270-276 |
| **42.** | मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में जातिप्रथा और नारी सशक्तिकरण: पुरबी कलिता | 277-280 |
| **43.** | कुंवर नारायण का काल बोध: संतोष कुमार | 281-296 |
| **44.** | बिक्रम सिंह की कहानियों समाजबोध के विविध आयाम: वीरेन्दर | 297-303 |
| **45.** | शरद जोशी के स्तम्भों में प्रबुद्ध युगबोध का अवलोक: काजल कुमारी सिंह | 304-311 |
| **46.** | रिटायरमेंट नौकरी से जिंदगी से नहीं: स्मृति कुमारी सिंह | 312-317 |
| **47.** | स्वयं प्रकाश की कहानी कला: गौरव भारती | 318-338 |
| **48.** | स्वर्णिम भारत के शब्द-साधक पद्मश्री गिरिराज किशोर: डॉ. सोमाभाई जी. पटेल | 339-345 |
| **49.** | हिन्दी ग़ज़ल में फ़िक्र और ज़िक्र: डा. जियाउर रहमान जाफरी | 346-351 |
| **50.** | दारगे नरबू : शव काटने वाला आदमी- विजय कुमार | 352-354 |
| | **लेख** | |
| **51.** | गुमनामी के अंधेरों में खोया सितारा : इंद्र बहादुर खरे- डॉ.नूतन पाण्डेय | 355-359 |

| | | |
|---|---|---|
| **52.** | स्त्री के दुख की अकथ गाथा का दस्तावेज:देह ही देश- मनोज शर्मा | 360-367 |
| **साहित्यिक रचनाएँ: कविता** | | |
| **53.** | अर्चना त्यागी की कविता | 368 |
| **54.** | राजेन्द्र ओझा की कविता | 369 |
| **साहित्यिक रचनाएँ: कहानी** | | |
| **55.** | वजूद: डॉ. रंजना जायसवाल | 370-373 |
| **लोकसाहित्य एवं संस्कृति** | | |
| **56.** | हिमाचल प्रदेश और लोकजीवन: डॉ. ममता | 374-379 |

# Idea of form in tat *aḍavu* of *Bharatanāṭyam* dance style

Sonal Nimbkar*

## Abstract

There is an attempt to understand dance. What are the basic structures of dance? For this we resort to the idea of mind (*manas*) given in Indian *Vaiśeṣika darśana* where no action or movement is possible without the attendance of mind. The characteristic of mind is such that at given time it is present at one place only. The motion of mind is sequential, consecutive in nature and is not simultaneous. Taking this as a cue it is applied to the *tatta aḍavu* group of *Bharatanāṭyam* and see what emerges. It is a presupposition that this will give the exact nature of this *aḍavu*. This is done with a First Person Perspective.

**Keywords**: Dance, Mind, Phenomenology, *Bharatanāṭyam, Vaiśeṣika darśana*

### Introduction

When one says Dance, an array of movements with its regional influences come to mind. A varied array of movements come to fore. So what is this reality called dance? What are the essential elements of dance?

To understand this, basic movements or *aḍavus* of *bharatanāṭyam* are studied. But what is the premise to study these movements? As per *Vaiśeṣika* theory human is a combination of Self (*ātman*) Mind (*manas*) and Body (*śarīra*). All the desires are stored in Self and action is in Body. Self cannot perform any action hence fulfils its desire through body. But how does it convey? It is done with the help of Mind. Mind is the connecting link between Body and Self. But mind can be at one place only at one time. At $T_1$ it is at $P_1$, it cannot be at $P_1$ & $P_2$ both. Therefore in other words at $T_1$ it is at $P_1$ and cannot be at $P_1$ and $P_2$ at the same time. In other words no action, no movement is possible without the involvement of mind. As it is present at one place at a time it is successive and sequential therefore it is linear in nature[1,2].

Dance movement has been analysed in this framework in this paper.

Therefore dance movement that look simultaneous is linear in nature. The motion of movement is sequential in nature. Then how to observe and understand the linearity of movement? This is done with First Person Perspective.

Phenomenology is a study of phenomenon or study of things that come to our experience. So what is the experience of dance movement? What comes to one's consciousness when a movement is executed? The movement is studied from the first – person point of view. An *aḍavu* or dance movement is done in an extremely slow motion. When done in a very slow motion certain pattern emerges in consciousness. These patterns are the material to further study and understand the exact nature of dance movement

[1] Mishra Umesh, 2006, NYĀYA – VAIŚEṢIKA Conception of matter in Indian Philosophy, pg 116 Pub. Bhartiya kala Prakashan, Delhi (India)

[2] D. Gurumurti, 2007, SAPTAPADĀRTHĪ OF SHIVĀDITYA, page 69, pub. Universal Voice, Delhi

## Methodology

*Bharatanāṭyam*, a south Indian dance style has *nṛtta* and *nṛtya* predominantly. It starts with *nṛtta*, the basic dance movement or dance steps known as *aḍavus*. These *aḍavus* starts with simple stamps and then transits to various complex movement of hands and legs.

The first group of *aḍavus* is *tatta aḍavu* which will be studies and analyzed in this paper.

It only consist of leg movement. It does not have hand movements. *Tatta aḍavu* is basically about stamping the leg in various ways. Its basic syllable is *tai yā tai*. Then it varies with the steps. So to begin with legs are in aramaṇḍī where weight of the body is taken by both the legs and hands are on the waist where wrist is rested. All the steps shown here are done on one side only that is right, as left being its replica would be repeatition. Hence done only on one side.

So coming to tatta aḍavu first step sitting in *aramaṇḍī* in *tai yā tai* there is a STAMP on each *tai* with each leg starting with right. So right leg STAMPs in *tai*, left leg is lifted in *yā* and STAMPed in 2nd *tai*. This STAMP happens at the same place from where it is lifted. Leg is lifted by flexing the knee, hip joint is almost as it is. There is no major movement in hip joint. So sitting in *aramaṇḍī* leg is lifted by flexing the knee. And then again stamped by bring the leg down. The leg that is stamped is placed in the same place from where it is lifted.

If one looks at each stamp in detail then it is noticed that to STAMP with right leg on its place it is to be lifted first. So there is an attempt to LIFT the leg. When this attempt is made to lift, there is a change in the proportion of weight. The proportion of weight taken by both the leg changes. So as soon as this attempt is made i.e. effort to lift the leg but is still not above the ground; weight of right leg is SHIFTed to left leg. This is understood as SHIFT of weight. The weight keeps shifting on left leg due to which pelvis moves on left side giving a horizontal experience. This is understood as Horizontal SHIFT of weight.

The another way would be weight has begun to SHIFT but leg is not lifted from the ground. At that time left leg creates resistance, acts as a wall due to which merudanda/pelvis is not able to move to the left much. The movement of pelvis is obstructed. So left leg here acts as a wall and does not allow pelvis to SHIFT. But still there is an effort put by right leg by LIFTing of the leg. So weight is being shifted to left but as there is no horizontal space it stacks itself vertically. So instead of body moving horizontally it moves vertical i.e. goes up a little. And right leg becomes sans weight. This is understood as Vertical SHIFT. It is also noticed that when weight is being shifted on left leg and resistance by this left leg certain pressure is built. This experience is similar to press but is not press.

Vertical SHIFT is also done when the leg that takes the weight PRESSes. That is when the right leg is lifted weight is taken by left leg. So left leg presses. As the leg PRESSes weight from the other leg starts getting collected in this leg. Due to the nature of the PRESS which is in vertical direction weight also gets collected vertically. Due to this body moves up a little. The felt experience of this motion is vertical in nature hence Vertical SHIFT.

So generally SHIFT of weight is either Horizontal SHIFT or Vertical SHIFT. Now after the weight has been SHIFTed on left leg both the legs are still on the ground but maximum weight is taken by left leg. Now because right leg is still on the ground it does carry little weight that also needs to be shifted on left leg. So as that last little weight is also shifted to left leg navel CONTRACTs, this is understood as CONTRACTion of navel.

Thus after the CONTRACTion of navel one leg is taking or HOLDing the weight, here it is left leg and other leg is completely sans weight, ready to move freely. So now left leg is HOLD of weight, which is taking the weight of the body and the right leg which is free to move is here moving upward or flexes as LIFT of right leg. Thus LIFT = HOLD + FLEXION

Once the leg has been lifted now it needs to be STAMPed. Hence it goes down, it extends and culminates in STAMP. So left leg is HOLDing the weight of the body and right leg STAMPs. Thus STAMP = HOLD + EXTENTION

Though here LIFT & STAMP have HOLD plus FLEXION & EXTENTION resp. It is mentioned as LIFT = HOLD + LIFT & STAMP = HOLD + STAMP in the description of movement pattern for simplicity and clarity. The words flexion or extension are not used.

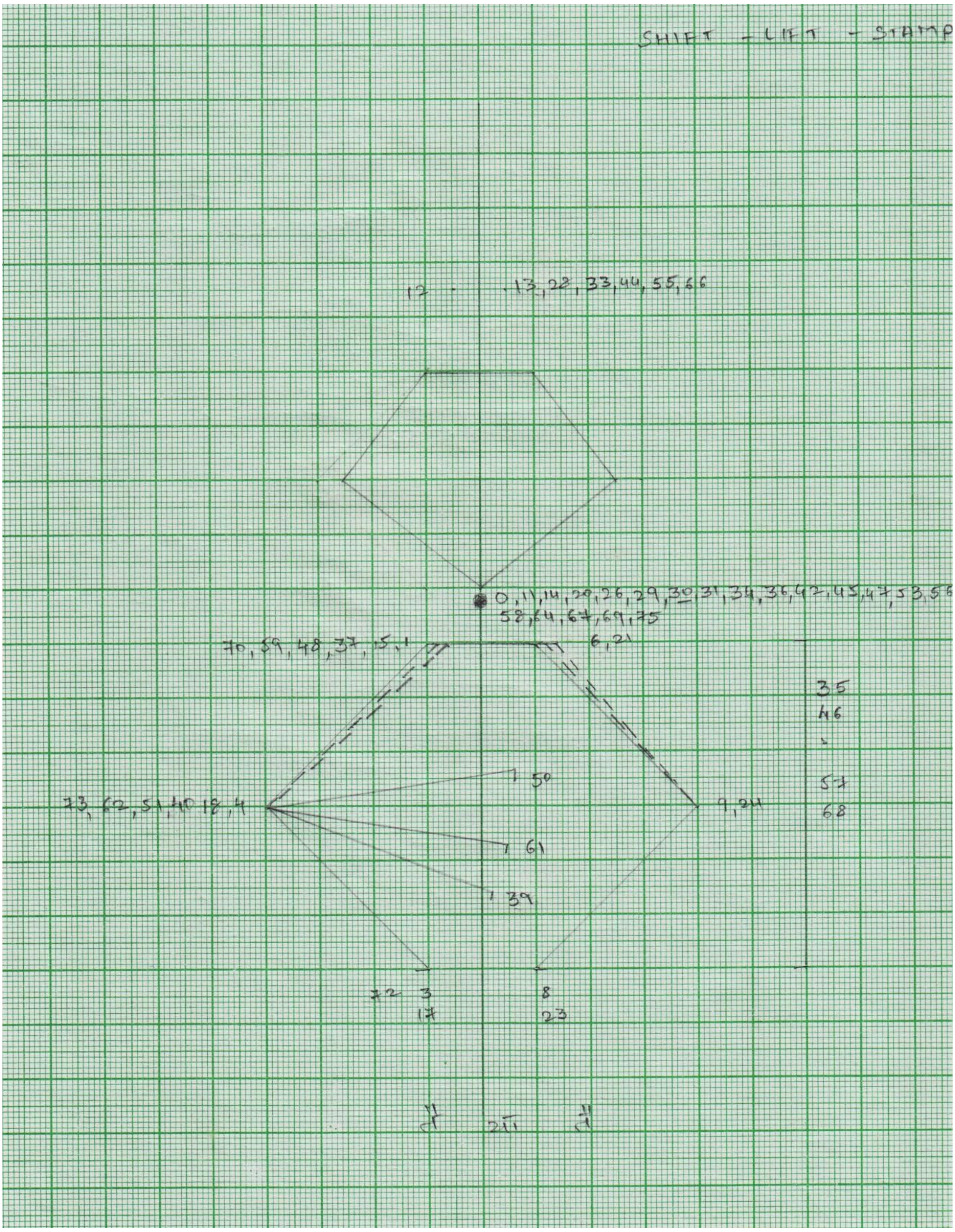


Above figure is of step 1 *Tatta aḍavu*

Thus the STAMP or *tai* of *tai yā tai* is a process which goes through different stages such as SHIFT of weight, CONTRACT of navel, LIFT and STAMP of leg. Throughout this eyes are in *samam* i.e. looking straight at eye level which is referred as POINT.

It is noticed that in LIFT and STAMP one can feel the sharpness or pointedness of eyes. So first it is eye movement and then followed by LIFT and STAMP. But this is not felt so in SHIFT of weight. It is noticed that in SHIFT of weight the pointedness is being created. So first it is SHIFT of weight and then POINT of eyes in the making.

Once the POINT of eyes is created it leads hence in LIFT and STAMP it is POINT first and then LIFT or STAMP of right leg. Though there can be a variation in this as per the movement.

So the details of *tai* are SHIFT of weight, POINT of eyes for 2 times or cycles. Then CONTRACT of navel for 1 cycle. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg for 2 cycles. Then it is POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg for 2 cycles.

Thus while doing the STAMP of right leg a movement pattern is created as below

**SHIFT – POINT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

Minimally any movement is SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP. Hence it can be understood as the smallest unit of movement. It is also further observed that every movement falls within this SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP structure though there can be variations to it. Hence below is the table of step 1 which gives the details of the movement within the structure of SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP

Now moving forward to second step of *tatta aḍavu* the syllables remains the same, *tai yā*

| SHIFT | CONTRACT | LIFT | STAMP |
|---|---|---|---|
| SHIFT - POINT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

*tai*. But instead of stamping one syllable with each leg, here both the syllables or both the *tai-s* are stamped with same leg. So right side two times and left side two times, sitting in *aramaṇḍī*.

So when the leg is LIFTed for the first time, before that as in step 1 there is SHIFT of weight. So the weight is shifted here on the left leg. But both the legs are still on the ground with major weight carried by left leg. So right leg still has that little weight. Now the effort is put on right leg to lift. In this lift, muscles are pulled up making the leg still lighter but the foot is still on the ground not lifted. Hence there is still that little weight on right leg; when the muscles are further being pulled up due to that navel contracts and goes in. And right leg is sans weight, completely free to move. So till now weight has been shifted and navel contracted. Now comes the stage where leg is lifted.

Here when the right leg is being lifted, left leg is HOLDing the weight of the body. So there is HOLD of left leg and LIFT of right leg.

Then after the leg is lifted, it comes down. When the leg is coming down weight is still being carried by left leg. So it is HOLD & STAMP.

So it is SHIFT – LIFT – STAMP or

SHIFT – CONTRACT – HOLD – LIFT – HOLD – STAMP

This is for the 1st stamp of right leg. Now there is 2nd stamp also in the same manner. But it does not have SHIFT of weight. This is because when the leg is stamped in first *tai* major weight is still on left leg. And right leg even after stamp does not carry the major chunk of the weight. But because of the nature of the gravity or body, as the right foot touches the ground or is stamped it does bring with it certain weight. This is because the muscles relax. As muscles relax navel also relaxes because both the feet are on the ground. Hence again when the leg is lifted for the 2nd time that little weight is shifted on left leg as a result navel contracts. Then again as 1st stamp, left leg HOLDs and right leg LIFTs, left leg HOLDs and right STAMPs.

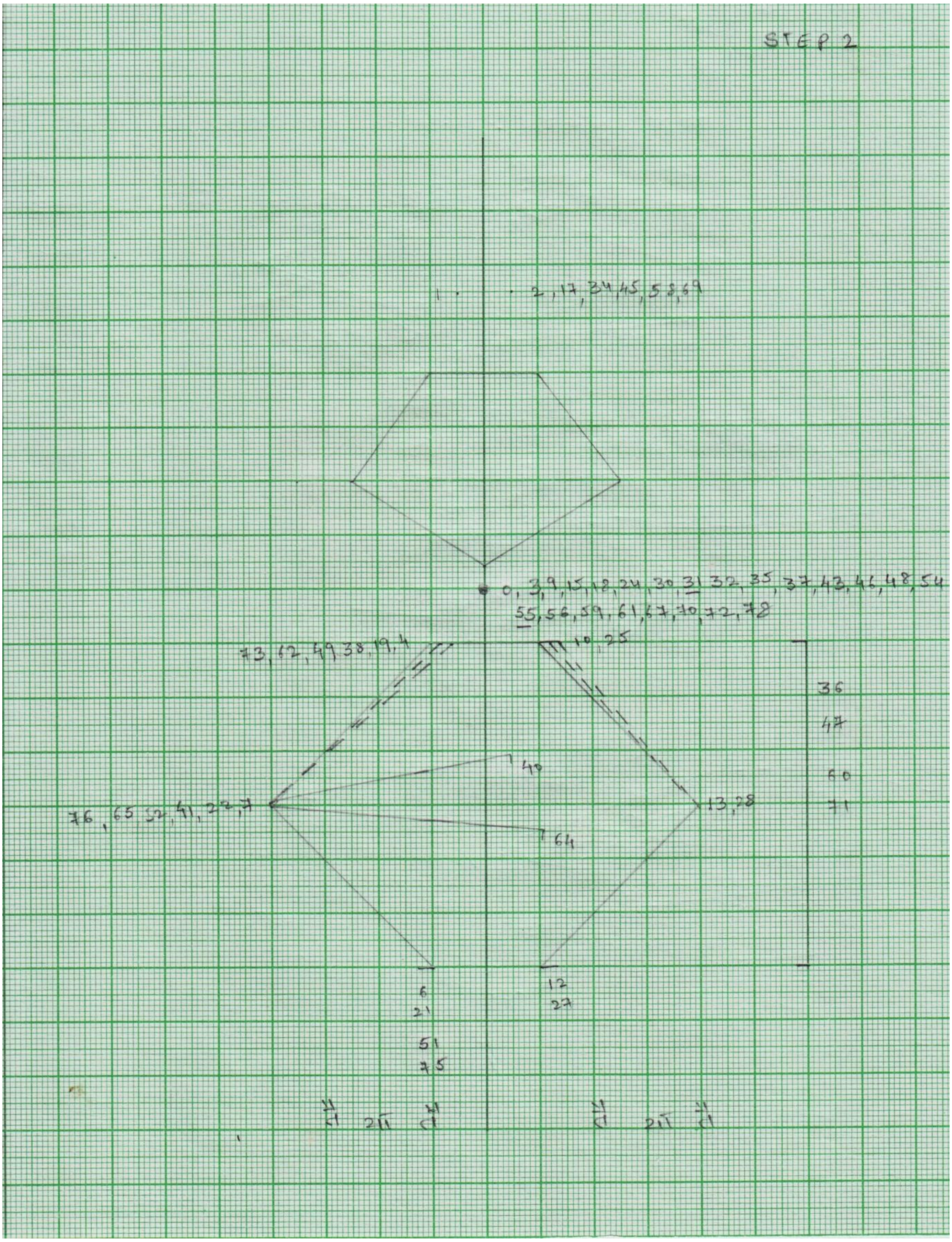


Above is the figure of step 2 *Tatta aḍavu*

So 2nd STAMP is CONTRACT – HOLD – LIFT – HOLD – STAMP

So the pattern for 2nd *tatta aḍavu* would be

**SHIFT – CONTRACT – HOLD – LIFT – HOLD – STAMP – CONTRACT – HOLD – LIFT – HOLD – STAMP**

Also as far as eyes are concerned they can be in the starting or in the end (as shown in step 1). POINTedness of eyes is also dependent on determination. So if one is with clear mind and determination then even before starting the *aḍavu* eyes have POINT. Or if not so then the POINT is constructed as the *aḍavu* starts and progresses. So in the first when eyes are determined, have POINT then *aḍavu* starts with eyes. And if POINT is constructed over time then it comes at the end after motion of the body parts have taken place.

So the movement pattern for 2nd step is

**POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

| SHIFT | CONTRACT | LIFT | STAMP |
|---|---|---|---|
| | | | |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

Moving further it is 3rd step whose syllables are *tai yā tai yā tai*. Here right leg stamps three times and left leg three times.

The earlier two movements were initiated with SHIFT of weight which was horizontal in nature. Here doing it in a different way then the first two. That is initiating it in a different way. So here left leg PRESSes (from heel), due to which muscles harden and left leg becomes stiff giving a sense of wall like feeling. As heel PRESSes body goes up and some weight is shifted on that leg (left). But not all weight is shifted on left leg, there is still some weight remaining on right. That weight is also shifted on left leg resulting in CONTRACTion of navel and then LIFT and STAMP thrice.

So it is noticed that CONTRACT of navel is associated with the rest of leg. So the longer the rest or slower the speed stronger the CONTRACT, shorter the rest of STAMP or faster the speed lighter the CONTRACT. So it looks there will be CONTRACT lighter or stronger once the leg touches the ground however brief it may be.

So movement pattern for 3rd step will be

**POINT – PRESS – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

Similarly step 4 is stamping of leg four times on each side and its syllable being *tai yā tai yā tai yā tai*. The movement pattern for 4th step will be

**POINT – PRESS/SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD –**

**STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

| STEP 3 | | | |
|---|---|---|---|
| **SHIFT** | **CONTRACT** | **LIFT** | **STAMP** |
| POINT - PRESS | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

And for step 4 it is

| STEP 4 | | | |
|---|---|---|---|
| **SHIFT** | **CONTRACT** | **LIFT** | **STAMP** |
| POINT - PRESS | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

Now moving further it is step 5, here also as above there is STAMP which is done five time with each leg. But there is a little variation in terms of time. And this in turn affect space too. The syllable is *tai yā tai yā tai tai tām*. So here the speed of *tai yā tai* which is two STAMPs, is different from *tai tai tām* comprising of three STAMPs. Last three STAMPs are faster than first two STAMPs. So in first two stamps there is pause after STAMP or one can say there is rest after stamp or stamp is for longer duration which is not there or is for a less duration in last three stamps. And 2$^{nd}$ as duration affects the rest or pause, it is also affecting motion. So in motion i.e. when leg is being lifted the distance covered in lift is less as there is less time.

So one can say that in slower speeds there is more of PAUSE (*sthiti*) and in faster speeds there is more of motion (*gati*), PAUSEs decrease. That is number of PAUSEs in slower speed is more compared to faster speeds. And number of motion is more in faster speed compared to slower speed.

So time and space is affected. So compared to first two stamps last three stamps has less PAUSE and as there is less PAUSE or less time the distance covered is also less.

So the details of this movement are POINT of eyes, PRESS of left feet. Then CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right

 ISSN: 2454-2725

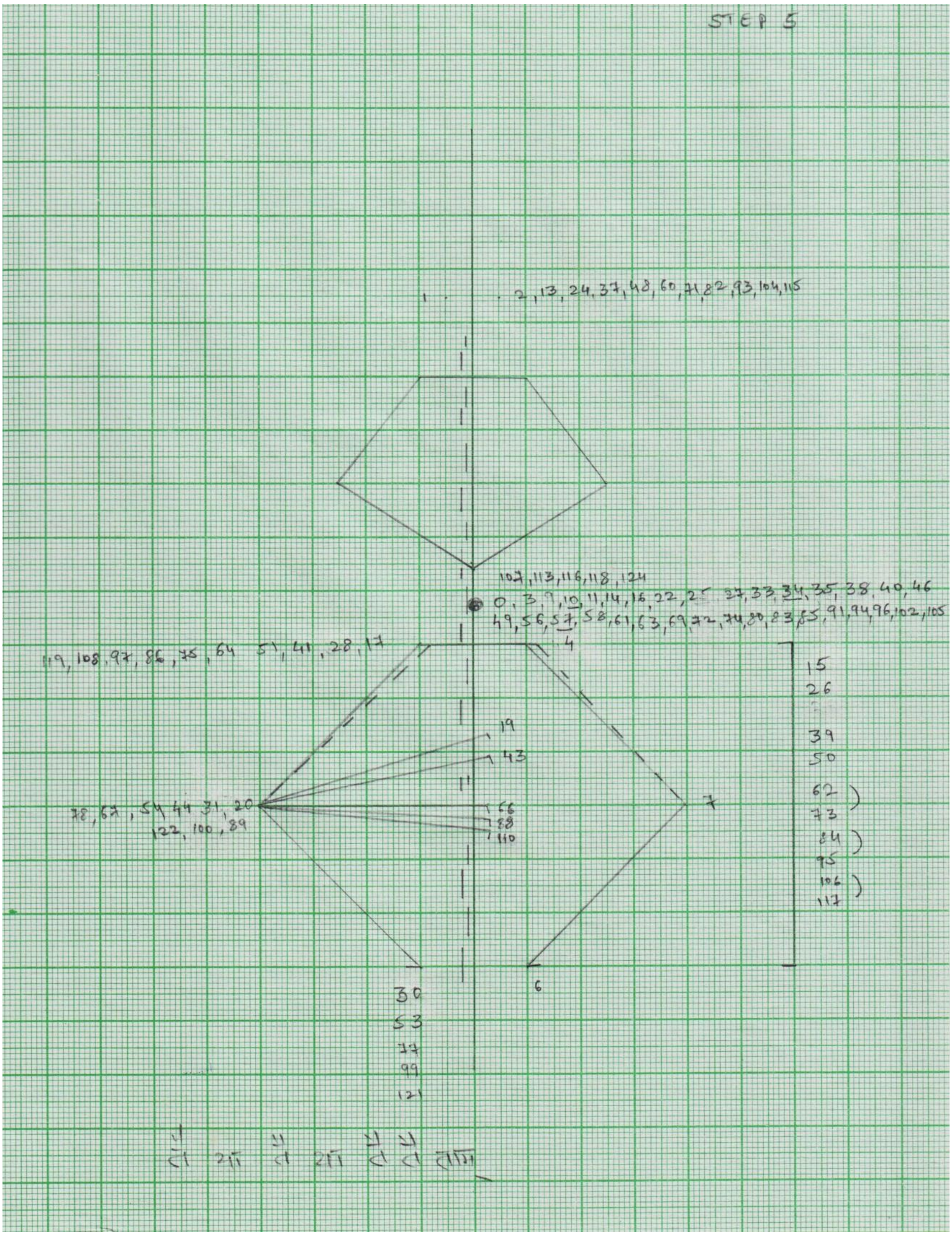


Above is the figure of step 5 *Tatta aḍavu*

leg. Then CONTRACT of navel. Then again POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. And then lastly POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. All the above for 1 *cycle* each.

**POINT – PRESS – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

| SHIFT | CONTRACT | LIFT | STAMP |
|---|---|---|---|
| POINT - PRESS | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

Now the 6th step whose syllable is *tai yā tai yā tai kiṭataka tai yā tai yā* tai similar to 3rd step.

But in 3rd step this whole syllable was done or spread on both the legs with pause in *kiṭataka*. This resulted in stamping thrice on each leg. But here in 6th step the whole syllable is done with one leg that is stamping six time with each leg. But this stamp is not continous, after three stamps there is a pause in *kiṭataka* and then the remainig three are done. This step is also done in the same structure of SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP

So the movement pattern will be twice of 3rd step.

**POINT – PRESS – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

***kiṭataka***

**POINT – PRESS – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

| SHIFT | CONTRACT | LIFT | STAMP | |
|---|---|---|---|---|
| POINT - PRESS | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP | |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP | |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP | *KIṬATAKA* |
| POINT - PRESS | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP | |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP | |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP | |

Next in line is seventh step with seven stamps whose syllables are *tai tai tat tat tai tai tām*. But it is not just seven steps on one leg each. The spread has a variety. Here it is three stamps with right leg, 4th stamp is done with left leg and remaining three are again done with right leg. That is in 6th step six stamps are done with one leg with pause or rest of *kiṭataka*. Seventh step is almost same. It has six stamps with one leg and the pause or rest is replaced with motion from another leg. This motion of stamp is done by the other leg. That is if the six stamps are done with right leg then that motion or the fourth stamp is done by left leg. So first three stamps by right leg, fourth by left leg and remaining three again by right leg. This comprises one side. Then again when done with left side *aḍavu* start with left leg. Here showing right side only.

The details of the movement are POINT of eyes, SHIFT of weight. Then CONTRACT of navel. Then it is POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg as one cycle. Then it is POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then CONTRACT of navel as a cycle. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg, POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then again CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then POINT of eyes, SHIFT of weight. Then CONTRACT of navel. Then it is POINT of eyes, HOLD of right leg, LIFT of left leg as one round or cycle. Then POINT of eyes, HOLD of right leg, STAMP of left leg. Then POINT of eyes, SHIFT of weight as a cycle. Then CONTRACT of navel. Then it is POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. After that it is POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then CONTRACT of navel.

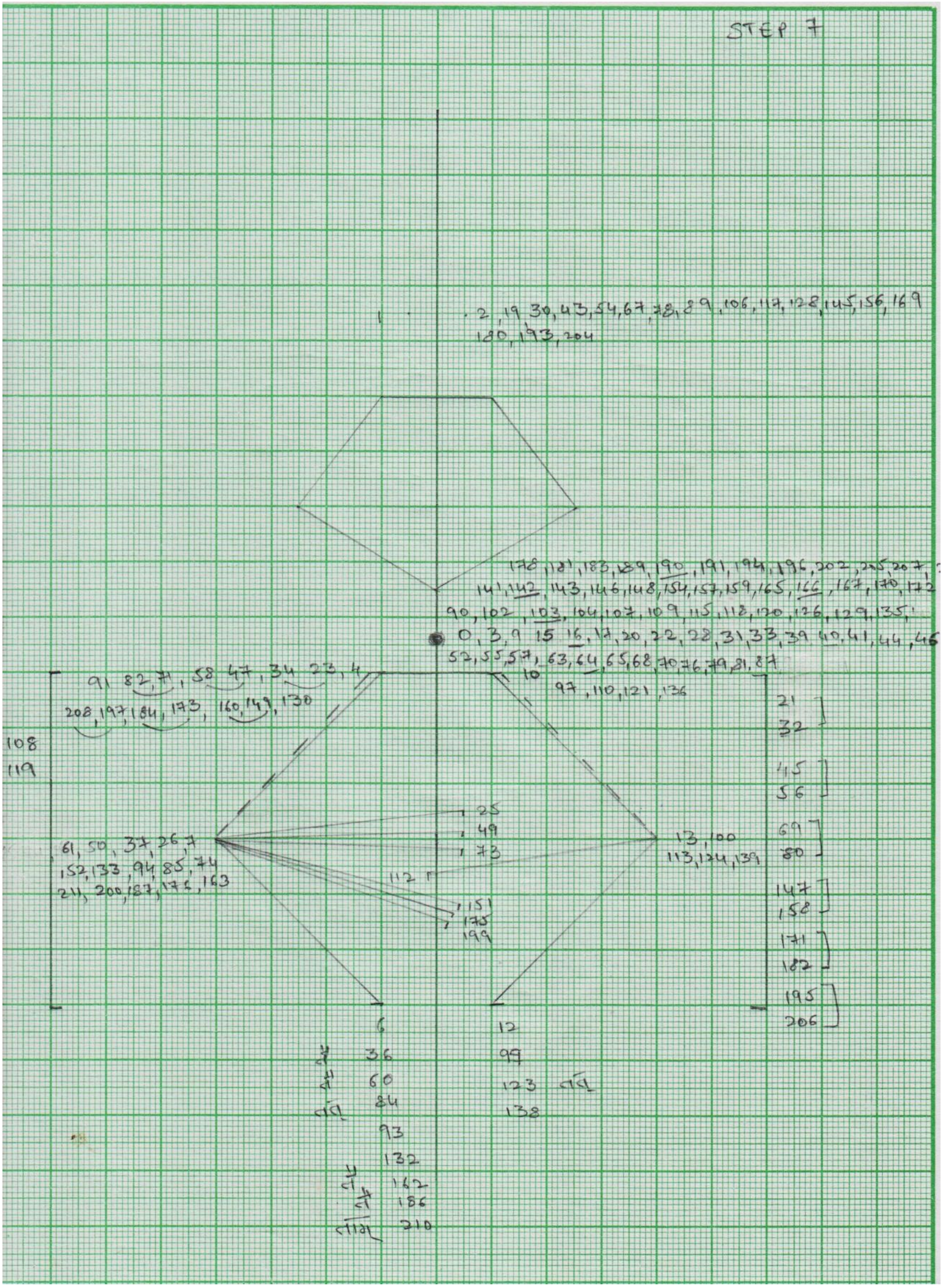


Above is the figure of step 7 *Tatta aḍavu*

Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg.

Thus the movement pattern which emerges is as below

**POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

| STEP 7 | | | |
|---|---|---|---|
| **SHIFT** | **CONTRACT** | **LIFT** | **STAMP** |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

Now the last step of *tatta aḍavu* set. The syllable are *tai tai tai tai tai tai tām*. As observed earlier with every step, the number of stamps increased. So step 1 had one stamp and step 2 had two stamps and so with step 5 having five stamp and step 7 having seven stamps. So one might think step 8 has eight stamp. But no, step 8 has seven stamps, done differently than step 7. Usually it was seen that all the stamps were done in/with one leg with exception of 7$^{th}$ step where only one stamp is with other leg i.e. left. So primarily all steps have been on one side. But here there is a variation as both the legs are used for stamp alternately and with two speeds. So gradually complexity of time and space has increased. Though fundamentally this set is simple. In first six steps all the stamps are with one leg only. With step 7 both the legs are used to complete the seven stamps. But in 7$^{th}$ step the other leg is used only once. Now here in 8$^{th}$ step also there are seven stamps in total but done differently.

So these seven steps are stamped alternately with each leg and speed of the last three stamps is double of first four stamps.

So weight SHIFTs to left and right leg is LIFTed and STAMPed. Then weight is SHIFTed to right leg and left leg is LIFTed and STAMPed. This happens for five more times alternately.

So the details of the movement are POINT of eyes, SHIFT of weight. Then CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then it is POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then it is POINT of eyes, SHIFT of weight. Then CONTRACT of navel. Then it is POINT of eyes, HOLD of right leg, LIFT of left leg. Then it is POINT of eyes, HOLD of right leg, STAMP of left leg. Then POINT of eyes, SHIFT of weight. After that CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg as one rotation. Then POINT of eyes, SHIFT of weight. Then CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of right leg, LIFT of left leg. Then POINT of eyes, HOLD of right leg, STAMP of left leg. Then POINT of eyes, SHIFT of weight. Then it is CONTRACT of navel as one rotation. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. Then POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg. Then POINT of eyes, SHIFT of weight. Then CONTRACT of navel. Then POINT of eyes, HOLD of right leg, LIFT of left leg. After that POINT of eyes, HOLD of right leg, STAMP of left leg. Then POINT of eyes, SHIFT of weight. Then it is CONTRACT of navel. Then it is POINT of eyes, HOLD of left leg, LIFT of right leg. And lastly it is POINT of eyes, HOLD of left leg, STAMP of right leg as one cycle of rotation. Each sequence has one rotation or cycle each.

The movement pattern for 8$^{th}$ step of *Tatta aḍavu* is as below.

**POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP - POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP - POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP**

| SHIFT | CONTRACT | LIFT | STAMP |
|---|---|---|---|
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |
| POINT - SHIFT | CONTRACT | POINT - HOLD - LIFT | POINT - HOLD - STAMP |

## Conclusion

In *tatta aḍavu* it is noticed that each movement goes through four stages SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP. Though it is further noticed that the use of these 4 stages varies from movement to movement.

In first step a movement goes through all these stages once. But in step 2 it is seen that it goes through SHIFT once but twice through other stages. In step 3 also SHIFT is once but rest of the stages that is contract, lift and stamp is thrice each and same is in step 4 where shift is once & rest of the stages are four times/quadruple. In these four steps it is seen that shift is only once and rest are repeated twice, thrice or quadruple. This is because the stamps are with the same leg. As the leg doesn't change it does not have to shift the weight from one leg to another. Hence shift is done only once. But lift and contract is repeated because if stamp is done twice then it need to be lifted twice and before lift there is contraction of navel also because though weight is not completely shifted on that leg, stamp still does bring certain weight with it due to gravity and rest. However little it does carry certain weight with it and this weight, that last little weight that is shifted to the other leg is contract. Hence contract, lift and stamp are repeated.

Moving further to step 5 it is seen that it has 1 SHIFT, 2 CONTRACTs, five LIFTS and five STAMPs. Now if with every STAMP there has to be LIFT and CONTRACT then why are there only two contracts and not five? It is noticed that when weight goes with stamp that means it is a result of rest or time. Time is needed to shift or hold the weight. As the last three stamps are done in faster speeds there is no time where there can be rest as there is no rest there is no weight involved in it as muscles don not relax as it does not have weight there is no contract.

Going to step 6 there are 2 SHIFTs, 6 CONTRACTs, 6 LIFTs, 6 STAMPs. Now though all the stamps are done with the same leg there are two SHIFTs here. Earlier above it is mentioned that SHIFT is involved because weight is being shifted from one leg to another. Here there is no such case as shifting weight from one leg to another. All the stamps are with one leg only. But still there are two SHIFTs because it is noticed that after three stamps there is a long pause or rest in *kitataka*. The time duration between third stamp and fourth lift is longer than the others that is from first stamp to second lift. Hence as there is longer duration there is more rest. Due to this rest weight is taken by the right leg here now as the weight is taken by that leg it needs to be shifted. Just contraction of navel is not enough for weight to carry from one leg to another. It needs the process of shifts of weight.

So one can say that time is a determinant factor which affects gravity or weight. Another determinant factor is region or space. Weight SHIFTs from one leg to another. After the STAMP with say right leg is done now left leg is to be STAMPed so weight is SHIFTed from left leg to right leg that is from left region to right region. This change in region or space can be considered as another determinant.

So it can be said that the there are two determinants of SHIFT of weight

- Space &
- Time

So change of space and pace of time are the two factors that determines SHIFT of weight.

Moving further to step seven there are three SHIFTS, seven CONTRACTs, seven LIFTS and seven STAMPs. So here the determinant that plays the role for three SHIFTs of weight is

space. Till now it is seen that the STAMPs are with one leg only, the same leg stamps multiple times. But now here both the legs are used, six stamps are with one leg and one stamp with another leg. So this step has seven stamps and the fourth stamp is with the other leg. That means when done with right leg first three stamps are done with right leg, fourth stamp with left leg and then again last three stamps that is fifth, sixth and seventh stamp are done with right leg. Hence there is a necessity to SHIFT the weight from one leg to another. So the first SHIFT is in the starting when both the legs share the weight equally and need to be shifted on one leg only. So all the weight is shifted on left leg then there are three STAMPs along with three LIFTs and three CONTRACTs. Then as fourth STAMP is with left leg the weight that is on left leg has to be shifted on right leg, hence now the second SHIFT of weight. After the weight is SHIFTed there is CONTRACT, LIFT & STAMP. Then rest of the stamps again are with right leg, so the weight that is on the right leg is now shifted to left leg. Thus the third SHIFT. And once the weight is shifted again on the left leg weight, right leg STAMPs thrice along with LIFTS and CONTRACTs. This is the spread of seven stamps.

Now the last step, the eighth one. This also has seven STAMPs and each leg is stamped alternately with two speed. First four STAMPs are in first speed or the slow speed and last three STAMPs are the double of the first speed that is faster speed. It has seven SHIFTs, seven CONTRACTs, seven LIFTs and seven STAMPs. As mentioned above because the stamps are done with each leg, weight needs to be shifted with every stamp. So each STAMP goes through the four stages of SHIFT, CONTRACT, LIFT & STAMP.

**Results**

So while notating the observations as mentioned earlier it is noticed that structures emerge. Every movement has a certain pattern through which it unfolds itself. As mentioned earlier SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP is the basic pattern and every movement falls within this. But if one further goes in detail say SHIFT or LIFT then one can see variety in it. The way SHIFT is done or LIFT is done and also the number of times it is done is where movement varies from one another. So if one looks at *tatta aḍavu* then it can be seen that every movement has certain pattern and within these certain clusters emerge which are common in almost all the pattern or are often seen in various patterns. They are POINT – SHIFT for SHIFT, LIFT is POINT – HOLD – LIFT and STAMP is POINT – HOLD – STAMP. If one looks at step 1 then the movement pattern is SHIFT – POINT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP and that of step 2 is POINT – SHIFT – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP – CONTRACT – POINT – HOLD – LIFT – POINT – HOLD – STAMP and so on and so forth.

So if this pattern is studied within the format of SHIFT – CONTACT – LIFT – STAMP then one can see that SHIFT happens only once and then it is CONTRACT – LIFT – STAMP if the stamp is with same leg. If the leg changes then there is a need for SHIFT of weight as weight from one leg gets transferred to another as is seen in 2$^{nd}$, 3$^{rd}$, 4$^{th}$ and 5$^{th}$ step. Now in 6$^{th}$ step all the stamps are on one side only. But in spite of that there is SHIFT twice. One in

the beginning when the *aḍavu* starts and then on fourth step. This happens as after three stamps there is a pause/rest in *kiṭataka*. In this rest weight is again shifted on right leg making the sharing of weight equal on both the legs. Hence when again right leg is LIFTed it need to be shifted. That is why there is SHIFT of weight at fourth stamp. In 7$^{th}$ step there is SHIFT of weight three times. One when the *aḍavu* is started with right leg then after three stamps because fourth stamp is with other leg that is left leg and again third SHIFT as STAMPs from 5$^{th}$ stamp onwards is with right leg again. Going further if we look at 8$^{th}$ step there are seven SHIFTs of weight as STAMP is with alternate leg that is right then left then again right then left. This happens seven times hence seven SHIFT of weight. So it can be seen that eventually that which started with one STAMP spreads till seven STAMPs in various ways. It is also observed that SHIFT of weight is governed by space and time.

It can be said that SHIFT – CONTRACT – LIFT – STAMP or SHIFT – LIFT – STAMP is the basic structure that emerges and also smallest unit of movement. Any movement minimally goes through at least the above mentioned changes.

Going into the details of SHIFT of weight there are two ways observed

- Horizontal SHIFT of weight
- Vertical SHIFT of weight
    1. Vertical SHIFT with HOLD
    2. Vertical SHIFT with PRESS

Further the other prominent cluster that emerge in this group of *aḍavus* is POINT – HOLD – LIFT and POINT – HOLD – STAMP.

**Acknowledgment**

I am thankful to Late Prof. Navjyoti Singh, CEH, IIIT-H under whose guidance I did this research. I am also thankful to Prof. Dipti Mishra Sharma, LTRC, IIIT-H who further supervises this work.

**References**

1. Chakrabarti Kisor Kumar, 2017, Classical Indian Philosophy of Mind, Motilal Banarasidas, New Delhi
2. Mishra Umesh, 2006, *Nyāya - Vaiśeṣika*, Conception of Matter in Indian Philosophy, Bhartiya Kala Prakashan, Delhi
3. D. Gurumurti, *Sapthapadārthī of Sivāditya*, Universal Voice, Delhi
4. Johnstone Maxine sheets, 1999, *The Primacy of movement*, John Benjamins Publishing Company
5. Johnstone Maxine sheets, *Phenomenology of dance*, University of Wisconsin Press
6. Johnstone Maxine sheets, ed, 1992, *Giving the body its due,* State University of New York Press, Albany
7. Leder Drew, 1990, *The Absent Body*, The University of Chicago Press

8. Ponty maurice merleau, *Phenomenology of Perception* translated by Colin Smith, Routledge
9. Dwivedi Parasnath, 2004, *नाट्य शास्त्र का इतिहास* (*Nāṭya śāstra kā Itihās*) Chowkhamba SurBharati Prakashan
10. Dwivedi Parasnath *Nāṭya śāstra* in Hindi Sampurnand sankrit mahavidyalaya
11. Newlove Jean, 1993, *Laban for actors and Dancers* –- Routledge New York, Nick Hern Books London
12. Davies Eden, 2006, *Beyond Dance, Laban's Legacy of Movement Analysis Routledge*, New York, USA
13. Maletic Vera, 1987, *Body-Space-Expression, Approaches to Semiotics*, Mouton De Gruyter, Germany
14. Hackney Peggy, 2002, *Making Connections, Total Body Integration Through Bartenieff Fundamentals*, Routledge, NY, USA

*Centre for Exact Humanities
IIIT – Hyderabad
Telangana
India
sonalnimkar@gmail.com
+919951034734

# दिल्ली हिंदी रंगमंच का पार्श्वकर्म

*डॉ. धर्मेंद्र प्रताप सिंह

पार्श्वकर्म रंगमंच का अभिन्न अंग है। मंच पर किया गया प्रदर्शन मूलतः मंच के पीछे की समग्र गतिविधियों का प्रतिफल होता है। मंच पर हम जो कुछ भी देख रहे होते हैं, उससे कहीं ज्यादा गतिविधियां पाश्व में चल रही होती हैं। संगीत-विधान, पात्र-सज्जा, वेशभूषा, दृश्य-सज्जा एवं प्रकाश-व्यवस्था इत्यादि रंगमंच के वे आधारभूत तत्व हैं, जिनकी अनुपस्थिति में मंचन अकल्पनीय है। वस्तुतः पार्श्वकर्म वह मशाल है जो मंचन-रूपी प्रकाश का उत्पादन करती है। पार्श्वकर्म जितना सुदृढ़, व्यवस्थित और संतुलित होगा, नाटक की प्रस्तुती उतनी ही स्तरीय एवं प्रभावी बन पड़ेगी।

पार्श्वकर्म भारतीय और पाश्चात्य रंग-जगत का महत्वपूर्ण अवयव है, जिसका उल्लेख अत्यंत प्राचीनकाल से मिलता है। इस संदर्भ में कुछ आरंभिक स्त्रोत यद्यपि भरतमुनि से पूर्व भी मिलते हैं, परंतु पार्श्वकर्म संबंधित अधिकांश प्रमाणिक विवेचनों का आधार उनका *नाट्यशास्त्र* ही है। भरतमुनि ने आरंभिक स्तर पर ही सही लेकिन नाट्यशास्त्र से पाश्वकर्म से संबंधित एक ठोस पहल आरंभ की। इसलिए *भरतमुनि* के पार्श्वकर्म संबंधित विचारों का उल्लेख अपेक्षित है। *भरत* ने जितनी व्यापक चर्चा पात्र, संवाद तथा मुद्राएं इत्यादि पर की हैं, वैसी पार्श्वकर्म पर तो नहीं मिलती। पर उनके प्रारंभिक चिंतन से इस दिशा में महत्वपूर्ण विवेचना जरूर आरंभ हो जाता है। उनके पश्चात के अनेक विद्वानों ने समकालीन नाट्यकर्म में इस दिशा में व्यापक एवं मौलिक चिंतन अपने ग्रंथों में किए हैं। नए-नए प्रयोगों और देशकाल की विभिन्नता के कारण पार्श्वकर्म के तत्वों में काफी परिवर्तन आता रहा है। पाश्वकर्म में की गई मेहनत ही दर्शक को मंचन से तादात्म्य स्थापित करने में सहयोग करती है।

नाट्य-विमर्श के भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन परंपरा में पार्श्वकर्म का यथोचित उल्लेख मिलता है। *नाट्यशास्त्र* में पार्श्वकर्म पर यद्यपि आनुपातिक रूप से लघु परंतु उल्लेखनीय चर्चा मिलती है। पूर्वाभ्यास से लेकर प्रेक्षागृह की बनावट एवं मंचन तक, पार्श्वकर्म के तत्व और उसकी आवश्यकताओं एवं चुनौतियों पर व्यवस्थित विचार किया गया है। *नाट्यशास्त्र* के *पैंतीसवें अध्याय* का उल्लेख इस दृष्टि से बेहद प्रासंगिक होगा, जिसे *भूमिका विकल्पाध्याय* कहा गया है और जिसमें क्रमशः *भूमिका विकल्प* एवं *भरत विकल्प* नामक दो प्रकरणों का उल्लेख है।[1] *भूमिका विकल्प* अभिनेता की भूमिका से संबंधित विचार प्रस्तुत करता है और *भरत विकल्प* पार्श्वकर्म की दृष्टि महत्वपूर्ण सूत्रों का उद्घाटन करता है। इसमें नाटक से जुड़े लोगों के प्रकार तक बताए गए हैं। वस्तुतः पार्श्वकर्म के तत्वों की सूची व्यापक है। पूर्वाभ्यास से लेकर मंचन तक के सभी तत्व इसमें शामिल होते हैं। दृश्य-सज्जा, मंच-सज्जा, वेशभूषा, रंगदीपन, नृत्य-संगीत, प्रदर्शन-पद्धति, पोस्टर, बैनर, प्रोजेक्ट एवं सिनेमा संबंधित अन्य तकनीकों आदि का मिश्रण ही पाश्वकर्म को समग्रतः में पारिभाषित करता है।

[1] भारतमुनि, नाट्यशास्त्र, अध्याय पैंतीस, भूमिका विकल्पाध्याय

***दृश्य-सज्जा*** रंगमंच के अभ्युदय से ही महत्वपूर्ण रहा है। नाटक की प्रभावोत्पादकता का रास्ता दृश्य-सज्जा से होकर गुजरता है। रंगमंच में हो रहे परिवर्तनों ने दृश्य-सज्जा को और अधिक निखारा है। तकनीकी विकास का इसमें विशेष योगदान रहा है। नाटक के प्रत्येक अंक एवं प्रसंगों के अनुकूल दृश्य-सज्जा को तैयार किया जाता है। एक बेहद सामान्य से स्थल को इस प्रकार विकसित किया जाता है कि दर्शक मंचन की मानसिकता से जुड़ जाए। दृश्य-सज्जा एक विश्लेषणात्मक परिश्रम का भी आग्रह करती है। निर्देशक एवं सहायकों को इसके लिए काफी मेहनत करनी होती है। एक-एक दृश्य को संवारने का प्रयास करना होता है। दृश्य-सज्जा लंबे समय से की जाने वाली मेहनत है, जिसका मूल्यांकन मंचन की सफलता-असफलता से निर्धारित होता है। रंगमंच की दृश्य-सज्जा में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक होता है कि एक ही दृश्य पर अपव्यय न किया जाए, अन्यथा नाटक की योजना बिगड़ सकती है। वर्तमान समय में दृश्य-सज्जा का काम सेट डिजाइनर (दृश्य परिकल्पक) करता है परंतु उसे भी निर्देशक की मदद की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त नाटककार पर दृश्य-सज्जा का सर्वप्रथम दायित्व होता है। उसे सरल दृश्य-सज्जा को ध्यान में रखकर नाटक लिखना चाहिए।

***नाट्य-स्थल*** एवं ***मंच-सज्जा*** पार्श्वकर्म का अभिन्न अंग है। इसे मूलतः तीन भागों में बांटकर देखा जाता है – प्रतीकात्मक, अभिव्यंजनात्मक और आकारवादी। प्रतीकात्मक में महज स्थान का संकेत होता है। डेस्क एवं ब्लैकबोर्ड से कक्षा का संकेत दिया जाता है। अभिव्यंजनात्मक शैली में स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती। टेढ़े-मेढ़े संकेत, दीवार पर टंगी तस्वीरें नाटक का मंतव्य स्पष्ट करते हैं। मनोवैज्ञानिक नाटकों में इस पद्धति को अनेक बार आजमाया गया है। आकारवादी पद्धति में स्थान विशेष की जगह स्थान को इंगित किया जाता है। खंभे, सीढ़ियां, विभिन्न ऊंचाई के चबूतरे इत्यादि से इस पद्धति का प्रयोग किया होता रहा है।

***रूपसज्जा*** एवं ***वेशभूषा*** को संस्कृत शास्त्रकारों के समय से ही महत्व दिया जाता रहा है। नाटक के विषयवस्तु के अनुरूप ही उसकी वेशभूषा का विधान रचा जाता है। रूप-सज्जा एवं वेशभूषा निर्धारित करते समय संदर्भ विशेष की संस्कृति को ध्यान में रखना होता है। इस संदर्भ में कुछ विशेष बिंदुओं, वेशभूषा का ध्यान, त्वचा, आंखों एवं बालों पर ध्यान, कृत्रिम रंगों एवं प्रकाश की योजना, अभिनेता की शारीरिक बनावट आदि पर केंद्रित करना होता है। यदि अभिनेता में कुछ खामियां हों, तो उन्हें रूपसज्जा से छिपाया जा सकता है। रूप-सज्जा की रंगकर्म में निर्णायक भूमिका होती है।

रंगमंच की ***प्रकाश-योजना*** ने निःसंदेह एक लंबी विकास-यात्रा तय की है। दिन में नाटक खेलने की बाध्यता से शुरू होकर, मशाल, सैकड़ों दीपकों का प्रयोग करते हुए आज हम अत्याधुनिक तरीकों से प्रकाश और छाया की कलात्मक भूमिका को नियंत्रित करते हैं। *" यदि आप मंच को एक कैनवस मानें तो प्रकाश के माध्यम से आप उसमें जरूरत के मुताबिक रंग भर सकते हैं। प्रकाश और छायाओं का इस्तेमाल कर उसमे त्रि-आयामी प्रभाव रचा जा सकता है।"*[2] प्रस्तुति में पात्रों के चारित्रिक विकास, विभिन्न स्थितियों-परिस्थितियों के उद्घाटन और उसके अंतिम प्रभाव की वृद्धि की योजना में प्रकाश परिकल्पना का प्रभावी उपयोग होता है। इस हेतु

[2] गुप्ता, जी.एन. दास; मंच आलोकन (अनुवाद अजय मलकानी), पृष्ठ 18

उसके विज्ञान को समझने के साथ उसके कुशल संयोजन पर जोर देना होगा। *प्रदीपन* – इसमें मंच और दर्शकों की दूरी, मंच पर पड़ने वाले प्रकाश की तीव्रता इत्यादि का ध्यान रखा जाता है। *यथार्थवादी आलोकन* – प्रकाश योजना को वास्तविकता के स्तर पर निर्धारित करना चाहिए। संयोजनात्मक आलोकन – इसमें प्रकाश के मात्रात्मक होने की जगह गुणात्मक होने पर बल दिया गया है। *मनोवैज्ञानिक आलोकन* – प्रकाश का प्रयोग दृश्य विधान एवं कथ्य के सुगम प्रदर्शन के लिए होना चाहिए। दर्शक के मानस पटल पर प्रकाश योजना का प्रयोग सुस्पष्ट होना चाहिए। *लचीलापन* – वस्तुओं के प्रत्येक आयाम को दर्शाते हुए सभी पर यथोचित जोर देना चाहिए।[3]

***नृत्य एवं गीत-संगीत*** रंगमंच के प्रभाव को और गहरा बनाते हैं। भारतीय रंगमंच शुरू से ही नृत्य एवं गीत-संगीत को भावों की अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में प्रयुक्त करता रहा है। *नाट्यशास्त्र* में भी संगीत तथा साहित्य पर व्यापक चर्चा मिलती है। *" रंगमंच में संगीत जहां नाटक को उत्सवधर्मिता प्रदान करता है, वहीं गंभीरतम विचारों को साधारण सुभाव्य बनाकर उसे तनावपूर्ण होने से बचाता भी है।"*[4] ***पोस्टर, बैनर*** एवं ***प्रदर्शन परिचय पत्र*** आदि द्वारा दर्शकों को प्रस्तुति के लिए आकर्षित किया जाता है। प्रचार जितना आकर्षण और जिज्ञासा उत्पन्न करेगा, दर्शक उतने ही खींचे चले आएंगे। आधुनिक दौर में इसे फिल्मों के ट्रेलर की संकल्पना से भी समझा जा सकता है। आकर्षक ट्रेलर दर्शक के मन पर छाप छोड़ जाते हैं। ठीक उसी प्रकार बैनर तथा पोस्टर नाटक को सफल बनने में अग्रणी भूमिका निभाते हैं।

रंगमंच ने तकनीकी विकास को आत्मसात करते हुए अपनी प्रासंगिकता को बचाए रखा है। विशुद्ध कलावादियों का तर्क है कि तकनीक का प्रयोग रंगमंच के लिए खतरा है। प्रोजेक्टर, प्रकाश के अनेक उपकरण मंचन को और भी प्रभावी बनाते हैं, साथ ही स्पीकर का प्रयोग विशाल दर्शक समूह तक अपनी पहुंच सुनिश्चित करता है। अर्थाभाव के कारण रंगमंच सिनेमा और टेलीविजन की तरह तकनीकी सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सका है। *" चाहे रंगमंच जितना भी मशीनी चकाचौंध वाला बना हो, वह तकनीक और मशीन के मामले में फिल्म, टेलीविजन से कम ही रहेगा। इसलिए रंगमंच में जिसे मैं आगे रखता हूं, वह है गरीबी।"*[5]

दिल्ली हिंदी रंगमंच में *राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय* को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। पार्श्वकर्म के संदर्भ में विद्यालय के कुछ महत्वपूर्ण कदम पिछले कुछ दशकों में उल्लेखनीय रहे हैं। इस विद्यालय ने अनेक नामचीन पार्श्वकर्मी पैदा किए, जिन्होंने अपनी-अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र में बहुत कुछ नया रचते हुए दिल्ली हिंदी रंगमंच को विकासमान बनाया। ***रूप-सज्जा*** के संदर्भ में *डॉली अहलूवालिया, नीलिमा शर्मा, सुरेश शेट्टी, प्रेमलता, अरुण करमाकर, सीमा विश्वास, प्रमोद निगम, रौशन अल्काजी, उत्तरा बावकर, कृति वर्मा, त्रिपुरारी शर्मा, सुरेखा सीकरी, इंद्रभूषण घोष* एवं *महेंद्र शर्मा* आदि के काम और नाम उल्लेखनीय रहे हैं। ***प्रकाश-व्यवस्था*** के क्षेत्र में *जी.एन.*

[3] वहीं

[4] रानाडे, डॉ. अशोक डी; म्यूजिक एंड ड्रामा (While music can make performance very popular, it also often tends to dilute, diffuse or a simplify idea and concern sought to be communicated and makes theatre celebrative rather than moving disturbing.)

[5] खन्ना, दिनेश; अभिनय चिंतन : स्तानिस्लाव्स्की, ग्रोतोव्स्की और आर्तो, पृष्ठ 90

*दासगुप्ता, जी.एस. मराठे, सुलेमान, राधेश्याम, निसार अल्लाना, विजय कश्यप, विस्मय शाह, तापस सेन, वी. राम मूर्ति, सुरेश सेट्टी, ज्ञान चंद, रमेश अग्रवाल* एवं *अशोक सागर भगत* आदि की उल्लेखनीय भूमिका रही है। प्रस्तुति को ***संगीत-ध्वनि*** से प्रभावोत्पादक बनाने वाले कलाकारों में *ब.व. कारंत, मोहन उप्रेती, ज्ञान शिवपुरी, पंचानन पाठक, लोकेंद्र द्विवेदी, प्रेम मटियानी* और *आर.एस. कामू* के योगदान को भूलाया नहीं जा सकता है। ***सेट डिजाइन*** के क्षेत्र में *इब्राहिम अल्काजी, अहमद मुनीर, रोबिन दास, बंसी कौल, सत्यव्रत राउत, बापी बोस, सुरेश भारद्वाज, गोवर्धन पांचाल, निसार अल्लाना, जी.एस. मराठे* का नाम विशिष्ट है।

दिल्ली हिंदी रंगमंच ने अपनी अनेक पार्श्वकर्मियों को तैयार किया, जो देश-विदेश में हिंदी रंगमंच का प्रतिष्ठावर्धन कर रहे हैं। दिल्ली हिंदी रंगमंच पर पार्श्वकर्म का विमर्श मुख्यतः *राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय* के इर्द-गिर्द घूमता रहा है। दिल्ली हिंदी रंगमंच को नित नए रचनात्मक प्रयोगों के माध्यम से समृद्ध करने का कार्य विद्यालय ने किया है। निरंतर निखरती रचनात्मकता ने दिल्ली हिंदी रंगमंच को नई ऊंचाइयां प्रदान की हैं। निर्देशन के संदर्भ में पार्श्वकर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान भी प्राप्त है। विद्यालय ने अपनी रचनात्मकता से कई बार दर्शकों एवं रंगमंच विशेषज्ञों के बीच अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। पुराना किला में *अंधायुग* के साथ-साथ *तुग़लक़* और *सुल्तान रजिया* का विशेष रूप से तैयार मंच पर प्रदर्शन इस बात का प्रमाण रहा है।

दिल्ली हिंदी रंगमंच के पार्श्वकर्म के विकास को प्रमुखतः तीन कालखंडों में विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद से 1970 तक, 1970 से 1990 तक एवं 1990 से अभी तक। प्रथम दौर में मूलतः नाटकों के मंचन में सुदृढ़ता *इब्राहिम अल्काजी* के विद्यालय के निदेशक बनने के बाद मिली। उन्होंने अपनी दूर-दृष्टि से इसकी प्रासंगिकता को भांपकर पाठ्यक्रम में अनेक बदलाव किये, जिनमें मंचशिल्प, अभिनय और निर्देशन की कई विशेषताएं शामिल थीं। इन बदलावों ने पार्श्वकर्म एवं मंचन को एक अलग आयाम प्रदान किया। *इब्राहिम अल्काजी* द्वारा निर्देशित विद्यालय की प्रथम प्रस्तुति *मोहन राकेश* का *आषाढ़ का एक दिन* से ही पार्श्वकर्म का कुशल एवं रचनात्मक प्रयोग देखा जा सकता है। रूप-विन्यास में *इंदु घोष*, वेशभूषा में *कोकिला भवानी* तथा प्रकाश-व्यवस्था को *जी.एन. दासगुप्ता* ने अपना योगदान देकर *आषाढ़ का एक दिन* की प्रस्तुति से जुड़े पार्श्वकर्म को सफल बनाया। *प्रसाद* के नाटकों की अभिनेयता पर प्रश्न-चिह्न लगाने वाले विद्वानों को संतुष्ट कर *शांता गांधी* ने 1968 में *स्कंदगुप्त* का सफल मंचन किया। इसके अतिरिक्त डॉ. *लक्ष्मीनारायण लाल* के *कलंकी, ओम शिवपुरी* के निर्देशन में *लहरों के राजहंस* का सफल मंचन किया गया।

दूसरा दौर 1970 से 1990 के बीच का है। इस कालखण्ड में *सुल्तान रजिया, सूर्यमुख, मरजीवा, बकरी, अंधायुग* आदि जैसे अनेक भव्य नाटकों का मंचन हुआ। *सूर्यमुख* का पार्श्वकर्म विद्यालय के लिए चुनौतीपूर्ण था। *महाभारत* की पृष्ठभूमि पर आधारित इस नाटक का मंचन खुले में हुआ। अनेक जगहों पर इसमें विसंगतियां भी थी, परंतु उन विसंगतियों ने आगामी प्रदर्शनों की सफलता का मार्ग प्रशस्त किया। *सुल्तान रजिया* भी *इब्राहिम अल्काजी* के निर्देशन में खेला गया। पार्श्वकर्म पारखी *अल्काजी* ने दृश्यात्मक संभावनाओं को आंक कर इसे *रविंद्र भवन* के खुले मंच *मेघदूत* पर प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया। काव्य नाटकों के सिरमौर माने जाने वाले *अंधायुग* का भी मंचन इसी युग में हुआ। *" प्रस्तुतिकरण और प्रदर्शन की दृष्टि से 'अंधायुग' हिंदी का सबसे कठिन*

*फिर भी सबसे चर्चित नाटक रहा है। देश के कई निर्देशकों ने देश के विविध भागों के अतिरिक्त विदेशों में भी इसके कई प्रदर्शन किये हैं।"*[6] वस्तुतः यह नाटक भारतीय रंग-परंपरा का नया अवतार बनकर मंचित हुआ। इसने भारतीय रंगमंच को वैश्विक पहचान दिलायी। इसके अतिरिक्त *आधे अधूरे, काठ की गाड़ी, त्रिशंकु* तथा *सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक* जैसे नाटकों का मंचन भी इसी दौर में हुआ। इनका सफल मंचन दिल्ली हिंदी रंगकर्म के भीतर पार्श्वकर्म के निरंतर विकासमान होने का परिचायक बना।

तीसरा दौर 1990 से शुरू होता है। वैश्वीकरण ने अर्थव्यवस्थाओं के साथ-साथ संस्कृतियों को भी एक दूसरे के समीप लाने का कार्य किया। देश की राजधानी दिल्ली शुरू से ही अनेक संस्कृतियों का मिश्रण रही है। दिल्ली हिंदी रंगमंच ने अर्थाभाव के बावजूद काफी हद तक नए-नए परिवर्तनों से कदम मिलाने का भरसक प्रयास किया। *एम. के. रैना* द्वारा निर्देशित *भीष्म साहनी* का नाटक *मुआवजे* इस दौर की चुनौतियों एवं उपलब्धियों की कहानी कहता है। इसमें मंच-सज्जा पर काफी रचनात्मकता देखने को मिली। पर्दों को कलात्मक स्केच से सजाया गया। इसमें *शमशाद* के योगदान पर *रैना* का कहना था – *"मंच सज्जा में पृष्ठभूमि के पर्दों को चित्रित करने के लिए मैं व्यक्तिगत रूप से शमशाद जी का आभारी हूं।"*[7] *इंदरसभा* का मंचन करने वाले *मोहन उप्रेती* के अनुसार – *"रंगमंच के लिए संगीत-सृजन, जो कि साधारणतया प्रचलित है, के स्थान पर यहां संगीत के लिए रंगमंच इसका मूलाधार है। इंदरसभा के प्रसंग में यह भी अनोखा तथ्य है कि इसमें पाण्डुलिपि और संगीत दोनों ही नाटकीय प्रथा (रस्मो रिवाज) से उत्पन्न हुई है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है, हिंदी बोले जाने वाले क्षेत्रों की बहुत-सी भाषाओं का उपयोग।"*[8] *स्कंदगुप्त* के सफल मंचन के बाद इस बार दिल्ली हिंदी रंगमंच के समक्ष *ध्रुवस्वामिनी* की चुनौती थी। इस जिम्मेदारी को *रबिजिता गोगोई* ने विद्यालय के बैनर तले निभाकर दिल्ली हिंदी रंगमंच के पार्श्वकर्म के इतिहास में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

दिल्ली हिंदी रंगमंच के पार्श्वकर्म की यह प्रयोगात्मक यात्रा अपनी अनेक खूबियों, खामियों तथा चुनौतियों के साथ आज भी गतिमान है। इसने हिंदी ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारतीय रंगमंच को अपने नए प्रयोगों के माध्यम से संवारते हुए एक मजबूत आधार प्रदान किया है।

***डॉ. धर्मेंद्र प्रताप सिंह**
**हिंदी विभाग, हिंदू कॉलेज**
**दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली – 7**
**dr.dharmendradu@gmail.com**

[6] तनेजा, जयदेव; हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा, पृष्ठ 324

[7] रंगयात्रा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल, पृष्ठ 276

[8] वाजपेयी, अशोक; नटरंग, अंक 91 (जनवरी-मार्च 2012), पृष्ठ 67

# बिरसा मुंडा के जीवन और संघर्षों को दर्शाता नाटक "धरती आबा"

*डॉ कुमारी उर्वशी

**शोध सार:-**

*अपने जल, जंगल और जमीन से प्यार करने वाले समाज पर बाहरी लोगों ने जमकर अत्याचार किया। अंग्रेजों के खिलाफ आदिवासियों के संघर्ष के प्रमुख नायक थे बिरसा मुंडा। धरती आबा कहे जाने वाले बिरसा मुंडा के जीवन संघर्षों को केंद्र में रखकर लिखा गया नाटक है 'धरती आबा'। इस नाटक में दिखाया गया है कि अंग्रेजों के द्वारा आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार और भेदभाव को देखकर बिरसा मुंडा विद्रोह करते हैं। भगवान बिरसा मुंडा स्कूल में हो रहे भेदभाव से क्रांति की ओर उन्मुख होते हैं। वह मुंडाओं के प्रति अपमानजनक टिप्पणियों का विरोध करते हैं और स्कूल छोड़ देते हैं। स्वयं जागरूक होकर उन्होंने यह जागरूकता पूरे समाज में फैलाने की कोशिश की। वह मुंडाओं के भीतर गुलामी से लड़ने के लिए साहस पैदा करते हैं। वह आंदोलन को विदेशी शासन से मुक्ति के संघर्ष में बदल देते हैं।*

**बीज शब्द :-** *रंगसंस्कार, विदेशिया नाट्य शैली, धरती आबा, उलगुलान*

**आमुख:-** कथाकार, नाटककार, रंग-चिंतक हृषीकेष सुलभ की आरम्भिक शिक्षा गाँव में हुई और अपने गाँव के रंगमंच से ही उन्होंने रंगसंस्कार ग्रहण किया। कथा-लेखन, नाट्य-लेखन, रंगकर्म के साथ-साथ हृषीकेष सुलभ जी सांस्कृतिक आन्दोलनों में सक्रिय रहे हैं।शायद यही वजह रही होगी बिरसा मुंडा की जीवनी पर रचना रचने की। इनकी कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित और अनूदित हो चुकी हैं। हृषीकेष सुलभ रंगमंच से गहरे जुड़ाव के कारण कथा लेखन के साथ-साथ नाट्य लेखन की ओर उन्मुख हुए और भिखारी ठाकुर की प्रसिद्ध नाट्यशैली बिदेसिया की रंगयुक्तियों का आधुनिक हिन्दी रंगमंच के लिए पहली बार अपने नाट्यालेखों में सृजनात्मक प्रयोग किया। विदेशिया नाट्य शैली हिंदी क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है।

वसंत के हत्यारे, तूती की आवाज , बँधा है काल, वधस्थल से छलाँग और पत्थरकट हृषीकेष सुलभ के कथा संकलन हैं। बटोही , धरती आबा , अमली ,माटीगाड़ी ( शूद्रक रचित मृच्छकटिकम् की पुनर्रचना ),दालिया ( टैगोर की कहानी पर आधारित नाटक) और मैला आँचल ( फणीष्वरनाथ रेणु के उपन्यास का नाट्यांतर ) इनके नाटक है। रंगमंच का जनतंत्र और रंग अरंग नाट्यचिंतन ग्रंथ है। कथा-लेखन के लिए वर्ष 2010 के लिए कथा यूके, लंदन का इंदु शर्मा कथा सम्मान और नाट्य-लेखन एवं नाट्यचिंतन के लिए डा. सिद्धनाथ कुमार स्मृति सम्मान और रामवृक्ष बेनीपुरी सम्मान से हृषीकेष सुलभ को सम्मानित किया गया है।

अपने जल, जंगल और जमीन से प्यार करने वाले समाज पर बाहरी लोगों ने जमकर अत्याचार किया। अंग्रेजों के खिलाफ आदिवासियों के संघर्ष के प्रमुख नायक थे बिरसा मुंडा। धरती आबा कहे जाने वाले बिरसा मुंडा के

जीवन संघर्षों को केंद्र में रखकर लिखा गया नाटक है 'धरती आबा'। इस नाटक में दिखाया गया है कि अंग्रेजों के द्वारा आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार और भेदभाव को देखकर बिरसा मुंडा विद्रोह करते हैं। भगवान बिरसा मुंडा स्कूल में हो रहे भेदभाव से क्रांति की ओर उन्मुख होते हैं। वह मुंडाओं के प्रति अपमानजनक टिप्पणियों का विरोध करते हैं और स्कूल छोड़ देते हैं। स्वयं जागरूक होकर उन्होंने यह जागरूकता पूरे समाज में फैलाने की कोशिश की। वह मुंडाओं के भीतर गुलामी से लड़ने के लिए साहस पैदा करते हैं। वह आंदोलन को विदेशी शासन से मुक्ति के संघर्ष में बदल देते हैं। वंचितों के न्याय के प्रति जागरूकता, सूखा, अकाल, भूख और महामारी से जूझते हुए ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौति देनेवाले मुंडाओं के नायक बिरसा की मृत्यु जेल में होती है। 'धरती आबा' नाटक बिरसा मुंडा के व्यक्तित्व और उलगुलान आंदोलन के माध्यम से हमारे स्वतंत्रता संग्राम के पन्नों को खोलता है। उनके उलगुलान और बलिदान ने उन्हें 'भगवान' बना दिया। हालात आज भी वैसे ही हैं जैसे बिरसा मुंडा के वक्त थे। परिस्थितियां काफी कुछ बदल गई हैं लेकिन कहीं भी कभी भी माहौल वही है। अपने मूल स्थान से आज भी आदिवासी खदेड़े जा रहे हैं, दिकू अब भी हैं। जंगलों के संसाधन तब भी असली दावेदारों के नहीं थे और अब भी नहीं हैं।

कठोर जीवन जीने वाले और अपने आप में संतुष्ट आदिवासियों का संघर्ष अट्ठारहवीं शताब्दी से चला आ रहा है। 1766 के पहाड़िया-विद्रोह से लेकर 1857 के ग़दर के बाद भी आदिवासी संघर्षरत रहे। संघर्ष इनके खून में बसा है।सन 1895 से 1900 तक बिरसा मुंडा का महाविद्रोह 'ऊलगुलान' चला। आदिवासियों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने के लिए बिरसा मुंडा ने काफी कोशिश की। आदिवासियों को लगातार जल-जंगल-ज़मीन और उनके प्राकृतिक संसाधनों से बेदखल किया जाता रहा और वे इसके खिलाफ आवाज उठाते रहे। 1895 में बिरसा ने अंग्रेजों की लागू की गयी ज़मींदारी प्रथा और राजस्व-व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ाई के साथ-साथ जंगल-ज़मीन की लड़ाई छेड़ी थी। बिरसा ने सूदखोर महाजनों के ख़िलाफ़ भी जंग का ऐलान किया था। ये महाजन, जिन्हें वे दिकू कहते थे, क़र्ज़ के बदले उनकी ज़मीन पर कब्ज़ा कर लेते थे। यह मात्र विद्रोह नहीं था। यह आदिवासी अस्मिता, स्वायतत्ता और संस्कृति को बचाने के लिए संग्राम था। बिरसा ने इस संग्राम को क्रांति का रूप दिया।

बिरसा मुंडा का जन्म 1875 में रांची जिले के उलीहातु नामक स्थान में 15 नवम्बर 1875 को हुआ। विरसा मुंडा के सम्मान में ही झारखंड का स्थापना दिवस 15 नवंबर को मनाया जाता है। बिरसा 'मुंडा' समाज से थे, जो कि भारत की सबसे बड़ी जनजातियों में से एक है। बिरसा के पिता सुगना मुंडा कृषक थे और उनका बचपन गरीबी, अभाव में बीता। अभाव में पले बढ़े बिरसा अपनी जाति के दुख दर्द से वाकिफ थे इसलिए क्रांति के लिए उन्हें विशेष प्रेरणा की आवश्यकता नहीं पड़ी। पिता के पास अर्थ अभाव के कारण वह अपने चाचा के साथ अयूभाटू गाँव में पले बढ़े। बिरसा ने प्रारंभिक शिक्षा सलगा में स्थित जयपाल नाग द्वारा चलाये जा रहे स्कूल से की। पढ़ाई में तेज होने के कारण जयपाल नाग ने उन्हें जर्मन लुथेरन मिशन स्कूल, चाईबासा में डालने की सिफारिश की। पढ़ाई में तेज होना यह दर्शाता है कि उनका उर्वर मस्तिष्क कितना जागरूक था। नए विद्यालय में नामांकन के साथ उनका ईसाई धर्म में परिवर्तन हुआ और उन्हें 'बिरसा डेविड' नाम मिला जो बाद में 'बिरसा दौद पूर्ती' के नाम से जाने

जाने लगे। इसी विद्यालय में मिले भेदभाव के कारण कुछ वर्ष पढ़ाई करने के बाद, उन्होंने जर्मन मिशन स्कूल छोड़ दिया।कहा जाता है कि बिरसा ने यह कहकर कि 'साहेब साहेब एक टोपी है' स्कूल से नाता तोड़ लिया। 1890 के आसपास बिरसा वैष्णव धर्म की ओर मुड गए। जो आदिवासी किसी महामारी को दैवीय प्रकोप मानते थे उनको वे महामारी से बचने के उपाय समझाते। मुंडा आदिवासी हैजा, चेचक, सांप के काटने बाघ के खाए जाने को ईश्वर की मर्ज़ी मानते, बिरसा उन्हें सिखाते कि चेचक-हैजा से कैसे लड़ा जाता है। धीरे-धीरे बिरसा का ध्यान मुंडा समुदाय की ग़रीबी की ओर गया। आदिवासियों का जीवन तब अभावों से भरा हुआ था। न खाने को रोटी थी न पहनने को कपड़े। अनमोल बहुत समस्याओं से जूझते हुए लोगों को अपने प्राणों से प्रिय जंगल जमीन से भी बेदखल किया जाने लगा।एक तरफ ग़रीबी थी और दूसरी तरफ 'इंडियन फारेस्ट एक्ट' 1882 ने उनके जंगल छीन लिए थे। जो जंगल के दावेदार थे, वही जंगलों से बेदख़ल कर दिए गए। यह देख बिरसा ने हथियार उठा लिए। उलगुलान शुरू हो गया था।

ईसाई धर्म त्यागने के बाद बिरसा ने सांस्कृतिक लोकाचार बनाये रखने और बोंगा (पुरखा देवताओं) को पूजने पर जोर दिया। और अपने मूल संस्कृति की ओर लौट गए। लोगों में बढ़ रहे असंतोष ने आदिवासी रीति रिवाजों और प्रथाओं को भी प्रभावित किया, जिसे मूल मानकर बिरसा ने आन्दोलन की शुरुआत की। और इसके लिए एक नए पंथ की शुरुआत की, जिसका मूल उद्देश्य दिकुओं, जमींदारों, और अंग्रेजी शासन को चुनौती देना था। आज बिरसा मुंडा को इसी पंथ की वजह से जाना जाता है। इस पंथ को 'बिरसाइट' के नाम से भी जाना जाता है। उन्होंने खुद को भगवान घोषित किया और लोगों को उनका खोया राज्य लौटाने का आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह घोषणा की कि मुंडा राज का शासन शुरू हो गया है।

धरती आबा नाटक का यह अंश देखें:- "इतने दिन बीत गए और मैं आज तक मुंडाओं को उनका राज नहीं दिला सका। गुलामी का अँधेरा उनके ऊपर पहले की तरह ही छाया हुआ है। ...पर कुछ दरवाज़े तो खुले हैं।...थोड़ी उजास तो आ रही है। मैंने उनके कई बन्धनों को खोल दिया है। अब वे असुरों की पूजा नहीं करते। अब वे प्रेतों से नहीं डरते। अब उन्होंने पहानों- ओझाओं को भेंट चढ़ाना बंद कर दिया है। ...पर मैंने यह कैसी राह चुन ली। इतनी कठिन राह। क्या वे सब इस राह पर चल सकेंगे ? जानता हूँ मैं, यह एक कठिन राह है। जब पैर बढ़ाओ, तब काँटे। पर यही एक राह है जिस पर चलकर मुंडा गोरे साहबों के डर और पकड़ से आज़ाद हो सकते हैं। यह जो कुछ हो रहा है, क्या यह सब मैं कर रहा हूँ ? नहीं, मैं अकेला कुछ नहीं कर सकता। ...मैं तो बस उनकी साँसों में...उनके मन में ...उनकी आत्माओं में...उनकी नसों में एक तेज़ तूफ़ान की तरह रहना चाहता हूँ। उन्होंने मुझे अपना पिता कहा और मैंने उनका पिता बनना स्वीकार किया। वे गुलामी के बंधन से छूटना चाहते हैं और इसके लिए उन्हें भरोसा चाहिए, और उन्होंने उस भरोसे को मेरे भीतर पाया...उन्हें एक भगवान चाहिए, वे धर्म के बिना न तो जी सकते हैं और न ही मर सकते हैं। जनम-जनम से वे सिंबोड़ा को पूजते रहे, पर सिंबोड़ा ने उनकी सुधि नहीं ली। मेरे ऊपर उनके भरोसे ने उन्हें मेरे भीतर भगवान दिखाया।

उन्होंने मुझे अपना भगवान माना और मुझे उनका भगवान बनना पड़ा।

क्या करता मैं ? उनके भरोसे को कैसे तोड़ता ? मैं जानता हूँ दिकुओं, ज़मींदारों, साहेबों की ताक़त को। पर बिना लड़े कुछ नहीं हो सकता। हार के डर से लड़ने को रोका नहीं जा सकता। मैं जानता हूँ बन्दूक की ताक़त। मालूम है मुझे कि संथाल हूल में हारे, कोल, खरुआ और सरदार हारे, पर लड़ाई सिरफ हार-जीत नहीं होती। ...मुझे अपना अंत मालूम है, पर मैं जानता हूँ कि उनकी जीत उनके भरोसे में ही छिपी है। ..हाँ मैं आबा हूँ इस धरती का ...भगवान हूँ मुंडाओं का...। मैंने मिशन में प्रभु यीशु की प्रशंसा में सुना था कि एक रोटी में उन्होंने हज़ारों हज़ार लोगों की भूख मिटाई थी। आनंद पांडे के घर सुना था कि भक्त प्रह्लाद के लिए भगवान ने सिंह का रूप धरा और खम्भा से निकलकर उसके मामा को मार डाला। मैं भी उन्हीं की तरह हूँ। लँगोटी पहने, तीर धनुही लिये, भूखे पेट मुंडाओं को मैंने निडर किया है। आज हर मुंडा निडर है और दुनिया पर राज करनेवाले साहेबों के सामने छाती ताने खड़ा है।"

बिरसा एक दूरदर्शी थे, जिनका इतिहास आने वाले समय में आज़ादी और स्वायत्ता की कहानी के रूप में जाना जायेगा। ब्रिटिश सरकार के दौरान गैर आदिवासी (दिकु), आदिवासियों की जमीन हड़प रहे थे और आदिवासियों को खुद की जमीन पर बेगारी मजदूर बनने पर मजबूर होना पड रहा था।बिरसा मुंडा के समय में उपस्थित परिस्थितियां बहुत कुछ आज भी वर्तमान है। 1895 के दौरान अकाल की स्थिति में उन्होंने बकाया वन राशि को लेकर अपना पहला आन्दोलन शुरू किया। मुंडा समाज को ऐसे ही मसीहा का इंतजार था. उनकी महानता और उपलब्धियों के कारण सभी उन्हें "धरती आबा" यानि 'पृथ्वी के पिता' के नाम से जानते थे। लोगों का यह भी मानना था कि बिरसा के पास अद्भुत शक्तियां हैं जिनसे वे लोगों की परेशानियों का समाधान कर सकते हैं। अपनी बीमारियों के निवारण के लिए मुंडा, उरांव, खरिया समाज के लोग बिरसा के दर्शन के लिए 'चलकड़' आने लगे। भारतीय समाज की यह विशेषता है की यहां की जनता हर विशिष्ट व्यक्ति को भगवान मान लेती है। कई चमत्कार इन महान आत्माओं के साथ जोड़ दिए जाते हैं। बिरसा मुंडा के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। पलामू जिले के बरवारी और छेछारी तक आदिवासी बिरसाइट – यानि बिरसा के अनुयायी बन गए।
बिरसा मुंडाओं के प्रति अपमानजनक टिप्पणियों के कारण ही मिशन स्कूल नहीं छोड़ देते, बल्कि जनजातीय देवताओं और प्रचलित हिंदू देवताओं से संबंधित कर्मकांडों के प्रति अनास्था भी प्रकट करते हैं। वह धर्म के महत्व और स्वरुप की अपनी निजी व्याख्या करते हैं और एक ऐसे धर्म की स्थापना करते हैं, जहाँ भय नहीं विस्वास है और साथ ही नए स्वतंत्र जीवन की चाहत है।लोक गीतों में लोगों पर बिरसा के गहरे प्रभाव का वर्णन मिलता है और लोग 'धरती आबा' के नाम से आज भी उनका स्मरण करते हैं।

महाश्वेता देवी के उपन्यास 'जंगल के दावेदार' का एक अंश है : सवेरे आठ बजे बिरसा मुंडा खून की उलटी कर, अचेत हो गया. बिरसा मुंडा- सुगना मुंडा का बेटा; उम्र पच्चीस वर्ष-विचाराधीन बंदी। तीसरी फ़रवरी को बिरसा पकड़ा गया था, किन्तु उस मास के अंतिम सप्ताह तक बिरसा और अन्य मुंडाओं के विरुद्ध केस तैयार नहीं हुआ

था....क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की बहुत सी धाराओं में मुंडा पकड़ा गया था, लेकिन बिरसा जानता था उसे सज़ा नहीं होगी,' डॉक्टर को बुलाया गया उसने मुंडा की नाड़ी देखी। वो बंद हो चुकी थी। बिरसा मुंडा नहीं मरा था, आदिवासी मुंडाओं का 'भगवान' मर चुका था।

रमणिका गुप्ता अपनी किताब 'आदिवासी अस्मिता का संकट' में लिखती हैं, 'आदिवासी इलाकों के जंगलों और ज़मीनों पर, राजा-नवाब या अंग्रेजों का नहीं जनता का कब्ज़ा था। राजा-नवाब थे तो ज़रूर, वे उन्हें लूटते भी थे, पर वे उनकी संस्कृति और व्यवस्था में दखल नहीं देते थे। अंग्रेज़ भी शुरू में वहां जा नहीं पाए थे। रेलों के विस्तार के लिए, जब उन्होंने पुराने मानभूम और दामिन-ई-कोह (वर्तमान में संथाल परगना) के इलाकों के जंगले काटने शुरू कर दिए और बड़े पैमाने पर आदिवासी विस्थापित होने लगे, आदिवासी चौंके और मंत्रणा शुरू हुई।' वे आगे लिखती हैं, 'अंग्रेजों ने ज़मींदारी व्यवस्था लागू कर आदिवासियों के वे गांव, जहां व सामूहिक खेती किया करते थे, ज़मींदारों, दलालों में बांटकर, राजस्व की नयी व्यवस्था लागू कर दी। इसके विरुद्ध बड़े पैमाने पर लोग आंदोलित हुए और उस व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह शुरू कर दिए।'

संख्या और संसाधन कम होने की वजह से बिरसा मुंडा ने छापामार लड़ाई का सहारा लिया। लेकिन यह उनके निष्ठा का ही प्रभाव था कि रांची और उसके आसपास के इलाकों में पुलिस उनसे आतंकित थी। अंग्रेजों ने उन्हें पकड़ने के लिए पांच सौ रुपये का इनाम रखा था जो उस समय के लिए बहुत बड़ी रकम थी। बिरसा मुंडा और अंग्रेजों के बीच अंतिम और निर्णायक लड़ाई 1900 में रांची के पास दूम्बरी पहाड़ी पर हुई थी। हज़ारों की संख्या में मुंडा आदिवासी बिरसा के नेतृत्व में लड़े थे। आदिवासियों के तीर-कमान और भाले अंग्रेजों के अत्याधुनिक बंदूकों और तोपों का सामना आखिर किस प्रकार करते? बहुत सारे आदिवासी बेरहमी से मार दिए गए। 25 जनवरी, 1900 में स्टेट्समैन अखबार के मुताबिक इस लड़ाई में 400 लोग मारे गए थे। अंग्रेज़ जीते तो सही पर बिरसा मुंडा हाथ नहीं आए। लेकिन जहां बंदूकें और तोपें काम नहीं आईं वहां पांच सौ रुपये ने काम कर दिया। बिरसा की ही जाति के लोगों ने ₹500 के लालच में उन्हें पकड़वा दिया। यह उनकी जाति की बेबसी भी थी जिसे महाश्वेता देवी अपने महान कालजयी उपन्यास 'जंगल के दावेदार' में लिखती हैं, 'अगर उसे उसकी धरती पर दो वक़्त दो थाली घाटो, बरस में चार मोटे कपड़े, जाड़े में पुआल-भरे थैले का आराम, महाजन के हाथों छुटकारा, रौशनी करने के लिए महुआ का तेल, घाटो खाने के लिए काला नमक, जंगल की जड़ें और शहद, जंगल के हिरन और खरगोश-चिड़ियों आदि का मांस-ये सब मिल जाते तो बीरसा मुंडा शायद भगवान न बनता।'

'उलगुलान' के रुमानीवाद को साहित्य और जंगल से निकलकर साम्यवाद के हाथों में लाने वाले थे चारू मजुमदार, कनु सान्याल और जगत संथाल है। इन्होंने इसे नक्सलवाद का रंग दे दिया। 'नक्सलवाद' शब्द की उत्पत्ति पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी गांव से हुई है। साम्यवाद के सिद्धान्त से फ़ौरी तौर पर समानता रखने वाला आदिवासी आंदोलन कई मायनों में अलग भी था और एक भी यही उलगुलान बाद में माओवाद से जोड़ दिया गया। ऐसे में कवि भुजंग मेश्राम की पंक्तियां हैं :

'बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा
घास काटती दराती हो या लकड़ी काटती कुल्हाड़ी
यहां-वहां से, पूरब-पश्चिम, उत्तर दक्षिण से
कहीं से भी आ मेरे बिरसा
खेतों की बयार बनकर
लोग तेरी बाट जोहते.'

"धरती आबा" का यह संवाद लगता है जैसे इसी कविता का जवाब है:- "लौटकर आऊंगा मैं..जल्द ही लौटूंगा मैं अपने जंगलों में, अपने पहाड़ों पर...मुंडा लोगों के बीच फिर आऊंगा मैं। .तुम्हें मेरे कारण दुःख न सहना पड़े इसलिए माटी बदल रहा हूँ मैं...उलगुलान ख़त्म नहीं होगा। आदिम खून है हमारा। ...काले लोगों का खून है यह।

भूख... लांछन... अपमान... दुःख... पीड़ा ने मिल-जुलकर बनाया है इस खून को। इसी खून से जली है उलगुलान की आग। यह आग कभी नहीं बुझेगी...कभी नहीं।.... जल्दी ही लौटकर आऊंगा मैं"

बिरसा मुंडा का यह संवाद नाटक धरती आबा का मुख्य कथ्य है। छोटानागपुर के जंगलों में मुंडा, हो, उराँव, संथाल आदि जनजातियाँ युगों से निवास करती रही हैं। ये प्रकृति के सहचर रहे हैं तथा प्रकृति से इनके आत्मीय संबंध ने इनके जीवन-बोध को निश्छल मानवीय संवेदनाओं से भर दिया है। अपनी परम्पराओं, विश्वासों, आस्थाओं और अपनी सहज-सरल जीवन-पद्धति के कारण आदिवासियों ने धरती को, जल को, जंगल को माँ की तरह देवी देवता की तरह पूजा है और धरती की सम्पदा की हर संभव रक्षा की है। आदिवासियों के सरनेम किसी न किसी जीव जंतु के नाम पर होते हैं और वह उन जीव जंतुओं के संरक्षक होते हैं। इसके बावजूद इन्हें लगातार तथाकथित सभ्य समाज के प्रपंचों का शिकार होना पड़ा है। प्रपंचों से दूर यह समाज तथाकथित सभ्य समाज के स्वार्थ की पूर्ति के लिए जीवन की निजता को नष्ट होता देख रहा है । इस अन्याय के विरुद्ध सिधु-कानू, तिलका मांझी और बिरसा मुंडा जैसे नायकों ने संघर्ष किया और अपनी जातीय चेतना, परम्परा, धरती और मनुष्य की गरिमा को स्थापित किया। वर्गीय चेतना के जागृत हुए बिना क्रांति संभव नहीं है इसलिए सर्वप्रथम उन लोगों ने जातीय चेतना जगाई।

"धरती आबा" नाटक बिरसा मुंडा के व्यक्तित्व और उलगुलान आंदोलन के माध्यम से हमारे स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास के कई ऐसे पन्नों को खोलता है, जिनमें समाज के अंतिम कतार में खड़े मनुष्य की चेतना शामिल है। बिरसा के संघर्ष भरे जीवन में मुंडाओं के लिए स्वप्न हैं। जनजातीय समाज के नायक बिरसा मुंडा पूरे भारतीय समाज के नायक के रूप में उभरते हैं और गुलामी के कठिन जीवन से मुक्ति के लिए आंदोलन आरम्भ करते हैं। वह

मुंडाओं को संगठित करते हैं और नई सामाजिक व्यवस्था तथा आज़ादी के लिए लड़ते हैं। पहली बार की गिरफ्तारी और जेल की सज़ा काट कर लौटने के बाद वह मुंडाओं को नए सिरे से संगठित कर आंदोलन करते हैं।

कर्मी बिरसा की माँ है, पर वह धरती का प्रतीक बन जाती है। भगवान और धरती के आबा (पिता) के रूप में उनका संघर्ष आज भी हमारे जीवन को प्रेरित करता है। बिरसा मुंडा का नायकत्व मनुष्य के मुक्ति-संघर्ष का धवल प्रतीक है। धरती आबा नाटक में तत्कालीन शासन और अंग्रेजों द्वारा बिरसा के सन्दर्भ में फैलाई तथा सरकारी अभिलेखों में दर्ज की गई रूढ़ियों से परे जाकर भी बहुत कुछ रचने का प्रयास किया गया है।

धरती आबा बिरसा मुंडा आम आदिवासियों के दिलों में आज भी जिंदा .हैं कठिनाइयों से संघर्ष के दौर में उनका नाम उन्हें संबल व ऊर्जा देता .है पर ज्यादातर यह मानते हैं कि भगवान बिरसा का सपना पूरी तरह साकार नहीं हुआ .है उन्होंने अपने हिस्से की लड़ाई लड़ी और भावी पीढ़ी को यह प्रेरणा दिया कि अन्याय के खिलाफ ईमानदारी और प्रतिबद्धता से लड़ेंगे, तो कुछ भी नामुमकिन नहीं .है। जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के प्राध्यापक प्रो हरि उरांव कहते हैं कि बिरसा मुंडा पूरे झारखंडी आदिवासी समाज के प्रतीक हैं, पर आज उनके नाम का राजनैतिक और व्यावसायिक उपयोग ज्यादा हो रहा .है उन्होंने आदिवासी समाज के लिए जो सपना देखा था, वह अब तक पूरी तरह साकार नहीं हुआ .है उन्होंने सशक्त, विकसित व शोषण मुक्त आदिवासी समाज की परिकल्पना की थी. उन्होंने हमें राह दिखायी है और अब यह हमारा कर्तव्य है कि उनकी तरह हर अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध करें.

जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के शिक्षक महेश भगत कहते हैं कि बिरसा मुंडा आदिवासियत के प्रतीक .हैं उनका सपना अब तक पूरा नहीं हुआ .है यदि आज वह हमारे बीच होते, तो लोगों की स्थिति और बेहतर होती या उनका प्रतिकार जारी रहता. उन्होंने जिस भावना के साथ अन्याय व शोषण के खिलाफ संघर्ष किया था, वह भावना आज कम दिखती .है यदि हालात सुधारना चाहते हैं, तो उनकी तरह ईमानदारी और प्रतिबद्धता की जरूरत .है कई लोग उनका नाम सिर्फ मजबूरी या औपचारिकतावश लेते हैं, जो नहीं होना चाहिए. उनकी भावना को आत्मसात करने की आवश्यकता .है। भगवान बिरसा हमारे मार्गदर्शक .हैं उन्होंने युवाओं को आदिवासी समाज के लिए कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का सबक दिया .है आम लोगों की खुशहाली का सपना देखना सिखाया .है जरूरी है कि आज के युवा उनकी तरह सपना देखना और संकल्प के साथ आगे बढ़ना सीखें।
आज के ज्यादातर युवाओं में उनकी तरह सोच और नि:स्वार्थ भावना नजर नहीं आती. यदि उनकी सोच पर चलेंगे तो पूरा आदिवासी समाज, पूरा झारखंड खुशहाल हो सकता .है उन्होंने समाज के लिए सर्वोच्च बलिदान दिया. उनके कार्यों को आगे बढ़ाने की जरूरत .है वह आदिवासी युवाओं के प्रेरणा के स्रोत .हैं। बिरसा मुंडा ने अंगरेज सरकार और जमींदारों के शोषण के खिलाफ संघर्ष किया. लोगों को बचाने के लिए अपनी जान की परवाह नहीं की. शोषितों की आवाज बने. झारखंड के निर्माण में और यहां के लोगों को हक-अधिकार दिलाने में उनकी बड़ी भूमिका रही .है पर उनका सपना पूरी तरह साकार नहीं हुआ .है ।

उन्होंने जल, जंगल व जमीन की लड़ाई लड़ी और इसमें अपने प्राणों की आहूति दे दी् आज भी वह अपनी संस्कृति व धरोहरों की रक्षा और शोषण के खिलाफ लड़ाई में हमारे प्रेरणा स्रोत हैं वे आम आदिवासी के दिल में आज भी जिंदा हैं।

यदि एक कोई नाम है जिसे भारत के सभी आदिवासी समुदायों ने आदर्श और प्रेरणा के रूप में स्वीकारा है, तो वह हैं "धरती आबा बिरसा मुंडा"।ब्रिटिश राज, जमींदारों, दिकुओं के खिलाफ बिरसा के विद्रोह ने स्वायत्ता और स्वशासन की मांग की। बिरसा मुंडा के संघर्ष के फलस्वरूप ही छोटा नागपुर टेनेंसी एक्ट, 1908 (CNT) इस क्षेत्र में लागू हुआ जो आज तक कायम है। यह एक्ट आदिवासी जमीन को गैर आदिवासी में हस्तांतरित करने में प्रतिबन्ध लगाता है और साथ ही आदिवासियों के मूल अधिकारों की रक्षा करता है।

ब्रिटिश काल में सरकार की नीतियों के कारण आदिवासी कृषि व्यवस्था, सामंती व्यवस्था में बदल रही थी। चूंकि आदिवासी कृषि प्रणाली अतिरिक्त या 'सरप्लस' उत्पादन करने के काबिल नहीं थी, सरकार ने गैर आदिवासियों को कृषि के लिए आमंत्रित करना शुरू कर दिया। इस प्रकार आदिवासियों की जमीन छीनने लगी. यह गैर आदिवासी वर्ग, लोगों का शोषण कर केवल अपनी संपत्ति बनाए में उत्सुक थे।

मुंडा जनजाति छोटा नागपुर क्षेत्र में आदिकाल से रह रहे थे और वहां के मूल निवासी थे। इसके बावजूद अंग्रेजी सरकार के आने पर आदिवासियों पर अनेक प्रकार के टैक्स लागू किये जाते थे। इस बीच जमींदार आदिवासियों और ब्रिटिश सरकार के बीच मध्यस्त का काम करने लगे और आदिवासिओं पर शोषण बढ़ने लगा। जैसे ही ब्रिटिश सरकार आदिवासी इलाकों में अपनी पकड़ बनाने लगी, साथ ही हिन्दू धर्म के लोगों का प्रभाव इन क्षेत्रों में बढ़ने लगा। न्याय नहीं मिल पाने के कारण आदिवासियों के पास केवल खुद से संघर्ष करने का रास्ता मिला। बिरसा ने नारा दिया कि "महारानी राज तुंदु जाना ओरो अबुआ राज एते जाना" अर्थात '(ब्रिटिश) महारानी का राज खत्म हो और हमारा राज स्थापित हो'। इस तरह बिरसा ने आदिवासी स्वायत्ता, स्वशासन पर बल दिया। आदिवासी समाज भूमिहीन होता जा रहा था और मजदूरी करने पर विवश हो चुका था। इस कारण बिरसा के आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को आदिवासी हित के लिए कानून लाने पर मजबूर किया और साथ ही आदिवासियों का विश्वास जगाया की 'दिकुओं' के खिलाफ वे खुद अपनी लड़ाई लड़ने के काबिल हैं. बिरसा ने लोगों को एकजुट करने के लिए चयनित एवं गुप्त स्थानों में सभा करवाई, प्रार्थनाओं को रचा और अंग्रेजी शासन के अंत के लिए अनुष्ठान कराए।

आज के समय में बिरसा मुंडा आदिवासी आन्दोलनों के लिए एक प्रेरणा हैं। लेकिन साथ ही मौजूदा साहित्य हमारे सामने कई सवाल भी खड़े करता है। जहाँ एक तरफ भारत सरकार बिरसा को एक 'स्वतंत्रता सेनानी' और 'देशभक्त' के रूप में मानती है, दूसरी तरफ बिरसा के मूल सिद्धांतों का खुला उल्लघन करती है। आजादी के 70 वर्षों के बाद भी आज अगर आदिवासी समाज को समान नागरिक की तरह नहीं माना जा रहा, तो फिर किस

सन्दर्भ में आदिवासी पुरखों ने 'स्वतंत्रता' की लड़ाई लड़ी? अगर लड़ी भी तो किसकी स्वतंत्रता के लिए? किस आधार पर आदिवासी पूर्वजों के बलिदान को हम "देश" के प्रति बलिदान मानेंगे? जबकि आज आदिवासी समाज सभी आंकड़ों में उपनिवेशवाद का शिकार है, जहाँ केवल ब्रिटिश सरकार के बदले, देश और राज्यों की सरकार आदिवासियों के दमन की नीतियाँ अपना रही है। ज्ञात है कि बिरसा के संगठनात्मक कौशल ने लोगों को प्रेरित किया और उन्हें जमींदारों, ठेकेदारों के चंगुल से बचाया और साथ ही आदिवासी जमीन पर पूर्ण स्वामित्व की बात रखी। इस प्रकार बिरसा के इतिहास से हमें आज के संघर्ष के लिए अनेकों सीख मिलते हैं। जिस तरह आज आदिवासियों पर अत्याचार बढ़ रहे हैं और उपनिवेशवादी नीतियाँ सरकारी नीतियाँ बन रही हैं, बिरसा का इतिहास और उनके सिद्धांत भविष्य के आदिवासी आन्दोलनों के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण पेश करता रहेगा।

निष्कर्ष:-बिरसा ने आदिवासी स्वायत्ता, स्वशासन पर बल दिया। आदिवासी समाज भूमिहीन होता जा रहा था और मजदूरी करने पर विवश हो चुका था। इस कारण बिरसा के आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को आदिवासी हित के लिए कानून लाने पर मजबूर किया और साथ ही आदिवासियों का विश्वास जगाया की 'दिकुओं' के खिलाफ वे खुद अपनी लड़ाई लड़ने के काबिल हैं. बिरसा ने लोगों को एकजुट करने के लिए चयनित एवं गुप्त स्थानों में सभा करवाई, प्रार्थनाओं को रचा और अंग्रेजी शासन के अंत के लिए अनुष्ठान कराए।

**संदर्भ ग्रंथ:-**

१. ऋषिकेश राय :- 2010 , धरती आबा, राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी:- 2002, साहित्य सहचर ,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,

३. हंस ,जून 2009 ,पृष्ठ संख्या 9

४. रामविलास शर्मा, संस्करण 2013

हिंदी जाति के सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा, अजय तिवारी संपादक रामविलास शर्मा संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट ,नई दिल्ली,

***विभाग अध्यक्ष ,हिंदी विभाग**

**रांची विमेंस कॉलेज ,रांची**

**834001**

**मोबाइल नंबर 9955 354 365**

**ईमेल आईडी urvashiashutosh@gmail.com**

# इक्कीसवीं सदी का लोक और भोजपुरी सिनेमा

**1. डा. अमरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव**

**2. डा. अर्पिता कपूर**

**सार संक्षेपः-**

*आज के समय में भोजपुरी भाषा और सिनेमा अपनी वैश्विक पहचान बना चुकी है। बीसवीं सदी के साठ के दशक में जिस तरह से भोजपुरी सिनेमा निर्माण के लिए डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने प्रेरित किया, वह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। आज भोजपुरी फिल्मों में भोजपुरी समाज के विभिन्न पक्षों का अंकन किया जा रहा है। लोक संगीत, लोक संस्कृति और लोक परम्परा के प्रति अगाध लगाव के परिणामस्वरूप भोजपुरी सिनेमा दुनिया भर में देखी जा रही है। भोजपुरी सिनेमा की सबसे बड़ी ताकत भोजपुरी भाषियों का अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति अगाध लगाव है। गंगा भोजपुरी क्षेत्र के लोगों की जीवन धारा और जीवनदायिनी के प्रत्यक्ष रूप को भोजपुरी सिनेमा में विशेष स्थान दिया गया है। इक्कसवीं सदी की सूचना संचार क्रान्ति ने भोजपुरी फिल्मी के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।*

**बीज शब्दः-** *संचार, लोकभाषा, लोक संस्कृति, रीति-रिवाजों, वैश्वीक, अस्मिता।*

**भूमिकाः -** साहित्य हमारी चित्तवृतियों का प्रतिविम्बन करता है। हमारी चित्तवृतियों के भावों की अभिव्यक्ति में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका है। अभिव्यक्ति के स्तर पर देखें तो श्रव्य और दृश्य दोनों माध्यमों से साहित्य की अभिव्यक्ति होती है। दृष्य माध्यम से सामाजिक मनोभावों एवं परिस्थितियों के अंकन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक चली आ रही है। वर्तमान काल में दृश्य/श्रव्य माध्यम साहित्य के सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। नाटकों से आरम्भ होने वाली परम्परा आज के तकनीकी समय में विभिन्न स्तरों पर हमारी सामाजिक स्थितियों एवं परिस्थितियों को अभिव्यक्ति प्रदान कर रही है। इस परम्परा में भारतीय सिनेमा के माध्यम से व्यापक सामाजिक सरोकारों का अंकन देखने को मिलता है।

भारतीय सिनेमा दुनियाभर में देखा और जाना जाता है। भारत में बोली जाने वाली बहुत सी भाषाओं में फिल्म निर्माण और फिल्मों के भाषान्तर की परम्परा चल रही है। इनमें सर्वाधिक फिल्में हिन्दी भाषा में निर्मित हो रही हैं। हिन्दी सिनेमा में भाषाई स्तर पर देखें तो अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं। क्षेत्रीय आकांक्षाओं और यथार्थ की अभिव्यक्ति के कारण क्षेत्रीय भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं के षब्दों और उनकी वाक्य-संरचना को भी हिन्दी भाषा में स्थान मिलता रहा है। क्षेत्रीयता और राष्ट्रीय चेतना का सामंजस्य भारतीय परम्परा का मूल भाव है। इसी कारण आगे चलकर हिन्दी भाषा में सिनेमा के निर्माण के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं और बोलियों में सिनेमा निर्माण कार्य आरम्भ हुआ। सुचना-संचार क्रान्ति द्वारा यह भी संभव हुआ है कि देश या दुनिया के किसी भी क्षेत्र में रहते हुए हम अपनी मातृभाषा में फिल्में/समाचार/धारावाहिक इत्यादि देख सकते हैं।

नयी सामाजिक परिस्थितियों और जीवन स्थितियों के परिणाम स्वरूप भोजपुरी भाषा में भी प्रचुर मात्रा फिल्मों का निर्माण आरम्भ हुआ। भोजपुरी में सिनेमा निर्माण की प्रक्रिया नयी संभावनाओं के द्वार खोले, जिसके

परिणामस्वरूप भोजपुरी फिल्मों को विशेष ख्याति मिली। भोजपुरी फिल्मों के वर्तमान, भूत-भविष्य पर विचार करने से पूर्व भोजपुरी भाषा के गत और अनागत पर विचार करना श्रेयष्कर होगा।

भोजपुरी वर्तमान समय में एक ऐसी भाषा के रूप में विख्यात है जिसका तेजी से प्रसार हो रहा है। भोजपुरी शब्द का निर्माण विहार के प्राचीन नगर भोजपुर के आधार पर पड़ा। भाषाई परिवार के आधार पर देखें तो भोजपुरी एक आर्यभाषा है। भोजपुरी मुख्य रूप में विख्यात है जिसका तेजी से प्रसार हो रहा है।

भोजपुरी वर्तमान समय में एक ऐसी भाषा के रूप मे विख्यात है जिसका तेजी से प्रसार हो रहा है। भोजपुरी शब्द का निर्माण बिहार के प्राचीन नगर भोजपुर के आधार पर पड़ा। भाषाई परिवार के आधार पर देखे तो भोजपुरी एक आर्य भाषा है। भोजपुरी मुख्यरूप से पष्चिम बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में बोली जाती है। व्यवहारिक रूप से भोजपुरी हिन्दी की एक उपभाषा है। हिन्दी की उपभाषा होने के कारण भोजपुरी अपनी शब्द-सम्पदा के लिए हिन्दी और संस्कृत की ऋणी है। अरबी/फारसी और उर्दू के शब्द भी भोजपुरी में सामाजिक, सांकृतिक सम्मिलन के परिणाम स्वरूप हिन्दी में आ गये है।

भोजपुरी भाषा भारत में ही नहीं दुनिया भर में बोली एवं समझी जाती है। भोजपुरी भाषा को बोलने वाले लोग भारत के अतिरिक्त सूरिनाम, गुयाना, त्रिनिदाद, टोबैगो, फिजी और मारिसस में बहुसंख्यक के रूप में है। इन महाद्वीपों पर ब्रिटिश राज के समय में मजदूर के रूप में भोजपुरी भाषी लोगों को ले जाया गया और वो लोग वहाँ जाकर बस गये ब्रिटिश औपनिवेश के समाप्त होने के बाद ये ही लोग अधिकारिक रूप से वहाँ षासन करने लगे। इस कारण भोजपुरी व्यापक स्तर पर बोली एवं समझी जाने लगी।

भोजपुरी भाषा की अनेक बोली शैलियाँ है। पश्चिमी बिहार की भोजपुरी पूर्वी उतर प्रदेश की भोजपुरी से नितान्त भिन्न हैं, इसी तरह वैश्विक स्तर पर बोली एवं प्रयोग की जाने वाली भोजपुरी की अलग-अलग शैलियाँ हैं। बानी और पानी बदलने की परम्परा भारतीय समाज में कोष-कोष पर देखने को मिलती है। इसे शैली परिवर्तन या भाषा की विविध शैलियों में जाना एवं समझा जाता है। बिहार से निकलकर आज दुनियाँ के हर कोने में भोजपुरी बोली एवं समझी जा रही है। इस भाषा के प्रसार में भोजपुरी क्षेत्र के लोगों का है, जो जहाँ भी जाते हैं, वहाँ अपनी भाषा के साथ अनुराग रखते हैं और बोलते एवं प्रयोग करते हैं।

भोजपुरी भाषा आज वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान बना चुकी है। इस पहचान के कारण भोजपुरी में बहुत सी फिल्में, धारावाहिक और अन्य मनोरंजक कार्यक्रमों का निर्माण और प्रसार वर्तमान समय में तेजी से हो रहा है। आज 21वीं सदी भोजपुरी सिनेमा एक मुकाम पर पहुँच चुकी है। इक्कीसवीं सदी के भोजपुरी सिनेमा का आज जो स्वरूप है, उसके निर्माण वीसवीं सदी उतरार्द्ध में आरम्भ तब हुआ जब बंबई में आयोजित एक फिल्मी समारोह में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने लोगों से भोजपुरी में फिल्म बनाने का आह्वान किया।

सन् 1950 के वर्षांत में भारत के प्रथम राष्ट्रपति बंबई में आयोजित एक फिल्म समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में संबोधित करते हुए कहा कि ''मैं जानता हूँ, यहाँ बैठे आप तमाम लोग फिल्मों से सम्बन्धित हैं, आप लोगों से मेरी भी एक मिन्नत है। शायद आप जानते होगें कि मेरी मातृभाषा भोजपुरी है, हालाँकि साहित्यिक तौर पर समृद्ध तो

नहीं, लेकिन सांस्कृतिक विविधता में सनी बहुत ही प्यारी और संस्कारी बोली है। आप फिल्मकारों की पहल अगर इस ओर भी हो तो सबसे ज्यादा खुशी मुझे होगी।''1 उनके इस आह्वान से बिहार की सीमा पर स्थित गाजीपुर के निदेषक उनके पास पहुँचे और बोले- ''डा0 समझी हम आजे से इ दिशा में प्रयत्नशील हो गइनी जा, रउवा शुभकामना करी।''2

इस शुभकामना और प्रेरणा के ही परिणाम के स्वरूप में हम भोजपुरी सिनेमा के व्यापक और समृद्ध इतिहास और वर्तमान को देख एवं जान रहे हैं। धरती माई, बिहारी बाबू, विदेसियां, गंगा मईया तोहे पियरी चढाईबो, लागी नाहीं छूटे राम, दंगल आदि प्रमुख भोजपुरी फिल्में हैं। भोजपुरी के समान हीं अन्यभाषायें हैं- अवधी, ब्रजी, कन्नौजी, बुन्देली, मगही, बघेली, मैथिली इत्यादि। लगभग इन सभी बोलियों को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है, लेकिन भोजपुरी भाषा का विकास निरन्तर हो रहा है। इसका मुख्य कारण है कि भोजपुरी भाषा-भाषियों में अपनी भाषा के प्रति एक विशेष तरह का आकर्षण है। जो डा0 राजेन्द्र प्रसाद के वक्तव्य में देखने को मिलता है।

1960 के दशक से आरम्भ हुआ भोजपुरी सिनेमा और मनोरंजन का सफर बदस्तूर जारी है। आज भारत हीं नहीं भारत के बाहर भी भोजपुरी चैनल देखे जा रहे। भोजपुरी के प्रमुख चैनल हैं- दिशुम टी0बी0, हंगामा टी0बी0, संगीत भोजपुरी, भोजपुरी सिनेमा टी0बी0 भास्कर, मुवी भोजपुरी, बी4यू भोजपुरी, महुआ टी0बी0 इत्यादि। इसके अलावा डी0डी0 बिहार, डी0 डी0 झारखण्ड, डी0डी0 उतर प्रदेश जैसे चैनलों के माध्यम से भी भोजपुरी सिनेमा एवं मनोरंजन के प्रसारण का कार्य किया जा रहा है।

20वीं सदी के अन्तिम दशक और 21वीं सदी के आरम्भिक दौर में भोजपुरी में फिल्मों के निर्माण में बहुत तेजी आयी है। भोजपुरी सिनेमा के महत्व के रेखांकित करते हुए महानायक अमिताभ बच्चन ने कहा है कि- ''हिन्दी के बाद शायद भोजपुरी ही एक ऐसी भाषा है, जो हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा बोली जाती है। इसलिए मैं अपनी ओर से विशेष बधाई देता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि लोग भी भोजपुरी सिनेमा को प्रोत्साहित करेंगे।''3

भोजपुरी सिनेमा के विकास में भोजपुरी भाषा ने अपना योगदान दिया। हिन्दी के बाद भोजपुरी ही एक भाषा है जिसका प्रसार निरन्तर हो रहा है। भोजपुरी भाषा के विकास और प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका भोजपुरी क्षेत्र के लोगों की जो अपने घर-परिवार से बाहर रहकर भी भिन्न भाषा परिवेष में रहते हुए भी अपनी भाषा के प्रति अनुराग बनाये हुए हैं। इसी अनुराग के परिणाम स्वरूप भोजपुरी भाषी अपने मनोरंजन के लिए भी अपनी भाषा को एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं।

भोजपुरी सिनेमा और भोजपुरी मे बनने वाले धारावाहिकों की सबसे बड़ी शक्ति भोजपुरी भाषीयों का अपनी भाषा के प्रति अनुराग ही है। भोजपुरी सिनेमा का विकास इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षो में तेजी से हुआ, इसके विकास की पृष्ठभूमि 1960 के दशक में ही आरम्भ हो गयी थी। क्षेत्रीय भंगिमा के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषा के प्रति रूझान हिन्दी सिनेमा में काफी समय से देखने को मिलता रहा है। रंगमंच और सिनेमा का अत्यन्त घनिष्ट संबंध है। रंगमंच का विकसित, परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप ही सिनेमा है। हिन्दी सिनेमा के समान ही भोजपुरी सिनेमा को विकास की प्रक्रिया भी रंगमंच से ही होकर गुजरती है।

भोजपुरी रंगमंच से गुजरते हुए भोजपुरी सिनेमा आज एक मुकाम पर पहुँच चुकी है। अपनी विकास यात्रा में भोजपुरी सिनेमा अनेकानेक आरोह-अवरोह से गुजरते हुए वैश्विक फलक पर अपने आप को प्रतिष्ठत कर चुकी है। इक्कीसवी सदी में भोजपुरी सिनेमा का प्रसार सिने थियेटर के साथ-साथ टी0वी0 चैनल और मोबाइल तक पहुँच चुका है। भोजपुरी सिनेमा के वर्तमान स्वरूप के निर्माण में भोजपुरी क्षेत्र के लोगों का विशेष योगदान है। इस संबंध में विनय आनन्द का कथन है कि - ''मै मुंबई का जरूर हूँ, लेकिन दिल से बिहारी हूँ, भोजपुरिया हूँ। मै भी चाहता हूँ कि भोजपुरी में मेरे दर्शक समाज के हर तबके के लोग बनें। इसके लिए सोच थोड़ी बदलनी पड़ेगी।''4

भोजपुरी सिनेमा में एक दौर ऐसा भी आया जब अश्लील फिल्मों का दौर आरम्भ हुआ, लेकिन आज भोजपुरी में ऐसी फिल्में बहुतायत बन रही हैं, जिन्हें हम अपने परिवार के साथ देख सकते हैं। 1979 में निर्मित 'बलम परदेशिया' ने भोजपुरी में सिने जगत में क्रान्ति की लहर पैदा कर दी। अस्सी और नब्बे का दशक भोजपुरी फिल्मों के लिए सुनहरा दौर था। अत्यधिक तादाद की प्रमुख भोजपुरी फिल्में - हमार बेटवा (1990), भाई (1991), उधार की बेटी (1991), कजरी (1991), हो जाईद नैना चार (1992), राम जईसन भईया हमार (1993), कब अइहैं दूल्हा हमार (1993), बैरी कँगना (1993), जुग-जुगजिया मोरे लाल (1993), लागल चुनरी में दाग (1994), चल सखी दूल्हा देखी (1994) आदि हैं।

बीसवीं सदी में भोजपुरी सिनेमा का जो सफर आरम्भ हुआ, वह इक्कीसवीं सदीं में भोजपुरी सिनेमा का प्रसार तेजी से हुआ। आज भोजपुरी सिनेमा का कारोबार 2000 करोड़ से अधिक का है। 2003 में 'ससुरा बड़ा पइसावाला' का निर्माण हुआ, यह अब तक की सर्वाधिक कमाई वाली भोजपुरी फिल्म है। वर्तमान समय में निर्मित भोजपुरी फिल्में अपने सामाजिक सरोकारों और लालित्य पूर्ण संवादों के कारण उस समाज द्वारा भी स्वीकृत हो रही हैं, जिस समाज की मातृभाषा भोजपुरी नही है। यह हम भोजपुरी भाषियों की शक्ति ही है। भोजपुरी एक समृद्ध भाषा है और निरन्तर समृद्ध होती जा रही है। इसकी समृद्धि का आधार भोजपुरी क्षेत्र के लोगों द्वारा विष्वभर में आना - जाना और वहाँ रहकर भी अपनी भाषा को जीवन्त रखना भोजपुरी भाषा के प्रति अनिवार्य आकर्षण ही है।

भाषा और समाज का घनिष्ठ संबंध है। कोई भी भाषा तभी जीवित रहती है जब उसे व्यवहार करने वालों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहे और उस भाषा में साहित्य रचा जा रहा हो। आज के समय में भोजपुरी भाषा में फिल्मों के निर्माण के साथ-साथ अच्छे से अच्छे गीत एवं संवाद लिखे जा रहे हैं । यही भोजपुरी फिल्मों की सबसे बड़ी उपलब्धि है। भोजपुरी सिनेमा के महत्वपूर्ण सफर को रेखांकित करते हुए फिल्म समीक्षक अंशु त्रिपाठी ने लिखा है कि-

''अपने संघर्ष से अपनी जमीन बनाने वाले भोजपुरी सिनेमा ने अपने सफर में कई उतार-चढ़ाव देखें हैं। सन् 1962 से लेकर अबतक करीब ढाई सौ भोजपुरी फिल्में बन चुकी है। और इसका सफर अब भी जारी है। यद्यपि बीच में ऐसे दौर भी आये जब इस भाषा में फिल्में बननी बंद हो गयीं। फिर भी इसका सिलसिला रूका नहीं। ....................वर्षो की एक लम्बी यात्रा तय करने के बाद भोजपुरी फिल्में आज उस सुखद ऐतिहासिक स्थिति में पहुँच गयीं हैं, जहाँ उसके सांस्कृतिक अस्तित्व और व्यवहारिक महत्व से कोई इंकार नही कर सकता।''5 भोजपुरी समाज की अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक मान्यता और आस्था है। इसका प्रभाव भोजपुरी सिनेमा पर इसी सांस्कृतिक आस्था का प्रभाव भोजपुरी फिल्मों के षीर्षक से भी द्योतित होता है- धरती मइया, गंगा मईया तोहे

पियरी चढ़ाईबो, नदीया के पार, गंगा किनारे मेरा गांव, दुल्हा गंगा पार के, भैया दूज, बैरी सावन, बसुरिया बाजे गंगा तीरे, गंगया मैया कराद मिलनवा, गंगा और गोदना इत्यादि। अपनी धरती और प्रकृति के प्रति भोजपुरी सिनेमा की आस्था देखते ही बनती है। गंगा और गांव की महत्व भोजपुरी सिने जगत में आदि से लेकर अब तक देखने को मिल रही है। लोक जीवन और लोक संस्कृति के प्रति अगाध आस्था का भाव ही आज भोजपुरी फिल्म जगत को निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर किये हुए है।

लोक भाषा, लोक संस्कृति और लोक जीवन से भोजपुरी सिनेमा का सफर आरम्भ होता है। इक्कसवीं सदी में भी फिल्मों की विषय-वस्तु अधिकाशतः लोक जीवन और लोक संस्कृति ही है। बीसवीं सदी के आरम्भ से भोजपुरी सिने जगत में एक विशेष उत्साह देखने को मिलता है। 2003 में निर्मित मनोज तिवारी की 'ससुरा बड़ा पैसा वाला' ने अपने सरोकारों के कारण कमाई का नया कीर्तिमान स्थापित किया। यहाँ से भोजपुरी सिनेमा पुनर्नवित होकर निरन्तर विकासवान है। 2003 से लेकर अब तक भोजपुरी सिनेमा में जो नयापन आया उसमें सूचना एवं संचार क्रान्ति का विशेष योगदान है। सन् 2009 भोजपुरी मनोरंजन जगत के विशेष महत्व का है।

इस वर्ष हमार टी0वी0 और महुआ टी0वी0 समेत अनेक भोजपुरी चैनल आये। भोजपुरी चैनल के साथ-साथ भोजपुरी फिल्म की ट्रेड मैगजीन भोजपुरी सिटी एवं भोजपुरी संसार समेत कई सिनेमाई पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसके साथ-साथ देश के प्रतिष्ठित समाचार पत्रों में और न्यूज पोर्टल पर भी भोजपुरी मनोरंजन जगत से जुड़ी खबरों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इक्कीसवीं सदी में भोजपुरी एक भाषा के रूप में समृद्ध हुई ही है, इसके साथ-साथ सिने जगत में भी व्यापकता देखने को मिलता है।

इक्कीसवीं सदीं अपने आरम्भ से ही भोजपुरी सिनेमा के लिए बहुत उर्वर रहा है। या वह समय है जब भोजुपरी सिनेमा की ओर हिन्दी सिनेमा के नामी कलाकारो का रूझान बढ़ा। भोजपुरी फिल्मों में कार्य करने वाले प्रमुख नायक/नायिका है- अमिताभ बच्चन, अजय देवगन, जूही चावला, मिथुन चक्रवर्ती इत्यादि। धीरे-धीरे भोजपुरी सिनेमा में आय बढ़ी और आय बढ़ने के साथ-साथ भोजपुरी फिल्मों का बजट भी बढ़ा, और इसकी शुटिंग लंदन, मारिशस और सिंगापुर में भी होने लगी। इस दौरान हिन्दी फिल्मों के कई बड़े निर्माता-निर्देषक जैसे- सुभाष घई, सायरा बानो और राजश्री प्रोडक्सन आदि ग्रुप भोजपुरी फिल्में बनाने के लिए अग्रसर हुए। भोजपुरी भाषा और फिल्मों का विकास निरन्तर समानान्तर गति से होता रहा है। इसका प्रमुख कारण इसकी लोक के प्रति अगाध जुड़ाव ही है। लोक पर्व, लोक जीवन, लोक गीत, लोक रंग और लोक संस्कृति के रूप भोजपुरी फिल्मों में देखने को मिलती है। भोजपुरी सिनेमा वर्तमान समय में देश–देशान्तर में देखी जा रही है। इसे दृष्टिगत रखते हुए अंशु त्रिपाठी वर्तमान समय को भोजपुरी सिनेमा का स्वर्ण युग कहते हैं- ''भोजपुरी सिनेमा अपने विकास के स्वर्णिम युग में है। भोजपुरी समाज से इतर भी इसने अपना दर्शक वर्ग निर्मित किया है। बिहार और उत्तर प्रदेश के अलावा देश के अन्य भागों में भी भोजपुरी फिल्में देखी जा रहीं हैं। भोजपुरी सिनेमा के निर्माण में बृद्धि से उत्तर प्रदेश, बिहार के बहुत सारे सिनेमा घरों को जीवनदान मिल गया है, जो बंद होने के कगार पर आ गये थे। भोजपुरी सिनेमा ने उन सभी कलाकारों को कैरियर भी प्रदान किया, जो हिन्दी सिनेमा में अवसर तलाश कर रहे थे और जिनका कैरियर अपने ढलान पर था। भोजपुरी सिनेमा के सबसे सफल अभिनेता रविकिशन ने भी हिन्दी सिनेमा में असफल होने के

बाद भोजपुरी का दामन था, जिसके बाद उन्होनें सफलता की ऊँचाइयाँ छुईं और भोजपुरी सिनेमा में सफल होने के वजह से ही हिन्दी सिनेमा में भी काम मिलना शुरू हुआ तथा एक अच्छे अभिनेता के रूप में उनकी पहचान बनी।''6

हिन्दी और भोजपुरी दोनों भाषाएं एक ही भाषा परिवार की हैं। दोनों भाषाओं में व्याकरणिक एवं षब्दावली के स्तर बहुतायत समनताएँ हैं। भोजपुरी भाषा हमेशा से हिन्दी भाषा एवं साहित्य को प्रभावित करती रही है। भोजपुरी साहित्यकारों ने हिन्दी सिनेमा को अनेक विषय-वस्तु प्रदान किया है। 1960 से आरम्भ हुआ भोजपुरी सिनेमा का सफर आज भी उत्तरोत्तर विकासमान है। इक्कीसवीं सदीं में भोजपुरी सिनेमा के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। अपनी माटी, अपनी भाषा और अपने लोगों के प्रति अगाध लगन एक महत्वपूर्ण कारण रहा। इसके साथ-साथ सूचना संचार की क्रान्ति ने भोजपुरी सिनेमा को उसके दर्शकों और आस्वादकों तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भोजपुरी सिनेमा के स्वरूप में जो भी विस्तार हुआ है उसका सबसे महत्वपूर्ण कारण इसकी मिठास और लोक संस्कृति मिठास और लोक संस्कृति के प्रति लगाव है। इक्कीसवीं सदी के भोजपुरी फिल्मों की महत्वपूर्ण विषेषताएँ निम्नलिखित है-

1. लोक जीवन का जीवन्त अंकन।
2. लोक गीतों एवं लोक धुनों का फिल्मांकन।
3. लोक संस्कृति के विविधता का अंकन और चित्रण।
4. भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित पर्वो एवं रीति-रिवाजों का अंकन।
5. भोजपुरी फिल्मों के माध्यम से भोजपुरी क्षेत्र की आकांक्षाओं को प्रस्तुत कर वैष्विक स्तर पर पहुँचाने में योगदान।
6. भोजपुरी सिनेमा का हमारी भाषाई और सांस्कृतिक अस्मिता के सरंक्षण में विशेष योगदान।

इक्कीसवीं सदीं में भोजपुरी सिनेमा ने सिने जगत में भी अपना विशेष स्थान बना लिया है। भोजपुरी सिनेमा जगत का तेजी से विकास हो रहा है। इस विकास का सबसे बड़ा कारण भोजपुरी क्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है। गंगा भोजपुरी क्षेत्र की लाइफ लाइन है और यह जीवन धारा भोजपुरी फिल्मों का सशक्त आधार है। भोजपुरी भाषा की विशेषता के सन्दर्भ में हिन्दी सिनेमा के महानायक अमिताभ बच्चन का कथन है कि- '' हिन्दी के बाद शायद भोजपुरी ही एक ऐसी भाषा है जो हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा बोली जाती है। इसलिए मैं अपनी ओर से बधाई देता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि लोग भी भोजपुरी सिनेमा को प्रोत्साहित करेंगें। भोजपुरी सिनेमा को सबसे ज्यादा प्रोत्साहन भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू डा. राजेन्द्र प्रसाद जी से मिला था। उसी क्रम में हमारे सिनेमा-जगत् के बहुत ही नामी हस्ती नजीर हुसैन साहब से भोजपुरी सिनेमा का बहुमूल्य योगदान प्राप्त हुआ। मैने स्वयं भी भोजपुरी सिनेमा में काम किया है, उम्मीद करता हूँ कि मेरी तरह और भी कलाकार भोजपुरी सिनेमा में काम करेंगे। जैसा कि मैं मानता हूँ, सिनेमा की भाषा एक होती है, वह चाहे हिन्दी में बने या भोजपुरी में- भावनाएँ तो एक ही होती है।''7

निष्कर्षः- भोजपुरी सिनेमा और भाषा का उज्जवल भविष्य है। इक्कीसवीं सदी की सूचना संचार क्रान्ति ने भोजपुरी फिल्मों के विकास और प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भोजपुरी सिनेमा और भाषा की व्यापकता आज

वैष्विक स्तर पर देखने को मिल रही है। भोजपुरी टी0वी0 चैनल, रेडियों चैनल, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भोजपुरी क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत के सहेजने की दिषा में जो भी प्रयास हो रहे हैं उसका आरम्भ भोजपुरी फिल्मों से ही हुआ है। समग्रतः भोजपुरी सिनेमा आज एक विषिष्ट स्थान पर पहुँच चुका है, जिससे भोजपुरी क्षेत्र के लोगों को सांस्कृतिक, भाषाई समृद्धि के साथ-साथ आर्थिक स्तर पर भी लाभ हो रहा है।

**सन्दर्भः-**

1. रविराज पटेल (2015) भोजपुरी फिल्मों का सफरनामा, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ
2. रविराज पटेल (2015) भोजपुरी फिल्मों का सफरनामा, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ
3. रविराज पटेल (2015) भोजपुरी फिल्मों का सफरनामा, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ बैक कवर।
4. रविराज पटेल (2015) भोजपुरी फिल्मों का सफरनामा, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 160
5. अंशु त्रिपाठी (2015) भोजपुरी सिनेमा का सफर, किताब गंज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 51
6. अंशु त्रिपाठी (2015) भोजपुरी सिनेमा का सफर, किताब गंज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 74'-75
7. रविराज पटेल (2015) भोजपुरी फिल्मों का सफरनामा, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, बैक कवर।

**सन्दर्भ ग्रंथ सूची-**

1. भोजपुरी सिनेमा का सफरः अंशु त्रिपाठी, किताबगंज प्रकाशन;2019
2. भोजपुरी फिल्मों का सफरनामाः रविराज पटेल, प्रभात पेपर बैक्स (2015)
3. Bhojpuri Ethnologue, world Language (2009)
4. Hi.wikipedia.org/wiki/ Hkkstiqjh Hkk"kk
5. Naidunia.com/enterainment/ballywood-top-higest-grorsing-bhojpuri-moviesof-all-time-2134467.

---

**1. असिस्टेंट प्रोफेसर, अमिटी ला स्कूल**
**अमिटी विश्विविद्यालय उ0प्र0**
**9450616530**
**amarendrasrivastava@outlook.com**

**2. असिस्टेंट प्रोफेसर,अमिटी ला स्कूल**
**अमिटी विश्वविद्यालय उ0प्र0**
**9559599991**
**arpitakapoor008@gmail.com**

 ISSN: 2454-2725

# 'गाँव: श्याम बेनेगल की नज़र से'

*लक्ष्मी

**सारांश**

*सिनेमा को समाज का आईना कहा जाता है। भारत की लगभग दो तिहाई आबादी आज भी गाँवों में बसती है। इस ग्रामीण आबादी की समस्याएं और उनके मुद्दे शहर के बासिंदों के मुद्दों से अलहदा हैं। बेशक सिनेमा की शुरूआती राह गाँव की पगडंडियों से होकर निकली थी लेकिन आज हमारी फिल्मों से गांव गायब ही हो गए हैं। ज़रा याद कीजिए वो आखिरी फिल्म जो गाँवों को केंद्र में रख कर बनाई गई थी। याद करने के लिए शायद हमें बहुत पीछे जाना पड़े। आज का निर्देशक गाँवों को भूलने लगा है। एक-आध फिल्मों में गाँव दिख भी जाते हैं तो भी गाँव के मुद्दों के प्रति गंभीरता की कमी बहुधा महसूस होती है। बहरहाल, इन सबके बीच श्याम बेनेगल जैसे निर्देशक आशा की किरण हैं जिनकी प्राथमिकता में गाँवों से जुड़े मुद्दे उनकी सिनेमा यात्रा में शुरू से आखिर तक उपस्थित रहे हैं।*

**बीज शब्द**

*श्याम बेनेगल, हिंदी सिनेमा, समान्तर सिनेमा, सामाजिक सरोकार, गाँव, ग्रामीण विकास मॉडल, आर्थिक सुधार, परिवर्तन आदि*

## भूमिका

हिंदी सिनेमा में श्याम बेनेगल का एक निर्देशक के रूप में आगमन सत्तर के दशक में हुआ। हिंदी सिनेमा में उनके आने के साथ ही समांतर सिनेमा के दूसरे चरण का आरंभ होता है। भारतीय सिनेमा जगत में व्यावसायिक सिनेमा के एक विकल्प के तौर पर परिष्कृत कला रूप में जिस सिनेमा की शुरुआत हुई उसे कला फिल्म या समांतर सिनेमा के रूप में जाना गया। गौरतलब है कि समांतर सिनेमा का पहला चरण बंगाल में शुरू हुआ था।[1] यह ऐसा सिनेमा है जिसमे यथार्थ केंद्र में होता है और इसकी गति काफ़ी धीमी होती है। यह सर्जनात्मकता को सार्थकता के साथ जोड़ने की सोच से उपजा सिनेमा है। हालाँकि श्याम बेनेगल ने स्वयं इस प्रकार के सिनेमा को समांतर सिनेमा कहे जाने का विरोध किया। उनके अनुसार इस नाम का इतना ही महत्त्व है कि यह नामकरण इस प्रकार के सिनेमा को मुख्य धारा के सिनेमा से अलग पहचान देता है।[2] यह सिनेमा एक अलग प्रकार का मनोरंजन उपलब्ध कराता है, जो व्यावसायिक सिनेमा के द्वारा प्रदान कराए जाने वाले मनोरंजन से ज़रा हटके है। इसका अपना अलग दर्शक वर्ग है, जो मुख्यतः पढ़ा लिखा और सुरुचि संपन्न है। एक कला माध्यम के रूप में सिनेमा को सामाजिक सरोकार से जोड़ने की पहल इस सिनेमा की विशेषता है। इसमें कला और सामाजिक सरोकार आपस में तादात्म्य स्थापित करते दिखाई देते हैं।

श्याम बेनेगल की पहली फिल्म अंकुर 1974 में रिलीज हुई। एक वर्ष बाद 1975 में उनकी दूसरी फिल्म निशांत आई। इसके अगले ही वर्ष 1976 में मंथन रिलीज हुई। इन तीनों फिल्मों में ग्रामीण परिवेश है। श्याम बेनेगल की इन आरंभिक तीनों फिल्मों ने व्यावसायिक सिनेमा द्वारा निर्मित गाँव संबंधी दृष्टि को गंभीर चुनौती दी। इन फिल्मों में गाँव के प्रति कोई रोमानी नजरिया नहीं पेश किया गया था। गौरतलब है कि प्रचलित सिनेमा में गाँवों को समरसता,

भाईचारा और सहिष्णुता सरीखे मूल्यों से बनी भारतीय संस्कृति के रक्षक और पोषक के रूप में दिखाया जाता है जहाँ सीधे-सादे लोग बसते हैं और सभी ओर सुख ही सुख, शांति ही शांति होती है। इसके विपरीत श्याम बेनेगल की इन तीनों फिल्मों ने दिखाया कि गाँवों में भी विषमता, दमन और शोषण कम नही है। सामंती मूल्यों और पितृसत्ता की बदौलत यहाँ लिंग, जाति और वर्ग आधारित भेदभाव चरम पर है। अंकुर का सूर्या (अनंत नाग), निशांत का ज़मीदार (अमरीश पुरी) तथा मंथन के सरपंच (कुलभूषण खरबंदा) व मिश्राजी (अमरीश पुरी), ये सब सामंती चरित्र हैं जिनके बल पर गाँवों में अन्याय और शोषण का बसेरा है। तीनो फिल्मों में एक शहरी व्यक्ति (बाहरी व्यक्ति) के माध्यम से गाँव में नए विचारों का प्रवेश होता है। यही से नए व पुराने विचारों के बीच टकराहट शुरू होती है। मसलन अंकुर का सूर्या शहर से शिक्षा पाकर गाँव लौटा है। निशांत का स्कूल मास्टर (गिरीश कर्नाड) गाँव की पाठशाला में पढ़ाने आया है और मंथन का डॉ राव (गिरीश कर्नाड) एक पशु चिकित्सक है जो गाँव में सहकारी दुग्ध समितियों के गठन को प्रोत्साहन देने के सिलसिले में नियुक्त होकर आया है।

अंकुर में सूर्या के चरित्र के माध्यम से श्याम बेनेगल की दृष्टि ग्रामीण शिक्षित मध्य वर्ग के दोगलेपन तक पहुँची है। वह गाँव के जमींदार का बेटा है और शहर से शिक्षा पूरी कर गाँव वापस लौटा है। एक दृश्य में दिखाया गया है कि वह घर की नौकरानी लक्ष्मी (शबाना आज़मी) को चाय बनाने के लिए कहता है। लक्ष्मी अचरज से कहती है कि वह तो नीची जाति की है, उसके हाथ की चाय वह कैसे पी सकते हैं? सूर्या कहता है कि वो जाति को नहीं मानता। लेकिन, पाठक के मन में बनी सूर्या की यह प्रगतिशील छवि जल्द ही धराशाही हो जाती है। एक अन्य दृश्य में दिखाया गया है कि जब उसकी कार का पहिया एक गढ्ढे में फँस जाता है तब गाँव के व्यक्ति उसकी मदद करते हैं। अपने वर्ग के विशेषाधिकारों के नशे में चूर सूर्या उनको धन्यवाद देने की बजाय बिना कुछ कहे आगे बढ़ जाता है। वह गाँव की औरतों को अपनी बावडी से पानी भरने से रोकता है। कोई काम-काज नहीं करता और नौकरों पर चिल्लाता रहता है। यह व्यवहार उसके अहंकार को दर्शाता है। वह विवाहेत्तर संबंधों को गलत मानता है। अपने पिता के विवाहेत्तर संबंध और उससे पैदा हुए बेटे को लेकर गुस्से में है। परन्तु कुछ समय बाद वह स्वयं ऐसी ही स्थिति में पहुँच जाता है। फिल्म की शुरुआत में सूर्या का चरित्र प्रगतिशील लगता है जिसमे बदलाव लाने की क्षमता दिखती है परन्तु अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह खुद सामन्ती मूल्यों का पोषक बन जाता है। यह इस सच की ओर इशारा है कि यह नया शिक्षित ग्रामीण मध्यवर्ग एक नई मूल्य व्यवस्था का निर्माण करने में असफल रहा है क्योंकि यह वर्ग स्वयं पुराने और नए के बीच झूल रहा है। यही कारण है कि दमन और शोषण आधारित पुरानी मूल्य व्यवस्था को बदला नहीं जा सका है।[3]

श्याम बेनेगल की फिल्में गाँवों में विद्यमान जाति व्यवस्था के भद्दे स्वरुप को दर्शक के सामने रखती हैं। यहाँ जाति व्यवस्था के निचले सौपान पर स्थित जातियों के लोग दोयम दर्जे का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऊँची जातियों के लोगों को परंपरा से बहुत से सामाजिक और आर्थिक विशेषाधिकार मिले हुए हैं। अंकुर फिल्म गाँव के एक जमींदार के द्वारा एक निम्न जाति की स्त्री के शारीरिक शोषण के मुद्दे को उठाती है। निशांत में यह शोषण अधिक भयावह है। मंथन फिल्म आर्थिक संसाधनों पर एकाधिकार बनाए रखने के लिए दबंगों की जातिगत राजनीति के मुद्दे को उठाती है। विशेषाधिकार प्राप्त जातियां नहीं चाहती कि दलितों का आर्थिक सशक्तिकरण हो क्योंकि वे अच्छी तरह समझती हैं कि आर्थिक सशक्तिकरण से ही सामाजिक सशक्तिकरण की राह निकलती है। दलितों के सशक्तिकरण का अर्थ होगा

अपने विशेषाधिकारों में कमी। समर (1999) में दबंग जमींदार गाँव के जल संसाधनों पर अधिकार कर लेता है, जिससे दलित जातियाँ पानी के लिए तरस जाती हैं। यह स्थिति तब है जब अनूसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निरोधक) कानून 1989 लागू हो चुका है जिसके तहत निम्न जाति के व्यक्ति के प्रति अत्याचार करने पर दांडिक प्रावधान किए गए हैं। जब नत्थू इस कानून के तहत संरक्षण लेने के लिए प्रशासन से गुहार लगाता है तब प्रतिक्रियास्वरूप गाँव के दबंगों द्वारा उसका घर जला दिया जाता है। आज़ादी के बाद के भारत के गाँवों की वास्तविक स्थिति इन फिल्मों में दिख जाती है। इस समय भारतीय ग्रामीण समाज तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा है। वंचित वर्ग अपने अधिकारों को समझने लगे हैं। इससे समाज के वे तबके असहज हैं जो पुरानी व्यवस्था में लाभकारी स्थिति में थे।

21वीं सदी में आकर भी गाँव श्याम बेनेगल के मानस से गायब नहीं हुए। उनकी 'वेलकम टू सज्जनपुर'(2008) और 'वेल डन अब्बा'(2009) फिल्मों में भी गाँव ही केंद्र में हैं। यहाँ आकर कुछ बदला तो उनकी शैली। यहाँ गाँवों की समस्याओं की व्यंग्यात्मक और परिहासपूर्ण प्रस्तुति है। यह प्रयोग भी अपने आप में बहुत अनोखा है। फ़िल्मकार की शैली में आए इस बदलाव की वजह जो भी हो, इससे उनकी फिल्मों के दर्शक वर्ग में इजाफा ही हुआ। कॉमेडी अपने आप में एक निराली विधा है जिसका अपना एक दर्शक वर्ग है। 'वेलकम टू सज्जनपुर' और 'वेल डन अब्बा' फिल्में ऐसे समय पर रिलीज हुईं जब देश में नए आर्थिक सुधार (एल.पी.जी सुधार 1991) लागू किए जा चुके थे। ऐसी परिस्थिति में भारत के गाँवों में भी परिवर्तन की बयार बहने लगी थी। यह परिवर्तन उन गाँवों में अधिक तीव्र था, जो शहरों से सटे हुए थे। उपरोक्त दोनों फिल्में भारत के गाँवों में

उदारीकरण के बाद आ रहे बदलावों की गाथा कहती हैं। सज्जनपुर और चिकटपल्ली दोनों गाँव शहरों के आस पास स्थित हैं। दोनों गाँव एक ऐसी संक्रमणशील अवस्था में हैं जहाँ पुरातन और नवीन मूल्य व्यवस्था के बीच टकराहट है। अभी न तो पुरानी व्यवस्था जड़ से उखड पायी है और न ही नयी व्यवस्था स्थापित हो सकी है। इसलिए दोनों मूल्य-व्यवस्थाओं के साक्ष्य एक साथ मौजूद है। नतीजन हर जगह एक अन्तर्विरोध दिखता है। फ़िल्मकार बेनेगल का उद्देश्य भारतीय गाँवों में पैठ रहे इस बदलाव और अंतर्विरोध को दर्शक के सामने रखना है। वेलकम टू सज्जनपुर में विंध्या (दिव्या दत्ता) और उसकी माँ रामसखी पन्नावाली (इला अरुण) के बीच अन्धविश्वास और विवाह के बिंदु पर टकराव है। रामकुमार (रवि किशन) और शोभारानी (राजेश्वरी सचदेव) के प्रेम पर फिल्म में जो दो संभावनाएं दर्शायी गयी हैं वे यह इशारा करती हैं कि समाज में रूढी और प्रगतिशीलता दोनों के बीज मौजूद हैं। यह संक्रमणशील अवस्था चिकटपल्ली में भी है। मुस्कान और उसके पिता के बीच भी विवाह के मुद्दे पर वैचारिक मतभेद है।

आर्थिक सुधारों के बाद भारत के गाँवों में उपभोगतावाद ने कैसे अपने पाँव पसारने शुरू कर दिए हैं, दोनों फिल्मों में इसके कई रूपक हैं। वेल डन अब्बा में अरमान अली (बोमन ईरानी) का जुड़वाँ भाई व उसकी बेगम बिना मेहनत के पैसे बनाने की जुगाड़ में लगे रहते हैं। पैसा कैसे सभी रिश्तों का आधार होने लगा है यह वहां दिखाई देता है जहाँ गाँव वाले धन के लालच में बेटियों का विवाह खाड़ी देशों के अमीरों के साथ कर देते हैं। इन्जीनियर विकास झा (रवि किशन) की उपभोगवादी दृष्टि पत्नी के शारीरिक सौन्दर्य के उपभोग की अंतहीन लालसा तक सीमित होकर रह गई है। फ़िल्मकार दर्शाना चाहता है कि उदारीकरण के बाद के दौर में व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए

अनैतिक, आसन या फिर कृत्रिम रास्तों का सहारा ढूंढने लगा है। आर्थिक सुधारों ने ऐसे वातावरण का निर्माण किया है जिसमे गाँव का व्यक्ति शहर में अच्छा कमाने की आस में गाँव से पलायन करने को आतुर होने लगा है। वेलकम टू सज्जनपुर में कमला (अमृता राव) के पति बंसी तथा वेल डन अब्बा में अरमान अली ने अच्छी आमदनी की तलाश में शहर का रुख किया है।

1992 में भारतीय संविधान में संशोधन कर पंचायती राज को संवैधानिक दर्ज़ा दिया जा चुका था।[4] इस संशोधन के माध्यम से न केवल गाँवों में सत्ता के विकेंद्रीकरण को मज़बूत आधार प्रदान किया गया बल्कि गाँवों में सत्ता से बाहर रहे पिछड़े तबकों जैसे महिलाएँ, अनुसूचित जाति, जनजाति को सत्ता में भागीदारी प्रदान कर, सदियों से चली आ रही विषमता पर कुठाराघात करने का प्रयास भी किया गया। जाति और लिंग के आधार पर आरक्षण की व्यवस्था का प्रावधान इसी उद्देश्य से किया गया था ताकि सत्ता का केन्द्रण अगड़ी जातियों में न होने पाएं और गाँव के विकास में प्रत्येक ग्रामवासी की भागीदारी हो सके। इस व्यवस्था का दुरूपयोग जाति विशेष के रसूखदार परिवारों ने किया है। 'वेलकम टू सज्जनपुर' में दबंग रामसिंह (यशपाल शर्मा) महिला प्रत्याशी के लिए आरक्षित सरपंच सीट पर अपनी पत्नी जमनाबाई को उम्मीदवार के रूप में खड़ा करता है। लेकिन मतदाता अब जागरूक हो रहा है। वस्तुतः सरपंच चुनाव में मुन्नीबाई (रवि झंकाल) की जीत भारतीय मतदाता में आ रही जागरूकता का परिणाम है। लेकिन जमनाबाई पर धारा 302 के तहत हत्या का मुकदमा और मुन्नीबाई की हत्या राजनीति के अपराधीकरण की ओर संकेत करती है।

बेनेगल की फिल्में ग्राम विकास मॉडल की कमियों को हमारे सामने रखती हैं। वेलकम टू सज्जनपुर फिल्म का कथावाचाक सज्जनपुर का परिचय दर्शकों को देते हुए कहता है कि *"वैसे फाइलों में लिखा है कि सज्जनपुर इज ए फुल फ्लैज्ड डेवलप्ड विलेज पर सच्चाई यह है कि न तो यहाँ फॉर्मल एजुकेशन है, न ही मोड ऑफ़ कम्युनिकेशन और न ही टेक्नोलॉजी ऑफ़ इनफार्मेशन। काम न धंधा बस चूना तंबाखू घिसो और अर्गर वर्गर गप्प मार के बैठे रहो।"* कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण और उनके क्रियान्वन के बीच की असंगति बेनेगल की फिल्मों का एक महत्वपूर्ण पहलू है। वेल डन अब्बा में अरमान अली बावड़ी से संबंधित एक योजना का लाभ लेने की कोशिश में व्यवस्था में जड़ हो चुकी रिश्वतखोरी को दर्शक के सामने रखता है। वह अपनी पुश्तैनी जमीन को खेती के लायक बनाने के मकसद से पानी की बावड़ी बनाने के लिए एक सरकारी योजना के तहत अनुदान लेना चाहता है। इस चक्कर में वह एक ऐसे चक्रव्यूह में फंसता है, जहाँ सरकार द्वारा गरीबों के लिए बनी योजनाओं की रकम डकारने के लिए नौकरशाह, सरपंच, तहसीलदार, विकास अधिकारी, इन्जीनियर और ठेकेदार जाल बिछाए बैठे हैं। फिल्म देखते समय दर्शक को बरबस भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी का वह कथन याद आ जाता है कि सरकार एक रुपया भेजती है परन्तु लोगों तक 15 पैसे ही पहुँच पाता है। नौकरशाही और जनप्रतिनिधियों के तालमेल से ग्रास रूट लेवल पर होने वाला भ्रष्टाचार गाँवों के विकास में सबसे बड़ी बाधा है। परन्तु इस सबके बीच आशा की किरण है- वह शिक्षित ग्रामीण युवा वर्ग जो भ्रष्टाचार के प्रति पूरी तरह असहिष्णु है। मुस्कान (मिनिषा लम्बा) और आरिफ़ (समीर दत्तानी) गाँव की इसी नई पौध के प्रतीक हैं। अंकुर, निशांत, मंथन और समर की तरह यहाँ भी फिल्मकार बदलाव का पक्षधर है और सारी कुरूपताओं के बीच 'सिल्वर लाइनिंग' को दिखाना नहीं भूलता। श्याम बेनेगल की सिने दृष्टि ग्राम विकास मॉडल में केवल त्रुटियाँ ही नहीं

खोजती बल्कि वे इसमें विश्वास भी दिखाते हैं। समर फिल्म का संतुराम (रघुबीर यादव) आरक्षण का लाभ उठाकर गाँव का सरपंच बनने में सफल हो पाया है, जिससे गाँव में कमजोर जातियों के सशक्तिकरण की राह निकलने की संभावना बनी है। 'वेलकम टू सज्जनपुर' में भी तमाम मुश्किलों से गुजरते हुए जमनाबाई पर एक किन्नर मुन्नीबाई (रवि झंकाल) की जीत पंचायती राज मॉडल में बेनेगल के विश्वास की ओर ही इशारा करती है। यही विश्वासमंथन में सहकारी दुग्ध समितियों के माध्यम से पिछड़ी जातियों के सशक्तिकरण में अभिव्यक्त हुआ है।

श्याम बेनेगल की फिल्मों में ग्रामीण स्त्री पात्र बेहद सशक्त हैं। अंकुर की लक्ष्मी, मंथन की बिन्दू (स्मिता पाटिल), वेलकम टू सज्जनपुर की विन्ध्या और वेल डन अब्बा की मुस्कान; ये सभी चरित्र जिजीविषा से ओतप्रोत हैं। बिन्दू का पति शराबी और निकम्मा है परन्तु पत्नी पर पूरा नियंत्रण रखता है। इस हालात में भी वह ज़िन्दगी को टुकड़ा टुकड़ा जोड़ने का हौसला रखती है। वह मज़बूत इरादों वाली और बेहद मेहनती है लेकिन पति द्वारा उत्पीडन और हिंसा ने उसकी क्षमताओं के विकास को बाधित कर दिया। लक्ष्मी का व्यक्तित्व विकसनशील है। फिल्म के शुरुआत में जिस लक्ष्मी को हम देखते हैं, अंत तक पहुचते पहुचते वह पूरी तरह बदल गई है क्योंकि अब वह शोषण का उत्तर प्रतिरोध से देती है। मुस्कान अपने पिता का सहारा बनती है और विंध्या तमाम रूढ़ियों को ठेंगा दिखाते हुए अपनी शर्तों पर ज़िन्दगी जीने का साहस करती है। इन ग्रामीण स्त्री चरित्रों की जिजीविषा को देख मन प्रफ्फुलित हो उठता है। हमें अपने गाँव- पडौस में बहुधा ऐसे ही पात्र मिल जाते हैं जो जीवन की तमाम मुश्किलों का डटकर सामना करने का हौसला लिए जीते हैं, इसलिए इन फिल्मों के ग्रामीण स्त्री पात्र बिलकुल भी बनावटी नहीं लगते।

श्याम बेनेगल की फिल्मों में शोषण, दमन और भ्रष्टाचार के प्रति बगावत दिखती है। अंकुर में जब सूर्या किश्तिया को बेरहमी से पीटता है तब लक्ष्मी चुप नहीं रहती। वह उसे गालियाँ देती है। इस के बाद वाले दृश्य में सूर्या भीतर आकर दरवाज़ा बंद करके खड़ा है और उसके चेहरे पर आत्मग्लानि का भाव है। परन्तु बेनेगल इस आत्मग्लानि मात्र से संतुष्ट नहीं होते। फिल्म में अंतिम हिस्से में वे दिखाते हैं कि एक बच्चा सूर्या के घर की खिड़की पर पत्थर फेंकता है। यह संकेत करता है कि अब विद्रोह का अंकुर फूट चुका है, और जमींदार की आत्मग्लानि से भी उसका विकास बाधित नहीं होना चाहिए। विद्रोह का यह स्वर निशांत और मंथन में और अधिक मुखर है। निशांत फिल्म के क्लाइमेक्स में अत्याचारी जमींदार और उसके भाइयों को गाँववालों ने मार डाला है। मंथन में भोला ने मिश्राजी और सरपंच के षड्यंत्र को ठेंगा दिखाते हुए सहकारी समिति के माध्यम से आर्थिक सशक्तिकरण की राह पर कदम बढ़ा दिए हैं। वेल डन अब्बा में अरमान अली जैसे हज़ारों भ्रष्टाचार के भुक्तभोगियों की भीड़ ने मंत्री को घेर लिया है। मंत्री ने अपनी कुर्सी खिसकती देख जनमत के दबाव में तुरंत एक्शन लिया है। वेलकम टू सज्जनपुर की मुन्नीबाई राजनीति में अब अपनी बारी की मांग उठाने लगी है। इस बदलाव की यह गूँज इन फिल्मों के गीतों में भी सुनी जा सकती है-

आदमी आज़ाद है,
देश भी स्वतंत्र है।
राजा गए रानी गई,
अब तो प्रजातंत्र है।।

## निष्कर्ष

सिनेमा सामाजिक बदलाव के सबसे सशक्त माध्यमों में से एक माना जाता है। एक दृश्य श्रव्य माध्यम होने के कारण इसकी लोकप्रियता बहुत अधिक है और दर्शक पर इसका प्रभाव भी बहुत गहरा होता है। सिनेमा की पहुँच छपे हुए शब्दों से बहुत अधिक होती है क्योंकि इसकी पहुँच उन लोगो तक भी होती है, जो पढना लिखना नहीं जानते। इसलिए कला माध्यम होने के साथ साथ सिनेमा समाज से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ता है। यही कारण है कि सिनेमा के सामाजिक सरोकारों पर बात किया जाना लाज़मी हो जाता है और उन निर्देशकों का कद स्वतः ऊँचा हो जाता है जो इस दायित्व को समझते हैं और उसका निर्वहन करते हैं। श्याम बेनेगल की फिल्में समाज और विशेषकर गाँवों से गहराई से जुडती

हैं। वह गाँवों की समस्याओं, गाँवों में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमता का चित्रण तो उनकी फिल्मों के केंद्र में है ही, साथ ही उदारीकरण, भूमंडलीकरण और निजीकरण के प्रभाव में गाँवों में आ रहे बदलावों को दर्शाते हैं। कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय गाँव और उनमें आ रहे परिवर्तनों को समझने के लिए श्याम बेनेगल की फिल्में एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में काम आने का सामर्थ्य रखती हैं।

## संदर्भ

### आधार सामग्री

1) श्याम बेनेगल, 1974, अंकुर
2) श्याम बेनेगल, 1975, निशांत
3) श्याम बेनेगल, 1976, मंथन
4) श्याम बेनेगल, 1999, समर
5) श्याम बेनेगल, 2008, वेलकम टू सज्जनपुर
6) श्याम बेनेगल, 2010, वेल डन अब्बा

### सहायक ग्रंथ

1) अग्रवाल, प्रहलाद, अप्रैल-जून 2009, अंक-81, प्रगतिशील वसुधा, हिंदी सिनेमा : बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक (विशेषांक), कुमार रविन्द्र, सिनेमा में यथार्थ अंकन की दूसरी पहल।
2) An interview with shyam benegal: trailblazers, Doordarshan National.
3) Needham, Anuradha, Dingwaney, 2013, New indian cinema in post indipendent india (The cultural work of shyam benegal's films), Routledge publication, london
*4)* 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम (पंचायती राज अधिनियम) 1992

**पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी अध्ययन केंद्र,*
*गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय,*
***9728980731,***
***laxmishakuntaladagar@gmail.com,***

# दलित विमर्श और हिन्दी की दलित आत्मकथाएँ: एक समीक्षा

**भारती***

"चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का .........."[1]

(ओमप्रकाश वाल्मीकि)

दलित शब्द का अर्थ किसी भी समाज में दमित, कुचलित और पिछड़े से लगाया जाता है। दलित साहित्य की एक निश्चित विचारधारा है, जो समता, स्वतंत्रता और बंधुता को स्थापित करती है। दलित साहित्य अम्बेडकरवादी और फूले (ज्योतिबा फूले) की विचारधारा पर आधारित है। अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि दलित संवेदन क्या है? क्या जो गैर-दलित लेखक है उनमें दलित संवेदना है? इसको लेकर आलोचकों में काफी विवाद है। दलित आलोचकों का मानना है कि जो गैर-दलित लेखक है, उनका साहित्य मात्र एक सहानुभूति का साहित्य है। इस प्रकार सहानुभूति और स्वानुभूति का सवाल उठाया जाता है। श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार-

> ''दलित वह है जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित
>
> जति का दर्जा दिया गया है।" [2]

दलित चेतना क्या है? दलित आलोचकों का मानना है कि दलित चेतना उन साहित्यकारों में है जो अम्बेडकरवादी और फूले की विचारधारा पर अपने साहित्य को लिखते है। अक्सर सवाल उठाया जाता है कि क्या प्रेमचंद के साहित्य में दलित चेतना है? यदि हाँ तो दलित आलोचक उन्हे गैर-दलित चेतना का साहित्यकार क्यों मानते है?

हिन्दी आलोचकों का मानना है कि दलित साहित्य अस्मितावादी साहित्य है। डा० मैनेजर पाण्डेय के अनुसार - दलित साहित्य हिन्दी साहित्य का लोकतंत्रीकरण कर रहा है। लेकिन दलित आलोचकों का मानना है कि यह अस्मितावादी साहित्य न होकर समाज में समता, स्वतंत्रता तथा बंधुता को स्थापित करने वाला साहित्य है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते है -

> ''दलित चेतना का सीधा सरोकार मैं कौन हूँ?
>
> से है जो दलितों की सामाजिक, सांस्कृतिक
>
> तथा ऐतिहासिक भूमिका की छवि तिलिस्म
>
> को तोड़ती है। वही दलित चेतना है।''[3]

'दलित साहित्य' के अंतर्गत क्या आना चाहिए और क्या नहीं इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रेम कुमार मणि के अनुसार -

> ''दलितों के लिए दलितों के द्वारा लिखा जा

रहा साहित्य दलित साहित्य है।''[4]

गैर दलित साहित्य की तुलना दलित साहित्य से करते हुए कंवल भारती इस बात को ठीक ही रेखांकित करते हैं कि उसमें व्यक्ति की अपेक्षा समुदाय केन्द्र में है।

हिन्दी क्षेत्र में काफी समय से ही इस विषय पर बहस चल रही है कि दलित साहित्य किसे माना जाए, परंतु लंबी बहसों के बाद अब यह माना जाने लगा है कि दलित ही दलित की पीड़ा को अपने भोगे हुए आयतित की अनुभूति द्वारा साहित्य में बदल सकता है। इसको परिभाषित करते हुए कई विद्वानों ने मत प्रकट किए है। डॉ.शरण कुमार लिम्बाले के अनुसार -

''दलित केवल हरिजन और नव बौद्ध नहीं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन खेत मज़दूर, श्रमिक कष्टकारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द से व्याख्याथित होती है।"[5]

समाज में व्याप्त संकीर्णता और विसंगतियों से मानव को मुक्त करना एवं पीड़ित मानवता को सम्मानीय जीवन प्रदान करना ही दलित साहित्य का एकमात्र उद्देश्य है-

''"यह साहित्य दुखों, वेदनाओं और संघर्षों तक ही सीमित नहीं है। उसमें परिवर्तन की अटूट आस्था है और जीवन के उदात्त भावों जैसे प्रेम, भाईचारा आदि का भी संदेश है, जो समस्त मानव जाति को एक माला में पिरोकर रखना चाहता है।"[6]

नवें दशक में दलित साहित्य की अनेक विधाएँ सामने आई। इन विधाओं में दलित आत्मकथाओं नें दलित साहित्य को एक पहचान दी। आत्मकथा विधा के कारण ही दलितों का यथार्थ वास्तविक रूप में अंकित हुआ। दलित आत्मकथाओं में लेखको ने अपने समाज की यातनाओं, पीड़ाओं व शोषण की विभीषिका का तीखा और यथार्थ चित्रण किया है। डॉ. विमल घारोत ने लिखा है -

''दलित आत्मकथाएं आज दलित समुदाय के विभिन्न आयामों को अपने अंदर समेट कर शोषण के उस हर एक पहलू की, एक समाज शास्त्रीय चिकित्सक की दृष्टि से चीरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल करता हुआ दिखाई पड़ता है।''[7]

दलित आत्मकथाकारों नें अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से दलित समुदाय की गरीबी, गुलामी और यातना की दिल दहलाने वाली जो तस्वीरें प्रस्तुत की है, वें वास्तव में सराहनीय है। दलित आत्मकथाकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहन दास नेमिशराय, कौशल्या बैसंत्री, सूरजपाल - चैहान - अनिता भारती, तुलसीराम, जय प्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन आदि का नाम प्रसिद्ध है।

दलित साहित्य में स्त्री शोषण की या कहें कि उसके तिहरे शोषण की समस्या को भी उठाया गया है। महिला दलित साहित्यकारों में कौशल्या बैसन्त्री नें अपनी आत्मकथा 'दोहारा अभिशाप' में अपने जीवन के यथार्थ को, शिक्षकों के क्रूर व्यवहार को और सामाजिक जातिय अत्याचारों को उजागर करते हुए लिखा है-

''जब मैने कन्या पाठशाला में पाँचवी कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा थी, एक रूपये बारह आने। बच्चों की फीस देना माँ - बाप के सामथ्र्य के बाहर था। बाबा ने हैडमिस्ट्रेस से बड़ी विनती की कि वे फीस नहीं दे सकते। बहुत मुश्किल से वह मान गई और कहा पढ़ाई अच्छी न करने पर निकाल देगी। बाबा ने हैडमिस्टे्स के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से क्योंकि वे अछूत थे स्पर्श नहीं कर सकते थे।''[8]

ब्राहमणवादी मानसिकता, शिक्षकों के मन में इस प्रकार से रच बस गई कि जिस प्रकार सवर्णों के मन में दलितों के प्रति जो घृणापूर्ण धारणाएँ व व्यवहार है ठीक यही स्थिति शिक्षकों की है वहीं शिक्षक होते हुए भी दलितों के साथ घृणित व्यवहार करते थे।

'अक्करमाशी" में शरण कुमार लिम्बाले ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है -

''हम महार जाति के थे, इसलिए प्रति शनिवार पूरे स्कूल की जमीन को गोबर से लीपने का कार्य हमें दिया जाता था। गोबर इकट्ठा करके पूरा स्कूल लीपने के बाद शिक्षक मेरी सराहना करते। घर पर मैं किसी प्रकार का काम नहीं करता था पर स्कूल का यह काम मुझे चुपचाप करना पड़ता था।''[9]

इस प्रकार शिक्षक का यह व्यवहार शिक्षक पद की गरिमा के एकदम विपरीत है।

सूरजपाल चैहान ने अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' में संस्कृत के अध्यापक वेदपाल शर्मा के विषय में लिखा है कि वह शिक्षक होते हुए भी जाति का ओछापन किस तरह याद दिलाते रहते थे। एक दिन उन्होंने सूरजपाल की ओर संकेत करते हुए कहा था -

''यदि देश के सारे चूडहे चमार पढ़ लिख गए तो गली-मौहल्लों की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा। ''[10]

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षक चाहे, शहर का हो या गाँव का लेकिन उसकी सोच विकृत सवर्णवादी मानसिकता से पूरी तरह से ग्रस्त है। बस अंतर इतना है कि एक ओर शहर का शिक्षक दलितों को गली मौहल्लों की सफाई और जूते बनाने के लिए अनपढ़ रखना चाहता हैं वहीं दूसरी ओर गाँव का शिक्षक गाँव से जुड़े कार्यों को करने के लिए।

डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन ने अपनी आत्मकथा 'चमार' में दलितों के साथ सवर्णों का जो व्यवहार रहा है उसके विषय में लिखा हैं -

''धन्य है मेरा देश भारत। किस वर्ग से बढ़कर है यह देश जहाँ मेरी माँ - बहनों की तुलना पशुओं से की जाती है और उनसे पशु जैसा आचरण किया जाता है स्वीकार हो हुज़ूर। दलित लौटाना चाहता है आपको आपकी भाषा, आपका व्यवहार।''[11]

इससे स्पष्ट होता है कि लेखक के मन में व्यवस्था के प्रति आक्रोश है।

वही दूसरी ओर नैमिशराय जी ने अपनी आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लिखा है कि उन्हें इस बात पर गर्व है कि वे ऐसे समुदाय से ताल्लुक नहीं रखतें जिसने शोषण किया, निर्दोषों को सताया और धर्म के नाम पर अमानवीय परंपराओं को वैधता प्रदान की। वे लिखते है -

''हम गरीब जरूर थे पर हमने न देश बेचा था न अपना ज़मीर। न हम डंडीमार थे और न ही सूदखोर। चोर लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। .......... सवर्णों की तरह हमने न मुगलों से समझौता किया न ही अंग्रेजों से सौदेबाज़ी की।"[12]

गरीबी, बेरोज़गारी और अर्थाभाव की अर्थी पर फेंके जाने वाले पैसों को इकट्ठा करने में हम दलितों को कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी मोहनदास नैमिशराय ने यह सब दरिद्रता के कारण किया -

''अर्थी के ऊपर फेंके गये पैसे उठाने के लिए बा और ताई ने कभी मना नहीं किया था।''[13]

अपनी आत्मकथा की भूमिका में वे लिखते हैं -

''व्यक्ति हो या समाज उसे अपने अधिकार स्वयं ही लेने होते हैं। बैसाखियों पर जीवन नहीं चलता। चलेगा भी कितने दिन।"[14]

समाज में व्यक्ति की हैसियत व दर्जा जाति के आधार पर तय किया जाता है जातिवादी समाज में सर्वप्रथम व्यक्ति की जाति के बारे में जानने की जिज्ञासा रहती है और जाति के आधार पर ही संवाद की स्थिति तय की जाती है।

दलित लेखकों नें संपूर्ण व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया है। इस आक्रोश का कारण समाज में व्यवस्थित व्यवस्था है, जन्म से पहले ही जिस समाज में जाति निर्धारित कर दी जाती है। व अछूत का लेबल माथे पर चिपका दिया जाता है ऐसे कुंठित समाज में किसी भी मनुष्य का छटपटाना सामान्य है। जाति व अस्पृश्यता का सहारा लेकर सवर्णों द्वारा दलित समाज को नियंत्रित किया जाता है जो दर्जा समाज में दलितों के लिए निर्धारित था, वहीं दर्जा स्कूल में भी लागू होता है। विडंबनापूर्ण स्थिति तब होती है जब 'अक्करमाशी' में लिम्बाले ने दिखाया है -

''बनियों और ब्राहमणों के लड़के कबड्डी खेल रहे थे। हम अछूत बच्चे उनसे अलग थलग ही बैठे थे........... दलितों का खेल अलग। दो-दो खेल दो-दो आँधियों की तरह।''[15]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिन शिक्षण संस्थाओं का कार्य विषमता को समाप्त तथा बराबरी का अहसास पैदा करना है लेकिन वहीं गैर बराबरी और विषमता की भावना को बढ़ावा दे रहें है तो इससे बड़ी समाज की विडंबनापूर्ण स्थिति क्या होगी ?

'जूठन' की भूमिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है -

''दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव दग्ध है। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी ही समाज व्यवस्था में हमने सांसे ली है, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है।"[16]

'जूठन' मे वाल्मीकि जी ने हिन्दू समाज की विकृतियों का पर्दाफाश किया है। वर्ण व्यवस्था नें दलितों को ऐसे घाव दिए हैं जो असहनीय है। 'जूठन' में गाँव के भीतर जीवन की तस्वीर दिखाते हुए वाल्मीकि जी लिखतें है -

''अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय भैंस को छूना बुरा नहीं था, लेकिन यदि चूहडे का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ ज़रूरत की वस्तु थे काम पूरा होते ही उपयोग खत्म, इस्तेमाल करो, दूर फेंकों।"[17]

दलित आत्मकथा दलित के जीवन का अतीत और वर्तमान के संदर्भ में एक ऐसा प्रयास है जिसमें लेखक अपने जीवन को नहीं, अपने चारों तरफ फैले समाज को भी समझता है। वस्तुतः दलित आत्मकथा आत्मपहचान का संघर्ष है जिसके साथ एक दमनात्मक समाज भी उद्घाटित होता है।

दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र पर भी काफी सवाल उठाए गए है। कुछ आलोचकांे का मानना है कि दलित साहित्य की भाषा बहुत खराब है, लेकिन दलित आलोचकों का मानना है कि साहित्य की भाषा समाज से निर्मित होती है, उन्हें जिस तरह का समाज मिला है उसका चित्रण ऐसी ही भाषा में हो सकता है। दलित साहित्य का सबसे अधिक विरोध छायावाद से है। दुर्भाग्य की बात है कि विकसित होते हुए दलित साहित्य में भी अंतर्विरोध की नींव पड़ चुकी है, जो साहित्य के विकास के दृष्टिकोण से उचित नहीं जान पड़ती है या यों कहें कि यह रचनाकारों को एक सीमा में बांधती है। यह कहना गलत न होगा की दलित विमर्श, स्त्री विमर्श तथा आदिवासी विमर्श द्वारा साहित्य के विभिन्न गंभीर मुद्दों पर विचार किया जा रहा है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय वर्ण व्यवस्था नें दलित समाज को समस्त अधिकारों से हज़ारों वर्षों तक वंचित रखा। आत्मकथाओं में लेखक समूची व्यवस्था के प्रति दलित समाज को दुरूस्त करने का कार्य कर रहे है। अर्थात् दलितों को सचेत करते हुए संघर्षरत होने का आह्वाहन भी दलित लेखकों ने किया है दलित आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से जहाँ दलितों की सभी समस्याओं को समस्त समाज से परिचित कराया है,वहीं साथ ही व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए दलितों के विकास के लिए मार्गा भी प्रशस्त किया है।

**संदर्भ - ग्रंथ**

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि - (ठाकुर का कुआँ)
2. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, प्रकाशन - (राधाकृष्ण प्रकाशन) पृष्ठ संख्या - 18
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, प्रकाशन - (राजकमल प्रकाशन)
4. प्रेम कुमार मणि: दलित साहित्य: एक परिचय (लेख) दलित साहित्य चिन्तन विविध आयाम, सं डा० एन० सिंह पृष्ठ संख्या - 57
5. डॉ. शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृष्ठ संख्या - 38
6. दलित चिन्तन, 2011, डॉ० प्रकाश कुमार, पृष्ठ संख्या - 41
7. दलित साहित्य में विविध विधाएँ, माता प्रसाद, डा॑० विमल थारोत, पृष्ठ संख्या - 56
8. दोहरा अभिशाप, कौशल्या बैसंत्री, पृष्ठ संख्या - 21
9. अक्करमाशी, शरण कुमार लिम्बाले, पृष्ठ संख्या - 61
10. तिरस्कृत, सूरजपाल चैहान, पृष्ठ संख्या - 58

11. चमार, श्यौराज सिंह बैचेन, पृष्ठ संख्या - 44
12. अपने - अपने पिंजरे, मोहानदास नैमिशराय, पृष्ठ संख्या - 12
13. वही पृष्ठ संख्या - 12-13
14. वही पृष्ठ संख्या - 13
15. अक्करमाशी, शरण कुमार लिम्बाहे, पृष्ठ संख्या - 48
16. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या - 32
17. वही पृष्ठ संख्या - 32

(सहायक ग्रंथ)

1. दलित साहित्य की अवधारणा - कंवल भारती
2. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (लेख) - निरंजन कुमार

***शोधार्थी, एम.फिल. हिंदी**
**दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**
**ईमेल: mebharti19bharti@gmail.com**

# विमुक्त-घुमंतू जनजातियां : साहित्य और वर्तमान सन्दर्भ

***डॉ रक्षा गीता**


## भूमिका

*इतिहास गवाह है कि भारत के तीन बड़े लोक जागरण - बुद्ध काल में , भक्ति आन्दोलन व स्वतंत्रता संग्राम आन्दोलन के सारथी दलित, वंचित और हाशिये का समाज ही था जिन्हें बिसरा दिया गया| दलितों वंचितों के संघर्ष के बिना ये जागरण निस्संदेह असम्भव था| घुमंतू, खानाबदोश जनजातियाँ जो योद्धा/लड़ाकू प्रवृत्ति के कारण कभी अंग्रेजी राज में अपराधी घोषित हुए,तो कभी अपनी ही सरकार के द्वारा हैबिचुअल ऑफेंडर यानी आदतन अपराधी घोषित हुए| समाज से बहिष्कृत माने जाने वाला विमुक्त घुमंतू समाज आज नारकीय जीवन जीने को विवश है|नैतिक आदर्शों की मूल धारणा के कारण ये साहित्यक संवेदना से भी वंचित रहे अस्मिता मूलक विमर्शो में भी इस समुदाय की अस्मिता और सम्मान पर चिंतन नहीं होता| मराठी साहित्य के आत्मकथात्मक उपन्यास इस संदर्भ में रेखांकित करने वाले है जहाँ एक एक तरफ तो इस समुदाय का विकृत चेहरा सामने आता है तो हमारे समाज की विद्रूपताओं को भी रेखांकित करतें है |*


## प्रस्तावना

शायर असराल-उल-हक़ मजाज़ इन विमुक्त-घुमंतू जनजातियो का दर्द बयां करते हैं-

*बस्ती से थोड़ी दूर, चट्टानों के दरमियां*
*ठहरा हुआ है, ख़ानाबदोशों का कारवां*
*उनकी कहीं जमीन, न उनका कहीं मकां*
*फिरते हैं यूं ही शामों-सहर ज़ेरे आसमां*

'घुमंतू' का शाब्दिक अर्थ है, 'घुमक्कड़' जो बिना कारण इधर-उधर घूमे अथवा जब कोई शौक से,अनुभव लेने को, ज्ञान प्राप्ति हेतु यात्रायें करता है,जिसके लिए खूब पैसा और समय चाहिए| फिर एक शब्द 'जनजाति' विशेषण के साथ मेरी चेतना से टकराता है - *घुमंतू जनजातियां यानी वे विशेष जाति जिनका कोई स्थायी निवास नहीं होता और आजीविका की तलाश में वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते हैं और घूमना इनका शौक नहीं विवशता* है| इसी के संदर्भ में हमारे देश में आज घुमंतु,अर्ध-घुमंतू,विमुक्त जनजातियों में लगभग 840 जातियां है,जिनमें भारतीय समाज का सर्वाधिक उपेक्षित और पिछड़ा वर्ग है कालबेलिये, नट, भांड, पारधी, बहुरूपिये, सपेरे, मदारी, कलंदर, बहेलिये, भवैया, बणजारे, गुज्जर, गाड़िया लुहार, सिकलीगर, कुचबंदा, रेबारी, बेड़िया, नायक, कंजर, सांसी जैसी सैकड़ो जातियाँ हैं|शिक्षा के अभाव में ये जातियां जानवरों से बदतर जीवन व्यतीत करने को विवश है,एक पक्षी घोंसला बनाकर रहता है, गली का जानवर भी एक स्थान खोज लेता है और जीवन भर वहां रह लेता है लेकिन *घुमंतु विमुक्त जनजातियों* की विडंबना की घर की 'चाहना' रखकर भी ये घर नहीं बना सकते, मूलभूत आवश्यकताओं की घोर कमी के साथ-साथ एक सामाजिक अभिशाप या कलंक इन्हें सदैव ढोना पड़ता है| अजीब विडंबना है कि जहाँ हमारे स्वतंत्रता सेनानियों को स्थायीकरण के कारण सदा सम्मान मिला वहीं अपनी

घुमक्कड़ प्रवृति के चलते सम्मान मिलना तो दूर आपराधिक (वो भी परम्परागत /जन्मजात) जातियों का दंश झेलना पड़ा |

*'विश्व के लगभग 53 देशों में अंग्रेज़ों का शासन था, (लेकिन 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' 1871 ब्रितानी हुकूमत के दौरान बहुत सारी ऐसी लड़ाकू जनजातियाँ थीं जिन्हें क्रिमिनल ट्राइब्स यानी आपराधिक जनजाति के रूप में सूचीबद्ध किया गया था) केवल भारत में लागू किया गया था इसकी पृष्ठभूमि में अंग्रेज़ों की धारणा यह थी कि जिस तरह से भारत में जातिगत व्यवसाय होते हैं जैसे लौहार का लड़का लौहार होता है, बढ़ई का लड़का बढ़ई, चिकित्सक का लड़का चिकित्सक, इसी तरह अपराधी की संतानें अपराधी ही होती हैं, स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भागीदारी करने वाली ,भारत की इन लड़ाकू जातियों की संतानों को भी अनिवार्य रूप से जन्मजात अपराधी मान लिया गया था विमुक्त जनजातियों के प्रति पूर्वाग्रह अंग्रेजों द्वारा घोषित की गई अपराधी जनजातियों या विमुक्त जनजातियों (Ex-Criminal Tribes) के बारे में आज भी तथाकथित अभिजात्य वर्ग एवं जन सामान्य का सोच यह है कि यह चोरी-चकारी जैसे आपराधिक कृत्य में संलिप्त जातियां हैं, जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है इस पूर्वाग्रह पूर्ण नज़रिये के कारण ही इन समुदायों के उत्थान के लिए शासक वर्ग ने कोई कारगर उपाय नहीं किए* [1]

*ऐतिहासिक पृष्ठभूमि* हम सभी जानते हैं कि 15 अगस्त 1947 को देश आजाद हुआ किंतु इन घुमंतु, अर्ध घुमंतू जनजातियों को 31 अगस्त 1952 को स्वतंत्रता मिली जब इन्हें 'विमुक्त' घोषित किया गया| और इसके स्थान पर है *हैबिचुअल ऑफेंडर एक्ट लागू* कर दिया इसका अर्थ यह हुआ कि जो ब्रिटिश विद्रोही समुदाय 1952 तक जन्मजात अपराधी माने जाते थे, वे अब 'आदतन अपराधी' माने जाने लगे मगर उनके नाम के आगे *विमुक्त* का शब्द जुड़ गया जिससे पता चले कि यह पहले अपराधी जनजाति के थे| भारत के विमुक्त जनजाति आयोग के अध्यक्ष बालकृष्ण सिद्धराम रेनके जो *स्वयं "महाराष्ट्र में डमरू बजाकर भीख मांगने वाली कम्युनिटी के हैं, वे कहते थे कि मैं अपने पिता के साथ में मुंबई में भीख मांगता था। उन्होंने आयोग के अध्यक्ष के रूप में बहुत अच्छा काम किया। 17 अनुशंसाएं कीं, लेकिन कुछ नहीं हुआ।..."*[2] वे मानते हैं कि इन जनजाति के प्रति लोगों की मानसिकता को बदलना ही सबसे अहम क़दम होगा|

*सामाजिक स्थिति* 2011 की जनगणना के अनुसार घुमंतू जनजातियों की आबादी 15 करोड़ है जो आज यह 20 करोड़ से ज्यादा हो सकती है|'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' के कारण समाज इन्हें परंपरागत मानता है यह विडंबना ही है कि जन्म लेते ही अबोध शिशु अपराधी श्रेणी में मान लिया जाता है| यही कारण है कि ये कहीं भी घर बना नहीं बना पाते, इन्हें खदेड़ दिया जाता है,ग्लोबल भारत की संकल्पना में इन लोगों के लिए कहीं कोई स्थान ही नहीं बचा जिन खाली स्थानों पर ये घर बना लिया करते थे वहां पर बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हैं, खाने पीने की तो बात ही अलग है नहाना-धोना, पानी, शौच जैसी मूलभूत सुविधाएँ भी मुहैया नहीं | कुछ सामाजिक दबाव तो कुछ व्यक्तिगत विवशताएं ये जाने-अनजाने असामाजिक कार्यों से जुड़ते चले गए| स्त्रियों की दशा तो और भी दर्दनाक

---

[1] https://www.patrika.com/jodhpur-news/10-percent-of-the-total-population-of-nomadic-castes-could-not-connect-6166878/

[2] https://www.forwardpress.in/2018/11/samvidhan-me-ho-hamari-pahachan-mile-ham-dhumantuo-ko-adhikar-m-subba-rao/

है, आजीविका हेतु देह का इस्तेमाल करना इनकी विवशता है बेड़नी, नचनारी, नचनिया, पथुरिया, धंधे वाली जैसे अपमानजनक शब्दों से रोज़ दो-चार होतीं हैं | इन्हें कभी भी सरकारी योजनाओं का लाभ नहीं मिला अन्यथा इन जातियों की लोक संस्कृति में,संगीत, नृत्य-कला जड़ी बूटियों का ज्ञान आदि धरोहर के रूप में विद्यमान है लेकिन इन्हें संरक्षित करने का किसी ने नहीं सोचा|

*साहित्य में विमुक्त घुमंतू जनजाति* –सर्वप्रथम अंग्रेजी साहित्य ने ही विमुक्त घुमंतू जनजाति की नकारात्मक/बुरी छवि दुनिया के सामने प्रस्तुत की| इस तरह के साहित्य को *एट्रोसिटी लिटरेचर Atrocity Literature* कहा जाता है यानी किसी समाज, व्यक्ति, घटना आदि के प्रति क्रूरता, अतिदुष्ट व्यवहार, अत्याचारी सोच लेकर चलने वाला साहित्य| किसी संस्कृति या देश को खराब दिखाने के लिए एकत्र की गई काल्पनिक कहानियों ,तथ्यों को जाने समझे बगैर,प्रस्तुत करता है | इन्हीं किताबों में से एक किताब का नाम 'कन्फेशन ऑफ ठग' है। जिसे *1839 में 'फिलिप मेडोज'* ट्रेलर ने लिखा था।जिसमें ठग्स/पिंडारी (Thugs of Hindustan) को कुख्यात लुटेरा, हत्यारा और डकैत बताया गया *था।ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित है कि अंग्रेजों की खिलाफत करने वाले आदिवासी, जिन्होंने ब्रिटिश हुकूमत के दांत खट्टे कर दिए थे, पिंडारियों यानि ठग कहे जानेवालों से, गोरी सरकार आतंकित थी,... ठग्स ऑफ़ हिन्दुस्तान' नामक फिल्म बनी थी | फिल्म की कहानी ठगों अर्थात ब्रिटिशकाल के 'एंटी हीरो' पर आधारित है। पर यह भी सच है कि जिसे समाज का हीरो दिखाया गया है, वह समाज आज भी गुलामों-सी जिंदगी जी रहा है। आजादी के बाद देशभक्तों को पुरस्कृत किया गया, ये पिंडारी स्वयं ही ठगे गए।* [3]

यह भी विडंबना ही है कि भारतीय साहित्य ने इस नकारात्मक छवि में बदलाव लाने हेतु या समाज की सोच में सकारात्मक परिवर्तन हेतु कोई प्रयास नहीं मिलते |

*साहित्य* 'उत्तर आधुनिककाल' में अस्मिताओं की टकराहट से नए-नए विमर्श उभर कर आए| दलित, स्त्री, आदिवासी,किन्नर,विकलांग आदि विमर्श| विमुक्त घुमंतू जनजातियां जो निम्नतर कोटि का जीवन व्यतीत कर रहें हैं,स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी इनके उत्थान हेतु अथवा इस समुदायों की चेतना जाग्रत करने के लिए कोई साहित्यिक विमर्श या आन्दोलन अथवा पहल किसी की तरफ से क्यों न हो सकी ? विमर्शों की मूल शब्दावली अस्तित्व,अस्मिता,सशक्तिकरण,विद्रोह,मान-सम्मान जैसे शब्दों की मूल संकल्पना से ही अभी ये कोसों दूर हैं|अज्ञान,सामाजिक बहिष्कार,आपराधिक कलंक अस्थायित्व और सबसे अधिक अशिक्षाके कारण अस्मिता की चेतना अभी इनमें जाग्रत नहीं हो पा रही| साहित्य में वंचित दलित समाज का विमर्श की शुरुआत मराठी साहित्य से हुई और अब विमुक्त घुमंतू जनजातियों की आत्मकथाओं का आरम्भ भी मराठी साहित्य में आत्मकथाओं से हो रहा है|समाजशास्त्रीय अध्ययन के हिसाब से साहित्य की कुछ नैतिक मान्यताएं रहीं हैं जो इस समाज पर लागू नहीं हो पाती एक ऐसा व्यक्ति या जाति जो घोषित/आदतन अपराधी है उसके प्रति सहानुभूति जागृत करना भी शायद अपराध की श्रेणी में आ जाए,इसलिए अब तक साहित्य में इनके प्रति साहित्यकारों ने कोई सहानूभूति भी न दिखाई |हाँ रांगेय राघव ने *'कब तक पुकारूँ' व 'धरती अपना घर'* उपन्यास में क्रमश: इन नट या करनट व गाड़िये

---

[3] https://www.gyanmanthan.net/thugs-of-hindostan-history-in-hindi/

लोहार के जीवन को उकेरा है पर कोई परंपरा नहीं चल पाई| बांग्ला लेखिका महाश्वेता देवी का नटी नामक उपन्यास स्वातंत्र्य संग्राम की प्रथम चिंगारी और संघर्ष के बीच मोती नामक नटी /नर्तकी की कथा है |

*आत्मकथात्मक साहित्य* पूर्व में प्रेमचंद और अनेक प्रमुख साहित्यकारों द्वारा दलितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने पर भी विमर्शों का कोई दौर,आन्दोलन न हो पाया,वह चेतना दलित आत्मकथाओं ने विकसित की | इसके बाद आज तक विमुक्त एवं घुमंतू जनजातियों की लगभग 35 के आसपास आत्मकथाएं लिखी गई हैं| और अब समय आ गया है कि उन पर नया विमर्श खड़ा होगा, नया साहित्य आने लगेगा। दलित विमर्श की भांति विमुक्त समाज के लोग साहित्य के क्षेत्र में आ रहें है |

शोलापुर के नागनाथ विट्ठलराव गायकवाड़ की एक कविता कहती है :

*उठ मेरे विमुक्त भाई*

*अपनी दुनिया ही है निराली, पैदा होते ही हम अपराधी*

*न गाँव, न घर, न जंगल, न कोई हक, कहाँ के हम शिकार*

*उठ मेरे विमुक्त भाई, गुलामी के जंजीरों से बाहर निकल*

*क्रांति की फैली है किरण, संघर्ष कर, न्याय मिलेगा, आज नहीं तो कल|* [4]

*मराठी में विमुक्त एवं घुमंतू जनजातियों की आत्मकथाओं* का पदार्पण 1980 में *लक्ष्मण माने की आत्मकथा 'पराया'* (1981 में साहित्यिक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित)से माना जाता है कैकाडी समाज का नायक दाहक अनुभव संघर्ष और सामाजिक उपेक्षा की यात्रा करते हुए हमारे समाज के चेहरे के नकाब नोंच कर एक ऐसा आईना प्रस्तुत करता है जिसमें सभ्य समाज अपना ही विकृत चेहरा देख सिहर उठता है| घोर दरिद्रता, अछूतेपन और अज्ञानता के अन्धकार में डूबा हुआ कैकाडी समाज घुमक्कड़ समाज है| स्वयं लक्ष्मण माने जी के अनुसार *''सतारा में हर वर्ष बाबा साहब अंबेडकर व्याख्यानमाला आयोजित करते हैं इसके लिए दया पवार और राव साहब कस्बे वक्ता के रूप में आए थे उन्हें जाति बिरादरी के कुछ प्रसंग सुनाए, बातें करते-करते, सहजता से उन्होंने कहा लिखो! पर मैं साहस न कर सका यह मेरा क्षेत्र नहीं है बाद में अनिल अवचट जी ने भी लिखने को कहा कि अब नहीं लिखेगा तो कब लिखेगा? और फिर जो जिया जो भोगा, जो अनुभव किया, देखा, वही सब लिखता गया, वही जीवन बार-बार जीता गया... इस पुस्तक के कारण खानाबदोश जातियों-जनजातियों के सवालों पर सामाजिक विचार मंथन शुरू हो,बंजारे सामाजिक चर्चा के विषय बने, उनके लिए काम करने वाले लोगों को प्रोत्साहन मिले,... मैं समझूंगा पुस्तक लिखने का मेरा परिश्रम सार्थक हो गया| पीढ़ियों से गधों की पीठ पर अपना*

[4] https://junputh.com/lounge/time-has-come-for-denotified-tribes-to-assert-for-thir-participation-and-freedom-in-indian-democracy/

*घर संसार लादे, जीवन जीने वालों की वेदना यदि समाज समझ सका तब भी काफी है|"* (अनुवादक दामोदर खडसे) वास्तव में अपने दुःख दर्द को बयां करना सरल नहीं खासकर जब हम जान रहे हो कि समाज हमें गंभीरता से ना लेगा हमारे प्रति घृणा करता है उसकी सम्वेदना को उद्वेलित करना उनके लिए आसान न था |

1989 में साहित्य अकादमी सम्मानित *लक्ष्मण गायकवाड लिखित मराठी आत्मकथात्मक उपन्यास 'उलच्या'* एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है, 'उलच्या' का अर्थ है '' चोरी करने वाली जाति जिसे समाज ने हमेशा से नकारा| पेशे से लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता लक्ष्मण गायकवाड विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से महाराष्ट्र की विमुक्त जनजातियों में सामाजिक जागरूकता अभियानों से जुड़े हैं| यह लेखक के अनुभवों पर आधारित है इसमें सामाजिक असमानता पर पैना व्यंग्य और स्पष्ट स्वीकारोक्ति दोनों मुखर हैं |उचक्का समाज के छोटे-मोटे अपराधों पर पल रहे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, *यह एक व्यक्ति के माध्यम से समाज की विकृतियों कथा है* | भूमिका में लेखक लिखते हैं कि *"जिस समाज में मैं जन्मा उसे वहां की वर्ण व्यवस्था और समाज व्यवस्था दोनों ने नकारा है सैकड़ों नहीं हजारों वर्षों से... अंग्रेज सरकार ने तो गुनहगार का ठप्पा हमारे समाज पर लगा दिया और सब ने हमारी ओर गुनाहगार के रूप में देखा और आज भी उसी रूप में देख रहे हैं...हम पर थोपे गए चोरी के इस व्यवसाय का उपयोग ऊपर वाले ने अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए किया आखिर हमें अपराधी की मोहर जो दी गई उसका कभी तो समाजशास्त्रीय अध्ययन भी होगा, बचपन से ही मैं अपने आसपास उठाई गिरोह की दरिद्रता, उनकी मजबूरी, भूख के कारण होने वाली उनकी छटपटाहट और अभावग्रस्त था, को देखता आ रहा हूं... उनकी व्यथा को उनके सम्मुख प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही यह लेखन मैंने नहीं किया, अपने पूर्वाग्रहों को दूर रखकर प्रस्थापित समाज हमारी और नए दृष्टिकोण से देखें, विचार करें और साथ ही इन जनजातियों में तैयार होने वाले नव शिक्षित युवक युवा समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखें, इसलिए मैंने यह आत्मकथा लिखी| ...रिश्वत और भ्रष्टाचार से लाखों रुपए कमाने वाले लोग यहां अपराधी गुनहगार नहीं माने जाते परंतु भूख से परेशान होकर 15-20 की चोरी करने वाले यहां गुनाहगार माने जाते हैं... मैं बेचैन हो जाता हूं... अधिकार अचानक और एक रात में मिलने वाला नहीं है इसके लिए निरंतर जागृति संघर्ष और संगठन की जरूरत है| मैंने यह अनुभव किया कि नैतिक मूल्य और ईमानदारी की हमारी संकल्पना में जबरदस्त विसंगति है| यह आत्मकथा वास्तव में एक कार्यकर्ता का मुख्य चिंतन है इस कारण इस आत्मकथा का साहित्य का मूल्यांकन करने की अपेक्षा समाज शास्त्रीय मूल्यांकन हो यह अपेक्षा है|*[5]

*<u>मराठी में विमुक्त जनजातियों की अन्य प्रमुख आत्मकथाएं</u>* हैं-जिनमें प्रमुख हैं *-भीमराव गश्ती कृत बेरड, आत्माराम राठौर कृत तांडा। भीमराव गति कृत आक्रोश शिवाजी राठौड़ कृत टाबरो, भीम राव जाधव कृत कटोरी तारेच्या कुंपणाची राउडी राठौर टांडेल, रामचंद्र नलावडे कृत दगडडफोद्या चोरटा,आदि|* मराठी साहित्य में घुमंतू और विमुक्त विमर्श अंकुरावस्था में है किन्तु अनुवाद के माध्यम से सम्पूर्ण समाज में न केवल इस समुदाय के प्रति लोगों में संवेदना जाग्रत होगी अपितु सोच में भी सकारात्मक परिवर्तन आएगा |अन्य भारतीय साहित्यकारों और स्वयं भारत के अलग अलग हिस्सों में बिखरे विमुक्त जनजाति के लोगों में भी जागरूकता आएगी | यदि इस प्रकार

[5] उचक्का लक्ष्मण गायकवाड अनुवाद सूर्यनारायण रणसुभे राधाकृष्ण प्रकाशन 2014 पृष्ठ पेज 15

का साहित्य हमारे बुद्धिजीवियों के संपर्क में आता है तो निश्चय ही इस समाज की सुध लेने के लिए यह एक अच्छी पहल हो सकती है|

*हिंदी में विमुक्त घुमंतु* हिंदी में विमुक्त जनजाति से संबंधित आत्मकथाएं नहीं मिलती |हाँ,विमुक्त समुदाय को आधार बनाकर लिखित उपन्यास इस शोषित समाज के जीवन का दर्दनाक नग्न यथार्थ हमारे समक्ष रखते है| *'कब तक पुकारूं'* राजस्थान के बैर ग्राम तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में रहने वाले हैं नटों की उपजाति करनट के जीवन व्यापार की कथा है, पीड़ित मनुष्यता के लिए इंसाफ पाने की पुकार है| मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में ज़मींदारों द्वारा शोषित जाति की विवशताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है| अभाव ग्रस्त जाति पर किए गए अत्याचारों की अपराध गाथा जहाँ कोई नैतिकता,देह से जुड़ें नियम नहीं, स्त्रियां सरकारी अमलदार और जमींदारों द्वारा भ्रष्ट की जाती हैं |राघव जी की संवेदना और मार्मिक दृष्टि से मानवीयता और प्रेम का मूल तथ्य नहीं छूट पाता इसलिए वे देह से परे कजरी और प्यारी का सुखराम के प्रति प्रेम, वफादारी, आत्मसम्मान उच्च उदात्त गुणों को ईमानदारी से चित्रित करतें हैं| स्वयं को महाराणा प्रताप का वंशज मानने वाले गाड़िये-लुहारों पर आधारित है *उपन्यास "धरती मेरा घर"* जिसमें अपने ही सिद्धान्तों, आदर्शों और जीवन मूल्यों पर जीने वाले,कभी घर बनाकर न रहने वाले, खानाबदोशों की तरह जीवन यापन करने वाले और समाज से अलग रहने वाले इन गाड़िये-लुहारों के जीवन के अनछुए और अनदेखे पहलुओं का जैसा सजीव वर्णन हमें मिलाता है | उदय शंकर भट्ट कृत *'सागर लहरें और मनुष्य'( 1955)* में मुंबई के वर्सोवा बीच के कोलियों के संघर्ष प्रस्तुति मिलती है| वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यास *'कचनार' की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है उपन्यास का घटना काल 1792 से 1803 के मध्य का है गौड़ टोलियों से अंग्रेज हमेशा आतंकित र*हे| *मणि मधुकर* द्वारा लिखित उपन्यास *'पिंजरे में पन्ना'* राजस्थान की गाडिये लोहार जनजाति पर आधारित है यह जनजाति राजस्थान के मरुस्थल में खानाबदोश जीवन व्यतीत करती है इनकी उत्पत्ति के संदर्भ में यह मान्यता है कि *वे राजपूतों की संतान रहे हैं मुगलों ने जब चित्तौड़गढ़ से बच निकले वापस नहीं लौटे और उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक चित्तौड़गढ़ पर कब्जा नहीं कर लेंगे पलंग पर नहीं सोएंगे दीपक नहीं जलाएंगे घर नहीं बस आएंगे तब से उन्होंने वह उपयोगी लोहे के हथियार बनाने का कार्य आरंभ किया* इसी व्यवसाय में संलग्न खानाबदोश हो गए|

मैत्रयी पुष्पा का *'अल्मा कबूतरी'* उपन्यास बुंदेलखंड की यायावर कबूतरा जनजाति की व्यथा को उजागर करने वाला उपन्यास है वे कहतीं हैं *"इनके पुरुष जंगल में रहते हैं या जेल में स्त्रियाँ शराब की भट्टियों पर या किसी के बिस्तर पर। कभी-कभी सड़कों,गलियों,में घुमते या अखबारों की अपराध- सुर्ख़ियों में दिखाई देनेवाले कंजर सांझी ,नट,मदारी,सपेरे,पारदी,हाबुड़े, बंजारे,बावरिया कबूतरे न जाने कितनी-कितनी जन जातियां जो सभ्य समाज के हाशियों पर डेरा लगाए सदियां गुज़ार देती हैं ,हमारा चौकन्ना सम्बन्ध सिर्फ कामचलाऊ ही बना रहता है उनके लिए हम है 'कज्जा' और 'दिक्कू' यानी सभ्य-संभ्रांत,परदेसी| उनका इस्तेमाल करने वाले शोषक| उनके अपराधों से डरते हुए ,मगर उन्हें अपराधी बनाये रखने के आग्रही| हमारे लिए वे ऐसे छापामार गुरिल्ले हैं जो हमारी असावधानियों की दरारों से झपट्टा मारकर वापस अपनी दुनियां में जा छिपते हैं"|(उपन्यास के कवर से )*

*भगवानदास मोरवाल का 'रेत' उपन्यास* कंजर यानी कानन,जंगल में घूमने वाली जनजाति की लोमहर्षक गाथा है| इनका दर्द इस सम्वाद में झलकता है- *" बिना इजाजत या इत्तिला दिए कोई कंजर गाँव छोड़कर नहीं जा सकता ...और जाता है तो मुखिया को इसकी जानकारी होनी चाहिए, जिसकी इत्तिला मुखिया को थाने में देनी होती है।"... इनकी महिलाओं को भी थाने जाकर हाज़िरी देनी पड़ती है।* [6]

*लेखिका शरद सिंह के "पिछले पन्ने की औरतें"* उपन्यास स्त्री विमर्श केन्द्रित *विमुक्त घुमंतू बेड़िया जनजाति* की ही मार्मिक अभिव्यंजना है| मध्य प्रदेश के बुंदेलखंड की बेड़ियां जनजाति की महिलायें जो सदियों से उपेक्षित, वंचित,उत्पीड़ित एवं आर्थिक बदहाली का जीवन जी रहीं हैं,सभ्य समाज के लिए बेड़नी मात्र नाचने गाने वाली भोग्य औरतें हैं| वेश्यावृत्ति करने वाली ये स्त्रियां अपने समाज और परिवार में अपेक्षाकृत अधिक सम्मान और अधिकार पाती हैं|अज्ञानता के वशीभूत इन्हें स्वयं भी देह व्यापार से कोई शिकायत नहीं रहती यह इसे ही परंपरा मानकर निभाती रहती हैं |

इसी श्रृंखला में कोली/कोरी समुदाय की वीरांगना झलकारी बाई ,रानी लक्ष्मी बाई की सखी का महत्त्व है अंग्रेज़ो ने इस जाति को खूनी जाति घोषित किया था,जबकि प्रथम विश्वयुद्ध में इसी को योद्धा जाति माना गया था क्योंकि वहां इस जाति ने अपनी वीरता का परिचय दिया था |*वीरांगना झलकारी बाई* स्वतंत्रता सेनानी थी इस उपन्यास के लेखक *मोहनदास नैमिशरायजी* ने स्वयं झांसी जाकर शोध के बाद ही तथ्य प्रस्तुत किये | विमुक्त जनजातियों की शौर्यगाथा के साथ गौरवशाली इतिहास को प्रस्तुत कर भी हमारी सोच को एक दिशा प्रदान की जा सकती है क्योंकि आज ये अपने इतिहास को स्वयं ही विस्मृत करते जा रहे हैं |

*निष्कर्ष* जिस समाज में जाति आधारित गालियाँ बनी हो और धड़ल्ले से बोली भी जाती हों, घुमंतू जनजातियों के लिए आपराधिक शब्दावलियों का प्रयोग होता है तो अत्यंत अफसोस के साथ कहना पड़ेगा कि विकृत तो हमारी मानसिकता है| हाँ, हर समाज की अपनी कमजोरियां होती हैं कमियां होती हैं ऐसे आचार-व्यवहार होते हैं जिसे उसी समाज का दूसरा व्यक्ति स्वीकार नहीं करता लेकिन इस चुनौती को अगर समर्थ संपन्न समाज पढ़ा-लिखा समाज नहीं समझेगा और उनके प्रति अपनी संवेदनाओं को नहीं जागृत करेगा तो यह समाज का हिस्सा हमेशा ही कमजोर रहेगा और हमें इस बात को ध्यान रखना चाहिए शरीर का एक हिस्सा अगर कमजोर होता है तो उसका भुगतान कहीं ना कहीं पूरे शरीर को करना पड़ता है|क्यों ना समाज के इस हिस्से को समर्थ शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया जाए,यदि इन्हें शिक्षा,रोज़गार,सम्मान दिया जाये तो ये क्योंकर अपराध की दुनिया में आना चाहेंगे | लक्ष्मण गायकवाड़ जी बताते हैं कि हमारे समाज में चोरी सिखाने के लिए शिक्षक होते हैं जो दुखद इसके विपरीत यदि हम उन्हें किताबें थमाएंगे तो किताबें ही पढ़ेंगे, लेकिन ऐसे हालात बने तो? इसके लिए तथाकथित सभ्य, बुद्धिजीवी समाज को संवेदनशील बनना होगा,बनाना होगा और साहित्य इसका सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है|

**अध्ययन सामग्री स्रोत**

* उचक्का लक्ष्मण गायकवाड अनुवाद सूर्यनारायण रणसुभे राधाकृष्ण प्रकाशन 2014 पृष्ठ पेज 15)

[6] भगवानदास मोरवाल -प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन 2009 रेत, पृ. 51

*पराया ,लक्ष्मण माने अनुवादक दामोदर खडसे, साहित्य अकादमी
* भगवानदास मोरवाल -प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन 2009 रेत, पृ. 51

**सहायक स्रोत: इन्टरनेट**

*http://www.vskgujarat.com/%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%AE%E0%A5%81%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A4%E0%A4%BF-%E0%A4%A6%E0%A4%BF%E0%A4%B5%E0%A4%B8-31-%E0%A4%85%E0%A4%97%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%A4-%E0%A4%86%E0%A4%9C-%E0%A4%B8/
*https://www.patrika.com/jodhpur-news/10-percent-of-the-total-population-of-nomadic-castes-could-not-connect-6166878/
*http://thewirehindi.com/72001/denotified-tribes-nomadic-tribes-india-govt-criminal-tribes-act/
* http://thewirehindi.com/72001/denotified-tribes-nomadic-tribes-india-govt-criminal-tribes-act/
* http://thewirehindi.com/72001/denotified-tribes-nomadic-tribes-india-govt-criminal-tribes-act

***डॉ रक्षा गीता**
**सहायक आचार्य हिंदी विभाग**
**कालिंदी महाविद्यालय**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**
**9311192384**
**rakshageeta14@gmail.com**

# साझा संस्कृति के मूल में निम्नवर्ग एवं मुस्लिम राजनीति

*डॉ. नुसरत जबीं सिद्दिकी

भारतीय समाज की बुनावट साझी संस्कृति एवं साझे मूल्यों से बनी है। भारत के साझा संस्कृति के इतिहास का एक मजबूत पक्ष मुसलमान भी हैं। जिनका इस साझी संस्कृति के इतिहास एवं गतिशीलता पर गहरा प्रभाव है। यह प्रभाव साहित्य, कला एवं स्थापत्य के साथ- साथ वेश- भूषा व भाषा पर भी बहुत स्पष्ट रूप में दिखता है। भारत में मुसलमान आक्रमणकारियों व शासक वर्गों से पहले सूफियों के अलग- अलग सम्प्रदायों का आगमन आरम्भ हो चुका था। जिसकी इस साझी संस्कृति में मजबूत हिस्सेदारी है। भारत में इस्लाम का आगमन एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना तो है ही, इतनी ही महत्त्वपूर्ण घटना सांस्कृतिक दृष्टि से भी है। भारतीय संस्कृति में इस्लाम ने सिर्फ दिया ही नहीं लिया भी, जैसा कि परस्पर दो संस्कृतियों के मिलने से स्वभाविक रूप से होता है। निरंतरता में इस्लाम का भारतीयकरण हो गया। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो इन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं को पूर्ण रूप से नकार देना चाहते हैं, और लगातार यह साबित करते रहते हैं कि मुसलमान एक विदेशी कौम है। मुसलमानों के अंदर भी एक धड़ा ऐसा है जो मुसलमानों में सुधारवादी आंदोलन के माध्यम से इस्लाम के शुद्धरूप को भारत में स्थापित करना चाहता है। ये दोनों धड़े भारतीय साझी संस्कृति के हिमायती नहीं बल्कि विरोधी हैं।

आज भारतीय इतिहास में हज़ार- वर्षों से भी अधिक समय गुजर जाने के बावजूद भी अलग- अलग धर्मों के अनुयायी होने के बावजूद ये दोनों तहजीबें एक दूसरे के साथ रह रही हैं। इन दोनों तहजीबों में समरसता और भाईचारा बनाए रखने में संत- महात्माओं, सूफी- फकीरों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। "संतों और सूफियों ने केवल सहनशीलता का ही वातावरण पैदा नहीं किया, बल्कि पारस्परिक सद्भावना भी उत्पन्न की, जिससे की जब हिन्दू और मुसलमान नरेश सत्ता के लिए संघर्ष कर रहे थे, तब दोनों धर्मों के आम लोग एक साथ मिल- जुलकर रहने की स्थिति में थे।"

कुछ ऐसे सांस्कृतिक व राजनैतिक दल हैं, जोकि भारतीय संस्कृति को एक धर्म विशेष की संस्कृति के रूप में परिभाषित कर देना चाहते हैं। यदि ऐसा होता है तो भारतीय भू- भाग पर सैकड़ों सालों से रह रहे तमाम धर्मों, सम्प्रदायों एवं पंथों को अनदेखा करने की बात होगी। उनके विचारों को नकारने की बात होगी। इस तथ्य को ध्यान से विश्लेषित करे तो समझ में आता है कि पूरे के पूरे भक्तिकाल की उपेक्षा होगी, क्योंकि सवाल यह उठ खड़ा होता है कि यदि यह संस्कृति हिन्दू संस्कृति है तो यमुना के किनारे वृन्दावन में बैठे उस कृष्ण भक्त रसखान का हम क्या करें जो अगले जन्म में उसी 'यमुना के तीरे' पैदा होने की अभिलाषा अपने हृदय में संजोए हुए हैं। या फिर कबीर और जायसी के सामाजिक संवेदना का क्या करें ? कबीर कवि है या समाज- सुधारक इस संबंध में विद्वानों में अक्सर मतभेद होते रहते हैं, लेकिन उनके व्यक्तित्व की सामासिकता साफ तौर पर धर्म से संबंधित उनके विचारों में स्पष्ट होती है। वे हिन्दू व इस्लाम दोनों से एक दूरी अख्तियार किए हुए दोनों धर्मों के आडम्बरों, रूढ़ियों, मान्यताओं एवं कर्म-कांडों की आलोचना करते हैं। उनका आलोचना करने का हेतु धर्मों में से

मानवता के तत्व को निकालता है, जो तत्व मनुष्य की मनुष्यता को बल प्रदान करता है। "कबीरदास का निचोड़ धर्म के पावन तत्व को मनुष्य की सहज आन्तरिकता में सीमित कर देती है। दुनिया खाली हो जाती है। बाहरी बातें 'पावनता' के घेरे के बाहर हो जाती है, गौण या निरर्थक हो जाती है।"

जायसी हिन्दी के 'अवध की मिट्टी' से पगे हुए वे कवि हैं जिनके काव्य एवं व्यक्तित्व में सामासिकता का खजाना है। काव्य में जिस प्रेम तत्व का दर्शन होता है उसको छूते ही मनुष्य का ह्रदय निर्मल हो जाता है। यह काव्य प्रेम रस में इतना प्रगाढ़ हुआ है कि उसे धर्म और धर्म से उपजी कट्टरता छू तक नहीं पाती। धर्म की जकड़न से मुक्त यह प्रेमाख्यानक सभी धर्मों का सार तत्व अपने साथ समेटे हुए मनुष्य की सारी कलुषता मिटाने का सामर्थ्य रखता है। "जायसी का तसव्वुफ़ आगे बढ़कर, बिना अपने इस्लाम को छोड़े, हिन्दू धर्म के मर्म को स्पर्श करता है।.....दीवारें टूटने लगती हैं। 'कविलास' और 'जन्नत' का फर्क मिट जाता है।......बसन्त पूजा धर्म या कुफ्र नहीं रह जाती। वह उस अनुपम उल्लास का प्रतीक बन जाती है जहाँ 'बैकुंठी' तत्व का निवास है।" सामाजिक व सांस्कृतिक मान्यताओं में परिवर्तन और सुधार के वास्ते कबीर और जायसी जैसे कवि/विचारक सांस्कृतिक सामंजस्य की बात करते हैं। भगवान राम के परम भक्त गोस्वामी तुलसीदास अपने इसी प्रेम एवं सामंजस्य के बलबूते ही 'मस्जिद में सोने और मांग के खाने' की बात दृढ़ता पूर्वक सहज रूप में कहते हैं। इन्हीं साधु- संतों के सुधारों, संघर्षों का नतीजा यह रहा कि दो अलग- अलग धर्मों का पालन करने वाले जिनकी सामाजिक व धार्मिक मान्यताएँ अलग- अलग थी, वे एक- दूसरे के निकट आ सके। नामवर सिंह लिखते हैं कि, "मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अन्तर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष।"

इस्लाम मध्य एशिया के बहुत से देशों से घुमता हुआ भारत पहुँचा। भारत में मुसलमानों के आगमन को तीन चरण में बांटा जा सकता है। सबसे पहले मुसलमान भारत के दक्षिणी हिस्से में व्यापारी बन कर आए, जोकि मूलतः अरब के थे। ये अरब व्यापारी स्थानीय शासकों के संरक्षण में व्यापार करते थे। इन व्यापारिक संबंधों के कारण ही भारत बाहरी दुनिया के आकर्षण का केन्द्र बना, क्योंकि भारत की अपार धन सम्पदा एवं संसाधनों की खबर अरब देशों को लगी। दिलचस्प बात यह है कि अरबी आक्रमण दक्षिण भारत की बजाय सिंध पर हुआ। तीसरा चरण तुर्कों के आक्रमण का है जिसका मकसद भारत के बेशुमार दौलत को लूटना था। ''उत्तरी भारत पर तुर्की विजय ने भारत की जनता पर गहरा असर डाला तथा लोग मुसलमानों को आक्रमणकारी व हमलावर मानने लगे।''[1] कुतुबुद्दीन ऐबक से पहले के मुस्लिम शासक आक्रमणकारी के रूप में सामने आते हैं, जिनका उद्देश्य भारत की अपार धन सम्पदा को लूटना था। ये मुस्लिम शासक विजय के उपरांत धन-सम्पत्ति समेटकर अपने किसी वफादार गुलाम को उत्तराधिकारी बनाकर वापस अपने वतन लौट जाया करते थे। सन् 1206 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक ने मध्य एशिया के राजनीतिक-आर्थिक नीति से अपने को अलगाते हुए भारत में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की जिसके परिणामस्वरूप भारत के इतिहास में एक नए अध्याय की शुरूआत होती है। भारत के लिये यह सौभाग्य की बात थी क्योंकि इस प्रकार वह मध्य एशिया की राजनीति से अलग रहा।''[2]

इतिहास में अगली महत्वपूर्ण घटन 20 अप्रैल 1526 ई. को पानीपत की लड़ाई में बाबर द्वारा दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को हराना था, जिसने अगले 200 सालों के लिए मुगल साम्राज्य को भारत में स्थापित कर दिया। ''बाबर ने राज्य की एक नयी अवधारणा प्रस्तुत की जो शासक के सम्मान और शक्ति पर आधरित थी, जिसमें धार्मिक और साम्प्रदायिक मदान्धता का अभाव था तथा संस्कृति और ललित कलाओं की उन्नति व पोषण की पूरी व्यवस्था थी।''[3] भारत में मुसलमानों के आगमन के समय भारतीय समाज की आंतरिक संरचना में वर्णव्यवस्था ने कठोर जाति व्यवस्था का रूप ले लिया था। समाज में शूद्रों एवं अस्पृश्यों की संख्या बढ़ती जा रही थी, जिन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। समाज में ब्राह्मणों का शीर्ष स्थान था जिनके पास विस्तृत अधिकार थे। ''मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत में ऐसे बहुत से लोग थे जो हिन्दू धर्म और कठोर ब्राह्मण परम्परा के प्रति निष्ठावान नहीं थे और इस्लाम के समानता वाले कानूनों को पाने के लिए अपनी विरासत को छोड़ने के लिए तैयार थे। इस्लाम ने विजयी हिन्दू प्रतिक्रिया के अत्याचारों से पीड़ित लोगों को संरक्षण प्रदान किया।''[4]

प्रो. इरफान हबीब ने अपनी पुस्तक 'भारतीय इतिहास में मध्यकाल' में दिल्ली सल्तनत के तहत होने वाले सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की चर्चा की है। इस दौर में नगरों का विकास, भवन-निर्माण, दस्ताकारी उत्पादन में वृद्धि, वाणिज्य में विस्तार आदि तेजी से हुआ। दूसरी तरफ, ''इस्लामी विधि व्यवस्था तथा परम्परा के तहत व्यवसायों के संदर्भ में किसी भी प्रकार के वंशानुगत एकाधिकारवाद को कोई स्वीकृति नहीं थी तथा कोई दरवेश भी पेशेवर बुनकर हो सकता था (किंतु भद्र पुरुष यकीनन नहीं) और फिर भी वह दरवेश के रूप में प्रशंसनीय भी हो सकता था।''[5] जिसके फलस्वरूप ना सिर्फ भौतिक उत्पादन को बढ़ावा मिला, बल्कि इसका सामाजिक प्रभाव भी पड़ा। इस युग में बुनकरों तथा दूसरे कारीगरों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ, जिसने उनके भीतर सामाजिक चेतना को जगाया। अतः कहा जा सकता है कि इस पूरे माहौल ने उस महान आंदोलन को जन्म दिया, जिसे 'भक्ति आंदोलन' के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारत में इस्लाम को लोकप्रिय बनाने में सूफियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। साथ ही जातिव्यवस्था की कठोरता का निर्गुण संतों ने प्रत्यक्ष रूप से और सूफी संतों ने अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया। इस्लाम के समानता के सिद्धांत के तहत तथाकथित निम्नजातियों के स्थानी लोगों ने धर्मान्तरण कर इस्लाम धर्म को अपनाया। इन स्थानीय लोगों को दो तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहला तो उन्हें विदेशी मुसलमानों ने धर्मान्तरण के बावजूद अपने बराबर का नहीं माना। केवल राजपूत व ब्राह्मण आदि सवर्ण हिन्दुओं को ही शासन में स्थान मिला। तथाकथित निम्न जातियाँ इस्लाम कबूल करने के बाद भी सामाजिक तौर पर पिछड़ी ही रहीं। दूसरी तरफ नए धर्म को अपनाने की वजह से उनके जीवन में सांस्कृतिक खालीपन आ गया; क्योंकि इस्लाम में ईश्वर का कोई साकार रूप नहीं है। इन सारी परिस्थितियों में आम जनता के जीवन में जो गतिहीनता पैदा हुई, उसको तोड़ने में सूफी संतों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है, या यूं कहे कि इतनी बड़ी तादाद में लोगों ने इस्लाम धर्म को अपनाया इसका श्रेय इन सूफी संतों को ही जाता है । इनकी प्रसिद्धि का कारण इनका गैर इस्लामिक चरित्र था। यह भ्रामक धारणा है कि इस्लाम को प्रसारित एवं प्रचारित तलवार की नोक पर किया गया था, बल्कि ये सूफी निम्न वर्ग में सबसे अधिक लोकप्रिय हुए ; क्योंकि इन्होंने सामाजिक एकता को मजबूती प्रदान की। इनकी दरगाहों एवं खानकाहों में हिन्दू- मुसलमान साथ- साथ रहते थे। ''उलमा दलितों व काफिरों को नीची नजरों से देखते उनसे घृणा

करते और उनका यही अंहकार 'सूफियों' की लोकप्रियता का कारण था। इसके विपरीत सूफी सहिष्णुता का प्रचार करते तथा शासकों को सलाह देते कि वे हिन्दुओं व मुसलमानों के साथ एक समान व्यवहार करें।....... अधिकांश सूफियों ने अपनी शिक्षा को लोकप्रिय बनाने के लिए संगीत व नृत्य को अपनाया जिससे ठहराव दूर होकर जीवन में गति पैदा हुई। संगीत तथा कविता ने लोगों की भावनाओं को उभारा और जीवन नीरस न रहकर सुंदर व अर्थपूर्ण हो गया। संगीत व नृत्य ने सूफियों के मठों या आश्रमों को जनता में लोकप्रिय बनाया।"

प्रो. मुबारक अली ने मध्यकालीन मुस्लिम समाज की बुनावट को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मुस्लिम समाज दो हिस्सों में बँटा था, पहला अशराफ इस श्रेणी में अप्रवासी कुलीन मुसलमान थे, दूसरा अजलाफ इस श्रेणी में निम्न वर्ग आता था जिन्होंने धर्मान्तरण के बाद इस्लाम कबूल किया। ''उच्च मुस्लिम जातियाँ अपनी शुद्धता के बारे में सचेतन थीं। खासकर शादी-विवाह के मामले में रक्त और जाति की शुद्धता की जांच की जाती। निम्न जातियों के साथ शादी-विवाह नीची नजर से देखा जाता अपनी वंशावली तथा रक्त की शुद्धता प्रमाणित करने के लिए परिवार गर्व के साथ 'शिजरा' रखते। छोटी जातियों से विवाह संबंध शुद्धता को प्रदूषित करता और इससे पारिवारिक मर्यादा घटती।''[6] मध्यकालीन मुस्लिम समाज में स्थानीय मुसलमानों को कभी बराबरी का दर्जा नहीं मिला और ना ही उनकी नियुक्ति दरबार में उच्चे पदों पर होती थी। मुस्लिम समाज का यह निम्न वर्ग गरीबी और शोषण का तो शिकार है ही, साथ ही सामाजिक बुराइयों से भी ग्रसित है, अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढ़ियों एवं जड़ परम्पराओं से यह समाज बुरी तरह से चिपका हुआ है। मुस्लिम समाज का तथाकथित निम्न वर्ग की सबसे बड़ी समस्या अपने स्थिति की वास्तविकता से अवगत ना होना है। यह वही वर्ग है जिसने सामाजिक सम्मान की उम्मीद में धर्मान्तरण कर शासन के धर्म को कबूल किया था। ऐतिहासिक तथ्यों के संदर्भ में देखें तो इस वर्ग को ना तो सामाजिक सम्मान प्राप्त हुआ और ना ही सत्ता में इनकी कोई उपस्थिति थी। यह वर्ग तब भी उच्च वर्ग की सेवा करता था। मजदूरी, कारीगरी, किसान से लेकर झाड़ू लगाने तक का काम इसी वर्ग के हिस्से में था। साथ ही यह वर्ग धर्मान्तरण के बाद जिस समाज में रह रहा था उस समाज से कट गया। उसने अपनी ही जमीन से सारे रिश्ते तोड़ लिए और अपनी ही जमीन पर अजनबी हो गया। अपनी परम्परा एवं संस्कृति से कट कर परम्पराविहीन हो गया। उसने उन कायदे- कानूनों को अपनाने की कोशिश की जो विदेशी थे, जिसका उसकी संस्कृति से कोई रिश्ता नहीं था। स्थानीय मुसलमानों की आस्थाओं एवं मान्यताओं को इस देश से बाहर मुस्लिम देशों से जोड़ दिया गया, जोकि इस धरती से उसके नैसर्गिक संबंध के खिलाफ था। इसके बावजूद तथाकथित निम्न जाति के मुसलमानों को ना तो सम्भ्रांत मुस्लिम समाज ने अपनाया और ना ही बराबरी ही दी। जिसके फलस्वरूप मुस्लिम समाज का यह तबका सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से पिछड़ गया, बल्कि भ्रम का शिकार भी हुआ।

ऐतिहासिक तथ्यों के संदर्भ में देखें तो मुस्लिम समाज का निचला तबका हमेशा ही सत्ता और उसकी सुख-सुविधाओं से दूर रहा है। चाहे मध्यकाल हो, या फिर आधुनिक काल, या फिर आजादी के बाद का हिन्दुस्तान। यह वही तबका है जोकि बँटवारे के बाद भारत में ही रह गया ; क्योंकि पाकिस्तान अभिजात्य वर्गीय मुसलमानों एवं पढ़े लिखे तरक्की आफता मुसलमानों का सपना था, जिसमें ना तो इस वर्ग की कोई भूमिका थी और ना ही इसकी

हिस्सेदारी मानी गई। यह वह वर्ग है जिसमें सदियों से हिन्दू- मुसलमान दोनों समुदाय आपस में मिलजुल कर रह रहे थे। स्वतंत्र भारत का निम्न वर्ग चाहे हिन्दू हो या फिर मुसलमान आज़ादी से पहले भी वह आर्थिक विषमता में जी रहा था और आज़ादी के लम्बे समय के बाद भी घोर गरीबी में जीने को विवश है।

अंग्रेजों के भारत आगमन से भारतीय इतिहास में एक नए युग की शुरूआत होती है। जिसके प्रभाव से भारतीय समाज में एक नयी हलचल पैदा हुई। अंग्रेजों द्वारा सत्ता पर काबिज होते ही जो मुस्लिम अभिजात वर्ग शासन में था वह शासित वर्ग में बदल गया। मुगलों के विघटन के बाद मुस्लिम समाज गतिहीन हो गया था। किसी भी प्रकार की चुनौती का सामना करने की उर्जा उसमें नहीं थी। अंग्रेजों ने अपने रणनीति के तहत अपने शासन को उचित ठहराने के लिए, साबित करना शुरू किया कि पूरा मध्यकाल गैर मुसलमानों के लिए असहिष्णु था। दूसरा, मुसलमान आधुनिकता के विरोधी है। इनकी संस्कृति ज्ञान के रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा है। इसीलिए अंग्रेजी शासन के जरिए ही आधुनिकता तथा पाश्चात्य सभ्यता से जुड़ा जा सकता है, जोकि भारतीयों के लिए वरदान है। ''सांस्कृतिक व धार्मिक मोर्चों पर मुस्लिम समाज पर विशेष रूप से आक्रमण हुआ। मुसलमानों के लिए यह पहली गम्भीर चुनौती थी क्योंकि अब तक राजनीतिक सत्ता उनके हाथ में होने के कारण राज्य विरोधियों से उन्हें सुरक्षित रखता था और उनकी आलोचना नहीं होती थी राज्य सत्ता खोने के बाद वे असुरक्षित हो गए और उन पर हर तरफ से हमले शुरू हुए।''[7]

इस बदली हुई परिस्थिति में भद्रवर्गीय मुसलमानों ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया और उत्तर प्रदेश मुस्लिम राजनीति का केन्द्र बन गया। इस दौर में भी मुस्लिम समाज विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर बँटा था। यहाँ यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि यह अभिजात वर्गीय मुसलमान सामान्य मुस्लिम जनता से कटा हुआ था। इन अभिजात्य वर्गीय मुसलमानों में ब्रिटिश शासन के संबंध में भी मतभेद था। सर सैयद पहले मुसलमान थे जिन्होंने आधुनिक मूल्यों के साथ इस्लामिक शिक्षाओं के सामंजस्य की बात करते हैं। सर सैयद इस्लाम के पुनरुत्थान की बात नहीं करते हैं बल्कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को ग्रहण करने की बात करते हैं। ''एक व्यक्ति जिसके धार्मिक विचार इतने अरुढ़िवादी थे कि उसे उसके अपने सहधर्मियों ने काफिर घोषित कर दिया था, अपने सम्प्रदाय का हिमायती माना गया।''[8] उलेमा सर सैयद अहमद के नज़रिये से सहमत नहीं थे, उन्होंने आधुनिक शिक्षा का कड़ाई से विरोध किया, क्योंकि पुरानी शिक्षा व्यवस्था ने उन्हें सत्ता और सम्मान दोनों दिया था।

असगर अली इंजीनियर लिखते हैं, ''उलेमाओं (मुस्लिम धर्मवेत्ता) ने दो कारणों से पूरी जिद के साथ अंग्रेजी शासन का विरोध किया- एक, नए धर्म निरपेक्ष कानूनों से उनकी सत्ता और सम्मान छिन गया। अंग्रेजी अदालतों ने तेजी से 'वादी' अदालतों का स्थान ले लिया।...''[9] मुसलमानों में उलेमा अंग्रेजी शासन का सख्ती से विरोध करने वाले सबसे शक्तिशाली वर्ग के रूप में सामने आते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी अंतर्विरोधों से भरी हुई थी , जिसका सबसे अधिक शिकार मुस्लिम समाज हुआ।

बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी घटना आजादी और विभाजन है। मुसलमानों के संदर्भ में यह विभाजन की त्रासदी एक सदमें का रूप अख्तियार कर लेती है; क्योंकि मुसलमानों का एक वर्ग जोकि पढ़ा-लिखा था वह

तो पाकिस्तान चला गया। उसके सपने पाकिस्तान के रूप में साकार हो गये है; परंतु मुस्लिम समाज की बहुसंख्यक आबादी इसी देश में रह गयी। आगे चलकर जिसके कंधों पर विभाजन की जिम्मेदारी थोप दी गयी। यह मुस्लिम आबादी भारतीय समाज में शक और नफरत के बीच अपने अस्तित्व की तलाश कर रही है। हालांकि आजादी के बाद भारत ने उदारवादी नजरिए के तहत धर्मनिरपेक्षता को सिद्धांत के रूप में अपनाया। रिजवान कैसर कांग्रेस और भारतीय मुसलमानों के संबंध के विषय में कहते हैं कि, ''स्वतंत्रता के बाद देश बँटवारे के कारण जब मुसलमान असहाय छोड़ दिए गए थे, यह मौलाना आजाद जैसे लोगों का प्रोत्साहन और पंडित जवाहरलाल नेहरू का आश्वासन था, जिसने मुसलमानों में विश्वास की भावना भरी कि देश के भविष्य में उनकी भी बराबर की हिस्सेदारी है।''[10] इसमें कोई शक नहीं कि जब तक राजनीति के पटल पर नेहरू की मौजूदगी रही तब तक मुसलमानों ने भावनात्मक रूप से अपने को सुरक्षित महसूस किया; परंतु दुर्भाग्यवश नेहरू के ना रहने पर वोट बैंक की राजनीति के तहत हिन्दुत्ववादी नारे का जिन्न दुबारा बोतल से निकाला जाने लगा।

अतः कहा जा सकता है कि जिन समस्याओं को सर सैयद अहमद मुस्लिम समाज से दूर करना चाहते थे और जिसका आखिरी हल निकालने का दावा जिन्ना ने किया था, आजादी के बाद भी मुस्लिम समाज उन समस्याओं से जुड़ा रहा है। आजादी के बाद मुस्लिम नेताओं और रहनुमाओं ने भी इस समाज को मुख्यधारा से जोड़ने, विकास की राह पर अग्रसर करने की बजाय जज्बाती एवं मजहबी नारों को बुलंद कर उसे भरमाया है। ''आजादी के तुरंत पश्चात् हुक्मरानों, मुस्लिम नेताओं व मौलवियों ने गठबंधन कर मुसलमानों को सियासत के बाजार में बेचकर फायदा तो खूब उठाया, मगर उनका भला कुछ नहीं किया।''[11] भारतीय राजनीति के संदर्भ में भारतीय मुसलमान हमेशा असुरक्षा की भावना के बीच रहे हैं। उनकी जरूरतों को पूरी न करके उन्हें और डराया गया है। जरूरत यह समझने की है कि एक आम मुसलमान का दुख-दर्द एक आम हिन्दू के दुख-दर्द से अलग नहीं है। इस सोच के साथ ही मुसलमान अपने को समाज की मुख्यधारा से जोड़ सकेगा, साथ ही भारतीय मुसलमान को ऐसे नेतृत्व की जरूरत है जो असल मुद्दों पर साफ-साफ बात करे। ''मुसलमानों को अलग राजनीतिक नेतृत्व की बजाय एक ऐसे आंदोलन की जरूरत है जो उनकी सचमुच की तकलीफों के बारे में सोचे। उनकी गरीबी, बेरोजगारी आदि समस्याओं पर जब सोचा जायेगा तो इस समुदाय को खुद-बखुद लगेगा कि वह हर समुदाय के आम इंसान से जुड़ा हुआ है और यह सिर्फ मुसलमानों के लिए सच नहीं है। यह हिन्दू के लिए भी उतना ही सही है।''[12]

रंगराजन कमेटी, सच्चर कमेटी या अन्य ऐसी ही तमाम आयोगों एवं कमेटियों की रिपोर्ट भारत में रह रहे मुसलमानों की आर्थिक, शैक्षणिक स्थिति का बयान करती है। इस अल्पसंख्यक समुदाय की समस्याओं को दूर करने का आज तक कोई ठोस प्रयास देखने में नहीं आता। तमाम बुद्धिजीवी, समाजसेवी संगठन एवं समाजशास्त्रीय मुस्लिम समुदाय की इस स्थिति पर चिंतित है, सबकी आम राय यही है कि यह समुदाय आर्थिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़ा हुआ है।

**संदर्भ**

[1] मुबारक अली, संस्करण 2010, अनु. प्रेम कपूर, इतिहासकार का मतान्तर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली , पृष्ठ 32

[2] सतीश चन्द्र, प्रथम संस्करण, 1990, मध्यकालीन भारत, एन.सी.आर.टी., दिल्ली , पृष्ठ 50

[3] वही, पृष्ठ 181

[4] एम.एन. राय, संशोधित संस्करण-2014,इस्लाम की ऐतिहासिक भूमिका, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पृष्ठ 88

[5] इरफान हबीब (संपा. व अनु.) रमेश रावत, तीसरा संस्करण-2013 भारतीय इतिहास में मध्यकाल, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, पृष्ठ 157

[6] वही, पृष्ठ 52

[7] वही, पृष्ठ 78

[8] सुमित सरकार, तेरहवीं आवृत्ति 2014, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली , पृष्ठ 95

[9] असगर अली इंजीनियर, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, संस्करण 2003, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 52

[10] हंस, अगस्त 2003, पृष्ठ 30

[11] फिरोज बख्त अहमद, मुसलमानों को डर कैसा? नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 12 सितम्बर, 2000

[12] संपा. राजकिशोर, संस्करण 2004, भारतीय मुसलमान: मिथक और यथार्थ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ,पृष्ठ 146

***पीएच.डी.**
**जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय**
**सहायक प्रोफेसर**
**संस्थान – मिर्जा गालिब कॉलेज,**
**गया, मगध विश्वविद्यालय**
**मोबाइल – 9968388957**
**ईमेल – nusratjabeens@gmail.com**

# 'गुप्त कालीन ऐरण : ऐरण से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन'

*प्रिंस कुमार सिंह

**सारांश**

*भारतीय इतिहास में गुप्त काल को स्वर्णयुग काल (golden age) कहा जाता है। बार्नेट के अनुसार प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्तकाल का वह महत्व है जो यूनान के इतिहास में पेरिक्लियन युग का है। स्मिथ ने गुप्तकाल की तुलना एलिजाबेथन तथा स्टुअर्ट के कालों से की है। हमें गुप्तकालीन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि यह काल साहित्य, कला एवं विज्ञान के उत्कर्ष का काल था। इस समय कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना एवं संकलन का कार्य हुआ जैसे- रामायण, महाभारत, कालीदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम्, वात्स्यायन कृत कामसूत्र, विष्णु शर्मा द्वारा लिखित पंचतंत्र आदि। यह समय भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार व आर्थिक समृद्धि का काल था। यह समय भारत के इतिहास में महान सम्राटों के उदय का काल रहा है, जिन्होंने मौर्य वंश के पश्चात विखंडित हो चुके भारत को पुनः राजनैतिक रूप से संगठित किया। 'एरण' मध्य प्रदेश के सागर जिले के अंतर्गत बीना शहर से 22 किलोमीटर दूर दक्षिण – पश्चिम दिशा की ओर बीना नदी के तट पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम 'एरिकिण' है। यहाँ से गुप्तकालीन पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त होते हैं जो भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहे जाने वाले काल के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हैं।*

**बीज शब्द**–

*साम्राज्य, राजनैतिक अखंडता, स्वर्ण-युग, अभिलेख, उत्खनन।*

## भूमिका

मौर्य वंश के पतन के पश्चात् भारत में राजनीतिक अस्थिरता का एक लंबा दौर देखने को मिलता है। 'कुषाण' एवं 'सातवाहनों' ने राजनीतिक स्थिरता लाने का प्रयास तो किया परंतु सही मायनों में वह इसमें कामयाब नहीं हो सके। मौर्योत्तर काल के उपरान्त लगभग तीसरी शताब्दी में मुख्यतः तीन राजवंशों का उदय हुआ जिसमें मध्य भारत में नाग शक्ति, दक्षिण में बाकटक, तथा पूर्वी भारत में गुप्त- वंश प्रमुख है। मौर्य वंश के पतन के पश्चात् विखंडित राजनीतिक एकता को पुनर्स्थापित करने का श्रेय गुप्त- वंश को जाता है। इस संदर्भ में डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी अपनी पुस्तक प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास में लिखते हैं कि *"शकों कि बढ़ती हुई विजय-शक्ति, जिसे सातवाहनों ने कुछ समय के लिए रोका था, अंतिम रूप से गुप्त-सम्राटों द्वारा समाप्त कर दी गयी।"*[1] गुप्त साम्राज्य की नींव तीसरी शताब्दी के चौथे दशक में तथा उत्थान चौथी शताब्दी की शुरुआत में हुआ, इस वंश का प्रारंभिक राज्य आधुनिक उत्तरप्रदेश व बिहार में था।

भारतीय इतिहास में गुप्त काल को स्वर्णयुग काल (golden age) कहा जाता है। बार्नेट के अनुसार प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्तकाल का वह महत्व है जो यूनान के इतिहास में पेरिक्लियन युग का है। स्मिथ ने गुप्तकाल की तुलना एलिजाबेथन तथा स्टुअर्ट के कालों से की है। वस्तुतः जब किसी काल को स्वर्णयुग की संज्ञा प्रदान की जाती है तो इसका अर्थ यह होता है की

[1] डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी.(2012).प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास.पृ.सं.391.

उस काल में चहुमुखी विकास के अवसर एवं परिस्थितियाँ उपलब्ध रही होंगी, जैसा की हमें गुप्तकालीन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि यह काल साहित्य, कला एवं विज्ञान के उत्कर्ष का काल था। इस समय कई महत्वपूर्ण रचनाओं जैसे- रामायण, महाभारत, कालीदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम्, वात्स्यायन कृत कामसूत्र, विष्णु शर्मा द्वारा लिखी पंचतंत्र (यह पुस्तक बाइबिल के बाद दुनिया में सर्वाधिक बिकने जाने वाली पुस्तक है लगभग 50 भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया है) आदि। इसी काल में महान खगोलशास्त्री वरामिहिर रहे एवं प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में थे। यह समय भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार व आर्थिक समृद्धि का काल था। इसी काल में मंदिर बनाने की कला का विकास हुआ। साथ ही शिलाओं पर कलात्मक रूप से चित्र उभरने की कला भी इसी युग की देन है। यह समय भारत के इतिहास में महान सम्राटों के उदय का काल रहा है। जिन्होंने मौर्य वंश के पश्चात विखंडित हो चुके भारत को पुनः राजनैतिक रूप से संगठित कर सामाजिक शांति की स्थापना की, यह सब समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, साहित्यिक, व धार्मिक विकास को दर्शाता है। एरण से प्राप्त स्तम्भ, मंदिर, अभिलेख एवं सिक्के मुख्यतः गुप्त-कालीन हैं, जो तात्कालिक (गुप्त कालीन) इतिहास के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं एवं जिनसे समकालीन समाज की यथास्थिति का सर्वांगीण परिचय वर्तमान समाज को होता है। स्थापत्य कला, महत्वपूर्ण घटनाओं, रिवाजों एवं शासकों व सामाजिक व धार्मिक रीत रिवाजों व सामाजिक स्थिति का बोध शामिल है। अतः उक्त तथ्यों से के अध्ययन एवं विश्लेषण के पश्चात ही गुप्त-काल के विकसित स्वरूप का आभास होता है। अतः इस काल की अभूतपूर्व उपलब्धियों के कारण ही इसे स्वर्ण युग काल की संज्ञा दी जाती है।

## पुरातात्विक साक्ष्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

गुप्त वंश के प्राचीनतम शासक के रूप में 'श्रीगुप्त' का नाम पता चलता है। गुप्त वंश का उत्थान 'चन्द्रगुप्त प्रथम' (320-350ई.) से माना जाता है। इसी काल से गुप्त वंश की राज्य की सीमाओं का विस्तार होने लगता है, एवं नई-नई कलाओं व परिवर्तनों का पदार्पण होता है। जैसे मंदिर बनाने की कला का जन्म गुप्तकाल से ही माना जाता है। शिलाओं पर चित्रों को उभारना व मूर्तियों पर कारीगरी की शुरुआत आदि महत्वपूर्ण कलाओं का विकास इसी कालसे माना जाता है। गुप्तकालीन इतिहास की जानकारी हमें समकालीन (गुप्त कालीन) मंदिरों, मूर्तियों, स्तंभों, अभिलेखों एवं मुद्राओं आदि से प्राप्त होती है। जो हमें विभिन्न स्थानों से प्राप्त होते हैं। 'एरण' मध्य प्रदेश के सागर जिले के अंतर्गत बीना शहर से 22 किलोमीटर दूर दक्षिण – पश्चिम दिशा की ओर बीना नदी के तट पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम 'एरिकिण' है तथा इसके नाम के संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता की कैसे रखा गया। परंतु कुछ विद्वानों का मानना है कि यहाँ ऐरिका नामक घास अत्यधिक मात्रा में उगती है अतः इस भू-भाग का नाम एरण पड़ा होगा। इस गाँव के निवासी इस भू-भाग को 'विराटनगर' अर्थात 'राजा विराट' की नगरी कहते हैं जो महाभारत कालीन है। यहाँ की दन्तकथाओं के अनुसार पांडवों ने अपने अज्ञातवास का एक वर्ष यहीं पर व्यतीत किया था, एवं यहाँ से प्राप्त मूर्तियों, स्तंभों को महाभारत कालीन बताते हैं। ऐतेहासिक दृष्टिकोण से ऐरन से प्राप्त मूर्तियां, स्तंभ एवं अभिलेख गुप्तकालीन होने का प्रमाण मिलता है तथा इससे गुप्तकालीन प्रथाओं, कलाओं, मान्यताओं व कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं के बिषय में जानकारी मिलती है जो की ऐतेहासिक रूप से अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। लगभग 413 ई.पू. से 395 ई.पू. के मध्य यह भू-भाग 'मगध साम्राज्य' के अंतर्गत आता था मौर्यकालीन दो शासकों 'राजा धर्मपाल' एवं

'राजा इन्द्रगुप्त' ने एरण पर शासन किया। अतः एरण से धर्मपाल के सिक्के एवं इन्द्रगुप्त की प्रशास्कीय मुद्रा प्राप्त हुई हैं। लगभग 340 ई. में अर्थात 'चंद्रगुप्त प्रथम' के काल में यह भू-भाग गुप्त वंश के आधीन आ गया इसकी जानकारी हमें 'प्रयाग प्रशस्ति'(इलाहाबाद) व समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख से प्राप्त होती है। एरण के पुरातात्विक महत्व पर प्रकाश सर्वप्रथम केप्टन 'टी.एस.बर्ट' ने सन 1838 ई. में डाला, उन्होंने यहाँ से 'महाराजा बुद्धगुप्त'(475-495ई.) एवं हूण शासक 'तोरमाण' का अभिलेख प्राप्त किया। उसके पाश्चात भारतीय पुरातत्व के जनक जरनल 'अलेक्जेंडर कनिंघम' ने समुद्रगुप्त का अभिलेख 1874-75 ई. में प्राप्त किया, जिससे उसके विषय में कई महत्त्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं। यह अभिलेख वर्तमान में 'कलकत्ता संग्रहालय' में सुरक्षित रखा हुआ है। तत्पश्चात 1960-65 में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संस्थापक श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने यहाँ उत्खनन कार्य करवाया जिसमें यहाँ से हड़प्पा संस्कृति के समकालीन लगभग 2150 ई.पू. पुरानी 'ताम्रपाषाण संस्कृति' प्रकाश में आई तथा सुरक्षा दीवार (लगभग 1कि.मी. लंबी एवं लगभग 21 फुट ऊंची है ) मिली जिससे ताम्रपाषाण काल की सुरक्षा के प्रति सजगता का पता चलता है। 1984-85 ई. से 1987-88ई. के मध्य पुनः उत्खनन करवाया गया जिसमें 'नवपाषाण कालीन' साक्ष्य प्राप्त हुऐ जिसमें आहात सिक्के, शक छत्रप शासकों के सिक्के ढालने के सांचे आदि प्राप्त हुए हैं। अतः वर्तमान समय में सागर विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है। एक शीशे का बर्तन मिला जिसपर राजा इंद्रगुप्त का नाम लिखा है, सर्वप्रथम इस नाम की जानकारी एरण से ही प्राप्त होती है। यहाँ से प्राप्त मूर्तियाँ,अभिलेख ,स्तंभ आदि प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हैं जो निम्न प्रकार हैं-

**सम्राट समुद्रगुप्त का एरण अभिलेख** – 'अलेक्ज़ेंडर कनिंघम' ने सन **1874-75** ई० में यहाँ से समुद्रगुप्त का अभिलेख प्राप्त किया जिसमें एरण को 'एरिकिण' कहा गया है , इसमे लिखा है –

*''स्वभोग नगर ऐरिकरण प्रदेश...,''*

अर्थात स्वभोग हेतु समुद्रगुप्त एरिकिण आता था। इस अभिलेख से कई अन्य महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं जिनसे वर्तमान घटनाक्रम एवं समकालीन परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन अभिलेख अधिकतर 'संस्कृत' या 'ब्राम्ही' लिपि में लिखे गए हैं। वर्तमान समय मे इस अभिलेख को कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है।

**ध्वजा स्तम्भ (गरुड़स्तंभ)-** एरण से एकध्वजा स्तम्भ प्राप्त हुआ है, जिसपर 'महाराजा- बुद्धगुप्त' का अभिलेख उत्कीर्ण है। इसे सन 1838 ई० में केप्टन टी० एस० बर्ट ने ख़ोजा यह स्तम्भ लगभग 43 फुट ऊंचा है एवं एक ही शिला से निर्मित है ,इसके शीर्ष पर दोनों तरफ 5 फुट ऊंची गरुड़ प्रतिमा विद्धमान है (गरुड़ गुप्त वंश का राजकीय चिन्ह था) , इसके पीछे चक्र बना है ,उसके ठीक नीचे चारों कोनो पर सिंह (शेर) की मूर्ती है , सिंह शक्ति का प्रतीक माना जाता है एवं स्तम्भ के चारों कोनों पर इनका होना इस बात का सूचक है की यह राजवंश चारों से मजबूत है एवं इसकी कीर्ति चहूँ ओर फैले।

 ISSN: 2454-2725

यह स्तम्भ लगभग 13 फुट वर्गाकार चबूतरे पर स्थापित है एवं इसी पर उत्कीर्ण अभिलेख से पता चलता है की , पूर्वी मालवा भी बुद्धगुप्त के साम्राज्य में शामिल था। इसमें कहा गया है की , "बुद्धगुप्त की अधीनता में यमुना और नर्मदा नदी के बीच के प्रदेश में 'महाराज सुरस्मीचन्द्र' शासन कर रहा था। एरण प्रदेश में उसकी आधीनता में 'मात्रविष्णु' शासन कर रहा था। इस स्तम्भ का निर्माण लगभग 484-85ई० में 'मात्रविष्णु एवं उसके छोटे भाई 'धान्यगुप्त' ने करवाया था , वर्तमान में भी यह अपने स्थान पर स्थापित है।

**विष्णु प्रतिमा** – यहाँ से एक विष्णु प्रतिमा प्राप्त हुई है, जो लगभग 350 ई. की है। इस प्रकार सर्वप्रथम गुप्तकाल में ब्राम्हण धर्म से संबन्धित देवताओं की मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ हुआ।

गुप्तवंश 'वैष्णव धर्म' का अनुयायी था। यह प्रतिमा लगभग 13 फुट ऊंची है एवं इसमें 'भगवान विष्णु' के चतुर्भुज रूप को दर्शाया गया है। गोलाकार प्रभामंडल मूर्ती के पीछे है, यह मूर्ती गर्भगृह में स्थित है एवं अत्यंत ही आकर्षक है। ऐतिहासिक तथ्यों से पता चलता है कि मूर्तियों की गर्भगृह में स्थापना का प्रचालन गुप्तकाल में ही शुरू हुआ था। यह सभी तथ्य एवं जानकारियाँ गुप्तवंश की मूर्तीकला में निपुणता को दर्शाती हैं। तात्कालिक समय में मंदिरों की छत सपाट होती थी। मूर्ती बनाने की काला का उत्थान ही गुप्त काल से माना जाता है। अतः स्वाभाविक है कि समकालीन मूर्तीयों में इसकी उत्कृष्टता परिलिक्षित होती हैं। यह मूर्तियाँ गहरे चटक लाल पत्थर से निर्मित हैं जो बड़ी ही आकर्षक प्रतीत होती है, गुप्तकालीन मूर्तीकला का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

**वराह प्रतिमा -** यह प्रतिमा विष्णु मंदिर के ठीक दाहिनी तरफ स्थापित है। यह भगवान विष्णु के वराह अवतार को दर्शाती है ,13 फीट लंबी इस प्रतिमा की स्थापना लगभग 480 ई. में हुई थी। इस प्रतिमा के वक्ष स्थल पर हूण शासक 'तोरमाण' का अभिलेख उत्कीर्ण है। इसके संदर्भ में डी. एन. झा लिखते हैं कि *''चरमराते गुप्त साम्राज्य का विघटन उसी समय हुआ जब उत्तर भारत में मध्यप्रदेश में ऐरण तक हूणों के राज्य कि स्थापना हुई।''*[2] 8 लाइनों के इस अभिलेख से हूण आक्रमणों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है, तथा हूण आक्रमण संबंधी जानकारी के अन्य स्त्रोत 'पुराण' एवं 'हर्षचरित' हैं। कलात्मक द्रष्टि से यह प्रतिमा अदभुत है, इस के सम्पूर्ण शरीर पर देवी-देवताओं तथा ऋषि – मुनियों के चित्रों को उभरा गया है, एवं मूर्ती के दाहिनी तरफ गले पर नारी रुपी पृथ्वी को दर्शाया गया है। यह प्रतिमा विशाल एवं अत्यंत ही आकर्षक है। यह समस्त तथ्य समकालीन कलात्मक निपुणता एवं विकसित बुद्धिमता को परिलिक्षित करते हैं। यहाँ भी पाहिले मंदिर हुआ करता था पर वर्तमान समय में केवल यह वराह की प्रतिमा ही रह गई है तथा बाकी मंदिर के अवशेष आस-पास बिखरे पड़े हैं।

[2] डी.एन. झा,प्राचीन भारत का इतिहास : विविध आयाम.2015.पृ.सं.167.

**नरसिंह प्रतिमा** – विष्णु मंदिर के ठीक बाईं ओर यह प्रतिमा स्थित है जो भगवान विष्णु के 'नरसिंह' अवतार को दर्शाती है। यह प्रतिमा 13 फीट ऊंची है एवं इसके हांथ व पैर टूटे हुए हैं। अतः वर्तमान समय में इसको वहीं रखा गया है जहां यह पहिले स्थापित थी। यह पहिले एक खांचेनुमा आधार पर स्थापित थी तथा यहाँ पर मंदिर हुआ करता था। यह प्रतिमा भी लाल बलुआ पत्थर से निर्मत है । एरण से प्राप्त मूर्तियों मे मुख्यतः भगवान विष्णु के अवतारों को दर्शाया गया है। यहाँ पर गुप्तकालीन मूर्तिकला एवं चित्रकला की खूबसूरती को देखा जा सकता है।

**शिवलिंग** – एरण गाँव से लगभग 1 किलोमीटर दूर पूर्वोत्तर दिशा में 'पहलाज़पुर' गाँव के पास एक शिवलिंग है जो गुप्तकालीन है। अब यह पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है। साथ में 'नंदी' (शिव का वाहन ) की मूर्ति भी है। हालांकि यह शिवलिंग नष्ट हो चुका है। इससे यह पता चलता है की गुप्तकाल में शिव की भी पूजा होती थी तथा यह सतीप्रथा के प्रमाण के तौर पर भी देखा जाता है। यह शिवलिंग गुप्तकाल में शिव मंदिरों के होने का प्रमाण है।

**सती स्तम्भ** – सतीप्रथा के प्रथम एवं प्रामाणिक साक्ष्य एरण से प्राप्त हुए हैं जो लगभग 510 ई.के हैं। इस समय 'राजा भानुगुप्त' शासन किया करते थे तथा एरण में उनका सामंत 'गोपराज' था। जब हूणों का आक्रमण हुआ तो वह युद्ध मे मारा गया। अतः उसकी पत्नी यहाँ पर सती हो गई। यह स्तंभ आज भी एरण गाँव से दक्षिण-पूर्व दिशा मे स्थित है। इसपर संस्कृत भाषा में अभिलेख उत्कीर्ण है जिससे समकालीन घटनाक्रम का का पता चलता है। इस अभिलेख में व्यक्तियों के नामों का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है।

इस अभिलेख में कहा गया है –

*"श्री भानुगुप्तो जगति प्रवीरो, राजा महान्पार्थसमोडति शूरः।*
*तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपराजो, मित्रानुगत्येन किलानुयातःड्ड*
*कृत्वा च युद्ध सुमहत्प्रकाशं, स्वर्ग गतो दिव्य नरेन्द्रकल्पःड्ड*
*भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता, भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम्ड्ड"*[3]

इस अभिलेख के अनुसार, राजा भानुगुप्त के शासन काल में उनका सामंत गोपराज हूणों के विरुद्ध युद्ध में वीरगती को प्राप्त हो गया। अतः उसकी पत्नी यहाँ पर सती हो गई। यह जिस चटक लाल रंग के पत्थर पर उत्कीर्ण है, उसकी ऊंचाई 1.67 मीटर एवं चौड़ाई 40 सेंटीमीटर और पत्थर की मोटाई लगभग 10 सेंटीमीटर है। इस स्तम्भ पर सबसे नीचे अभिलेख उत्कीर्ण है, उसके ठीक ऊपर घोड़े का चित्र उभारा गया है एवं इसके ठीक ऊपर स्त्री एवं पुरुष का जोड़ा खड़ी मुद्रा में दर्शाया गया है। उसके ऊपर मानव हस्त को आशीर्वाद मुद्रा में दिखाया गया है । उसके बगल में सूर्य एवं चन्द्र का चित्र अंकित है तथा उसी के पास पाँच सितारे एवं हार्नेस (पवित्र भट्टी) का चित्र भी उभारा गया है। इस अभिलेख से पता चलता है की गुप्तकाल में सतीप्रथा का प्रचलन था। भारतीय परिदृश्य में सतीप्रथा प्राचीन काल से ही रही है एवं इस के तहत यदि किसी स्त्री का पति मृत्यु को प्राप्त हो जाता था तो उसकी पत्नी को उसके पति के शव के साथ ही चिता में आत्मदाह करना पड़ता था। पहले यह स्वेक्षा से किया जाता था परंतु बाद में यह प्रथा के रूप मे उभरकर आई तथा जबरन महिलाओं को उनके पति के शव के सांथ झोंका जाने लगा तथा न मानने पर मादक पदार्थों का सेवन कराकर भी चिता पर बैठा दिया जाता था। इस निर्दयी एवं भयानक प्रथा पर रोक 'राजा राममोहन राय' के प्रयास एवं ब्रिटिश गवर्नर जर्नल 'लार्ड-विलियम बैंटिक' के द्वारा 1829 ई० में कठोर कानून के निर्माण से की गई। यह सती स्तम्भ वर्तमा समय में पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है।

**निष्कर्ष**- चूंकि ऐरण ऐतेहासिक द्रष्टि से अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थल है, इसे राष्ट्रीय धरोहर घोषित किया गया है। गुप्तकालीन इतिहास एवं तात्कालिक घटनाक्रम को समझने हेतु एरण एवं यहाँ से प्राप्त साक्ष्य अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं। यहाँ से प्राप्त अभिलेख , स्तम्भ , मूर्तियाँ ,एवं मंदिर गुप्तकालीन संस्कृति व महत्वपूर्ण घटनाओं के बिषय में हमें जानकारी प्रदान करती हैं। स्वर्णयुग की जो अवधारणा गुप्तकाल के बिषय में है उसके विषय में कुछ इतिहासकार अपनी असहमति दिखते हैं जिनमें रोमिला थापर एवं डी. एन. झा का नाम प्रमुख है। फिर चाहे वो मंदिर बनाने की कला हो या स्तंभों पर चित्रों को उभरने की कारीगरी, महानतम एवं उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हो या व्यस्थित समाज की स्थापना, मिट्टी के बर्तनों पर सुंदर कारीगरी एवं चित्रों को उभरना हो या धार्मिक उत्थान की बात, गुप्तकाल इन समस्त विशेषताओं से परिपूर्ण था। जिस किसी समाज, संस्कृति एवं काल मे उक्त विशेषताए हो निश्चित ही वह काल को स्वर्णयुग काल कहा जा सकता है, क्योंकि समकालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था अपने चरमोत्कर्ष पर थी। लंबे समय पश्चात भारतवर्ष में राजनैतिक अखंडता को पुनः स्थापित किया गया था। गुप्तकाल में महान सम्राटों का उदय हुया जिन्होने नये –नये सामाजिक परिवर्तनों को मूर्त रूप प्रदान किया जैसे चन्द्रगुप्त प्रथम (319-335 ई.), समुद्रगुप्त (335-375 ई.), चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-414 ई.) आदि इनमें

[3] https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%90%E0%A4%B0%E0%A4%A3

प्रमुख हैं। इन शासकों ने गुप्तवंश की कीर्ति को तो बढ़ाया ही साथ ही अपने कार्यों एवं सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्ता के द्वारा इतिहास में अपना नाम सुनहरे अक्षरों में दर्ज करा गये।

---

- **सन्दर्भ सूची**

1. रायचौधरी,हेमचंद .(2012).प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास.किताब महल.इलाहाबाद
2. वाजपेयी,कृष्ण दत्त . (1996) . Indian numismatic studies. नई दिल्ली
3. वाजपेयी,कृष्ण दत्त . (1996) . Indian numismatic studies. नई दिल्ली
4. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%90%E0%A4%B0%E0%A4%A3
5. http://asi.nic.in/asi_search.asp
6. सिंह,शरद.(2013).ऐतेहासिक ऐरण.भारतीय इतिहास दर्शन, (https://amirrorofindianhistory.blogspot.com/2013/04/blog-post.html.(08/04/2021, 10:20 am)
7. डॉ. मोहनलाल.बुंदेलखंड के प्राचीन स्थल एरण का इतिहास. प्राचीन इतिहास विभाग,सागर विश्वविद्यालय.
8. http://www.vivacepanorama.com/samudragupta-335-380-ad/ (08/04/2021, 10:31 am).
9. झा,डी.एन.(2015).प्राचीन भारत का इतिहास : विविध आयाम.हिंदी माध्यम कार्यालय निदेशालय.दिल्ली.

***पी-एच.डी. शोधार्थी (गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग)**
**महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)।**
**संपर्क- princesingh.mgahv@gmail.com**

# हिंदी उपन्यास और किन्नर समुदाय का संघर्ष

*शिवांक त्रिपाठी

## प्रस्तावना

*वर्तमान समय में व्यक्ति को महत्व देने के कारण सदियों से समाज के निचले पायदान पर खड़े अनेक गुमनाम एवं उपेक्षित वर्गों को विमर्श के केंद्र में आने का स्थान मिला, जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी, विकलांग, किन्नर, आदि प्रमुख हैं। अस्मिता-मूलक विमर्श अपने अस्तित्व को समाज में बनाए रखने तथा समाज में अपने महत्व और अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहें। कहीं न कहीं इन समुदायों का अस्तित्व समाज में मौजूद था और इसे न्यूनाधिक रूप से लोगों द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है, इनके सामने मुख्य समस्या केवल समाज में अपने उचित स्थान एवं महत्व को प्राप्त करने के साथ स्वयं के प्रति हो रहे अत्याचारों के लिए समाज को जागरूक करना था। संविधान में कानूनी तौर पर इन्हें अधिकार तो काफी पहले ही मिल चुके थे यह बस उसके उचित क्रियान्वयन के लिए संघर्षशील थे परंतु इन सबके बीच 'किन्नर समुदाय' अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था उसे लोगों द्वारा अपने को समाज, परिवार आदि में स्वीकार कराने को लेकर संघर्ष करना था, उसे कोई सामाजिक, राजनैतिक, कानूनी अधिकार नहीं प्राप्त थे, परिवार में उसके लिए कोई स्थान नहीं था, शिक्षा के दरवाजे उसके लिए हमेशा से बंद थे, परंपरा से जकड़े स्त्री-पुरुष मानसिकता वाले समाज में वे अपनी लैंगिक पहचान के लिए लड़ रहे थे, रोजगार के रास्ते बंद थे, सभी रास्तों के बंद होने पर भी अपनी पहचान के लिए लड़ना इनके लिए काफी दुष्कर रहा लोकतंत्र के युग में जिन्हें वर्षों तक कानून द्वारा मान्यता ही नहीं दी गई हो जिनका कानूनी रूप से कोई अस्तित्व ही नहीं स्वीकारा गया हो उनके लिए अपने अस्तित्व की तलाश करना कितना कठिन हो सकता है इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।*

*हिंदी साहित्य में इन्हीं वर्गों को विशेष रूप से केंद्र में रखकर कुछ उपन्यासों की रचना की गई जिनमें 'यमदीप', 'तीसरी ताली', 'गुलाम मंडी', 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा', 'किन्नर कथा' 'मैं पायल...' आदि प्रमुख है; इन उपन्यासों द्वारा किन्नर जीवन में आने वाली विभिन्न कठिनाइयों एवं उनके संघर्षों को संवेदनात्मक स्तर पर बड़ी ही प्रमुखता से उठाया गया है इस लेख में इन्हीं संवेदनाएं को सहेजने का प्रयास किया गया है।*

**बीज शब्द -**

*अम्ब्रेला टर्म, मानवाधिकार, जीन विकृति, ट्रांसफोबिया, सामाजिक बहिष्कार, अभिशप्त, विस्थापन, वेश्यावृत्ति।*

## भूमिका -

 ISSN: 2454-2725

15 अप्रैल 2014 को न्यायमूर्ति के.एस. राधाकृष्णन और न्यायमूर्ति ए.के. सीकरी की पीठ ने 'नालसा बनाम भारत संघ' के वाद में एक युगांतरकारी निर्णय दिया, जिसमें ट्रांसजेंडर समुदाय को तृतीय लिंग के रूप में स्वीकृत दी गयी और उनके मौलिक अधिकारों को पुष्ट करते हुए चार प्रमुख बातों पर बल दिया गया –

1. हिजड़ों के प्रति समाज में मानवीय दृष्टिकोण का विकसित होना जरूरी है।
2. हिजड़ों के प्रति मानसिकता बदलने की जरूरत है।
3. तृतीय लिंगियों की सुरक्षा के लिए उन्हें अधिकार दिए जाने जरूरी हैं।
4. सुविधानुसार स्त्री या पुरूष के रूप में पहचान बनाने की स्वतंत्रता दी जाय।

इस ऐतिहासिक निर्णय के बाद तृतीय लिंगी समुदाय से संबंधित साहित्य की पड़ताल प्रारम्भ हुई और विभिन्न विधाओं में नई रचनाएं तृतीय लिंग को केंद्र में रख कर की जाने लगीं। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार,'ट्रांसजेंडर' एक अम्ब्रेला टर्म है जिसमें वे सभी लोग शामिल हैं जिनकी लिंग की अनुभूति जन्म के समय उन्हें नियत किये गए लिंग से मेल नहीं खाती।

हिन्दी साहित्य में ट्रांसजेंडर, तृतीय लिंगी, किन्नर, हिजड़ा आदि का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया जाता है। कुछ संगठनों एवं बौद्धिक लोगों के द्वारा किन्नर और हिजड़ा को एक ही अर्थ में प्रयोग करने पर विरोध दर्ज कराया जाता रहा है। उनके द्वारा किन्नर का अर्थ "किन्नर हिमालय में आधुनिक कन्नोर प्रदेश के पहाड़ी लोग, जिनकी भाषा कन्नौरी, गलचा, लाहौली आदि बोलियों के परिवार की हैं। किन्नर हिमालय के क्षेत्रों में बसने वाली एक मनुष्य जाति का नाम है जिसके प्रधान केंद्र हिमवत् और हेमकूट थे। पुराणों और महाभारत की कथाओं एवं आख्यानों में तो उनकी चर्चाएं प्राप्त होती ही हैं,कादम्बरी जैसे कुछ साहित्यिक ग्रंथों में भी उनके स्वरूप, निवास क्षेत्र और क्रियाकलापों के बारे में वर्णन मिलते हैं।"1, लिया जाता है।

राम प्रकाश सक्सेना द्वारा सम्पादित कोश में किन्नर शब्द के दो अर्थ दिये गए हैं –

1- (पुराण) देवलोक का एक उपदेवता जो एक प्रकार का गायक था और उसका मुंह घोड़े के समान होता था।

2- वर्तमान समय में हिजड़ा के लिए शिष्टोक्ति।

जबकि हिजड़ा लैंगिक रूप से स्त्री और पुरूष के खाँचे में न आने वाले समुदाय के लिए प्रयुक्त होता रहा है; "किसी व्यक्ति के पुरूष या स्त्री के रूप में पहचाने या परिभाषित किये जाने के लिए स्पष्ट यौनांग होना आवश्यक है। इसके लिए जननांग की अनियमितता महत्वपूर्ण है। ऐसे मानव हिजड़ा कहे जाते हैं जो लैंगिक रूप से न नर होते हैं न मादा।"3

राम प्रकाश सक्सेना द्वारा संपादित कोश में हिजड़ा शब्द के भी दो अर्थ मिलते हैं –

1- ऐसा व्यक्ति जिसमें शारीरिक दृष्टि से स्त्री पुरूष दोनों के कुछ-कुछ गुण, चिन्ह, लक्षण एक जैसे हों, ऐसा व्यक्ति न पूर्णतः पुरूष होता है न स्त्री।

2- संभोग अथवा मैथुन करने की क्षमता से रहित व्यक्ति, नपुंसक, क्लीव।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि किन्नर शब्द पहले स्थान विशेष के निवासियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है और हिजड़ा लिंग विशेष के भेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु वर्तमान में किन्नर शब्द को हिजड़ा के स्थान पर शिष्टोक्ति के रूप में प्रयोग किया जाने लगा है। 'महेंद्र भीष्म', 'अधूरी देह' नामक लेख में स्वीकार करते हैं कि "मैं किसी हिजड़ा को हिजड़ा सम्बोधन नही देता न अनावश्यक लिखता हूँ, उन्हें किन्नर कहता हूँ और किन्नर ही लिखता हूँ ठीक उसी तरह जैसे विकलांग को दिव्यांग' और 'हरिजन' को 'दलित' कहता लिखता हूँ।"

हिन्दी साहित्य में किन्नर समुदाय से संबंधित पहला उपन्यास 'यमदीप' (नीरजा माधव) है, जिसका प्रकाशन 2002 ई० में सामयिक प्रकाशन द्वारा किया गया था और 2009 में पुनः प्रकाशित हुआ। इसके बाद 'मैं भी औरत हूँ' (डॉ. अनुसुइया त्यागी), 'किन्नर कथा' (महेंद्र भीष्म), 'तीसरी ताली' (प्रदीप सौरभ), गुलाम मंडी' (निर्मल भुराड़िया), 'प्रतिसंसार' (मनोज रूपड़ा), 'मैं पायल…' (महेंद्र भीष्म), 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' (चित्रा मुद्गल) अन्य उपन्यास हैं जिनमें किन्नर समुदाय को केंद्र में रखा गया है।

इन उपन्यासों का विश्लेषण करने पर किन्नर समुदाय से सम्बंधित कुछ प्रमुख समस्याएं स्पष्ट होती हैं जिनमें समाजिक/पारिवारिक, बहिष्कृति, विस्थापन, शिक्षा, रोजगार, देहव्यापार, यौन हिंसा, परस्पर संघर्ष, छद्म वेशधारी हिजडों की समस्या आदि प्रमुख हैं।

पितृसत्तात्मक समाज में पुरूषों का ही समाज में वर्चस्व रहता है। तृतीय लिंग के व्यक्तियों को समाज में अधिकारों से हीन कर उन्हें कमजोर बनाकर समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता रहा है। परिवार, रिश्ते, शिक्षा, रोजगार, आवास, सुविधाऐं, अधिकार आदि इनके लिए बेमानी हो जाते हैं। इन सब के अभाव में ये नारकीय जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाते हैं। किन्नरों की सामाजिक बहिष्कृति एक ख़ास तरह की मनोवृत्ति के कारण होती है जिसे 'ट्रांस्फोबिया' कहा जाता है; "तीसरे लिंग के प्रति भय, लज्जा, क्रोध, हिंसा, पूर्वाग्रह, भेदभाव आदि नकारात्मक भावों के सम्मिश्रण से बना यह 'ट्रांस्फोबिया' तीसरे लिंग के जीवन को नरक बना देता है।"4

किन्नरों का बहिष्कार सामाजिक दबाव एवं पूर्वाग्रह के कारण उसके अपने घर और माता-पिता के द्वारा प्रारम्भ होता है, "संतान कैसी भी हो, उसमें कैसी भी शारीरिक कमी क्यों न हो, माता-पिता को अपनी संतान हर हाल में भली लगती है, प्यारी होती है, फिर भले ही वह संतान हिजड़ा ही क्यों न हो फिर भी सामाजिक परिस्थितियों, खानदान की इज्जत-मर्यादा, झूठी शान के सामने अपने हिजड़े बच्चे से उसके जन्मदाता हर हाल में छुटकारा पा लेना चाहते हैं।"5; इसी सामाजिक भय के कारण अनारकली (गुलाममंडी) को घूरे पर फेंक दिया जाता है और पोस्ट बॉक्स न. 203, नालासोपारा के हरिंद्र शाह और बंदना बेन अपने मझले बेटे विनोद को किन्नर चम्पाबाई को सौंपने के लिए विवश होते हैं

भारतीय समाज में हिजड़ा बच्चा पैदा होना उसके पिता के पुरूषत्व पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है; उसे जीनविकृति से इतर पुरूषत्व से जोड़कर देखा देखा जाता है, जिसके कारण हिजड़े बच्चे को अधिकांश मामलों में पुरुष की ही तरफ से बहिष्कार का सामना करना पड़ता है; "अधिकांश हिजड़े जो भारत में जीवित हैं जबकि लगभग एक जैसी

कहानी देखने में आती है। माता तो स्नेह करती है और अपनी हिजड़ा संतान को भी पालपोश कर बड़ा करना चाहती है, उसे भी अच्छा जीवन देने का प्रयास करती है। परंतु पिता उसे मार देना चाहता है या किसी भी प्रकार से उससे छुटकारा पाना चाहता है। वस्तुतः पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष होने का दम्भ उसे विचलित कर देता है।"6 इसी पुरुषवादी दम्भ के कारण ही किन्नर कथा में 'सोना' को उसके पिता 'जगत राज सिंह' वास्तविकता जानने पर स्वीकार नहीं कर पाते और उसे मारने का आदेश अपने दीवान 'पंचम सिंह' को दे देते हैं। 'मैं पायल…' उपन्यास में जुगनी का शराबी पिता उसे कलंक मानता है और शराब के नशे में उसे बेरहमी से पीटता है और कोसता रहता है "ये जुगनी! हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई है, साली हिजड़ा है।"7

जन्म से ही जो पारिवारिक/सामाजिक बहिष्कार किन्नरों के प्रति शुरू होता है वह उसके आगे के जीवन में भी जारी रहता है। इसका प्रभाव उसके परिजनों के सामाजिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है; अपनी इसी व्यथा को 'तीसरी ताली' में 'सुप्रिया कपूर'  ने एक पत्रिका के इंटरव्यू में व्यक्त करती है, "मैं कैसी हूँ? क्यों हूँ? कितनी पीड़ा सहती हूँ? इन सवालों से किसी को सरोकार नहीं है। किसी को इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि मेरे जन्म के बाद मेरी माँ ने मुझे देखकर आत्महत्या कर ली। बाद में बड़ी बहन सिर्फ इसी बात के लिए ससुराल से निकाल दी गयी कि उसकी बहन हिजड़ी है।"8 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा' में बिन्नी से जुड़ी सभी वस्तुओं को उसका भाई नष्ट करने का प्रयास करता है।

भारतीय समाज में किन्नरों का काम केवल बच्चों के जन्म और शादी-विवाह जैसे खुशी के अवसर पर बधाइयां देने और नेग लेने तक ही सीमित कर दिया गया; इन अवसरों पर भी उन्हें  हेय दृष्टि से देखा जाता है और उनसे जल्दी छुटकारा पाने का प्रयास किया जाता है। 'किन्नर कथा' में इस व्यथा को 'तारा' व्यक्त करते हुए कहती है, "मेल-जोल केवल वहीं तक जहाँ तक इनकी खुशी, शादी, ब्याह, बच्चों का जन्म हो या मुण्डन, हमीं बिन बुलाए बेशर्मी से तालियां पीटते पहुंच जाते हैं, बिन बुलाए मेहमान की तरह  हमें हिकारत से देखते हैं, कोई नही चाहता हमारा साथ, दूर भागते हैं हमारी छाया से जैसे हम इंसान न हों, कोई अजूबा हों, अछूत की तरह व्यवहार किया जाता है हम हिजड़ों से।"9

यदि किन्नर का परिवार भावनाओं के आवेग में आकर अपने किन्नर संतान को पुनः अपनाना चाहता है तो वह, इतनी दूर जा चुका होता है कि वापस परिवार में आना संभव नही हो पाता है; एक बार पुनः यही ट्रांस्फोबिया हावी हो जाता है। 'यमदीप' उपन्यास में 'नाजबीबी' के माता-पिता उसे अपनाना चाहते हैं तो 'महताब गुरू' आगे आने वाली बाधाओं के बारे में सचेत करते हुए कहते हैं, "आप इस बस्ती में रह नहीं सकते, बाबू जी और अपनी बेटी को अपने पास रख भी नहीं सकते… दुनिया में हंसी-हंसारत के डर से। हिजड़ी के बाप कहलाना न आप बर्दास्त कर पाएंगे और न आप के परिवार के लोग।" 10 और सामाजिक बहिष्कार नाजबीबी जैसों की नियति के रूप में स्वीकार हो जाता है। 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा'  में भी 'बिन्नी' और उसकी माँ 'यशोदा बेन' इस सामाजिक बहिष्कार से संघर्ष करते हुए नज़र आते हैं और अंत मे यशोदा बेन द्वारा  बिन्नी को स्वीकार करने के सम्बंध में अखबार में एक अधिसूचना भी दी जाती है। वर्तमान में आज किन्नरों के प्रति इसी सामाजिक मनोवृत्ति को तोड़ने की आवश्यकता है जो केवल और केवल जागरूकता और सामाजिक स्वीकार्यता  से ही संभव हो

पायेगा। इसी मनोवृत्ति के खिलाफ बिन्नी अपने भाषण में लोगों को शपथ दिलाता है, "भविष्य में कोई माता-पिता लोकापवाद के भय से लिंग दोषी औलाद को डर-डर की ठोकरें खाने के लिए घूरे पर न फेंके। ...शपथ लीजिये यहाँ से लौटकर आप किसी लिंगदोषी नवजात बच्चे-बच्ची को, किशोर-किशोरी को, युवक-युवती को जबरन उसके माता-पिता से अलग करने का पाप नहीं करेंगे। उससे उसका घर नहीं छीनेंगे। उपहासों के लात-घूसों से उसे जलील होने की विवशता नहीं सौपेंगे।" 11

सामाजिक बहिष्कार की परिणति विस्थापन के रूप में होती है। परिवार और समाज में अस्वीकृत होने के कारण किन्नर बच्चों को घर छोड़ने के लिए मजबूर होना ही पड़ता है। 'किन्नर कथा' में विस्थापन को हिजड़ो की नियति बताते हुए कथाकार कहता है, "प्रत्येक हिजड़ा अभिशप्त है, अपने ही परिवार से बिछुड़ने के दंश से। समाज का पहला घाट यहीं से उस पर शुरू होता है। अपने ही परिवार से, अपने ही लोगों द्वारा उसे अपनों से दूर कर दिया जाता है। परिवार से विस्थापन का दंश सर्वप्रथम उन्हें ही भुगतना होता है।" 12 कुछ स्थितियों में तो अबोध बालक जो कि इन लैंगिक भेदभाव से अनजान होता है, को भी नहीं बक्सा जाता और घूरे पर फेंक दिया जाता है तो कहीं किन्नर गुरुओं को सौंप दिया जाता है। अगर जन्म के आठ-दस साल किसी तरह बीत भी जाते हैं तो उसके बाद भी उन्हें लोकोपवाद और सामाजिक दबाव के कारण अपना घर त्यागना ही पड़ता है ; कहीं किसी किन्नर गुरू का डेरा उन्हें आश्रय देता है या फिर पायल सिंह, विनीता, बिन्नी आदि की तरह समाज में दर-दर की ठोंकरें खाने को विवश होना पड़ता है। 'किन्नर कथा' में 'सोना' को मारने का आदेश मिलता है, लेकिन 'पंचम सिंह' उसे न मारकर 'तारा' नामक किन्नर को सौंप देता है। 'सोना' को पाकर तारा उस निर्दोष और अबोध लड़की के प्रति भावनाओ में बहकर सोचने लगती है, "ईश्वर क्यों करता है ऐसा अन्याय? भला! इस नन्हीं हंसती-खेलती बच्ची का क्या दोष है जो उसे ईश्वर ने अपूर्ण बनाकर संसार में भेजा, जिसे अपने माता-पिता से दूर होना पड़ रहा है, जिसे घर से बेघर किया जा रहा है। परिवार से बिछुड़ने का दंश कितना सालता है, कष्ट देता है, यह उससे अच्छा भला कौन जान सकता था।"13

कहीं-कहीं देखने को यह भी मिलता है कि हिजडों के समुदाय को किसी ऐसे बच्चे के बारे में पता चलता है कि वह किन्नर है तो उसे जबरन अपने साथ समुदाय में शामिल करने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक अपयश के कारण भी कई परिवार अपने बच्चे को हिजडों को सौंपने के लिए बाध्य हो जाते हैं, इसका उदाहरण 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' में मिलता है। इसमें पहले तो हिजडों के गुरू चम्पाबाई , 'बिन्नी' के घर हंगामा करती है फिर उसे अपने साथ भेजने की धमकी उसके घर वालों को देती है। बस्ती-मुहल्ले में हंगामे से बचने के लिए बिन्नी को अंततः उसे सौंप दिया जाता है। 'तीसरी ताली' में भी 'निकिता' में हिजडों वाले गुण विकसित होने पर सामाजिक उपहास का विषय बनने पर मजबूरन हिजड़ा गुरू 'नीलम' को सौंपना पड़ता है। 'गुलाम मंडी' की 'रमीला' भी किन्नर गुरु 'वृंदा' को सौंप दी जाती है।

सामाजिक दुत्कार और पारिवारिक प्रताड़ना के कारण भी किन्नर बच्चे अपना घर छोड़ने को मजबूर होते हैं। रोज-रोज की प्रताड़ना से तंग आकर उन्हें घर छोड़ने के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नजर नहीं आता है। 'यमदीप' उपन्यास में अपने परिवार की प्रतिष्ठा बचाने के लिए ही 'छैल बिहारी' और 'नंदरानी' स्वयं अपना घर-परिवार

छोड़कर निकल पड़ते हैं और 'महताब गुरू' के हिजड़ा समुदाय में 'छैलू' और 'नाजबीबी के रूप में एक नई पहचान प्राप्त करते हैं। 'मैं पायल…' उपन्यास में तो 'जुगनी' रोज-रोज की दुत्कार और मार से तंग आकर आत्महत्या करने के विचार से ही घर से निकलती है "एकाएक मेरे मन मे विचार आया फिर पीती जाऊँ, मारी जाऊँ, इससे अच्छा है, मैं खुद ही न मर जाऊँ और फिर एक बार जो मेरे मन यह विचार आया तो मरने की इच्छा गहराती चली गयी।… मैंने तख्त के दो चक्कर लगाते हुए पिताजी की ओर देखा, उनके पैरों के पास आकर अपना सिर रख दिया और बिना पीछे मुड़कर देखे घर का दरवाजा खोल इस अभिशप्त देह का विनाश करने निकल पड़ी।"14

विस्थापन के बाद आवास की समस्या सभी किन्नरों के सम्मुख आती है। प्रायः देखा जाता है कि किन्नर बच्चा अपने परिवेश से विस्थापित होकर किसी न किसी किन्नर गुरू के डेरे में ही शरण लेता है वह चाहे स्वेच्छा से हो या जबरन। 'प्रमोद मीणा', 'अर्धनारीश्वरों का नारकीय जीवन' में किन्नरों को डेरे में संगठित होकर रहने तथा रहने के लिए घर की तलाश में आने वाली समस्याओं की ओर संकेत करते हैं, "कुछ हिजड़ा परिवार की तरह समूह में भी रहते हैं लेकिन रहने के लिए एक सुरक्षित घर खोजना हिजडों के लिए हमेशा एक चुनौती बनी रहती है। ज्यादातर मकान मालिक हिजडों को मकान किराये पर देते ही नहीं हैं।… मकान मालिकों की बेरुखी से तंग आकर बहुत से हिजडों को गंदी कच्ची बस्तियों में रहने को मजबूर होना पड़ता है और वहाँ से भी उन्हें लगातार पुलिस-प्रशासन द्वारा बेदखल किया जाता रहता है।"15 'यमदीप' में भी किन्नरों को एक ऐसी बस्ती में रहते हुए दिखाया गया है जहाँ कोई सभ्य व्यक्ति नही जाता है।

'यमदीप' की 'छैलू' और 'नाजबीबी', 'महताब गुरू' की शरण में जाती हैं, 'किन्नर कथा' की 'सोना' को 'तारा' किन्नर के पास पहुंचा दिया जाता है और 'गुलाम मण्डी' की 'अनारकली', 'रमीला' और 'अंगूरी' 'वृन्दा गुरू' के डेरे में रहती हैं। 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा' की 'बिन्नी' को 'चम्पाबाई' ले जाती है। जबकि 'तीसरी ताली' की 'विनीता' और 'मैं पायल…' की 'जुगनी' समाज में स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व तलाशते हुए संघर्ष करती हैं।

सामाजिक असुरक्षा और स्थायित्व के अभाव में किन्नरों के लिए शिक्षा की कल्पना करना बेमानी लगता है। 2014 से पहले तक किन्नरों को अपनी पहचान से इतर स्त्री या पुरूष के रूप में विद्यालय में दाखिला लेना पड़ता था और भेद खुल जाने का भय हमेशा परिवार को सताता रहता था। हिजड़ा समुदाय के लिए शिक्षा डोर की कौड़ी साबित होती है ऐसा महताब गुरू के इस कथन से संकेतित होता है, "किसी स्कूल में आजतक किसी हिजड़ा को पढ़ते हुए देखा है? किसी कुर्सी पर हिजड़ा बैठा है? पुलिस में, मास्टरी में, कलक्टरी में… किसी में भी?" 16 सामाजिक भय के कारण ही पहले तो किन्नर बालक के परिवार वाले उसे विद्यालय भेजने से बचने का प्रयास करते हैं जैसा कि नाजबीबी के साथ होता है "मम्मी पहले तो स्कूल भेजने को तैयार ही नही थी परन्तु पड़ोसियों के कहने टोकने पर उन्होंने उसका नाम राधरमण बालिका विद्यालय में कक्षा छः में लिखवा दिया था।"17 अगर किन्नर बच्चा अपनी पहचान छुपाकर विद्यालय में दाखिला लेता है तो भेद खुलने की स्थिति में इन्हें बहिष्कृति और अमानवीय व्यवहार का सामना करना पड़ता है जैसा कि 'गुलाम मण्डी' की पात्र 'शर्मिला' के साथ होता है,

"(वह) छोरा बन भर्ती हुई थी, तो बहन जी ने एक दिन चड्ढी उतरवा ली थी उसकी और जूते मार के स्कूल से निकलवा दिया था उसको"18 किन्नर समुदाय के बच्चे भी पढ़ना चाहते हैं परंतु यह निर्दयी समाज उन्हें अपने वास्तविक पहचान के साथ शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति नहीं देता है। 'यमदीप' की 'नन्दरानी' डॉक्टर बनना चाहती है और 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा' का विनोद एक मेधावी छात्र के रूप में पहचाना जाता है परन्तु दोनों का आगे पढ़ने का सपना चकनाचूर कर दिया जाता है। विनोद पर जब स्कूल जाने पर पाबंदी लगायी जाती है तो वह तड़प उठता है "पापा, मैं घर में बैठ कर नहीं पढूंगा। सब के साथ पढूंगा। अपनी कक्षा में बैठकर। मुझे स्कूल जाना है। मैं अपना ध्यान रखूंगा। अपनी हिफाजत खुद करूँगा।... मुझे छुट्टी नहीं करनी मेरी पढ़ाई बर्बाद हो रही है। पिछड़ जाऊंगा मैं अपनी कक्षा में। पिछड़ना नही चाहता मैं बोर्ड टॉप करना चाहता हूँ।"19

शिक्षा की दयनीय दशा के कारण और उचित कौशल का अभाव होने के कारण किन्नर समुदाय को रोजगार प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है जिसके कारण वे अपने पारम्परिक पेशे, जैसे- लड़के के जन्म और शादी-ब्याह के अवसर पर बधाईयां देना और नेग प्राप्त करना, की ओर उन्मुख होते हैं। आज के समय में शहरीकरण के प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार की परम्परा समाप्त हो जाने के कारण मनुष्यों की मानसिकता में बदलाव आया है जिसके कारण इनके अपने पारम्परिक पेशे के समक्ष कई चुनौतीयां आ गयी हैं, "समाज के आधुनिकीकरण से इन हिजडों पर आर्थिक संकट आ रहा है। कभी संयुक्त परिवार होने पर बच्चे अधिक होते थे और हिजडों का आना शुभ तथा उनका गाना नाचना मन लगाने का सुंदर साधन हुआ करता था, परन्तु समय ने सब कुछ बदल दिया। अब तो बहुमंजली इमारतों में इन्हें कोई घुसने नहीं देता। पास-पड़ोस की खबर से सभी बेखबर अब सभी अपने में सिमटने लगे हैं। किसको फुर्सत है हिजडों का भोंडा प्रहसन देखने की।"20 पारम्परिक पेशे से इतर अगर कोई किन्नर कहीं कोई अन्य रोजगार करने खोजने का प्रयास करता भी है तो उसकी राह हमेंशा कठिन रहती है। और उसे अपनी वास्तविक पहचान छुपाकर कार्य करना पड़ता है जिसके कारण यह भय उसे हमेशा सताता रहता है कि कहीं भेद न खुल जाए। वास्तविकता प्रकट होने की स्थिति में इन्हें अपमानित केर नौकरी से निकाल दिया जाता है। 'अर्धनारीश्वरों का नारकीय जीवन' में प्रमोद मीणा इसी तरफ़ इशारा करते हैं, "अपनी पहचान छिपाकर ये यदि कहीं रोजगार पा भी लेते हैं, तो इनके हिजड़ा होने का खुलासा होने पर नियोक्ता इन्हें नौकरी से निकाल देता है। कार्यस्थल पर साथी सहकर्मियों और मालिक आदि द्वारा इनके साथ मौखिक, दैहिक और यौनिक दुर्व्यवहार आम है और जिसके लिए इन्हें कहीं से न्याय भी नहीं मिल पाता। इनके चाल-चलन को कार्यस्थल की शुचिता के लिए खतरा मान इन्हें ही नौकरी से निकाल दिया जाता है।"21

विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद भी आज किन्नर समुदाय को शिक्षा के लिए प्रेरित करने की आवश्यकता है और सरकार द्वारा किन्नरों के हित में उचित सुविधाओं के विकास की आवश्यकता है। विभिन्न सामाजिक संगठनों के द्वारा भी इनके हित में आगे आने की आवश्यकता है जो इन्हें रोजगार के लिये प्रेरित कर सकें और उचित आधारभूमि भी उपलब्ध कराएं। 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा' में 'बिन्नी' किन्नरों के नाच-गाना को भी उनकी दयनीय स्थिति में सहायक मानता है और परिश्रम करने का आग्रह करते हुए कहता है, "सुनो पहचानो। पहचानों! अपने श्रम पर जिओ। मनोरंजन की दक्षिणा पर नहीं हिकारत की दक्षिणा जहर है, जहर। तुम्हें मारने का जहर। तुम्हें समाज से बाहर करने का जहर।"22 इसी बदली हुई मनोवृत्ति का ही प्रभाव होता है कि कुछ किन्नर इस

थोपी हुई नियति से विद्रोह कर नाच-गाने को छोड़ कर अपना खुद का कोई रोजगार शुरू करते हैं या अन्य कोई रोजगार करते हैं। 'तीसरी ताली' के 'विजय' के कथन , "दुनिया के दंश से अपने आप को बचाने के लिए मैंने लगातार लड़ाइयां लड़ी और खुद को स्थापित किया। मैं नाचना, गाना नहीं, नाम कमाना चाहता था। भगवान राम के उस मिथक को झुठलाना चाहता था, जिसके कारण तीसरी योनि के लोग नाचने-गाने के लिए अभिशप्त हैं।"23 से किन्नरों की इस मनःस्थिति का पता लगता है कि वे समाज मे एक सम्मानित रोजगार के लिए बेचैन रहते हैं और अपनी नियति को झुठलाने के लिये प्रयासरत भी रहते हैं। 'तीसरी ताली' की 'विनीता' समलैंगिकों और हिजडों के लिये विशेष सैलून खोलती है, 'विजय' फोटोग्राफी की दुनिया में नाम कमाता है; 'मैं पायल…' की 'पायल सिंह' द्वारा सिनेमा जा प्रोजेक्टर चलाना, रेडियो पर कार्यक्रम देना आदि कई काम किये जाते हैं। 'पोस्ट बॉक्स नं 203 नालासोपारा' का 'विनोद' अभिजात्य कालोनियों में साहब लोगों की गाड़ियां धुलने से शुरू करके, कम्प्यूटर सीखकर सम्मान जनक नौकरी प्राप्त करता है; ऐसे कई उदाहरण मौजूद हैं जो बंधी-बंधाई लीक को तोड़ने का कार्य करते हैं।

कुछ किन्नर उचित शिक्षा का अभाव और कौशल की कमी तथा परम्परागत पेशे में गिरावट, आर्थिक असमर्थता, सरकार की तरफ से उदासीनता आदि कई कारणों से वेश्यावृत्ति के दलदल में स्वयं को धकेलने के लिए विवश हो जाते हैं। यही विवशता 'यमदीप' में इस कथन द्वारा व्यक्त होती है, "यहाँ जजमान ही का भरोसा। कभी-कभार चोसा मिला तो ठीक, नहीं तो वीला मिल गया तो बहुत होगा एक पानकी या आधा काटकर थमा देगा। हमारे पेट की सुध किसे है? न सरकार को न जजमान को"24 वहीं कई हिजड़े तो बाकायदा समूह बनाकर व्यावसायिक स्तर पर वेश्यावृत्ति में लिप्त पाए जाते हैं; जैसे कि 'तीसरी ताली की 'रेखा चितकबरी'। वेश्यावृत्ति की तरफ हिजड़ों के झुकाव का एक अन्य कारण 'तीसरी ताली' में 'प्रदीप सौरभ' बताते हैं, "दिल्ली में इन दिनों नाचने गाने वाले हिजडों का अकाल था। अधिकतर हिजड़े सेक्स बिजनेस में लगे थे कमाई भी मोटी हो जाती है सेक्स के धंधे में। फिर किसी गुरू की धौंसपट्टी और समाज से निकाले जाने का डर भी नहीं होता। बिना किसी परवाह के, अपने मन के मालिक। सेक्स के धंधे में लगे हिजड़े नाचने-गाने को घटिया काम समझते थे।"25 'यमदीप' की जुबैदा, सोबती; 'तीसरी ताली' की रेखा चितकबरी, सुनयना, पिंकी; 'गुलाम मंडी' की अंगूरी, अनारकली; 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा' की हिजड़ा सायरा आदि वेश्यावृत्ति में लिप्त रहती हैं।

सामाजिक असुरक्षा और उदासीनता के कारण किन्नरों के प्रति समाज में यौन हमले भी होते रहते हैं। पुरुष इन्हें अबला और असहाय पाकर इनके ऊपर यौन हमला करता है। हिजडों के खिलाफ होने वाली यौन हिंसा के मामलों में पुलिस रुचि भी नहीं लेती है। 'मैं पायल…' में तो पायल सिंह पर यौन हमला करने वाला एक सिपाही ही रहता है, जिस पर समाज की सुरक्षा का दायित्व रहता है- "मुझे लगा कोई मेरे गालों को सहला रहा है, उभरी छातियों पर हाथ फेर उन्हें टटोलने में लगा है। मेरी नींद टूटी और मैं जाग गयी और उठकर बैठ गयी प्लेटफॉर्म की लाइटें जल रही थीं। शाम ढल चुकी थी। पटरियों की ओर धुंधलका फैला हुआ था।… क्यों लड़की कहाँ जाना है? मेरी बगल में बैठा गंदी हरकतें करने वाला मुच्छड़ सिपाही मुझसे बोला।"26 इन्ही उदासीनता और दंड का भय न होने के कारण ही 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा' में विधायक का भतीजा 'बिल्लू' अपने दोस्तों के साथ मिलकर पूनम जोशी के प्रति पाशविकता की हद तक जाते हैं। किन्नरों को उनके काम करने के स्थान पर भी यौन

हमलों का सामना करना पड़ता है 'मैं पायल…' उपन्यास में पायल सिंह का सहकर्मी 'प्रमोद' ही मौका पाकर उस पर यौन हमला करता है। 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नालासोपारा' में पूनम जोशी विधायक के यहाँ एक कार्यक्रम में बतौर नर्तकी जाती है परन्तु उसके भतीजे द्वारा यौन हमला किया जाता है, "किवाड़ ठीक से बंद नहीं किया उसने या उसके सिटकनी चढ़ाने से पहले ही अपने चार दोस्तों के साथ बलात किवाड़ खोल विधायक जी का भतीजा और उसके चार दोस्त कमरे में घुस आए। पूनम जोशी ने आपत्ति प्रकट की। उसके कपड़े बदलने हैं। वे कमरे से बाहर जाएं भतीजे ने पूनम जोशी को दबोच लिया। कहते हुए, वह डरे नहीं कपड़े वे बदल देंगे उसके। बस वह उनकी ख्वाहिश पूरी कर दे।"27

किन्नरों के बीच आपसी संघर्ष भी देखने को मिलता है। प्रायः इन संघर्षों के पीछे का कारण वर्चस्व, सम्पत्ति और असली-नकली हिजडों के अधिकारों और क्षेत्रों के बंटवारे को लेकर होता है। 'मैं पायल…' उपन्यास में लखनऊ के हजरतगंज की मोना किन्नर और पायल सिंह के बीच वर्चस्व को लेकर संघर्ष देखा जा सकता है; किन्नर मोना, 'पायल सिंह' पर अपना अधिकार जता कर उसे बधाई गाने और नाचने के लिए कहती है और मना करने पर उसे मारा-पीटा जाता है, कमरे में बंद कर भूखा रखा जाता है। 'तीसरी ताली' में गद्दी को लेकर गोपाल और चंदाबाई के बीच खूनी संघर्ष होता है गोपाल, एक सामान्य पुरूष रहता है लेकिन हिजड़ा गद्दी की सम्पत्ति के लालच के कारण शल्यक्रिया द्वारा अपना पुरुषांग हटवा देता है।

नकली और असली हिजडों के बीच संघर्षों की स्थिति सबसे अधिक बनती है, "हिजडों के विभिन्न समूहों में परस्पर संघर्ष होता रहता है और यह संघर्ष असली और नकली हिजडों के मध्य अपने अधिकारों के लिए लड़ाई के रूप में देखा जाता है।"28 'गुलाम मंडी' में नकली हिजड़े 'लल्लन'के समूह और 'वृंदा' गुरु के समूह के मध्य का संघर्ष इसी तरह का है। लल्लन के साथ नकली हिजडों की भरमार रहती है जो हिंसा आदि कार्यों में संलग्न रहते हैं उन्हीं द्वारा 'हमीदा' की हत्या करवा दी जाती है। 'किन्नर कथा' में भी 'तारा' की हत्या दूसरे गुट द्वारा कर दी जाती है।

**निष्कर्ष-**

किन्नरों के सम्मुख आने वाली समस्याओं का समाधान उन्हें तृतीय लिंग के रूप में मान्यता देने भर से ही नही हो जाता। आज आवश्यकता है एक ऐसे आधारभूत ढांचे की जो उन्हें ऐसा माहौल उपलब्ध कराने में सक्षम हो जिसमें वे बिना किसी हीन भावना के गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए आवश्यक जरूरतें प्राप्त कर सके इसके लिए सरकार के साथ-साथ गैर सरकारी संगठनों की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो जाती है जो विभिन्न माध्यमों के द्वारा सामाजिक जागरूकता फैला कर समाज की मनोवृत्ति बदलने का कार्य करते हैं। किन्नरों को चिन्हित कर सरकार को उनसे जुड़े आकड़ो को इकट्ठा करने की आवश्यकता है जिसके द्वारा किन्नर समुदाय के विकास के लिए उचित कदम उठाने में आसानी होगी। उन्हें शिक्षित कर रोजगार करने के योग्य बनाना चाहिए जिसे वे समाज मे एक गरिमापूर्ण जीवन जी सकें। आज सरकारी या गैर सरकारी क्षेत्र की नौकरियों में ऐसे किन्नरों की संख्या बहुत कम है। कुल मिलाकर 'बिन्नी' के शब्दों में कहा जा सकता है कि "पढ़ाई ही हमारी मुक्ति का रास्ता है।"28

**संदर्भ-**


1. सं. डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोंड, संस्करण प्रथम 2016, भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 18
2. WWW.HINDISAMAY.COM
3. सं. डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोंड, संस्करण प्रथम 2016, भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 65
4. सं. डॉ. एम. फ़िरोज़ खान, सं. प्रथम 2017, थर्ड जेंडर : कथा आलोचना, अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, पृष्ठ 52
5. महेंद्र भीष्म, पेपरबैक संस्करण 2016, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशक, नई दिल्ली, पृष्ठ 45
6. सं. डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोंड, सं. प्रथम 2016, भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 50
7. महेंद्र भीष्म, प्रथम संस्करण 2016, मैं पायल…, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 24
8. प्रदीप सौरभ, संस्करण 2011, तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 178
9. महेंद्र भीष्म, पेपरबैक संस्करण 2016, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशक, नई दिल्ली, पृष्ठ 66
10. नीरजा माधव, संस्करण 2009, यमदीप, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, पृष्ठ 93
11. चित्रा मुद्गल, संस्करण 2016, पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 186
12. महेंद्र भीष्म, पेपरबैक संस्करण 2016, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशक, नई दिल्ली, पृष्ठ 41-42
13. महेंद्र भीष्म, पेपरबैक संस्करण 2016, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशक, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण 2016, पृष्ठ 41
14. महेंद्र भीष्म, प्रथम संस्करण 2016, मैं पायल…, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 39
15. सं. डॉ. एम. फ़िरोज़ खान, सं. प्रथम 2017, थर्ड जेंडर : कथा आलोचना, अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, पृष्ठ 33
16. नीरजा माधव, संस्करण 2009, यमदीप, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, पृष्ठ 94
17. नीरजा माधव, संस्करण 2009, यमदीप, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, पृष्ठ 60
18. निर्मला भुराड़िया, संस्करण 2014, गुलाम मण्डी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 69
19. डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, संस्करण प्रथम 2017, हिंदी उपन्यासों के आईने में थर्ड जेंडर, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 14
20. सं. डॉ. एम. फ़िरोज़ खान, सं. प्रथम 2017, थर्ड जेंडर : कथा आलोचना, अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, पृष्ठ 33
21. चित्रा मुद्गल, संस्करण 2016, पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 50
22. प्रदीप सौरभ, संस्करण 2011, तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 195
23. नीरजा माधव, संस्करण 2009, यमदीप, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, पृष्ठ 27
24. प्रदीप सौरभ, संस्करण 2011, तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 61
25. महेंद्र भीष्म, प्रथम संस्करण 2016 मैं पायल…, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 26

26. चित्रा मुद्गल, संस्करण 2016, पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 203
27. चित्रा मुद्गल, संस्करण 2016, पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 110

---

***शोध अध्येता**
**हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय।**
**ईमेल- shivanktripathi485@gmail.com**
**मो.- 7783990724**

# "मैं पायल" - उपन्यास में चित्रित किन्नर जीवन की महागाँथा का एक झलक

***डॉ. नुरजाहान रहमातुल्लाह**

**शोध-सारांश**

*प्रकृति की सभी रचनाओं के बीच मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ माना जाता हैं।विडम्बना यह कि मनुष्य जिसे सामाजिक प्राणी कहा जाता हैं, उसने खुद को तीन लिंगों में सीमांकित किया हैं – पुरुष,महिला और तीसरे लिंग ( नपुंसक),जो वास्तव में उन्हे सामाजिक रुप से असहनीय बनाते हैं ।कहने का तात्पर्य यह हैं कि मानव समाज में नर और नारी को आदर सम्मान के साथ निखारा जाता है, वही दूसरी तरफ नपुंसक लिंग को प्रताड़ित, शोषित और पीड़ित की जाती। उनके साथ भेद-भाव के पैश आते। भारतवर्ष में किन्नर समुदाय प्राचीन काल से ही अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। किन्नर समुदाय के जीवन की विषमताओं और विसंगतियों ओर सुसंस्कृत समाज की मानव का दृष्टि आकर्षित नहीं की। किन्नर को एक वन्य जनजाति के रूप में रामायण में उल्लेखित है। किन्नर का कई धर्म नहीं होता है, वे चाहे किसी भी धर्म का हो वे इस समुदाय में शामिल हो जाते हैं। अपना जन्मलंघ धर्म को छोड़ देते हैं। महेन्द्र भीष्म की यह उपन्यास में किन्नर पायल सिंह द्वारा भोगे गए कटू यथार्थ का विस्तार पूर्वक वर्णन किया। इस उपन्यास के माध्यम से किन्नर जीवन की महागाथा को समाज के सामने लाने कोशिश की। किन्नर को समाज में उपेक्षा और तिरस्कार के अलावा कुछ नहीं मिलता है, उसे समाज में लोग मनुष्य के रूप में न देखते हुए एक पशु के समतुल्य मानते हैं। समाज के साथ घर-परिवार वाले भी उसे कष्ट देने में कोई कसर नहीं छोड़ता। किन्नर की वास्तविक जीवन की समस्याओं को लाने की प्रयास है।*

**बीज शब्द -** *समाज, किन्नर, मनुष्य, जीवन*

आज अस्मिता के दौढ़ में हर तरह के विमर्श दिखाई दे रही है। विश्व में मनुष्य अपने अस्मिताओं के प्रति पहले ज्यादा सक्रिय है और वर्तमान समय में बौद्धिक सचेतनता के कारण आज पूरे भारत में भी सभी अपने अधिकारों के लिए आवाज उठा रहे हैं। ऐसे ही एक समुदाय है जो अधिक उपेक्षित है। अभी भी समाज में जो 'किन्नर" नामों से जाना जाता है। जिसकों हिजड़ा या तीसरा लिंग कहते हैं। समाज में शोषित, दमित, पीड़ित लोगों की पीड़ा और भेदभाव की अनेक परते हैं, किन्नर समुदाय की त्रासदी है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में किन्नरों का जिक्र कई स्थानों में मिलते हैं। रामायण में राम-रावन युद्ध में सैन्य वाहिनी में वानर सेना के साथ ही साथ किन्नर, किरात आदि जातियाँ भी थी। महाभारत में शिखण्डी का, अर्जुन का किन्नर रूप अज्ञातवास में इनका वर्णन मिलता है।

'मैं पायल" - यह एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें किन्नरों को जीवन का एकजलन्त दस्तावेज है। लेखक ने 'मैं पायल" में किन्नरों की समस्याओं को बहुत ही बारीकी से महसूस किया और प्रस्तुत किया। 'मैं पायल" में वर्णित किन्नरों की संघर्षगाथा है जो हृदय विदारक घटनाओं ने पाठकों के मन को छू गए। शारीरिक विकलंगता के कारण समाज में वे लोगों को अभाव ग्रस्त जीवन जीने के लिए मजबुर कर दिया। भारतीय संस्कृति के अनुसार परिवार की मुखियाँ पिता को ही माना जाता है। क्योंकि पिता के ही कन्धों में परिवार वालों की भरण-पोषण की जिम्मेदारी होती है। बच्चों की भविष्य की चिन्ता भी पिता के कन्धों पर ही होता है। बच्चों को पिता रूपी छत के बजह से भय और चिन्ता से दूर रहता है। लेकिन जहाँ कई विकलांग बच्चा पैदा होता है तो पिता उनका जिम्मेदारी

लेने के हिसकिसाते हैं। वही बच्चे के लिए किन्नर होना एक अभिशाप बन जाता है। ऐसे बच्चे को समाज में हो या घर परिवार में हर जगह पे तिरस्कार ही भुगतना पड़ता है।

समाज में किन्नर बनकर रहना उसके लिए असहनीय है। इसलिए पिता चाहता है कि समाजवालों के डर से उसे लड़का बनाकर रखना चाहते हैं। पायल के पिता उसके माँ से कहते हैं - "शान्ति! जुगनी को लड़के की आदत सिखाओं, उसे लड़का बनाकर रखों... वह हिजड़ा है। लड़की के रूप में बड़ी होने पर समाज के लोग उसकी शादी रिश्ते की बाते करेंगे और लड़के के रूप में कोई कुछ नहीं कहेगा।"1 इस प्रकार एक पिता मजबुरन उसे लड़का बनाकर रखने के लिए माँ को आदेश देते हैं। भारतीय समाज के अन्धविश्वास, मान-मर्यादा, नीति-नियम आदि के कारण एक पिता अपने विकलंग बच्चें को प्रताड़ित किये जाते हैं। जब घर में बच्चें पैदा होते हैं तो एक पिता उसी बच्चों का खुशी खुशी बेहतर परवरिश करता है। उनके बेहतर पढ़ाई-लिखाइ, शादी-व्याह आदि में हमेशा साकारत्मक रूप देखा जाता है। जब कोई किन्नर बच्चे के बारे में पुछते है तो हर पिता का चिन्तित होना लाजमी है, क्योंकि समाज में उन्हें बार बार शर्मदार होना पड़ता है। कही वह किन्नर बच्चें को पालना उनके लिए मजबूरी बन जाता है। यही हालत जुगनू के पिता का भी है। बेचारा जुगनू भी क्या करे, उनका क्या दोष है। एक तरफ वह समाज की कटुता सहन करता है, तो दूसरी तरफ अपने ही परिवार का कटुता। मूलत: जुगनू को पिता समझ नहीं पाते और अपने लोक लाज के लिए उसे कोचता रहता है। पिता के घर से जाने के बाद जुगनू के दोनों बहनों ने उन्हें एक राजकुमारी की तरह सजा दिया करते, और इसे देखते हुए माँ-बहने दोनों आनन्दित होते। माँ अपनी खुशी इस तरह जाहिर करती - "हाँ हमारी जुगनी बेटी तो सुन्दर और समझदार है। हमारी प्यारी बेटी है... मेरी तो जान है।"2 यह सुनते ही जुगनू खुश हो जाती। यही खुशी एक दिन उनके लिए काल का रूप ले लेता है, जो अकल्पनीय और अमानवीय है। पिता आकर जुगनू को लड़की के रूप में देख लेता है तभी वही घटित होती।

"पिताजी ने पास रखी बाल्टी में भरे पानी से मुझे नहला दिया। फिर वही रखी चमड़े की चप्पल को टब में भरे पानी में डुबा-डुबा कर मेरे नग्न शरीर की चमड़ी उघेडने में लगे रहे, जब तक कि मैं बेहोश नहीं हो गयी। पल भर के लिए होश आता तो देखती कि अम्मा मेरे ऊपर लेटी पिताजी की चप्पलों से पिट रही थी। फिर भी मुझे बचाते हुए स्वयं कितनी देर तक पिटती रही, पता नहीं। मैं तो कब की बेहोश हो चुकी थी।"3

इतने में भी पिताजी नहीं रूकी वे जुगनू को मारने की भी कोशिश की। इसके बाद पिता ने जुगनू को विद्यालय जाना बन्द कर दिया और इधर-उधर जाने में भी पाबन्दी लगा दी गई। जब इंसान को अत्यधिक मार और प्रताडन्ना सहते है, तो वे मुक्ति को मार्ग खोजते है। किन्तु कोई भी व्यक्ति पुन: उसी मार्ग नहीं चलना चाहेगा, जहाँ से उसे सदैव प्रताडन्ना ही सहनी पड़ती है। अपने अवस्था से बाहर निकलने के लिए मुक्ति का मार्ग खोजते रहते हैं। कभी-कभी उसे मुक्ति का मार्ग खोजते-खोजते वे अपना मानसिक संतुलन खो देता है, और अन्त में मृत्यु का रास्ता हू लेते हैं। उसी तरह से जुगनू को भी अपने पिता के द्वारा मार औरर प्रताडन्ना सहने के बाद उसे लगता है कि पुन: पिता से मार और प्रताडन्ना सहने से अच्छा है कि अपना शरीर को ही खत्म कर दे। जैसे -

"एकाएक मेरे मन में विचार आया फिर पीटी जाऊँ, मारी जाऊँ इससे अच्छा है, मैं खुद ही न मर जाऊँ और फिर एक बार जो मेरे मन में यह विचार आया तो फिर मरने की इच्छा गहराती चली गयी।"4

इसी कशमकश में वे आत्महत्या तो नहीं कर पायी, मगर किसी ट्रेन में बैठकर चल पड़ी। उसे पता नहीं कहाँ जाना है और जिस ट्रेन में वे बैठे हैं वे कहाँ जा रही है। ट्रेन में बैठते ही अकेली बच्ची को देखकर लोगों का गन्धा नजरों से बाचना मुसकिल हो रहा था। ट्रेन में ही उसे अकेली देखकर एक आदमी ने उसे शारीरिक शोषण करना चाहा, पर वे जैसे-वैसे भाग जाती है। वही ट्रेन जब कानपुर स्टेशन पहुँचती है तो रात की अन्धेरे में एक अकेली लड़की देखकर एक सिपाही भी उसकी शारीरिक शोषण करना चाहता है और फिर वे वहाँ से बचकर भाग जाती है। बिना किसी सहरा के एक अकेली लड़की का निकलना मुशकिल हो जाता है। जब जुगनू को मेहसूस होता है कि उसे लड़की बनकर नहीं एक लड़का बनकर रहना होगा, तो वे लड़की का कपड़े बदल कर लड़के का कपड़ा पहन लेता है। क्योंकि लड़की के रूप में वे असुरक्षित थे। उसे दो-तीन दिनों तक इधर से उधर भूखे-पीयासे दिन गुजरना पड़ा। उसे उपाय हीन होकर भीख भी माँगना पड़ा। उसे भीख माँगना पसन्द नहीं था। उसे अनवर नाम का एक लड़के से दोस्ती हो गयी। जुगनू भी अनवर के साथ मिलकर दाँतुन बेचना शुरू कर दी, उसे रात गुजरने के लिए कोई ठीकाना न था तो अनवर के घर पर रात बिताने को जगह मिल जाती है।

दाँतुन बेचना छोड़कर फिर वे एक चाय की दुकान पर रहकर चाय बेचने लगे। वहाँ से भी वे अप्सरा टॉकीज में काम करना शुरू कर दी। समाज में भक्षण का कमी नहीं है, वहाँ भी प्रमोद नाम का एक लड़का जुगनू का शोषण करता है। वही से काम छोड़कर एक नयी दिशा की ओर चल पड़ती है। उसे नई दिशा की ओर चलते हुए उसे किन्नर मिल जाती है। किन्नर कहते हैं कि तुम्हारी दुनिया हमोर साथ ही है, तुम्हें देखकर हमारी गुरुमाई बहुत खुश हो जाएँगी। जुगनू को किन्नर बनने के लिए मजबूर करती है। उसे जुगनू से पायल बनने के लिए मजबूर कर देती है। उसी भी ढोलक की थाँप पर थिरकने को मजबूर बना देता है।

पायल के लिए यह अजीब-व-गरीब था। नाचना फिर नाचने के बाद लोगों के सामने हाथ फैलाना उन्हें मंजुर नहीं था। इसी के ना करने के लिए गुरुमाई से हाथ जोड़कर माफी माँगती है कि वे हाथ नहीं फैला सकती। पायल को रिया नामक किन्नर से पता चलता है कि सारे किन्नरों की दशा एक जैसी है। तभी वे कहते हैं - "घर परिवार में रहने से हमें क्या मिला? अपने ही सगों के जुल्मों के शिकार हुए। जब हमारा खुद का बाप, भाई ही हमारी जान का दुश्मन बन बैठा तो ऐसे घर परिवार में गुरुमाई का डेरा हमारे लिए स्वर्ग से कम नहीं है।"5

जुगनू को पायल बनकर रहना पसन्द नहीं है। उसे पुनम टॉकीज में फिल्म प्रोजेक्टर चलाने का ही काम पसन्द है। फिर से वे वही जाना चाहती है, इसलिए उसने वहाँ से तीन चार बार भाग जाना चाहती है मगर वह नाकामियाब होती है। उसे जबरण एक कमरे में बन्द कर दी जाती। जोड़ जबरदस्ती उसे किन्नर बनने के लिए मजबूर करते हैं। उसे बहुत दुःख होता है और सोचता है कि पिताजी के सहित परिवार वाले, समाज के लोग एक शारीरिक विकलंग इंसान को अपने मर्जी से जीने का भी हक नहीं होता। उसके दुख को ना समझते हुए, जबरण उसे अत्यधिक दुखों की ओर ढकेल देता हैं। उसी समय पायल सोचते हैं यथा - "एक व्यक्ति इस जीवन में अपने अनुसार स्वतंत्र जी नहीं सकता? मुझे मालुम है कि मैं किन्नर हूँ, तो क्या किन्नर होना अपराध है, जो उसे उसके स्वभाव से विपरीत काम करने के लिए विवश किया जा रहा है? क्या एक किन्नर को बधाई टोली के अलावा अन्य कार्य दायित्व नहीं सौपे जा सकते? मैं टॉकीज में प्रोजेक्टर चलाती हूँ। उसके पहले अन्य छोटे-मोटे काम भी

मैंने किया है, फिर मुझे क्यों बाध्य किया जा रहा है कि मैं इनकी तरह ताली पीटूँ, ढोलक बजाऊँ, नाचूँ और बधाई गाऊँ?"6

इस उपन्यास में समाज की निसंगता, अमानवीयता का विचार किया गया है कि मनुष्य इतनी आत्मकेन्द्रित क्यों हो गई है। किन्नरों को समाज का एक अंग क्यों नहीं मान लेते, तो फिर किन्नर ही समाज में अछूते क्यों है, समाज में उसे इंसान क्यों नहीं मानते, उसे समाज में अलग अलग रखा जाता है। भगवान के दिए हुए एक कमी कि ये किन्नर गर्भ धारण करने में असमर्थ है, जो इनका दोष नहीं है, उसे इनती बड़ी सजा क्यों मिल रही है। पायल जब एकान्त में होते है तो सोचते हैं कि -

"मैं हृदय में बहुत कुछ जाच किये मन ही मन रोती रहती थी और ईश्वर से एकान्त के क्षणों में अपने अपराध के लिए पूछती रहती थी, हे ईश्वर ऐसा कौन सा पाप मैंने किया जो तूने मुझे इस जीवन में हिजड़ा रूप दिया।"7

अधिकांश लोगों को लगता है कि किन्नर अपने दुनिया में बहुत खुश है। गुरु और चेला का परम्परा वहाँ भी है। यहाँ गुरुमाई अपने चेलों के मानसिक एवं शारीरिक शोषण करती रहती है। और खुद चेलों की कमाई हुई पैसों से ऐश किया करती है। यही हालत पायल का भी है। मगर पायल को यह स्वीकार न था। वे स्वतन्त्र जीवन जीना चाहती है, न की किसी के दबाव की।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'मैं पायल" उपन्यास किन्नर जीवन की एक महागाथा है। इस उपन्यास के माध्यम से किन्नर के जीवन से जुड़े अस्मिता की प्रमाणिकता और पहचान की लड़ाई की शुरूआत है। उनके जीवन से जुड़े कई समस्याओं को लेखक ने अपने उपन्यास में उठाया है। किसी भी रचना का सृजन अपने आप ही नहीं होती, उसका सीधा सम्बन्ध अतीत और वर्तमान के परिप्रेक्ष में होता है। सामाजिक परिस्थिति ही मजबूर करती है लेखक को कलम पकडऩे को। क्योंकि साहित्य समाज का आईन होता है। साहित्य सदैव जीवंत रहता है। लेखक ने समाज और मनुष्य के अन्तर्विरोध को गहराई से समझा और अपने उपन्यास में उसी निसंगता और अमानवीयता जीता जगता रूप प्रस्तुत की। लेखक ने पायल को अप्रतिम सदाशयता के साथ विसंगतियों से लडऩे संघर्ष की अपूर्व क्षमता दिखाई दी। इस उपन्यास में जुड़े समस्याओं को लेखक पाठकों तक पहचाना चाहती है। किन्नर के ऊपर घटित समुचित अत्याचार को लेखक ने लिखने की कोशिश की। जैसे- उनके मानवीय को प्राप्त करना, स्वतंत्र जीवन-यापन करना, घर परिवार का अत्याचार भोगतना, लिंग भेद की समस्या, यौन शोषण इत्यादि को लेखक ने 'मैं पायल" उपन्यास में उजागर की सफल प्रयास की है। किन्नर द्वारा भोगे जाने वाले कटू यथार्थ के एक एक पहलू को सामने लाने की सप्रयास किया। समाज में एक इंसान दूसरे इंसान को निकृष्ट समझते और उन्हें परित्यक्त जीवन जीने में मजबूर बना देता है। लेखक ने अपने उपन्यास के द्वारा किन्नरों की वास्तविकता को समाज के नजरों के सामने प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास है और समाज में फैली हुई बुराईयों को दूर करके एक स्वस्थ नये समाज का गठन करने की परिकल्पना की है।

**सन्दर्भ ग्रंथ सूची :-**

1. महेन्द्र भीष्म, 'मैं पायल", अमन प्रकाश, रामबाग, कानपुर, प्रकाशन 2016, पृ. - 32
2. वही, पृ. 37
3. वही, पृ. 38
4. वही, पृ. 41
5. वही, पृ. 94
6. वही, पृ. 98
7. वही, पृ. 82
8. मेहरा डॉ. दिलीप, हिन्दी साहित्य में किन्नर जीवन, वाणी प्रकाशम, नई दिल्ली, पृ. 133, 145, 150.

***सहकारी अध्यापक, हिन्दी विभाग,**
**कॉटन विश्वविद्यालय, गुवाहाटी**
**ई. मेल:rupadinory@gmail.com**
**दूरभाष : 9435161974**

# डिजिटल दुनिया और युवा पीढ़ी

*दिव्या शर्मा

सोशल मीडिया मुख्यतया किसी कंप्यूटर या संचार के आपले से जुड़ा है। अनेकों प्रकार की वेबसाइट और एप्स हमें लोगों से जोड़ते हैं सोशल मीडिया की मदद से ही आज कोई भी प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी प्रतिभा को प्रस्तुत करके लोकप्रियता प्राप्त कर सकता है। " सोशल मीडिया आपको विचारों सामग्री सूचना और समाचार इत्यादि को बहुत तेजी से एक दूसरे को साझा करने में सक्षम बनाता है। पिछले कुछ वर्षों से सोशल मीडिया के उपयोग में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई है तथा इस ने दुनिया भर के लाखों उपयोगकर्ताओं को एक साथ जोड़ लिया है। " 1 सोशल मीडिया में प्रयोग तरीके ताजगी पन स्थायित्व आदि का प्रयोग हुआ है। नेलसन कहते हैं - " इंटरनेट प्रयोक्ता अन्य साइट्स की अपेक्षा सामाजिक मीडिया साइट्स पर ज्यादा समय व्यतीत करते है । दुनिया में दो तरह की सिविलाइजेशन का दौर शुरू हो चुका है, वर्चुअल और फिजिकल सिविलाइजेशन । आने वाले समय में जल्द ही दुनिया की आबादी से दो तीन गुना अधिक आबादी अंतरजाल पर होगी। दरअसल अंतरजाल एक ऐसी टेक्नोलॉजी के रूप में हमारे सामने आया है जो उपयोग के लिए सबको उपलब्ध है और सर्वहिताय हैं। सोशल नेटवर्किंग साइट्स संचार व सूचना का सशक्त जरिया है, जिनके माध्यम से लोग अपनी बात बिना किसी रोक-टोक के रख पाते हैं। यहीं से सामाजिक मीडिया का स्वरूप विकसित हुआ है ।" 2

सतयुग,द्वापरयुग , त्रेता युग एवं कलयुग के दौर में आज के युग को यदि हम डिजिटल युग कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। डिजिटल युग ने आम मनुष्य के जीवन में इतनी बड़ी क्रांति लाकर खड़ी कर दी है कि मानव जो ईश्वर की सबसे सुंदर रचना है, वह अपना अस्तित्व ही भूलता जा रहा है। समय के साथ धार्मिक, सामाजिक, वैश्विक, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक मूल्य की आयाम एवं उनकी रूप रेखाएं बदलती जा रही हैं। आजादी 1947 में हमें अंग्रेजों से मिली किंतु उस आजादी को आज की पीढ़ी ने नए मूल्यों में दर्शाया है। आजादी चाहे बोलने की हो, परिवार की हो, समाज की हो। और यह प्रतिभा बढ़ चढ़कर हमें दिखाई दे रही है सोशल मीडिया पर। फिर चाहे वह ट्विटर हो फेसबुक हो या अन्य मैसेंजर एप्स हो। एक गणना यंत्र का निर्माण चार्ल्स बैबेज ने सन १८२२ में किया था जिसका उद्देश्य मनुष्य के समय की बचत करना होगा। कुछ जानकारियों को एकत्र करना होगा। संगणक के बाद धीरे-धीरे नेटवर्क बढ़ता गया और संपूर्ण देश में एक क्रांति छा गई। " सबसे पहला संगणक १८२२ में एक गणितज्ञ चार्ल्स बैबेज ने बनाया था। उन्होंने एक गणना करने वाली मशीन बनाई जिसे डिफरेंस मशीन कहा जाता था। पहला इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर जिसने वर्तमान संगणक को आकार दिया वह ENIAC था ।यह १६४५ और १६४६ के बीच ' जॉन विलियम और जॉन एकटे ' द्वारा बनाया गया था। ------ हिंदुस्तान में जो सबसे पहला संगणक बना उसका नाम 'सिद्धार्थ' है। इंटरनेट कंप्यूटर का सबसे बड़ा नेटवर्क है। इंटरनेट से अब तक 17 अरब डिवाइस जुड़ चुके हैं। " 3 कंप्यूटर से जुड़ी चीजों को जमा करने के लिए तरह-तरह के डिवाइस, फ्लॉपी, सीडी, डीवीडी एवं पेन ड्राइव आदि का इस्तेमाल किया जाता है। प्रश्न उठता है मन में कि यह मशीन मनुष्य की मदद के लिए बनाई गई थी। इंटरनेट का उपयोग भी मनुष्य के लिए उपयोगी ही रहा है परंतु मनुष्य न जाने कब इंटरनेट के जाल में स्वयं ही

फंस गया। क्या हम इस जाल से कभी मुक्त हो पाएंगे? यह एक चिंता का विषय है और उत्तर अभी हम शायद ना दे सके। किंतु यह बात वर्ल्ड विचारणीय है कि ' अति सर्वत्र वर्जनीय ' की उक्ति चरितार्थ है। सोशल मीडिया जैसे ब्लॉग्स, फेसबुक, इंस्टाग्राम , ट्विटर या अन्य मैसेंजर एप्स और समय बिताने वाले लोग सामान्य जीवन में काफी नीरस एवं अंतर्मुखी हो जाते हैं। यह एक करिश्माई योग भी है पलक झपकते ही हम विश्व के किसी भी कोने के व्यक्ति से जुड़ सकते हैं। वहां की जानकारियां प्राप्त कर सकते हैं। सोशल मीडिया का ही प्रभाव है कि बाह्य जिंदगी में 1000 लोगों से जुड़े व्यक्ति अक्सर अकेला बैठा पाया जाता है। बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लूस ब्रिंग ने अपने एक महत्वपूर्ण शोध में कहा है, " समाज पर इंटरनेट की सूचना तंत्र का प्रभाव हर क्षण बढ़ता जा रहा है तथा इसके अच्छे तथा बुरे दोनों तरह के नतीजे दुनिया को चौकानेवाले नजर आ रहे हैं। इंटरनेट ने लोगों को अलग-थलग करना भी शुरू कर दिया है क्योंकि जो लोग इंटरनेट पर ज्यादा समय गुजारते हैं वह लोगों से रूबरू होने पर अपना समय तथा व्यक्तित्व धीरे-धीरे इंटरनेट में ही खोने लगते हैं।" 4 सोशल मीडिया पर अधिक वक्त गुजारने पर मनुष्य का धीमेधीमे खत्म हो रहा है।- जिन प्राकृतिक नजारों की फोटो को हम सोशल मीडिया पर पसंद करते हैं उन दृश्यों को अपने आसपास बनाने का हम 1% भी योगदान नहीं देते है। युवा पीढ़ी- सोशल मीडिया पर अपना समय सबसे ज्यादा बिताती है। यह एक नशे की तरह है। एक 2 वर्ष के बच्चे के हाथ में माता पिता अपना मोबाइल या टैब जब पकडाते हैं तब शायद यह वे लोग सोचते तक नहीं होंगे कि वे अपने बच्चे को ऐसा नशा दे रहे हैं जो उसके भविष्य को खतरे में डाल रहा है। सोशल मीडिया की वजह से बहुत से लोगों का टैलेंट उभर कर आता है। लोगों को अपनी प्रतिभा को दर्शाने के लिए एक ऐसा मंच प्राप्त हुआ है जो वह स्वयं चुनता है। प्रसिद्धि मुकाम को हासिल कर सकता है। " इस वर्चुअल दुनिया की अफीम की तरह लत लगने के आसार भी दिखाई दे रहे हैं। यहां इस पीढ़ी को शारीरिक तौर पर कोई खतरा नहीं होता और नए होने की कोई संभावना भी है लेकिन मानसिक तौर पर विकलांग पर अब दिखाई दे रहा है। इससे निजात पाने का उपाय वर्चुअल दुनिया में मिलने के आसार भी कम होते हैं। इसलिए मानसिक आघात प्रत्याघाट से उभरने की उनकी क्षमता पर भी प्रश्नचिन्ह उपस्थित हो जाता है। " 5 हमारे देश का भविष्य हमारी आने वाली पीढ़ी है। हम सब जानते हैं कि हमारी नई पीढ़ी अपने भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए किस प्रकार की प्रयत्न कर रही है। आज हर बच्चे और युवा के हाथ में महंगी फोन उपलब्ध है। 2020 की कोरोना एक महामारी ने एक बहुत बड़ी क्रांति क्षेत्र में लाकर खड़ी कर दी। शिक्षण जगत को भी क्षेत्र से जोड़ दिया। जिन परिवारों की स्थिति सामान्य से भी कमजोर थी उन माता-पिता के द्वारा भी बच्चों के लिए स्मार्टफोन खरीदा या दिलाया गया है। बच्चे कुछ घंटों की पढ़ाई के बाद फोन को रखने की बजाय इस डिजिटल दुनिया में उड़ने लगे हैं। जिन्होंने अभी उड़ान सीखी है उन्हें डिजिटल दुनिया का आकाश अपनी और आकर्षित कर रहा है। भी अपने लक्ष्य से भटक रहे हैं। धीमे धीमे अध्ययन जो एक महत्वपूर्ण पहलू है एक बड़ा विद्यार्थी वर्ग उससे दूर हो रहा है। हमारी शैक्षणिक व्यवस्था से कमजोर हो सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में पीछे हैं और सीधा सा अर्थ निकलता है कि देश का भविष्य सुरक्षित नहीं है। बच्चों की चीज को पाने की तलाश उन्हें निराश ना कर दे। उसे निराशा के बादल में स्वयं को अकेला न पाए इसका ध्यान माता पिता एवं परिवार को संपूर्ण रूप से रखना चाहिए। सोशल मीडिया के सकारात्मक पहलुओं के साथ-साथ इसके नकारात्मक पक्ष की भी हम चर्चा करेंगे। जिसे हम साइबर क्राइम कहते है। यह एक कंप्यूटर और नेटवर्क से जुड़ा अपराध है। कंप्यूटर की मदद से

किया गया कोई भी गैरकानूनी गलत कार्य कंप्यूटर अपराध कहलाता है। साइबर अपराध के तहत किसी की निजी जानकारी को प्राप्त करके उसका गलत उपयोग करना साइबर क्राइम है। किसी की महत्वपूर्ण जानकारियों को चुरा लेना, उन्हें नष्ट करना, किसी तरह का फेरबदल करना, जानकारी को किसी के साथ साझा करना उन का गलत इस्तेमाल करना अपराध है। इसी तरह कंप्यूटर अपराध में किसी की गतिविधियों पर नजर रखना, हैकिंग , फिशिंग एवं वायरस का हमला करना होता है। साइबर क्राइम का जन्म कहीं से भी हुआ हो, परंतु इसका अंत किसी के पास नहीं है। आज युवा पीढ़ी इस बीमारी से ग्रसित हैं। स्वभाव में अहम का आना, स्वयं को श्रेष्ठ समझना, वाचिक स्वतंत्रता व्यक्ति को स्वच्छंद बना रही है। आज मीडिया एवं सरकार के सूत्र में साइबर आतंकवाद की वजह से होने वाला नुकसान गहरी चिंता का विषय बना है।" अपनी अवधारणाओं से परिवार, समाज और अंत में राष्ट्र का हित होना चाहिए इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं होता। समाज विघातक कृत्य, समाज में विभाजन करने वाली आतंकवादी अपने मंसूबों को अंजाम देते हैं, रेव पार्टियों का आयोजन किया जाता है। इसलिए साइबर क्राइम अब तेजी से बढ़ रहा है।" 6 आज भी कंप्यूटर पर नई नई खोज अविष्कार रुके नहीं है। युवा वर्ग, वैज्ञानिक नई नई खोजो से मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बनाने का जहां भरसक प्रयत्न कर रहे हैं वही एक वर्ग धोखा - अपना लिंग परिवर्तन करके मनोरंजन करना, सेक्स के लिए खोली दुकान बन रहे हैं। "लड़कियां लड़कों के नाम से एवं लड़के लड़कियों के नाम से फेक अकाउंट खोलते हैं। इन फेक अकाउंट के माध्यम से धोखाधड़ी और बदनामी बढ़ रही है। नेट अब सेक्स की नुमाइश और ओपन शॉप बन गई है। इससे ही अनेक सामाजिक समस्याओं का निर्माण हो रहा है और गुनाहों को खाद पानी भी मिल रहा है। यहां तक कि जिसने नेट को जन्म दिया उनके हाथ में भी अब यह बात नहीं रही है और हम सब नेटीजंस के हाथों से इसके सूत्र कब से फिसल गए हैं इसका हमको पता भी नहीं चला। " 7 सुबह उठकर प्रभु के दर्शन के स्थान पर आज की युवा पीढ़ी प्रथम दर्शन सोशल मीडिया का करना चाहती है। दिन भर में कितने लाइक्स मिले इसकी प्रतिस्पर्धा बड़ी ही जोर शोर से फेसबुकइंस्टाग्राम आदि , सोशल मीडिया पर हर दिन चलती रहती है। कुछ समय पूर्व एक और चलन मीडिया पर आया था जिसमे लाइक्स कम मिलने पर बच्चों ने आत्म सम्मान पर इस बात को ले लिया एवं आत्म हत्या जैसा कदम वो उठाने लगे थे। एक लेखक के अनुसार," जिज्ञासा और अभिव्यक्ति मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियां है। इसलिए मनुष्य कोई भी नई बात जानने पर उसे दूसरों तक पहुंचाने के लिए सदैव अधीर रहता है। आजकल लोगों को सुबह उठते ही दो चीजों का ध्यान आता है सोशल साइट्स और चाय। अक्षय दिन की शुरुआत सोशल साइट्स को छूने से होती है। बहुत सारे माध्यम होने के बाद भी सोशल साइट का महत्व बढ़ना आश्चर्यजनक ही है। सोशल साइट्स खबर प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। इसे कहीं भी और कभी भी प्रयोग में लाया जा सकता है, इसलिए इसका महत्व कभी भी कम नहीं हो सकता। " 8

तो हम कह सकते हैं कि अगर समय रहते हुए नई पीढ़ी को नहीं संभाला गया तो हम विनाश की लहरों में डूब ना जाए। देश को बाहरी परिजनों से जितना सुरक्षित रखना है उतना ही देश को आंतरिक रूप से मजबूत बनाना होगा। युवा वर्ग को इस अंतरजाल से मुक्त होना पड़ेगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह एक साधन है,यंत्र है। जितना सोशल मीडिया और साइबर क्राइम से बच्चों, युवाओं को दूर रखा जाए उतना ही देश मजबूत होगा। फोन का

उपयोग मुफ्त के इंटरनेट ने बढ़ा दिया है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मुफ्त में मिली वस्तुएं हमें नशा करा देती हैं और एक बार लत लगने पर उससे दूर होना बहुत मुश्किल है। अंतिम उल्लेख देना चाहूंगी शिक्षा विधिज्ञ शकील इंजीनियर अपनी पुस्तक मी एंड इंटरनेट वर्ल्ड में लिखते हैं कि, " सोशल साइट्स या इंटरनेट यह एक गंदी नाली की तरह है हम अपनी सोच के अनुसार इस गंदी नाली से मनचाही हीरे चुने और गंदी वस्तुओं को छोड़ दें।" 9

हम अपनी सोच बदलें ताकि देश बदल सके। सोशल मीडिया युवाओं के लिए महत्वपूर्ण परिबल हो सकता है जरूरत है उसके महत्व को समझने की। इसके दोनों पहलुओं से बच्चों को, युवाओं को अवगत कराने की। हमें उन्हें समझाना होगा कि किस प्रकार से वे इसका सदुपयोग अपने समाज के, देश के विकास के लिए करे।

**संदर्भ सूची -**

1. www.hindikiduniya.com
2. रवींद्र प्रभात - जनसंदेश टाइम्स, 5 जनवरी 2014 , पृष्ठ संख्या - 1 ( पत्रिका - ए टू जेड लाइव) शीर्षक : आम आदमी की नई ताकत बना सोशल मीडिया,
3. डॉ. विजय महादेव गाड़े - सोशल मीडिया - समसामयिक परिपेक्ष्य में , पृष्ठ संख्या - भूमिका से
4. डॉ. कृष्ण कुमार रत्तू - नया मीडिया संसार - मीडिया क्रांति के नए संदर्भ - पृष्ठ संख्या - 118
5. डॉ. विजय महादेव गाड़े - पृष्ठ संख्या , समसामयिक परिपेक्ष्य में - सोशल मीडिया - 21
6. डॉ. विजय महादेव गाड़े - सोशल मीडिया - समसामयिक परिपेक्ष्य में , पृष्ठ संख्या - 22
7. डॉ. विजय महादेव गाड़े - सोशल मीडिया - समसामयिक परिपेक्ष्य में , पृष्ठ संख्या - 22
8. धीरज कुमार - बेनिफिट ऑफ सोशल साइट्स - पृष्ठ संख्या - 78
9. दैनिक सकाल - 03/ 08/2016

**शोधार्थी**
**विषय - हिंदी**
**हेमचंद्राचार्य उत्तर गुजरात यूनिवर्सिटी**
**पाटण ( गुजरात)**

# आधुनिक तकनीकी युग में गांधी की बुनियादी शिक्षा के प्रयोग,वर्तमान परिस्थिति और भाषा (विशेष संदर्भ: वर्धा)

2. श्रीप्रकाश पाल

1. सद्दाम होसैन

**सारांश :**

*वर्धा के 'सेवाग्राम' में नई तालीम बेसिक शिक्षा पर आधारित है, इसमें छात्र-छात्राओं को सुंदर और सुनियोजित ढंग से शिक्षा दी जाती है। ताकि वहाँ पर पढ़ने वाले प्रत्येक विद्यार्थियों की नींव मजबूत हो और आगे चलकर उन्हें किसी समस्या का सामना करना न पड़े। यह शिक्षा व्यावहारिक और ज्ञान पर आधारित शिक्षा होती है। आधुनिक तकनीकी के बारे में भी जानकारी दी जाती है ताकि सभी विद्यार्थियों को तकनीकी का ज्ञान हो और वर्तमान समय में कहीं न कहीं बहुत जरूरी हैं। इसके साथ ही बच्चों को कृषि कार्य, सूत कताई, सिलाई मशीन,तबला, नृत्य और रसोई में खाना बनाने से लेकर यहाँ पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने का प्रावधान है। नई तालीम शिक्षा लोगों को इसलिए आवश्यकता है कि गांधीजी ने जो शिक्षा के लिए आवाज उठाई थी। वह शिक्षा कहीं न कहीं सकंट में पड़ गई है। उस शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, समाज और भाईचारे की जरूरत है और गांधीजी की शिक्षा को फिर से लाने की आवश्यकता है। तभी हम अपनी मातृभाषा, संस्कृति को फिर वापस ला सकते हैं और लोग अपनी संस्कृति, भाषा को भूल गए हैं, आधुनिकीकरण को अपना लिया है। आज के बच्चे नमस्ते के स्थान पर 'गुड मॉर्निंग' बोलकर अभिवादन करते हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि आज की शिक्षा, संस्कृति किस ओर अग्रसर हो रही हैं। लेकिन मुझे इस तरह कि शिक्षा को रोकना होगा और नई तालीम शिक्षा की ओर फिर से चलना होगा। उत्साह बढ़ाना है तो नई तालीम शिक्षा को नए तरीके से पढ़ाने की जरूरत है। आज के समय में लोग जितना ज्यादा पढ़ ले रहे हैं, उतना ही उनका उत्साह कम होता जा रहा है। प्रस्तुत शोध अध्यन में बुनियादी शिक्षा का वर्तमान परिस्थिति का गहन अध्यन प्रस्तुत किया गया है, शोध पत्र में गांधी की नई तालीम एवं बुनियादी शिक्षा का वर्णन किया गया है। इस शोध पत्र में मैंने साक्षात्कार, अवलोकन और अंतर्वस्तु विश्लेषण के द्वारा ये शोध आलेख तैयार किया गया है।*

**शोध केंद्रित शब्द:** *महात्मा गांधी, बुनियादी शिक्षा, वर्धा (सेवाग्राम), भाषा, आधुनिक तकनीक युग*

**प्रस्तावना**

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय है कि बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा के उच्चतम विकास से है"

(महात्मा गांधी)

आधुनिक तकनीक युग में बुनियादी शिक्षा को सर्वांगीण विकास पर केंद्रित किया जाना चाहिए लेकिन बुनियादी शिक्षा अपनी एक अवधारणा को प्रभावित करती है, किसी भी अवधारणा को कैसे समझना है। यह शिक्षा व्यावहारिक और ज्ञान पर आधारित शिक्षा होती है। अनुभव के माध्यम से बेहतर ढंग से प्राप्त की जा सकती है।गांधी जी का मानना था कि मेरे प्रिय भारत में **बच्चों** को 'तीन एच'की शिक्षा अर्थात् मस्तिष्क(हेड), हाथों (हैंड)एवं (हर्ट)हृदयकी शिक्षा दी जाए। शिक्षा उन्हें स्वावलंबी बनाये और वे देश को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण

योगदान दे सकें। गांधीवादी शिक्षा में मस्तिष्क, हृदय और हाथों का अर्थ बच्चे के **सर्वांगिण** विकास का प्रतीक है।तभी प्रभावी है, जब यह कार्य आधुनिक तकनीक और शिल्प के तहत दी जाये, मात्र पुस्तकों और अमूर्तता के द्वारा नहीं। चरित्र निर्माण की सच्ची शिक्षा के लिए पूरा ध्यान मूल्यों, नैतिकता और आदर्श नागरिकता पर केंद्रित किये जाने की जरूरत है। शिक्षा को अहिंसा पर आधारित होना चाहिए। स्कूलों से हर प्रकार की हिंसा व प्रतिरोध को बाहर किये जाने की जरूरत है। संस्कृति, कला, संगीत, नृत्य, क्रिड़ा और खेलों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। जो कि रचनात्मकता,कल्पनाशीलता और शांतिपूर्ण अस्तित्व सहित भाईचारा के विकास के आधार है। शैक्षणिक योजनाएं ग्रामीण भारतीय समाज को ध्यान में रखकर बनाई जानी चाहिए क्योंकि समुदाय हर स्कूल का हिस्सा है। तथा स्कूल के संचालन व प्रबंधन के मामले में सामुदायिक संलग्नता पर ध्यान देते हुए इसे बढ़ावा दिये जाने की जरूरत है। नई तलीम या बुनियादी शिक्षा वर्तमान परिदृश्य में बहुत आवश्यक है। महात्मा गांधी ने अपने में शिक्षा के बारे में उनके विचारों को समझने के लिए पर्याप्त है।गांधी के अनुसार शिक्षा वह है जो गाँव के बच्चों को आदर्श ग्रामवासियों में बदल देती है। यह मुख्य रूप से उनके लिए अभिकल्पित किया गया है। इसकी प्रेरणा गाँव से आई है। बुनियादी शिक्षा गांवों एवं शहरों के बच्चों को आपस में जोड़ती है। इस प्रकार कि शिक्षा शरीर और मन दोनों का विकास करती है और बच्चे को भविष्य में एक गौरवपूर्ण दृष्टि के साथ अपनी **संस्कृति** से जोड़े रखती है, जिसकी अनुभूति के कारण वे अपने विद्यालय से ही अपने व्यवसाय में भागीदारी सुनिश्चित करता है। गांधी जी को विश्वास था कि शिक्षा का एक अनिवार्य हिस्सा सभी धर्मों में निहित 'अहिंसा की अंतदृष्टि' और 'सत्यकी अभिव्यक्ति' को ही प्रगट करता है।

गांधी की अवधारणा में नई तालीम या बुनियादी शिक्षा के अंतर्गत 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए मुक्त एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान सम्मलित किया गया था। नई तालीम या बुनियादी शिक्षा की कल्पना 'शिल्प आधारित' शिक्षा के रूप में की गई थी, जिसमें व्यावहारिक कौशल; व्यक्ति के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास के केंद्र और नींव के रूप में कार्य करता है और इसमें साक्षरता और गणित जैसे कौशल उनके शिल्प और सेवा के संदर्भ में सीखे जाते हैं। इस उपागम में स्कूलों में शैक्षणिक विषयों को अंतरानुशासनिक तरीके से पढ़ाया जाता है और समाज को उनके व्यावहारिक अनुप्रयोग से कभी अलग नहीं किया जाता है। शिल्प केन्द्रित उपागम, श्रम की गरिमा, आत्मनिर्भरता के मूल्य और स्थानीय संस्कृति को मजबूती प्रदान करना है।

आजादी के बाद बहुत कुछ बदला लेकिन गाँव अपनी पुरानी हैसियत प्राप्त नहीं कर पाए। परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण युवा अपने भविष्य की तलाश करने के लिए शहरों की ओर निकल पड़े। अब यहां पर तीन प्रश्न

हैं। प्रथम यह कि क्या ग्रामीण युवा में उद्यमिता की संभावनाएं वैसी ही हैं, जैसी शहरी युवा में? द्वितीय यह है कि- क्या युवा उद्यमिता मौलिक आधार बन सकते हैं अथवा नहीं? और तृतीय- क्या सरकारें शहरों की तरह गाँवों में भी उद्यम स्थापना के प्रति प्रतिबद्ध हैं, जहां ग्रामीण युवा संभावनाएं तलाश सके।

**वर्धा (सेवाग्राम) के नई तालिम शिक्षा की इतिहास का एक झलक**

(वर्धा) सेवाग्राम में नई तालीम शिक्षा योजना जिसे बुनियादी शिक्षा के माध्यम से भी जाना जाता है। भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के इतिहास के क्षेत्र में एक अद्वितीय स्थान रखती है। 22-23 अक्टूबर, 1937 ई. को  वर्धा में अखिल भारतीय शैक्षिक सम्मेलन हुआ, उसकी अध्यक्षता गांधी जी ने की। गांधी ने अपने प्रतिष्ठित शिक्षाविद् डॉ. जाकिर हुसैन ने एक समिति बनाई। जिसमें 09 सदस्य शामिल किए गए थे। समिति को शिक्षा योजना और पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए नियुक्त किया गया था। यह रिपोर्ट तब से बुनियादी शिक्षा का मूल दस्तावेज़ बन गई और इस योजना को वर्धा शिक्षा योजना के नाम से जाना जाने लगा। इसे महात्मा गांधी द्वारा अनुमोदित किया था।

वर्ष1962 में श्री आर्यनायकमजी जर्मनी के कई विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं के आमंत्रण पर शिक्षा और गांधी-विचार पर व्यख्यान देने के लिए गए थे।उन्होंने जर्मनी के शिक्षाशास्त्रियों तथा स्वयंसेवी से अपील की गई की वे सेवाग्राम में सारे भारत के लिए ग्रामीण तकनीक के विकास के लिए एक शिक्षण और शोध केंद्र स्थापित करने के लिए मदद दें। जर्मन से वापस आनेके बाद श्री आर्यनायकमजी ने विकासशील कृषि-औद्योगिक समाज के अनुरूप वैकल्पिक तकनीकी प्रयोग और विकास के लिए सेवाग्राम ग्रामीण-तकनीकी शिक्षण-केंद्र आनंद निकेतन की स्थापना की। आर्यनायकमजी 1967 ई. में श्रीलंका स्थित अपने पैतृक गाँव गए और वही अचानक हृदयगति रुक जाने के कारण 19 मई, 1967 को उनका स्वर्गवास हो गया। श्री आर्यनायकमजी के देहावसान के बाद श्रीमती आशादेवी अनाद निकेतन विद्यालय को उसकी पुरानी गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, पर कहीं भी प्रतिष्ठित सहयोग न मिलने पर वह उसमें सफल न हो सकीं आशादेवी के अंतिम प्रयासों में से एक, आर्यनायकमजी की तीस वर्ष सेवा की। उन्होंने इसके लिए अपने व्यक्तिगत प्रयास जारी रखीं। लेकिन 1970 ई. में वह अस्वस्थ हुई और अंतत: 30 जून, 1970 को उनकी भी मृत्यु हो गई। श्रीमती आशा देवी के देहावसान के साथ ही सेवाग्राम में नई तालीम के काम को पुनर्जीवित करने के प्रयास भी संप्त हो गये। सेवाग्राम इसी तरह चल रहा आनंद निकेतन विद्यालय भी अंतत: 1974 ई. में बंद हो गया। उसके बाद एक लंबा समय के लिए नई तालीम बंद पड़ा रहा।

**सेवाग्राम में फिर जला नई तालीम का दीप**

वर्ष 1974 से 2004 ई. तक सेवाग्राम में नई तालीम का विद्यालय नहीं रहा। सन् 2004 ई. में मटा आशादेवी की जन्म शताब्दी का वर्ष था। उसी वक्त नई तालीम परिवार की 'माताजी' के नाम से जानी जाने वाली आशादेवी की जन्म शताब्दी को भव्य रूप में मनाने का निश्चय नई तालीम समिति एवं सर्व सेवा संघ ने किया। इसके लिए एक शताब्दी समिति का गठन किया गया। विभिन्न राज्यों में नई तालीम सम्मेलनव सेमिनार आयोजित किए गए। सभी का सुझाव था कि सेवाग्राम में नई तालीम या बुनियादी प्रयोग का विद्यालय अवश्य ही चलना चाहिए। शताब्दी वर्ष कि समाप्ति पर 11-12 अक्टूबर, 2004 ई. को सेवाग्राम में राष्ट्रीय नई तालीम सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन का उद्घाटन तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री श्री सामदोंग रिनपोछेजी ने किया तथा अध्यक्षता नई तालीम के प्रथम विद्यार्थी व शिक्षक रहे श्री नारायण भाई ने की। सम्मेलन में नई तालीम से जुड़े, पुराने विद्यार्थी व शिक्षक बड़ी संख्या में शामिल हुए। सेवाग्राम में पुन: बुनियादी विद्यालय प्रारम्भ हो, इसी विषय को लेकर मार्च, 2004 में एक विचार गोष्ठी का आयोजन नई तालीम समिति ने किया। अंतत: 01 जुलाई, 2005 को नई तालीम विद्यालय आनंद निकेतन का विधिवत उद्घाटन नारायणभाई द्वारा किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री ठाकुरदास बंग ने की तथा प्रमुख अतिथि के रूप में सर्वोदय परिवार के बुजुर्ग विद्वान श्री सिद्धराज भी उपस्थित थे। नई तालीम का प्रयोग फिर अपनी राख़ से जीवित हो उठा। नई तालीम जीवन के साथ और जीवन के अंत तक। इस तरह से वर्तमान संदर्भ में शिक्षा के क्षेत्र में अवश्य ही उभर कर सामने आएगा और आज के युवा पीढ़ी को बुनियादी विद्यालयों को बढ़ावा देना चाहिए।

नई तालीम शिक्षा लोगों को इसलिए आवश्यक है कि गांधीजी ने जो शिक्षा के लिए आवाज उठाई थी। वह शिक्षा कहीं न कहीं सकंटमें पड़ गई है। उसी शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, समाज और भाईचारे की अवधारणा की जरूरत है,और गांधीजी की शिक्षा को फिर से लाने की आवश्यकता है। तभी हम अपनी मातृभाषा, संस्कृति को फिर वापस ला सकते हैं। लोग अपनी संस्कृति को भूल गया है और आधुनिकीकरण को अपना लिया है। इस दिशा में गांधी जी का बुनियादी शिक्षा वाला मंत्र बेहद कारगर हो सकता है। उल्लेखनीय है कि गांधी जी बुनियादी शिक्षा की मंशा थी कि गाँव के बच्चों को सुधार-संवार कर उन्हें गाँव का आदर्श बाशिंदा बनाया जाए। उनका मानना था कि जो कांग्रेसजन स्वराज्य की इमारत को बिल्कुल उसकी नींव से चुनना चाहते हैं, वे देश के बच्चों की उपेक्षा कर ही नहीं सकते। परदेशी हुकूमत चलाने वालों ने अनजाने ही क्यों न हो, शिक्षा के क्षेत्र में अपने काम की शुरुआत बिना चूके बिल्कुल छोटे बच्चों से की है। हमारे यहां जिसे प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है वह तो एक

मजाक है, उसमें गाँवों में बसने वाले हिन्दुस्तान की जरूरतों और मांगों का जरा भी विचार नहीं किया गया है और वैसे देखा जाए तो उसमें शहरों का भी कोई विचार नहीं हुआ है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य दस्तकारी के माध्यम से विद्यार्थियों को शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करना है लेकिन मैं मानता हूं कि कोई भी पद्धति, जो शैक्षणिक दृष्टि से सही है और जो अच्छी तरह चलाई जाए, आर्थिक दृष्टि से भी उपयुक्त सिद्ध होगी।

**वर्धा में गैर-सरकारी शिक्षा प्रतिष्ठान की बढ़ोत्तरी**

जिस धरती पर महात्मा गांधी की कर्म-भूमि है,उसी जगह पर देखा जाएं तो गांधीजी का जो शिक्षा का सपना था, उसी धरती पर शिक्षा संस्कृति बदलकर आधुनिक शिक्षा में या ब्रिटिश शिक्षा में रूपांतरिता हो गई है। अगर हम कहें कि नई तालीम का प्रारम्भ सरकारी व गैर सरकारी दोनों ही स्तरों पर प्रारम्भ हुई थी। इस तरह की शिक्षा को छात्र-छात्राओं को देना ही नहीं चाहत थे। इसलिए वे सब अपने अनुसार शिक्षा देना चाहते थे जो आज के परिदृश्य में देखने को मिल रही है। करीब 100 विद्यालयों के सर्वे के अनुसार गैर सरकारी संस्थान में शिक्षा दी जा रही है। वह एक तरह से आधुनिकीकरण हुआ लेकिन भारत की शिक्षा संस्कृति को कही न कही किनारे की तरफ करके ब्रिटिश शिक्षा की ओर से रूपांतरित हुआ है। अपने भारत की संकृति पद्धति से संबन्धित बात करे तो आज के समय में वर्धा में जितने भी स्कूल इस दायरे में  हैं। वह लगभग पश्चमी शिक्षा पद्धति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।उस शिक्षा संस्थान में हमें उन्हें अपने हक के अनुसार शिक्षा नहीं दी जाती है। वे सब बच्चे अपने हक भूलते जा रहे हैं मातृभाषा क्या होती है, उन्हें मालूम नहीं है। जबकि गांधी जी ने ब्रिटिश शिक्षा का विरोध करते थे। गांधीजी के निर्देशानुसार शिक्षा दी जाती तो शायद आज के युवाओं में बेरोजगारी जैसे शब्द प्रचलित नहीं होते, क्योंकि गांधी जी ने जिस शिक्षा का प्रतिपादन किया था। वह कहीं न कहीं काम और ज्ञान पर आधारित शिक्षा थी आज के समय में युवाओं को बुनियादी शिक्षा दी जानी चाहिए। यदि इस प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो उन्हें किसी भी तरह से रोजगार की तलाश में भटकना नहीं पड़ता। आधुनिक युग में बुनियादी शिक्षा की बेहद आवश्यकता है, इस तरह की शिक्षा को प्रयोग में फिर से लाने की आवश्यकता है तभी आर्मनिर्भर होकर काम कर पायेंगे।

**वर्तमान के परिदृश्य में वर्धा में बुनियादी शिक्षा का उपयोग**

वर्धा (सेवाग्राम) में नई तालीम बेसिक शिक्षा पर आधारित है, इसमें छात्र-छात्राओं को  सुंदर और सुनियोजित ढंग से शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षा काम और ज्ञान पर आधारित शिक्षा होती है। बुनियादी शिक्षा में बच्चों को दो शिफ्ट में कक्षायें चलती हैं। पहले सत्र में विषय अनुरूप पढ़ाया जाता है और द्वितीय सत्र में व्यवहारिकशिक्षा दी जाती है।वर्तमान समय में आधुनिक शिक्षा को देखते हुये आधुनिक तकनीक के बारे में भी शिक्षा प्रणाली शुरू

किया गया हैं,लेकिन हमारे समाज में जिस आधुनिक युग या डिजिटल की ओर से दौड़ रहें हैं, उस जरूरत के अनुसार यहाँ तकनीकी शिक्षा नहीं दी जाती हैं। आज के समय में सभी विद्यार्थियों को तकनीकी ज्ञान होना बेहद जरूरी है।

इस विद्यालय में 01 से लेकर 10 तक के विद्यार्धियों को शिक्षा प्रदान की जाती है। इस विद्यालय में 275 छात्र और छात्रायें हैं, 28 अध्यापक हैं। इस विद्यालय में 2000, 3000, और 5000 रुपये शुल्क निर्धारित किया गया है। लेकिन शुल्क देना अनिवार्य नहीं है, जो दे सकता वही दे। जो नहीं दे सकते उनके लिए जो कृषि कार्य या कताई बुनाई से पैसे आते हैं उन्हीं पैसो में से शुल्क लेने का प्रावधान रखा गया है। बुनियादी शिक्षा में कृषि कार्य में सब्जी की खेती ज्यादा-तर की जाती है। फिर उन्हीं बच्चों को बाजार में बेचने के लिए भी कहा जाता हैजिनकी तर्क शक्ति कमजोर होती है ताकि वे उसके माध्यम से गणित भी सीख लेते हैं। नई तालीम में बच्चों को जीविका उपार्जनयुक्त शिक्षा दी जाती है। बुनियादी शिक्षा समाज को सर्वांगीण विकास की ओर ले जाती है। बुनियादी शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का साधन गांधी ने बनाया था, मगर आज स्थिति वह नहीं है। हमें इसमें सुधार लाने की जरूरत है तभी हम समाज को नैतिक शिक्षा और रोजगारपरक शिक्षा की ओर ले जा सकते हैं।आधुनिक तकनीकी के बारे में भी जानकारी दी जाती है ताकि सभी विद्यार्थियों को तकनीकी का ज्ञान हो और वह वर्तमान में कहीं न कहीं बहुत  जरूरी हैं। इसके साथ ही बच्चों को कृषि कार्य, सूत कताई, सिलाई मशीन,तबला, नृत्य और रसोई में खाना बनाने से लेकर यहाँ पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने का प्रावधान है। इस शोध पत्र में मैंने सर्वेक्षण, अवलोकन, साक्षात्कार और अंतर्वस्तु विश्लेषण शोध प्रविधि का उपयोग किया हूँ।

**वर्तमान में नई तालीम शिक्षा का परिस्थिति**

वर्धा- सेवाग्राम में गाँधी की नई तालीम बच्चों को उनकी संकृति, मातृ-भाषा में लिखने-पढ़ने पर बल देती है। यहाँ की शिक्षा में पहले और वर्तमान शिक्षा में कुछ बदलाव हुआ है ज़्यादातर बदलाव नहीं हुआ केवल वहाँ की संरचना में बदलाव किया गया और सब कुछ पहले ही जैसा है। वर्धा केअन्य विद्यालयों में जैसे-Agragrami Convent School , Shining Stars School, Astrons Academy, Mount Carmel Cbse. उनके बारे में और वहाँ की शिक्षा के बारे में जानने का मौका मिला तो अवलोकन के माध्यम से पता चला की यहाँ की जो शिक्षा पद्धति है वह कहीं न कहीं पश्चिमी शिक्षा प्रणाली को अपना लिया है, और उसी ओर अग्रसर होता जा रहा है। वहाँ पर पढ़ने वाले बच्चों को अपनी मूल संस्कृति के बारे बिल्कुल पता नहीं है इस तरह की शिक्षा में केवल

उन्हें किताबी शिक्षा दी जा रही है और साथ में मनोरंजन के लिए ज़्यादातर बॉलीवुड और हॉलीवुड की संस्कृति की सहारा लेते हैं।

गांधी जी के नई तालीम शिक्षा किसी वर्ग,किसी जाति, धर्म या क्षेत्र के लिए नहीं हैं। बल्कि यह सभी वर्गों के लिए बनाई गई है। लेकिन आज समाजके लोग में सोचआ गई है किइस शिक्षा को केवल ग्रामीण लोगों के गरीब बच्चों के लिए बनाई गई है। आजसमाज के लोगों को गांधीजी के विचारधारा शिक्षा प्रणाली को जागरूक करना होगा, लेकिन यहाँ पर ऊँच-नीच सभी परिवार के बच्चों को शिक्षा लेने की जरूरत है। उनको समझना होगा कि यहाँ पर सभी वर्गों के बच्चे पढ़ने के लिए आते हैं,उनको यह लगता है कि यदि मेरे बच्चे इस संस्थान में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आएंगे तो वह भी उन सब कि तरह खेती करेंगे जैसे ग्रामीण परिवार के बच्चे करते हैं। यह जानकारी मुझे साक्षात्कार और अवलोकन से पता। मुझेग्रामीण युवाओं के अभिभावकों की सोच में परिवर्तन लाना होगा। तभी नई तालीम सही मायने में सिद्ध होगी।

**निष्कर्ष:**

नई तालीम या बुनियादी शिक्षा की कल्पना 'शिल्प आधारित' शिक्षा के रूप में की गई थी, जिसमें व्यावहारिक कौशल व्यक्ति के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास के केंद्र और नींव के रूप में कार्य करता है और इसमें साक्षरता और गणित जैसे कौशल उनके शिल्प और सेवा के संदर्भ में सिखाये जाते हैं। इस तरह की शिक्षा को विद्यार्थी के अनुकूल बनाना है तो उसका रूप नई तालीम या बुनियादी शिक्षा के सामना होना ही चाहिए,लेकिन वर्तमान आज के बच्चे नमस्ते के स्थान पर गुड मॉर्निंग बोलकर अभिवादन करते हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि आज किस तरह शिक्षा, संस्कृति ओर अग्रसर हो रहे हैं। लेकिन हम सभी को आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ गांधीजी की बुनियादी शिक्षा को लोगों के बीच फिर से लागू करने का जरूरत हैं। तभी हम अपनी संस्कृति को वापस ला सकते हैं यदि इस प्रकार कि शिक्षा दी जाए तो हमारा देश विकास की ओर बढ़ेगा और हम गांधीजी के सपनों को साकार कर पायेंगे।ग्रामीण युवाओं को संगठित करके उनमें आधुनिककौशल का विकास करना होगा और उन्हें शहरी युवाओं को साथ लाना होगा, उन्हें डिजिटल के साथजोड़ना होगाआधुनिकीकरण की दृष्टि से देखे तो गांधीजी ने जो शिक्षा की योजना बनाई थी वह कहीं न कहीं आज के संदर्भ में कारगर साबित हो सकती है। मुझे लगता है इस तरह की शिक्षा सभी देशों में लागू करना चाहिए। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा था कि नई तालीम का विचार भारत के लिए उनका अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ योगदान है।आज भी गांधीजी की पुकार एक चुनौती बनकर ललकार रही है।

## संदर्भ सूची


1. जसटा, हरीरम .(2012). *आधुनिक भारत में शैक्षिक चिन्तन*. दिल्ली : परमेश्वरी प्रकाशन.
2. https://www.gaonconnection.com/graamiinn-yuvaaon-ko-caahie-buniyaadii-shikssaa-
3. https://www.gaonconnection.com/graamiinn-yuvaaon-ko-caahie-buniyaadii-shikssaa-
4. https://www.gaonconnection.com/graamiinn-yuvaaon-ko-caahie-buniyaadii-shikssaa-
5. https://hi.wikipedia.org/wiki/महात्मा_गांधी_का_शिक्षा_दर्शन
6. https://www.msn.com/hi-in/news/bihar-jharkhand-
7. www.mgncre.in
8. https://www.pustak.org/books/bookdetails/8298
9. https://akhileshteacher.blogspot.com/2017/03/blog-post.html
10. http://www.deshbandhu.co.in/parishist
11. http://www.iasplanner.com/civilservices/hindi/ias-pre/gs-history/modern-indian-history-colonial-policies-british-india-educational-development



**1. सहायक प्राध्यापक**
**जनसंचार विभाग**
**नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय )**
**saddam.visvabharati@gmail.com**

**2. एम.फिल. (जनसंचार)**
**जनसंचार विभाग**
**महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
**shriprakashp204@gmail.com**

# मध्यकालीन हिंदी काव्य के शिक्षण- शास्त्रीय आयाम

***संगीता केशरी**

**सारांश:**

*सूचना एवं प्रौद्योगिकी के इस युग में स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में छात्रों का परंपरागत प्राचीन साहित्य पर अविश्वास दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इसके लिए शिक्षण को रुचिकर, प्रभावशाली एवं व्यवहारात्मक बनाना आवश्यक हो गया है। हिंदी भाषा की उदारता, विविध भाषा समावेशन क्षमता एवं नित नए भाषाई परिवर्तन आज मध्यकालीन हिंदी काव्य की समझ को और भी जटिल बना रहे हैं। अतः मध्यकालीन हिंदी काव्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए आवश्यक अधिगम का मनोसामाजिक आधार व शिक्षण की प्रक्रिया में सुधार की आवश्यकता है।*

**मूल शब्द:** *मध्यकालीन काव्य, शिक्षण, शिक्षण शास्त्री आयाम, अधिगम।*

यह बात सही है कि साहित्य भाषा- अध्ययन का एक अनिवार्य अंग है परंतु भाषा और साहित्य शिक्षण से संबन्धित उपलब्ध शोध (एनसीईआरटी, 2016) हमारा ध्यान स्कूली शिक्षा में भाषा और साहित्य शिक्षण की उपेक्षा की ओर दिलाते हैं। इस उपेक्षा का एक कारण स्कूली शिक्षा में भाषा और साहित्य शिक्षण के क्षेत्र में अनुसन्धानों की कमी भी है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी भाषा अथवा साहित्य शिक्षण की किताबों से ऐसा साहित्य ही गायब हो गया जो वास्तव में पढ़ाया जाना चाहिए। इसका एक बड़ा कारण हिन्दी भाषी अध्यापकों का शिक्षण शास्त्रीय स्तर भी है । इस संदर्भ में यह ज़रूरी है कि स्कूलों में भाषा अध्ययन सही से हो सके इसके लिए स्कूली पाठ्यक्रम में भाषा व साहित्य पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये।

शिक्षा शास्त्रियों ने साहित्य शिक्षण के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के शिक्षण-शास्त्रीय आयाम सुझाये है उन पर अधिक गहराई से काम करने कि जरूरत है। जैसे –"जिस प्रकार अतीत न सिर्फ वर्तमान को प्रभावित करता है बल्कि वर्तमान भी अतीत को उतना ही प्रभावित करता है", कविता के संदर्भ में कही गयी ये उक्ति आज भी उतनी ही प्रसांगिक है चूँकि आज के वैज्ञानिक और तकनीकी जीवन में भावनापरक मूल्य लगातार आहत हो रहे है ऐसे में शिक्षण-पध्दति में आवश्यक सुधार अनिवार्य हो जाता है।इन परिस्थितयों में उदेश्यपरक शिक्षण और साहित्य के मूल्यों का संरक्षण भी आवश्यक है साथ ही आज की आवश्यकताओं के अनुरूप भाषा शिक्षण में वर्तमान संभावनाओं का अन्वेषण करने के लिये यह आवश्यक है कि भाषा साहित्य को नयी सदी की मान्यताओं, विचारधराओं की कसौटी पर कसते हुए उसके नए शिक्षण शास्त्रीय आयाम प्रयोग किये जाए। मध्यकालीन हिंदी-काव्य हिंदी साहित्य का ऐसा भाग है जो आज की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की तुलना में एकदम भिन्न परिस्थितियों में रचा गया है।हिंदी भाषा की उदारता, विविध भाषा समावेशन क्षमता एवं नित नए भाषाई परिवर्तन आज मध्यकालीन हिंदी काव्य की समझ को और भी जटिल बना रहे हैं। ऐसे में मध्यकालीन हिंदी काव्य के शिक्षण के लिए नवीन और वैश्विक स्तर के शिक्षण शास्त्रीय आयाम तलाशने की आवशकता है। ताकि मध्यकालीन साहित्य शिक्षण के उद्देश्य की प्राप्ति की जा सके और उसकी संस्कृति एवं मूल्य से विद्यार्थियों को जोड़ा जा सके।

 ISSN: 2454-2725

सामान्यतः मध्यकाल की परिधि में हिन्दी साहित्य की भक्तिपरक और रीतियुक्त कविता आती है, जिसकी समय सीमा संवत् 1375 से संवत् 1900 है।[1] इस काल के प्रमुख कवि कबीर, सूरदास, तुलसी, जायसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, देव, घनानद, आदि है। इन कवियों के काव्य में अभिव्यंजना एवं अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टीयों से विविध अंतर देखा जा सकता है।इनमे से कुछ कवि फक्कड़ घुमंतु प्रवित्ति के थे तो कुछ अनपढ़। इसके अतिरिक्त कुछ राजाश्रित दरबारी कवि भी रहे है। यही कारण है कि इन सभी के काव्य की संरचना एवं भाव में परिवेश व परिस्थितिगत अंतर देखा जा सकता है। यथा हम मध्यकालीन हिंदी काव्य के विभिन्न पक्षों, उनके शिक्षण में आ रही समस्यओं एवं उनके समस्याओं के समाधान के लिए हो सकने वाले प्रयास की चर्चा शिक्षण शास्त्रीय आयाम के सन्दर्भ में देख सकते है -

भाषा विविधता मध्यकालीन हिंदी काव्य की एक बड़ी विशेषता है और इसके शिक्षण में उत्पन्न कठिनाइयों का कारण भी। भाषा एक सामाजिक अस्मिता है।[2]और जब हम मध्यकालीन हिंदी काव्य की भाषा की बात करते है तो हम मध्यकालीन समाज के समाजिक अस्मिता को देख रहे होते है जिसमे सम्पूर्ण भारत के हिंदी भाषी समाज की काव्य रचनायें आती है| बहुभाषी भारत की झलक इन काव्य रचनाओ में भी बखुबी देखी जा सकती है।

इस काल में धर्म की प्रधानता होने के कारण राम कवियों की भाषा अवधी थी तो वही कृष्ण-कवियों की भाषा ब्रज। सूफ़ी कवियों की भाषा इस्लामी संस्कृति के प्रभाव के कारण अरबी- फारसी मिश्रित अवधी रही। इसके अतिरिक्त इस काल में दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, राजस्थानी, मैथली और खड़ी बोली की भी काव्य रचनायें मिलती है। इन काव्यों में भाषा की एकरूपता ना होने का कारण सिर्फ बहुभाषी भारतीय संस्कृति न था बल्कि इस युग के कवियों का शास्त्रीय भाषा का ज्ञान ना होना भी था। कबीर, रैदास, मीरा, आदि के काव्य को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।यथा-

नैनो की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डालिकै, पिय को लिया रिझाय ।।[3] (कबीर )

कबीर की इस पंक्ति की भांति ही उनके काव्य बहुधा अटपटी बानियों के रूप में मिलते है।

अब हिंदी के पाठक ब्रजभाषा और अवधी में फर्क करना भूलते जा रहे हैं। जब शिक्षक मध्यकालीन हिंदी काव्य का शिक्षण कराता है तो शिक्षक के लिए काव्य की भाषा विविधता एक समस्या बन जाती है | इसके लिए आवश्यक है कि उसे हिंदी के विभिन्न बोलियों, उसकी व्याकरणगत संरचना एवं उसकी शब्द संपदा का अच्छा ज्ञान हो। भाषा की दृष्टि से, हम पहले बहुभाषी हुआ करते थे, अब एकभाषी होते जा रहे हैं। छात्र के लिए भी यह कठिन है कि वह आज के बाजारू हिंदी के समक्ष मध्यकालीन काव्य की भाषा को समझ सकें। ऐसे में कक्षा में इन काव्यों की रोचक प्रस्तुती से छात्रों में धीरे-धीरे भाषाई समझ विकसित की जा सकती है। इसके लिए छात्रों में इन काव्य के प्रति स्थाई अभिरुचि का विकास ,स्वाध्याय की प्रवित्ति उत्पन्न करना भी कारगर साबित हो सकता है। मध्यकालीन कविता से छात्रों का परिचय तभी हो सकेगा जब उनके इर्द गिर्द संप्रेषण में मध्यकालीन भाषा की

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल
[2] भाषा और समाज, रामविलास शर्मा
[3]कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी

उपस्थिति बनी रहे। इसके लिए शिक्षक को कक्षा में मध्यकालीन काव्य के शब्द , मुहावरे, काव्य की कोई रोचक पंक्ति का प्रयोग करते रहना चाहिए। शिक्षकों से लेकर छात्रों तक को मध्यकालीन कवियों की बहुत कम कविताएँ याद होती हैं। ऐसे में हमें अपने पूर्वजो के भाषाई मानसिकता को बढ़ावा देने की आवश्यकता है जो अपनी भाषा में काव्य-पंक्ति, दोहे ,मुहावरे, लोकोक्तियां का प्रयोग सायास किया करते थे।

उच्चारण एवं वर्तनी साहित्य-शिक्षण में हिंदी भाषा का दूसरा महत्तपूर्ण पहलू है। जिससे भाषा के ध्वन्यात्मक विशेषता की जानकारी छात्रों को दी जाती है। किसी भी शब्द के अर्थ सम्प्रेषण के लिए यह आवश्यक है की उसका उच्चारण सही ढ़ग से हो अन्यथा अर्थ विचलन अथवा अर्थ दोष उत्पन्न हो सकता है। जैसा बोला जाए, वैसा ही लिखा जाए। यह देवनागरी लिपी की बहुमुखी विशेषता के कारण ही संभव था और आज भी है। परन्तु यह बात अब शतप्रतिशत ठीक नहीं है। भाषा शिक्षण के द्वारा भाषा के चारों कौशल- श्रवण, भाषण, वाचन, तथा लेखन पे अधिकार प्राप्ति के लिए उच्चारण एव् वर्तनी पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है किन्तु हिंदी के लिये यह तब और भी आवश्यक हो जाता है जब इसमें एक ही वर्तनी के कई प्रकार हो। वर्तनी भाषा का अनुशासित आवर्तन है, वर्तनी शब्दों का संस्कारिता पद विन्यास है। इसलिए भाषा की समझ के लिए छात्रों में वर्तनी की सही जानकारी आवश्यक है।

मध्यकाल के कवियों के पास भाव के साथ ध्वनि तरंगे उठाने गिराने की अद्वितीय कला देखी जा सकती हैं। तुलसी, सूर, बिहारी, देव आदि कवियों के यहाँ हम ध्वनि चमत्कार देख सकते है। यथा –

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग।

चलहिं सदा पावहीं सुख नहीं भय सोक न रोग।।[4] (तुलसी )

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं की "शब्दों को ध्वनि योजना द्वारा अर्थ की झंकार देने में तुलसी जैसी निपुणता हिंदी के किसी अन्य कवि के पास नहीं है।"[5] उच्चारण और वर्तनी के लिए पहली दिक्कत यह है कि हमारा संबंध हिन्दी क्षेत्र की जिन बोलिओं से हैं उससे हमारा परिचय कम होता जा रहा है।इस कारण इन बोलियों यानि ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी आदि में रचा गया जो साहित्य है उसका न तो हम ठीक से पाठ कर पा रहे है और ना ही ध्वनियों के सुक्ष्मगत अंतर की पहचान।

इन समस्याओं के समाधान को मध्यकालीन हिंदी काव्य के शिक्षण सम्बन्धी आयाम के द्वारा ही पाया जा सकता है। इसके लिए लिपि चिन्हों, शब्द, पद, वाक्य, वाक्यांश के सन्दर्भ में मध्यकालीन भाषा के शब्दों की वर्तनी और उच्चारण, उनके विशिष्ट रूपों से छात्र को परचित कराया जाना चाहिए । निरंतर छात्रों द्वारा लेखन-भाषण का प्रयास, वर्तनी एवं उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियों का निराकरण, ध्वनियों के अंतर को शिक्षण सहायक सामग्री के द्वारा पहचान का अभ्यास,आदि के द्वारा भी इन समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। ऐसे ही कई और समाधान शिक्षण शास्त्रियों ने भी सुझाये है किन्तु सवाल यह है कि ये समाधान कहाँ तक कारगर हुये है? क्या कुछ और है जो आज के हिंदी शिक्षण में जरुरी है? इन प्रश्नों का उत्तर शोध के द्वारा ही पाये जा सकते है।हमें मध्यकालीन हिंदी काव्य के शिक्षण शास्त्रीय आयाम के लिये ऐसे ही प्रश्नों के आलोक में शोध करने की

[4] रामचरित मानस, तुलसीदास
[5] हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी

आवश्कता हैं। अर्थ ज्ञापन शिक्षण के मुख्य उद्देश्यों में से एक है। किसी भी पाठ को जब शिक्षक पढ़ाता है तो उस पाठ से सम्बंधित जितने संभावित अर्थ होते है उन सब को ध्यान में रख कर मुख्य अर्थ छात्रों को बताता हैं। अर्थगत भेद किसी भी साहित्य की विशेषता हो सकती है किन्तु स्कूली शिक्षा में छात्रों के लिए व्यापक भ्रम पैदा करने वाला होता है।

मध्यकालीन हिंदी काव्य के अर्थ एक ओर भक्ति और रीतिगत प्रवित्तियों के आधार पर तय होते है तो दूसरी ओर समाज, परिवेश, समय, परिस्थितियों के सापेक्ष। इसका कारण है की मध्यकालीन साहित्य अपने आप में एक युग की संस्कृति व इतिहास का समावेश है जो साहित्य के मूल्यों को तय करता है। ये मूल्य ही आज की शिक्षा में विशेष रूप से आहत हो रहे है। मध्यकालीन हिंदी काव्य में जहाँ राम-कृष्ण के धर्म-लोक का चित्रण है वही इस्लामी संस्कृति के प्रभाव से उपजा एकेस्वरवाद। रीतिकवियों के यहाँ भाव के तनिक अभाव में भी साहित्य के वो आयाम मिलते है जो आधुनिक युग के कविताओं में पाए जाते हैं। स्त्री को नए रूप में पहली बार मध्यकालीन साहित्य में स्थान मिलता है तो वही रीतिमुक्त कवियों की कविताओ से ही स्वच्छन्दतावाद की शुरूवात होती है। अखिल भारतीय भक्ति के प्रमुख आयाम मानवता और समन्वय की आधारशिला पे मध्यकालीन हिंदी काव्य रचा गया है। उदहारण के रूप में हम तुलसीदास की ये पंक्तियाँ देख सकते है-

बंदउ गुरु पद पदमु परागा।

सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥[6] (तुलसी )

बहरहाल यह पंक्ति एन.सी.आर.टी. के 6 वीं के पाठ्कर्म में लगी है। इस स्तर के छात्र के लिए तुलसी का दर्शन समझ पाना मुश्किल है। मध्यकलीन हिंदी काव्य को पढ़ते समय छात्र किस कारण स्वयं को इस विषय से जोड़ नही पता है। इन प्रश्नों के जवाब शिक्षण शास्त्रीय आयाम में परिवर्तन कर के ही पाए जा सकते है। निश्चय ही कोई भी व्याख्या अंतिम व्याख्या नहीं होती है, और न हो सकती है, लेकिन जब भी हम किसी रचना पर विचार करते हैं, तो उसके कुछ नये आयाम खोजने का प्रयत्न करते हैं। आज मध्यकालीन कविता में अधिकाधिक संभावनाएँ तथा नये आयाम खोजने के लिये उसके पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है।

शिल्पगत विविधताओं के परिपेक्ष्य में भी हम मध्यकालीन हिंदी काव्य की चर्चा करते है तो हम देखते है कि इस युग के आरम्भिक कवि शास्त्रीय शिक्षण के आभाव में कविता रचते हैं। ऐसे कवियों में कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, रसखान आदि आते है। वही रीति कवि शास्त्रीयता का पालन कर अपनी कविता करते है और शिल्पगत चमत्कार को ही कविता मानते है। ऐसे कवियों में केशव, बिहारी, देव, मतिराम आदि आते है।

जब हम 'शिल्प के अध्ययन' कि चर्चा शिक्षण शास्त्रीय आयाम के संदर्भ में देखते है तो मध्यकालीन काव्य छात्रों के लिए जटिल रूप में पाते है इसीलिए मध्यकालीन काव्य के पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसके पाठ से शिक्षकों और छात्रों का रागात्मक संबंध कैसे बने। मध्यकालीन साहित्य के पाठ की एक विधि है। सोरठा, सवैया, चौपाई, दोहा, कवित्त, कुंडलिया आदि को पढ़ने का एक ढंग है और उसे उसी ढंग से पढ़ना चाहिए।हम देखेगे कि उस पाठ के साथ ही हमारे भीतर उस कविता के प्रति एक रागात्मक भाव पैदा होगा।

[6] रामचरित मानस, तुलसीदास

भये प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी।

महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप निहारी।।[7]

इस तरह हम देख सकते है कि मध्यकालीन हिंदी काव्य के शिक्षण के लिए नए नए शिक्षण शास्त्रीय आयाम तलाशने की आवश्कता है। ताकि छात्र इस काव्य परम्परा से स्वयं को जोड़ सके और मात्र रटने वाले विषय की बजाय भारतीय संस्कृतिक परिपेक्ष्य में अपना सके। पुरानी चली आ रही शिक्षण पद्धति से छात्र अपनी भाषा से दूर होते जा रहे है साथ ही इसे अनुपयोगी मान कर वैश्विक युग में अन्य भाषा को अपना रहे है। आज स्थिति यह है की हिंदी हिंदी-परिवेश में ही द्वितीय भाषा बन के रह गई है। कई अन्य कारण भी है जो इस दिशा में सुधार करने के लिये प्रेरित करते है। आज की आवश्यकताओं के अनुरूप हिंदी के शिक्षण-शास्त्रीय आयाम में नये संभावनाओं की तलाश जरूरी है।

## सहायक पुस्तकें


1. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी,राजपाल पब्लिकेशन,संस्करण1996
2. प्राथमिक स्तर पर हिंदी शिक्षण-उमा मंगल, लुधियाना, टंडन पब्लिकेशन संस्करण 2010
3. रामचरित मानस – गोस्वामी तुलसीदास ,गोरखपुर, गीताप्रेस प्रकाशन 2013
4. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास - डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेविंग पब्लिकेशन हाउस, संस्करण2002
5. भाषा शिक्षण सिध्दातं और प्रविधि- मनोरमा गुप्ता, आगरा, केंद्रीय हिंदी संस्थान, 1985
6. बैस नरेंद्र दत्ता, संजय, डॉ चतुर्वेदी शुभ्रा: अधिगम का मनोसामाजिक आधार व शिक्षण, जैन प्रकाशन मंदिर जयपुर 2004-05



***पीएच.डी. हिन्दी**

**दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

**मो.न. 9318363296**

**जी मेल sangitaji20@gmail.com**


[7] रामचरित मानस, तुलसीदास

आलेख

## नाच न जाने आँगन टेढ़ा

*संदीप तोमर

NCERT की कक्षा 1 की हिंदी की पाठ्यपुस्तक "रिमझिम" में 'आम की टोकरी' कविता को सन 2006 में शामिल किया गया। जिस पर अचानक कुछ आलोचको की निगाह अब 2021 में यानि पूरे 16 साल बाद गयी, आलोचको के साथ-साथ एक फिल्मी कलाकार जो आजकल हिन्दी साहित्य में मिथको के सहारे जमीन तलाशने की कोशिश कर रहे हैं वे भी मैदान में उतर आए, अपने लेख की शुरुआत करने से पहले मैं कविता को हूबहू यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ-

"आम की टोकरी"

भर कर लाई टोकरी।
टोकरी में आम है,
नहीं बताती नाम है।
दिखा दिखाकर टोकरी,
हमें बुलाती छोकरी।
हमको देती आम है,
नहीं बुलाती नाम है।
नाम नहीं है पूछना,
आम हमें है चूसना।

एनसीईआरटी देश की शिक्षा और अनुसंधान की एक बड़ी संस्था है जिसमें पाठ्यचर्या का कार्य देखने के लिए एक अलग विभाग है जिसका काम देश की शिक्षा व्यवस्था के लिए बेहतरीन पाठ्यक्रम तैयार करने का जिम्मा है, स्कूली शिक्षा यानि औपचारिक शिक्षा में पाठ्यक्रम की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सामान्यतः पाठ्यक्रम के दो अर्थ हैं: (i) वे पाठ्यक्रम जिनमें से छात्र अपनी पसंद के विषय चुनते हैं और (ii) एक विशिष्ट शिक्षा कार्यक्रम. बाद वाले मामले में पाठ्यक्रम, अध्ययन के लिए दिए गए कोर्स की शिक्षा, ज्ञान और उपलब्ध मूल्यांकन सामग्री का सामूहिक वर्णन करता है। पाठ्यक्रम निर्माण के लिए ही एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ आया जिसे राष्ट्रीय पाठ्यचर्या-2005 के नाम से जाना जाता है, जिसकी सिफ़ारिशों मे से मुख्य थी- स्कूल के बाहर जीवन से ज्ञान को जोड़ना। इस एक पंक्ति से अगर मैं उपरोक्त कविता के संदर्भ में बातचीत शुरू करता हूँ तो बात ज्यादा आसान होगी।

उपरोक्त कविता की आलोचना करते हुए आलोचक कह रहे हैं- ये किस 'सड़क छाप' कवि की रचना है? कृपया इस पाठ को पाठ्यपुस्तक से बाहर करें। क्या हम अपने बच्चों को साहित्यिक शिक्षा दे रहे हैं या डबल मीनिंग वाली कविता सिखा रहे हैं। यह किसी बॉलीवुड गाने के बोल हैं। कुछ को 'छोकरी' शब्द पर आपत्ति है तो कुछ को 'चूसना' शब्द पर। कुछ आलोचको का तो यहाँ तक कहना है कि यह कविता बाल मजदूरी सिखा रही है।

'छोकरी' शब्द एक स्थानीय शब्द है जो हरियाणा व पश्चिमी उत्तर प्रदेश की आम बोलचाल की भाषा है। कौरवी में

भी ये शब्द खूब इस्तेमाल होता है। 'चूसना' शब्द के अलग-अलग जगह प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ बदल जाता है। कितने ही स्थानो पर दशहरी आम को चूसा ही जाता है तो किन्हीं स्थानो पर आम की अन्य प्रजातियों को यथा- चोसा, सफेदा, लंगड़ा या अन्य को। कुछ स्थानो पर आम खाना प्रयोग करते हैं तो कहीं आम खाया नहीं जाता बल्कि चूसा जाता है। देश के प्रधानमंत्री से एक साक्षात्कार में फिल्म अभिनेता अक्षय कुमार पूछते हैं- "आप आम खाते हैं या चूसते हैं?" अगर आम चूसना अश्लील भाषा होती या द्वि-अर्थी होता तो माननीय प्रधानमंत्री उक्त एंकर को टोकते कि आप राष्ट्रीय चैनल पर द्वि-अर्थी भाषा का प्रयोग न करें। दिल्ली में लोग गन्ना खाना बोलते हैं, लेकिन अंदाजा लगाइए उन्हें कितना अजीब लगता होगा जिन्होने अपने यहाँ 'गन्ना चूसा जाता है', ही सुना है।

उक्त विवाद के संदर्भ में जब मैंने सोशल मीडिया पर खोजबीन शुरू की तो मुझे अर्चना तिवारी का लिखा हुआ कुछ मिला जिसे मैं यहाँ उद्धरत कर रहा हूँ- अर्चना लिखती हैं- "इस कविता को जब मैंने पहली बार पढ़ा तो मस्तिष्क में अपने ननिहाल का एक दृश्य घूम गया जब बाग से आम तोड़कर लाया जाता था तो दालान में ढेर लगा कर रख दिया जाता था। ऐसे में हम बच्चों को खेलने का एक नया खिलवाड़ मिल जाता था। हम छोटी-छोटी डेलरियों (बाँस की टोकरी) में उन्हें रखकर झूठ-मूठ की दुकान लगाते थे। आम तौर पर कृषक परिवार में अनाज आदि तोलने के लिए तराजू और बटखरा होता ही है। हम उसमें तौल-तौल कर ग्राहक बने बच्चों को देते थे। पैसे के रूप में टूटे घड़े की चिप्पियाँ प्रयोग करते थे। यह हमारा सबसे पसंदीदा खेल होता था। कभी-कभी तो बड़े भी इसमें शामिल हो जाते थे और सचमुच का पैसा मिल जाता था। न सिर्फ आम बल्कि कोइया (महुआ का फल), अनाज आदि के ढेर के साथ भी ऐसा ही खेल चलता।

वे आगे कहती हैं- 'छोकरी' शब्द देशज भाषा का शब्द है। इस शब्द का प्रयोग न जाने कितने लेखकों ने अपनी रचनाओं में किया होगा। जिनमें से कई तो हिंदी साहित्य की अद्वितीय रचनाएँ होंगी। आपके अनुसार उनको भी साहित्य से बहिष्कृत किया जाना चाहिए।

हिंदी में अनेकार्थी शब्द होते हैं जिसमें एक शब्द के कई अर्थ निकलते हैं। ऐसे ही शब्दों के अलंकरण से भाषा चमत्कृत होती है। एक शब्द के दो अर्थ होना गलत है तो साहित्य से 'अलंकार' भी खारिज करने की अपील कीजिए क्योंकि वहाँ एक शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। आपको तो द्विअर्थी ही नागवार लग रहा है।

इस कविता की किसी भी पंक्ति से यह नहीं ज्ञात होता कि छह साल की छोकरी आम बेच रही है। किंतु यह अवश्य लगता है कि कोई छोटी सी बच्ची टोकरी में आम भरकर उसके आस-पास जो भी है उनको अपनी भोली अदाओं को दिखाते हुए खेल रही है। आपको इसमें बाल मजदूरी दिख गई। तो साहब इस आपदा में न जाने कितने बच्चे ठेले पर सब्जी बेचते शायद आपको नज़र आए भी होंगे। तो साहब उन बच्चों के लिए भी कुछ कीजिए। छह साल की छोकरी तो केवल कविता में है। हकीकत में जो छोकरियाँ घर-घर काम कर रही हैं उनके लिए भी कुछ कीजिए साहब। हाँ इतना अवश्य है कि ट्विटर पर कविता की छोकरी के लिए आपत्ति जताकर दो पंक्तियाँ लिख देने से रातों रात आप चर्चित हो गए किंतु हकीकत में किसी छह साल की छोकरी के भविष्य के लिए कुछ करेंगे तो आपको कौन जानेगा?

सोशल मीडिया पर ही शिखा वसु वैरागी लिखती हैं- "मैं देख रही हूं कि एनसीईआरटी की कक्षा 1 की हिंदी की पाठ्यपुस्तक रिमझिम में यह 'आम की टोकरी' कविता पर सोशल मीडिया में बड़ा विवाद हो रहा है। बहुतायत

लोग कह रहे हैं कि ऐसी कविता नहीं होनी चाहिए पाठ्य पुस्तकों में और कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें यह कविता सामान्य कविता की तरह ही लग रही है।

मैंने भी अभी कुछ महीने पहले एनसीईआरटी कक्षा एक की तीनों पाठ्य पुस्तकों की ट्रेनिंग ली थी। उस समय यह कविता भी आंखों के सामने से गुजरी थी.. लेकिन सच कहूं तब ऐसा भाव आया ही नहीं था कविता को पढ़कर कि यह स्त्री विरोधी, बाल श्रम को बढ़ावा देने वाली और अश्लील कविता है।

प्रथम दृष्टया हम व्यस्क लोगों को यह कविता बेढंगी जरूर लगती है। लेकिन यदि 6 साल के छोटे बच्चे के मानसिक स्तर पर जाकर सोचेंगे तो कविता मस्ती वाली लगेगी। और छोटे बच्चों के लिए लिखी इस कविता को यदि परिपक्व व्यस्क की नजर से देखेंगे तो कविता अश्लील लगेगी। क्योंकि खुराफात और कुतर्क हमारे मन-मस्तिष्क में भरा है। समस्या यह है कि हमने ही भाषा के सामान्य बोलचाल के शब्दों को भी अश्लीलता से जोड़ रखा है। इसलिए हमें इस कविता के कुछ शब्दों में भी अश्लीलता नजर आ रही है। जबकि एक बालमन में झाकेंगें तो 'अश्लीलता' शब्द उस बालमन से कोसों दूर होगा।

इतने छोटे बच्चे तो शायद वहां तक सोच ही ना पाएं.. जहां तक हम आप अपनी सोच को ले जा पा रहे हैं। तमाम क्षेत्रीय भाषाओं में लड़का-लड़की, छोकरा-छोकरी, मोढ़ा- मोढ़ी, लाइका-लाइकी, बबुआ-बबुनी आदि शब्द प्रयोग किए जाते हैं। हो सकता है अलग-अलग क्षेत्रों के शब्द दूसरे क्षेत्रों में अटपटे लगते हों लेकिन वहां के लिए तो वह शब्द सामान्य बोलचाल की भाषा के ही होंगे। चूंकि इस कविता के कवि उत्तराखंड के हैं। संभवतः उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग कविता को रुचिकर, तुकबंदी तथा बच्चों को समझाने और कविता से जुड़ाव के लिए ही किया होगा। मुझे भी कविता पढ़कर ऐसा ही लगा।

एक 6 साल के बच्चे के नजरिए से यह कविता कैसी है.. यह जानने के लिए मैंने अभी अपने 7 साल के बेटे 'वसु' को यह कविता दो-तीन बार पढ़वाई और फिर पूछा कि तुम्हें यह कविता पढ़कर क्या समझ आया..!! उसका जवाब भी एकदम बच्चों वाला ही रहा। उसने बोला कि, इसमें एक लड़की है जो टोकरी में आम बेच रही है। तो इस तरह देखा मैंने कि बाल मनोविज्ञान भी बस 'आम' मतलब फल पर ही केन्द्रित हुआ। टोकरी में फल बेचने का अभिनय हमने भी अपने बचपन में बहुत किया होगा और अभी भी बच्चे फल या सब्जियां बेचने का अभिनय अपने घर पर या विद्यालय में करते हैं। इसका ये मतलब तो नहीं हुआ कि हम बालश्रम को बढ़ावा दे रहें।

अंत में एक बात और.. इस कविता के नीचे शिक्षकों के लिए एक फुट नोट भी लिखा हुआ है। इसमें लिखा है कि.. बच्चों से बात करें और पूछे कि क्या वह किसी ऐसे बच्चे को जानते हैं जो स्कूल जाने के बजाय बाल मजदूरी कर रहे हैं। अगर हां तो उन्हें बताएं कि वह कैसे इन बच्चों की मदद कर उन्हें स्कूल में दाखिला लेने को प्रेरित कर सकते हैं। अगर इस फुटनोट को देखा जाए और समझा जाए तो मुझे नहीं लगता कि यह कविता कहीं से भी बाल श्रम को बढ़ावा देने वाली है। जैसा लोग बोल रहे हैं।
किसी भी रचना को पाठ्यक्रम में शामिल करने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। "आम की टोकरी" को पाठ्यक्रम में रखने के पीछे समिति की क्या मंशा रही होगी इस बात से मैं अनभिज्ञ अवश्य हूँ लेकिन प्राथमिक, माध्यमिक और बी.एड के छात्रो को पढ़ते समय ये अवश्य जाना कि भाषा सिखाना भी पाठ्यक्रम का एक अहम हिस्सा होता है, हम बच्चो के शब्द ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि करते जाते हैं, मनोवैज्ञानिक स्तर पर विचार करें तो भी प्रथम कक्षा के

स्तर पर भारी भरकम शब्दों या कलिस्ट भाषा के शब्दों वाली रचना तो इस स्तर के बच्चो के पाठ्यक्रम में कतई नहीं रखी जाएगी।

मुझे लगता है कि आलोचकों से इस पूरे विमर्श में एक बड़ी त्रुटि हुई है- आलोचना कविता मे प्रयुक्त शब्दों या उन्हें द्वि-अर्थी साबित न करके इस बात पर होनी चाहिए थी कि क्षेत्र विशेष में बोले जाने वाले शब्दों से ओतप्रोत रचना को क्या "राष्ट्रीय पाठ्यक्रम" में रखा जाना चाहिए, तब आलोचना का महत्व समझ में आता लेकिन यहाँ बात इसके चयन पर न होकर शब्दों पर सिमट गयी।

गौर करें नयी शिक्षा नीति-1986 में क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा देने की वकालत ज़ोर-शोर से की गयी थी, उसमें पाँचवीं कक्षा तक की शिक्षा में मातृभाषा/स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने पर बल दिया गया है। साथ ही मातृभाषा को कक्षा-8 और आगे की शिक्षा के लिये प्राथमिकता देने का सुझाव दिया गया है। 'नवोदय विद्यालय' की संकल्पना में भी इसकी पुरजोर वकालत कि गयी थी कि हिन्दी क्षेत्र के छात्र कुछ समय अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में जाकर पढ़ाई करेंगे और अहिन्दी भाषी छात्र हिन्दी भाषी क्षेत्र में जाकर, जिसके पीछे क्षेत्रीय भाषाओ का ज्ञान देना प्रमुख था। वर्तमान सरकार का एक प्रोजेक्ट है- "'एक भारत श्रेष्ठ भारत' जिसके अंतर्गत अनेक कार्यक्रम स्कूल स्तर पर चलाये जा रहे हैं- "सिक्किम प्रोजेक्ट" उसमें से एक है जिसका उद्देश्य भी यही है कि हम अलग-अलग जगहों की भाषा और संस्कृति को आत्मसात करें। "एक भारत श्रेष्ठ भारत" परियोजना का उद्देश्य यह है कि इस परियोजना / गतिविधि में, छात्र अपने आम फोनेटिक और वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित वर्णमाला और लिपियों, उनके आम व्याकरण संरचनाओं, उनके मूल और संस्कृत और अन्य शास्त्रीय भाषाओं से शब्दावली के स्रोतों के साथ शुरू, साथ ही उनके समृद्ध अंतर-प्रभाव और मतभेदों के साथ शुरू होने वाली अधिकांश प्रमुख भारतीय भाषाओं की उल्लेखनीय एकता के बारे में जानेंगे।

मेरी बात को मैं और पुख्ता तरीके से कहूँ उसके लिए मैं कुछ विद्वान साथियों की राय साझा कर रहा हूँ-

डॉ. अमीता नीरव का कहना है- "यहाँ कवि के शब्द चयन पर आपत्ति नहीं है कविता के चयन पर आपत्ति है। लीना दरियाल जी का भी कहना है- "कविता पर आपत्ति न होकर एनसीईआरटी के इसके चयन पर आपत्ति है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक चिंतक मित्र हरिकृष्ण कविता को सामान्य मानते हैं लेकिन उनका कहना है-"प्रश्न भाषा में आपत्ति या द्विअर्थ ढूँढने का नही है। प्रश्न यहाँ भाषा का है। एक बच्चे को क्या इसी भाषा से शुरुआत कराई जाएगी? गंभीरता से सोच कर देखें"

यतीन्द्र नाथ सिंह कहते हैं –"जिन्हें छोकरी शब्द में एतराज है वे कृष्ण से सम्बंधित रचना देखे- ताही अहीर की छोकरियां, छछिया भरी छाछ पे नाच नचावे"
भारत सैनी का मानना है-"इस पर आपत्ति जताने वाले वे लोग हैं जिन्होंने सिर्फ़ आइटम सॉन्ग्स में ही छौकरी शब्द सुना हैं।" यानि वे लोगो के शब्द ज्ञान पर सवालिया नजरिया रखते हैं, बात सही भी है- हमने शब्दों को जिन अर्थो मे देखा-सुना है, हम उन दायरों से बाहर निकलना ही नहीं चाहते।

जाने-माने एक्टिविस्ट मुकेश असीम का मानना है- "यह भी एक संस्कृत निष्ठ ब्राह्मणी भाषा वाला पूर्वाग्रह है जो

वास्तविक जनभाषा से आये शब्दों को हेय मानता है और कृत्रिमता का शिकार बनाकर हिन्दी का कचूमर निकालकर उसे बेजान बनाने पर बजिद है पिछले डेढ सौ साल से"

इस विषय पर जाने-माने साहित्यकार ओमप्रकाश कश्यप का कहना है –"बात बच्चों की हो तो लोग कुछ ज्यादा ही शुद्धतावादी हो जाते हैं. लम्बे समय तक पत्रकारिता कर चुके एक 'शुक्लजी' को चूसना, छोकरी जैसे शब्दों पर आपत्ति लगी. वे जिस इलाके के हैं वहाँ छोकरी भी बोला जाता है और छोरी भी। आम खूब होते हैं, इसलिए उसे चूसा भी जाता है। इस कविता में खिलंदड़ापन है। आम बांटने निकली बच्ची की उदारता की झलक भी है, साथ में इतनी समझदारी भी नाम से पुकारने के बजाए प्यार से आमंत्रित करती है। बच्चे भी नाम जानने की चिंता छोड़कर आम खाने पर ध्यान देते हैं. इस तरह एक सब और सब एक बन जाते हैं। कुछ लोग इसे बालश्रम को बढ़ाने वाली कविता बता देते हैं, बिना यह सोचे कि बच्ची आम बेचने नहीं, बांटने निकली है। कुछ का कहना है कि छह साल की छोकरी, भरी हुई टोकरी कैसे उठा सकती है। उन्हें कैसे समझाया जाए कि कविता में बिंब महत्वपूर्ण होते हैं"

केंदीय विद्यालय में कार्यरत शिक्षिका स्वाति सिंह का मत कुछ इस प्रकार है-" यह कविता तो खुद अपने अंतर्निहित शिक्षा के उद्देश्य को भी प्राप्त नहीं करती। पहला प्रश्न देखें,यह बाल मजदूरी उन्मूलन के उद्देश्य से है परंतु इस कविता में पंक्ति "नहीं बताती दाम है", यह बच्चों को व्यवहारवाद से भी दूर रखता है। अगली पंक्ति में "नहीं बुलाती नाम है", कोई औचित्य ही नहीं इसका क्योंकि कोई भी बेचने वाला /वाली किसी का नाम ले कर नहीं बेचते। भाषा तो जन मान्यता की चीज है, कहीं मान्य है और कहीं आपत्तिजनक हो सकती है। परंतु एनसीईआरटी द्वारा इसका चुनाव NCF - 2005 मानदंडों की बखूबी खिल्ली उड़ाता है। इसका शिक्षण अधिगम उद्देश्य ही कुछ नहीं है"

अक्षर ज्ञान अभियान के संस्थापक सदस्य और शिक्षक मनोज कुमार कहते हैं-"यह भी तो देखा जाए कि किस उम्र के लिए यह कविता लिखी गयी है। उस उम्र के बच्चे इसे बड़े ही चाव से याद भी करते है। अपने परिवेश से जुड़े होने से व आम बोलचाल होने के कारण यह कविता बच्चो को भा जाती है"

लेखिका नीता टंडन अपनी राय रखती है-"इसमें छोकरी शब्द में कोई अश्लीलता नहीं है, कुछ स्थानों पर घरों में भी लड़की को छोकरी कहा जाता है। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण इलाक़ों में और कहीं कहीं राजस्थान में भी। कविता सहज व सरल है। इस शब्द पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए"

कवि व शायर ए एस खान अली इस विषय पर कहते हैं- "उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्से में छोकरी शब्द का प्रयोग आम चलन में है, यह छोटी बच्चियों के लिए ज्यादा प्रयोग होता है और आमतौर पर वहां जिस बच्चे का नाम न पता हो तो चलते फिरते भी कह देते हैं, छोकरी कहाँ जा रही है? यह कोई आपत्तिजनक शब्द नहीं है? धौलपुर के कई गांवों में लड़का-लड़की को मोड़ा-मोड़ी शब्द से संबोधित किया जाता है वहां की प्रादेशिक भाषा है"

आलोक रंजन जी कविता की तुकबंदी से परेशान हैं, उनके मतानुसार कविता में कोई लॉजिकल स्टोरी नहीं उभर कर आ रही। बस ज़बरदस्ती की तुकबंदी है। उनका कहना है कि बच्ची के लिए अगर लिखा गया है तो और भी सरल और मज़ेदार लिखा जाना चाहिए था। उन्हें अंतिम दो पैराग्राफ में तर्कशीलता और निरंतरता नहीं लगी। लड़की किसका नाम नहीं बुला रही है? आम चूसने वाले को किसका नाम नहीं पूछना है? ये स्पष्ट नहीं है।

कवयित्री अपराजिता गजल कहती हैं- ''''एक प्रान्त में जो शब्द बेहद सामान्य है, वही शब्द दूसरे प्रान्त में उपहास या अपमान का प्रतीक भी हो सकता है। ऐसे किसी शब्द को देश भर की हिंदी में सामान्य रूप से स्वीकारा ही नहीं जाएगा, तो शामिल करने की कोशिश करना ही गलत है''

उनका ये भी कहना है-'' हम ये भी देखें कि ये 'हिंदी' भाषा के पाठ्यक्रम में शामिल है, किसी स्थानीय भाषा के पाठ्यक्रम में नहीं। ऐसे स्थानीय शब्द, जिनका अलग-अलग प्रान्त में अलग-अलग भाव के लिए प्रयोग हो, उन्हें छोटे बच्चों के 'राष्ट्रीय भाषा' के पाठ्यक्रम में शामिल करने का कोई औचित्य नहीं दिखता''

इस पूरे विमर्श में ये बात साफ तौर पर स्पष्ट है कि स्थानीय शब्दों से परिचित करनी के उद्देश्य से इस कविता को पाठ्यक्रम में रखा गया जो कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का एक उद्देश्य भी है। इस विरोध से इतना अवश्य हुआ कि ट्विटर पीआर एनसीईआरटी बेस्ट ट्रेंड पर आ गया।

एक बात और आवश्यक है कि यदि शब्दो के प्रयोग पर यूं कविताओं को खारिज किया जाएगा तो लड़की की काठी... कविता को पर्यावरण विरोधी करार देना होगा। रामधारी सिंह दिनकर की कविता ''चाँद एक दिन'' का एक अंश देखिये-
कभी एक अँगुल भर चौड़ा, कभी एक फ़ुट मोटा,
बड़ा किसी दिन हो जाता है, और किसी दिन छोटा
घटता-बढ़ता रोज़, किसी दिन ऐसा भी करता है
नहीं किसी की भी आँखों को दिखलाई पड़ता है

अगर अश्लीलता खोजनी है तो ये पंक्तियाँ भी आपको अश्लील लगेंगी। छोकरी (छोरी) शब्द पर आपत्ति है तो महाश्वेता देवी की प्रसिद्ध कहानी- ''क्यूँ, क्यूँ छोरी'' पर भी आपको सवाल करने होंगे, वहाँ भी कहानी की मुखी पात्र को काम करते दिखाया गया है, साँप को काटने-खाने के प्रसंग पर मेनका गांधी को आगे आना होगा, जो जीव-जंतुओं की चिंता करती है, क्योंकि ऐसे प्रसंग साँप के शिकार को बढ़ावा देने वाले भी प्रतीत होंगे। कालीदास के ''रघुवंशम'' और अभिज्ञान शाकुंतलम'' में नारी- सौंदर्य के नाम पर परोसी गयी अश्लीलता पर भी आलोचको को अपना मुँह चाहिए।

कहने का तात्पर्य ये है कि अगर यूं ही व्याख्याएँ, आलोचनाएँ होती रही तो कविता लेखन पर पूर्ण रूप से प्रतिबंध लगाया जाना उचित होगा, किनकि कवि कभी व्यंजना में बात कहेगा तो कभी उपमाँ देगा, तब तरह-तरह के बवाल होने लाजिमी होंगे। यूं तो किसी भी चीज को देखने-समझने का सबका अपना नजरिया, सबकी अपनी सोच है। बात जब निकली ही है तो अनेक ख्याति कवियों की रचनाओं को पुनः पुनः देखिये, बहुत कुछ मिलेगा जो आपत्तिजनक है। चलते-चलते महादेवी वर्मा जी की कविता-
आओ प्यारे तारों आओ
तुम्हें झुलाऊंगी झूले में...
अब बताइये साहब कितना अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है, तारों को कोई कैसे झूले में झुला सकता है?

**परिचय**

संदीप तोमर

जन्म: ७ जून १९९७५ (गंगधाडी, जिला मुज़फ्फरनगर उत्तर प्रदेश)

शिक्षा: एम्.एस सी(गणित) एम् ए (समाजशास्त्रव भूगोल) एम् फिल (शिक्षाशास्त्र)

लेखन की विधाएँ: कविता, कहानी, लघु कथा, आलोचना

सम्प्रति: अध्यापन

**प्रकाशित पुस्तकें:**

सच के आस पास (कविता संग्रह 2003)

टुकड़ा टुकड़ा परछाई (कहानी संग्रह 2005)

शिक्षा और समाज (आलेखों का संग्रह 2010)

महक अभी बाकी है (संपादन, कविता संकलन)

थ्री गर्लफ्रेंड्स (उपन्यास 2017)

एक अपाहिज की डायरी (आत्मकथा 2018)

यंगर्स लव (कहानी संग्रह 2019)

समय पर दस्तक (लघुकथा संग्रह 2020)

एस फ़ॉर सिद्धि (उपन्यास 2021, डायमण्ड बुक्स)

कुछ आँसू, कुछ मुस्कानें (यात्रा- अन्तर्यात्रा की स्मृतियों का अनुपम शब्दांकन, प्रेस में)

# प्रारंभ, मुक्ति, प्रिय मित्र, अनवरत अविराम, इत्यादि साझा संकलन में बतौर कवि सम्मलित # सृजन व नई जंग त्रैमासिक पत्रिकाओं में बतौर सह-संपादक सहयोग, "हम सब साथ साथ" (मारून) में स्त्री-शक्ति विशेषांक का विशेष **संपादन**

# दैनिक जागरण, दैनिक हिंदुस्तान, विभोम स्वर, अविराम साहित्यिकी, गगनांचल, विश्वगाथा, कथाक्रम, साहित्यिक स्पंदन, लघुकथा कलश, प्राची, पाखी, रचना उत्सव, अनुगुंजन, कांति, सदाकांक्षा, स्रवन्ति, हिन्दी साहित्य, परिंदे, पलाश, निकट, नवल, शुभ तारिका, साहित्य विमर्श, सत्य की मशाल, चिकिर्षा, दृष्टि संरचना, आधुनिक साहित्य इत्यादि पत्र पत्रिकाओं मे लगातार लेखन।

**पता: D 2/1 जीवन पार्क, उत्तमनगर, नई दिल्ली - 110059**

**मोबाइल नं: 8377875009**

**ईमेल : gangdhari.sandy@gmail.com**

# पितृसत्ता: अर्थ, उत्पत्ति एवं व्यापकता

*पूजा मिश्रा

**सारांश:**

*प्रस्तुत आलेख द्वारा वैश्विक स्तर पर स्त्री की दोयम स्थिति के आधारभूत और महत्वपूर्ण कारक के रूप में पितृसत्ता को परिभाषित किया गया है। पितृसत्ता को मूलरूप से समझने के लिए इसके उत्पत्ति संबंधित मतों पर ध्यान देना आवश्यक है अतः पितृसत्ता को सार्वभौमिक और सार्वकालिक घोषित करने वाले विभिन्न मतों के साथ ही मानवविज्ञानी, सैली स्लोकम, इतिहासकार गर्डा लर्नर तथा मार्क्सवादी फ्रेडरिक एंगल्स इत्यादि द्वारा इन मतों का खंडन करने वाले तर्क भी प्रस्तुत किए गए हैं जिससे यह सत्यापित हो सके कि पितृसत्ता, सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं है। पितृसत्ता की व्यापकता का अनुभव विश्व की लगभग प्रत्येक संस्कृति और समाज में किया जा सकता है परंतु यदि सम्मिलित प्रयास किए जाएं तो निश्चय ही पितृसत्ता और मातृसत्ता से परे एक समतामूलक समाज की स्थापना की जा सकती है।*

**बीज शब्द:**

*पितृसत्ता, मातृसत्ता, स्त्रीविमर्श, सामाजिक संरचना, शिकारी पुरुष, आदिम समाज*

## भूमिका:

पितृसत्ता अंग्रेजी के शब्द 'पैट्रिआर्की' का हिंदी अनुवाद है तथा 'पैटर' और 'आर्के' शब्दों से मिल कर बना है अर्थात 'पिता का शासन'। पितृसत्ता एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें परिवार की संपूर्ण बागडोर घर के वृद्ध अथवा प्रभावशाली पुरुष के हाथ में होती है। परिवार में वंश पिता के पूर्वजों के अनुसार चलता है। ऐसी पारिवारिक व्यवस्था में सत्ता का हस्तानांतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक पुरुष से दूसरे पुरुष के हाथों होता रहता है। भारत ही नहीं वरन विश्व के अधिकांश भागों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही अनुसरण किया जाता है। स्त्रीवादी विशेषज्ञों ने स्त्री की सामाजिक दोयम स्थिति का मूलभूत कारण पितृसत्ता को ही घोषित किया है। केट मिलेट ने अपनी पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' में स्त्री के ऊपर पुरुष वर्चस्व की स्थिति के लिए 'पितृसत्ता' शब्द का प्रयोग किया था। विभिन्न स्त्रीवादी विद्वानों द्वारा पितृसत्ता व्यवस्था की व्याख्या की गई है। प्रसिद्ध समाज शास्त्री सिल्विया वाल्बे के अनुसार "पितृसत्ता सामाजिक संरचना की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें पुरुष महिला पर अपना प्रभुत्व जमाता है, उसका दमन करता है और शोषण करता है।"[1] स्त्रीविमर्श के विभिन्न संप्रदायों में से एक 'उग्र स्त्रीवाद' पितृसत्ता की जिस प्रकार से व्याख्या करता है , वह अनेक स्त्रीवादी विद्वानों को संतुष्ट नही करती है। 'उग्र स्त्रीवाद' स्त्रियों की प्रजनन क्षमता को उसकी अधीनता के मुख्य कारकों में गिनता है। 'उग्र स्त्रीवाद' यह मानता है कि यदि स्त्री प्रजनन की अनिवार्यता को हटा दिया जाए तो पुरुषों पर निर्भर रहने की उनकी विवशता स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। शुल्मिथ फायरस्टोन अपनी पुस्तक 'द डायलेक्टिक ऑफ़ सेक्स' द्वारा इसी विचारधारा का समर्थन करती हैं परंतु अन्य स्त्रीवादी विद्वान मानते हैं कि हमारा समाज जाति, जेंडर, नस्ल, वर्ग और धर्म इत्यादि के आधार पर बंटा हुआ है अतः पितृसत्ता के अनुभव प्रत्येक स्त्री के लिए एक से ही नहीं हैं। उदाहरंणस्वरूप देखा जा सकता है कि निम्न जातियों की स्त्री का शोषण मात्र पितृसत्ता ही नहीं वरन जाति व्यवस्था द्वारा भी किया जाता है। वह पुरुषों

[1] फरहत खान एवं डॉ. अरुणा सेठी द्वारा लिखित आलेख, भारत में लिंग असमानता, Indian Streams Research Journal

की अधीनता के साथ ही उच्च वर्ग की स्त्रियों द्वारा भी शोषण का शिकार होती है। इसी प्रकार निम्न जाति के पुरुष भी उच्च जाति की स्त्रियों द्वारा शोषित होते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य स्त्रीवादियों ने उग्र स्त्रीवादियों के पितृसत्ता संबंधी विचारों पर अपना मत रखते हुए कहा कि सामाजिक संरचना एक जटिल संरचना है और इसका विभाजन मात्र स्त्री और पुरुष को दो भिन्न खेमों में रख कर नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार 'बैरेट' और 'शीला रोबोथम' जैसे स्त्रीवादी विद्वान पितृसत्ता की अवधारणा को अनुपयोगी करार देते हैं। इस संदर्भ में सिल्विया वाल्बी कहती हैं कि, "इस सिद्धांत को अनुपयोगी मानने की अपेक्षा इसे एक संकल्पना और सिद्धांत के रूप में इस तरह से विकसित किया जा सकता है कि स्त्री अधीनता की देश, काल, जाति, नस्ल, वर्ग तथा धर्म इत्यादि पर आधारित भिन्नताएं नजरअंदाज ना होने पाएं।"[2]

इसप्रकार पितृसत्ता को लेकर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं परंतु ध्यान देने वाली बात यह है कि पितृसत्ता एक व्यवस्था है, पितृसत्ता एक मानसिकता है। यह जरुरी नहीं है कि सभी पुरुष पितृसत्तात्मक मानसिकता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुत सारी स्त्रियाँ भी पुरुषवादी सोच का प्रतिनिधित्व करती हैं। पितृसत्ता, सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण अंग कैसे बनी या पितृसत्ता कब से विद्यमान है इस संबंध में विभिन्न मत हैं। पितृसत्ता के पक्षधर इसे मानव सभ्यता का एक स्वाभाविक अंग मानते हुए इसे सार्वभौमिक और सार्वकालिक घोषित करते हैं परंतु इस संबंध में हुए गहन शोध के उपरांत विभिन्न इतिहासकारों, स्त्रीवादी विद्वानों तथा मानव विज्ञानियों इत्यादि द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि पितृसत्ता , मानव सभ्यता के विकास का एक स्वाभाविक अंग न होने के साथ ही सार्वभौमिक और सार्वकालिक भी नहीं है। "समाज और संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया में महिलाएं सदैव ही केंद्रीय भूमिका में रही हैं न कि हाशिए पर।"[3]

पितृसत्ता उत्पत्ति संबंधी मत:

पितृसत्ता की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता के संबंध में धार्मिक तर्क दिए जाते हैं जिनके अनुसार संपूर्ण विश्व का निर्माण ईश्वर द्वारा किया गया है और ईश्वर द्वारा ही स्त्री और पुरुष के लिए अलग- अलग भूमिकाओं का निर्धारण किया गया है। स्त्री का जन्म घर सँभालने और बच्चों की देखभाल करने के लिए ही हुआ है। आज भी इन धार्मिक तर्कों पर विश्वास रखने वाले परिवार का वंश आगे बढ़ाने के लिए पुत्र जन्म अनिवार्य मानते हैं। पुत्रवधुओं को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया जाता है। पितृसत्ता के पक्षधरों द्वारा पितृसत्ता की सार्वभौमिकता के लिए 'शिकारी पुरुष' का तर्क दिया जाता है। मानव विज्ञानी शेरवुड वाशबर्न और सी. लैंकैस्टर ने पितृसत्ता के संबंध में डार्विन के उद्विकास सिद्धांत( थ्योरी ऑफ़ इवोल्यूशन) के आधार पर 'शिकारी पुरुष' का तर्क प्रस्तुत किया। यह तर्क डार्विन की कृतियों 'ओरिजिन ऑफ़ स्पेशीज' और 'द डिस्टेंट ऑफ़ मैन' में उद्धृत मानव विकास की लंबी शृंखला पर आधारित है। इस अवधारणा के अनुसार आदिम समाज में पुरुष शिकार पर जाया करते थे और स्त्रियाँ घर पर बच्चों की देखभाल करती थीं तथा भोजन की व्यवस्था करती थीं। 'शिकारी पुरुष' का तर्क पुरुष को स्त्री के आश्रयदाता के रूप में स्वीकार करता है। मानव विज्ञानी सैली स्लोकम 'शिकारी पुरुष' की अवधारणा को मानवशास्त्रियों की पुरुषवादी दृष्टि की उपज बताती हैं।[4] वह शिकारी पुरुष की अपेक्षा स्त्री और पुरुष दोनों को ही

[2] विजय झा द्वारा लिखित आलेख, पितृसत्ता: विमर्श के भीतर, कथादेश, मार्च 2019, पृ. सं.- 64

[3] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, भूमिका

[4] सैली स्लोकम का आलेख, आहार संग्रहकर्ता की भूमिका में स्त्री: मानवशास्त्र की पुरुषवादी दृष्टि, अनुवाद- रंजना श्रीवास्तव, कथादेश, मार्च 2019, पृ. सं.- 13

आहारसंग्रहकर्ता की भूमिका में देखती हैं। स्लोकम मानती हैं कि यदि पुरुष शिकार पर जाते थे तो इस समय को स्त्रियों ने बच्चों के पालन-पोषण के साथ ही कुछ रचनात्मक गतिविधियों में लगाया होगा यथा कंदमूल एकत्र करना और आरंभिक काल की कृषि की ओर अग्रसर होना। इतिहासकार गर्डा लर्नर भी मानती हैं कि आदिम समाज, भोजन के लिए पुरुषों द्वारा जुटाए गए बड़े शिकारों की अपेक्षा स्त्रियों द्वारा जुटाए गए छोटे शिकारों तथा कंदमूल पर अधिक निर्भर था।[5] इस प्रकार के तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि शिकार संग्रह अवस्था में भले ही स्त्री और पुरुष के बीच श्रम विभाजन रहा हो परंतु आदिम समाज में पुरुष, स्त्री के आश्रयदाता की अपेक्षा उसके पूरक के रूप में देखे जाते थे। भारतीय इतिहासकार उमा चक्रवर्ती ने मध्य भारत की भीमबेटका की गुफाओं के भित्तिचित्र का उदाहरण दिया है। इन भित्तिचित्रों में स्त्रियाँ एक साथ विभिन्न भूमिकाओं में नजर आती हैं। स्त्रियों के हाथ में फल- फूल बटोरने की टोकरी के साथ मछली पकड़ने का जाल भी नजर आता है। इन भित्तिचित्रों से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ माँ होने के साथ ही आहार संग्रहकर्ता की भूमिका भी निभाती थीं।[6] पितृसत्ता के पक्षधरों में नाम जीव- विज्ञानी ई. ओ. विल्सन का भी आता है। विल्सन, स्त्री और पुरुष के बीच की असमानता को उचित ठहराने के लिए डार्विन के प्राकृतिक चयन के सिद्धांत का सहारा लेते हैं। विल्सन का मत है कि जिस समूह में मादाएं बच्चों को पालने पोसने का काम करती हैं और नर भोजन जुटाने का काम करते हैं वह समूह विकास की राह पर आगे निकल आता है।[7] इतिहासकार गर्डा लर्नर, विल्सन के इस मत का खंडन करती हैं कि आज के आधुनिक समाज में जहाँ बच्चों का पालन- पोषण मात्र माँ पर ही निर्भर नहीं करता है तथा जहाँ स्त्रियाँ भी बाहर जाकर आत्मनिर्भर बन रही हैं वहां इस तरह की धारणा निर्मूल हो जाती हैं। लर्नर, प्राचीन और आधुनिक समाज दोनों में ही ऐसे कबीलों का उदाहरण देती हैं जहाँ शिशु के पालन- पोषण का दायित्व कबीले के वृद्ध पुरुष, युवक अथवा अपेक्षाकृत बड़े बच्चे निभाते हैं। नारीवादी आलोचकों द्वारा भी विल्सन के इस मत को अप्रमाणिक एवं अवैज्ञानिक घोषित किया गया है। पितृसत्ता की उत्पत्ति उसकी सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता को लेकर उसे सामाजिक व्यवस्था का एक स्वाभाविक अंग घोषित करने वाले विद्वानों की स्त्रीवादी विद्वानों द्वारा कड़ी आलोचना की गई है। गर्डा लर्नर ने अपनी पुस्तक 'क्रिएशन ऑफ़ पैट्रीआर्की' में लिखती हैं कि, "पितृसत्ता की स्थापना को मात्र किसी एक घटना से जोड़ कर नहीं देखा जाना चाहिए। बल्कि इसे एक प्रक्रिया की भांति समझा जा सकता है जिसे बनने में लगभग 2500 वर्ष( 3100 से 600 ईसा पूर्व) लगे हैं।"[8] गर्डा लर्नर से पूर्व यह मत फ्रेडरिक एंगल्स द्वारा भी दिया जा चुका है कि पितृसत्ता का निर्माण एतिहासिक घटनाक्रमों में कुछ निश्चित कारणों से हुआ है। फ्रेडरिक एंगल्स ने 1884 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्यों की उत्पत्ति' में स्त्री पराधीनता के मुख्य कारकों के संबंध में विस्तार से चर्चा की है। एंगल्स ने अपनी इस पुस्तक द्वारा परिवार के इतिहास को समझाने के लिए 1861 में प्रकाशित बखोफेन की पुस्तक 'मदर राईट' तथा 1870 में प्रकाशित हेनरी मार्गन की पुस्तक 'प्राचीन समाज' की सहायता ली है। पितृसत्ता पारिवारिक संरचना से जुड़ा हुआ शब्द है अतः पितृसत्ता की व्याख्या के लिए एंगल्स आदिम समाज में पारिवारिक संरचना की व्याख्या करते हैं। एंगल्स के अनुसार 1861 में बखोफेन की पुस्तक के प्रकाशन के बाद से परिवार के इतिहास का अध्ययन आरंभ हुआ। बखोफेन की पुस्तक मूलरूप से जर्मन में 'Das Mutterrecht' के नाम से लिखी गई थी जिसमें 'मातृ अधिकार' नाम से एक अध्याय है। यह पुस्तक आदिम

[5] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 22
[6] विजय झा द्वारा लिखित आलेख, पितृसत्ता: विमर्श के भीतर, कथादेश, मार्च 2019, पृ. सं.- 66
[7] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 19
[8] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, भूमिका

सामाजिक व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालती है। बखोफेन के अनुसार आदिम समाज 'यौन स्वच्छंदता' या हैटेरिज्म की स्थिति में था जिसमें एक स्त्री के विभिन्न पुरुषों से संबंध होते थे। इस अवस्था में किसी नवजात शिशु के पिता का निर्धारण नहीं किया जा सकता था। अतः शिशुओं की पहचान माँ द्वारा ही होती थी और वंश भी मातृ पूर्वजों के नाम से ही चलता था। बखोफेन के अनुसार यह वह समय था जब स्त्रियों को समाज में बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। बखोफेन के मातृ अधिकार की अवधारणा से ही मातृसत्ता की अवधारणा विकसित होती है। बखोफेन हैटेरिज्म से एकनिष्ठ विवाह में परिवर्तन और मातृसत्ता से पितृसत्ता में परिवर्तन के पीछे यूनानी सभ्यता में हुए धार्मिक परिवर्तनों का आधार देते हैं। इसके लिए उन्होंने इस्खिलिस के नाटक 'ओरेस्टिया' की नई व्याख्या दी। इस नाटक के अनुसार 'ओरेस्टस' को अपनी माता 'क्लिटेमिस्ट्रा' की हत्या के आरोप से बरी कराने के लिए देवता अपोलो तथा देवी ऐथना ओरेस्टस का साथ देते हैं। बखोफेन रोमन सभ्यता में आए इस पौराणिक बदलाव को ही मातृसत्ता के विनाश का आरंभ मानते हैं। "बखोफेन द्वारा प्रस्तुत आदिम समाज में उपस्थित मातृसत्ता की अवधारणा से बीसवीं सदी के अधिकाँश नारीवादी विचारक सहमत हैं। फ्रेडरिक एंगल्स, चार्लोट पर्किंसन, गिलमैन तथा एलिजाबेथ कैंडी स्टैंटन इत्यादि विचारकों ने बखोफेन की अवधारणा के अनुसार स्त्री- पराधीनता पर अपने मत प्रस्तुत किए हैं।"[9] फ्रेडरिक एंगल्स निजी संपत्ति के आविर्भाव को मातृसत्ता के विनाश का कारण मानते हैं। एंगल्स ने परिवार शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा कि परिवार या फेमिली शब्द फेम्युलस (famulus) शब्द से बना है जहाँ फेम्युलस शब्द का अर्थ 'घरेलू दास' होता है। फेमेलिया शब्द का अर्थ एक व्यक्ति के सारे दासों का समूह होता है। रोमन लोगों द्वारा निर्मित इस सामाजिक संगठन फेमेलिया में उसके मुखिया के अधीन उसकी पत्नी, उसके बच्चे और कुछ दास होते थे। और रोमन पितृसत्ता के अंतर्गत उसके हाथों में इन लोगों की जिंदगी और मौत का अधिकार होता था। एंगल्स ने घर के मुखिया की निरंकुश सत्ता को इंगित करते हुए लिखा, "पत्नी के सतीत्व की रक्षा करने के लिए यानि बच्चों के पितृत्व की रक्षा करने के लिए नारी को पुरुष की निरंकुश सत्ता के अधीन बना दिया जाता है। वह यदि उसे मार भी डालता है तो वह अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है।"[10] फ्रेडरिक एंगल्स ने निजी संपत्ति की अवधारणा के साथ ही स्त्री अधीनता के लिए स्त्रियों की उत्पादन में भागेदारी न होने को भी दोषी ठहराया। घरेलू श्रम के दायरे में सीमित हो जाने के कारण स्त्रियाँ सामाजिक उत्पादन के क्षेत्रों से दूर होती जाती हैं। एंगल्स मानते हैं कि, "जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के कामों तक ही, जो निजी काम होते हैं, सीमित रखा जाएगा तब तक स्त्रियों का स्वतंत्रता प्राप्त करना और पुरुषों के साथ बराबरी का हक़ पाना असंभव है और असंभव ही बना रहेगा।"[11] परंतु एंगल्स के तर्कों की भी स्त्रीवादी विद्वानों द्वारा आलोचना की गई। लर्नर ने यह स्पष्ट किया कि ऐसा नहीं है कि विश्व की हर संस्कृति में घरेलू कार्यों की जिम्मेदारी मात्र स्त्री की ही होती है। क्रिश हर्मन मानती हैं कि स्त्री के इन्हीं घरेलू कार्यों की जिम्मेदारी उठाने से ही कृषि का विकास हुआ। स्त्रीवादी विद्वानों द्वारा एंगल्स की इसलिए भी आलोचना की गई क्यों कि उन्होंने मातृसत्ता और मातृवंशीयता को एक दूसरे का पर्याय समझा। इसके अतिरिक्त एंगल्स की निजी संपत्ति के आविर्भाव से स्त्री अधीनता के पथ पर अग्रसर हुई इस तथ्य को प्रायः सभी स्त्रीवादी विद्वानों द्वारा गलत साबित किया गया जिसमें मुख्यतः संरचनावादी मानवविज्ञानी क्लाउड मेलेसा, इतिहासकार गर्डा लर्नर तथा मानव विज्ञानी पीटर आबी प्रमुख हैं। इस प्रकार "आधुनिक मानवविज्ञानियों द्वारा बखोफेन और एंगल्स की

[9] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 26
[10] एंगल्स फ्रेडरिक, परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृ. सं.- 73
[11] एंगल्स फ्रेडरिक, परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृ. सं.- 208

आदिम समाज में मातृसत्ता के अस्तित्व की अवधारणा को निरस्त किया गया है। आधुनिक मानवविज्ञानी 'मातृसत्ता' की अपेक्षा 'मातृस्थानिकता' तथा 'मातृवंशीयता' शब्द को अधिक उपयुक्त मानते हैं।"[12] गर्डा लर्नर लिखती हैं कि, "मैं मातृसत्ता को पितृसत्ता के विलोम के रूप में परिभाषित कर सकती हूँ और इस परिभाषा के अनुसार मैं निष्कर्षतः यह कह सकती हूँ कि मातृसत्तात्मक समाज कभी भी अस्तित्व में नहीं रहे हैं।"[13] लर्नर की इस पुष्टि के साथ ही यह भी तथ्यात्मक सत्य है कि भारत में केरल के नायर संप्रदाय और पूर्वोत्तर भारत के गारो, खासी और जयंतिया समुदाय में 'मातृस्थानिकता' और 'मातृवंशीयता' के साथ ही 'मातृसत्तात्मक व्यवस्था' का प्रभाव भी देखा जा सकता है। गर्डा लर्नर ने अपनी पुस्तक 'क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की' में पितृसत्ता के विविध पक्षों पर गंभीर विचार किया है। लर्नर का मानना है कि पितृसत्ता को एक घटना के रूप में नहीं वरन प्रक्रिया के रूप में देखने की आवश्यकता है। पितृसत्ता उत्पन्न नहीं हुई वरन मानव सभ्यता के विकास के पथ पर ग्रसर होने के साथ क्रमशः निर्मित होती चली आई है। इसके पीछे किसी एक कारक की भूमिका न होकर विविध कारकों का हाथ है। लर्नर यह नहीं मानती कि पितृसत्ता एक सोची समझी साजिश का परिणाम है। लर्नर कहती हैं कि स्त्री- पुरुष के बीच का श्रम विभाजन आगे के वर्षों में स्त्री को अधीनता के पथ पर अग्रसर कर देगा इसका स्त्रिओं को जरा सा भी भान नहीं था। 'सेपियंस' पुस्तक के लेखक युवाल नोआह हरारी मानते हैं कि स्त्री और पुरुष को दो भिन्न- भिन्न खेमों में बाँटना यह ज्यादा कुछ सांस्कृतिक और काल्पनिक सत्य पर निर्भर करता है न कि जैव वैज्ञानिक सत्य पर। स्त्रीत्व और पुरुषत्व सामाजिक भिन्नताओं के साथ बदलता रहता है। किसी जीव के सेक्स का निर्धारण जीव विज्ञान के आधार पर किया जाता है किन्तु जेंडर या लिंग का निर्धारण सांस्कृतिक आधार पर किया जाता है। हरारी मानते हैं कि मानव विकास की प्रक्रिया में लगभग सभी समाज कृषि क्रांति के बाद से पितृसत्तात्मक ही रहे हैं। अतः हरारी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "पितृसत्तात्मक व्यवस्था जैववैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित न होकर मिथकों पर आधारित है।"[14] संरचनावादी मानवविज्ञानी क्लाउड लेवी स्त्रास संस्कृति के निर्माण के लिए स्त्री- पराधीनता की आवश्यकता पर पर एक सैद्धांतिक व्याख्या देते हैं। "स्त्रास के अनुसार आदिम और खानाबदोश जनजातियों में स्त्रियों की अदला- बदली ही स्त्री- पराधीनता का मूल है।"[15] शेरी ऑटनर ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था की उत्पत्ति और स्त्री पराधीनता पर अपना मत प्रस्तुत करते हुए 1974 के एक निबंध में लिखा था कि "अभी तक के सभी ज्ञात आदिम समाज में स्त्रियों का संबंध संस्कृति की अपेक्षा प्रकृति से ज्यादा प्रगाढ़ रहा है। लगभग प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में मानव द्वारा विकास पथ पर अग्रसर होने में प्रकृति की उपेक्षा की गई है। जिसका सीधा असर स्त्रियों पर भी पड़ा है।[16]

इस प्रकार स्त्री- पराधीनता के मूल तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत हैं। जिनका एक संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

<u>पितृसत्ता: व्यापकता</u>

[12] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 29

[13] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 31

[14] युवाल नोआह हरारी, सेपियंस, विंटेज प्रकाशन, लंदन, पृ. सं.- 178

[15] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 24

[16] लर्नर गर्डा, द क्रिएशन ऑफ पैट्रिआर्की, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, पृ. सं.- 26

जब से स्त्री विमर्श के विद्वानों द्वारा स्त्री की दोयम स्थिति और उसके अधीनता के कारकों के रूप में पितृसत्ता को परिभाषित किया गया है तब से यदि देखा जाए तो पितृसत्ता की व्यापकता हमें जीवन के हर मोड़ पर दिखाई देगी। " स्त्री का अपना होना और उस होने की प्रक्रिया की सारी अर्थवत्ता अब तक पितृसत्ता निर्धारित करती आई है। चूँकि कोई 'दूसरा' यानी पुरुष जाति उसका निर्धारण करती है इसलिए स्त्री की अपनी स्वायत्तता नहीं रहती। उसका वस्तुकरण हो जाता है। स्त्री के संदर्भ में यह एक ऐतिहासिक सच है।"[17] विश्व की प्रत्येक संस्कृति में इस सत्ता के पोषकों द्वारा स्त्रियों को हमेशा दब कर रहने की हिदायत दी जाती। धार्मिक रूप से भी इस सत्ता का सदैव समर्थन किया गया है। भारतीय धर्मशास्त्र की आधारशिला कही जाने वाली मनुस्मृति में पतिसेवा को ही स्त्रियों के अग्निहोत्र कर्म के तुल्य बताया गया है।[18] पति यदि सदाचारहीन, कामी या विधादि गुणों से हीन भी हो तो वह पूज्य है।[19] मुस्लिम धर्म ग्रंथ 'सुरा बकारा' की आयत 223 में स्त्री को उसके पति द्वारा चरने के लिए तैयार अनाज का खेत कहा गया है।[20] यह पितृसत्ता की व्यापकता ही है कि स्त्री चेतना के शुरूआती दौर में स्त्रियों को अपने मौलिक नागरिक अधिकारों के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। चाहे वह वोट देने का अधिकार हो, चाहे वह संपत्ति में हिस्से का अधिकार हो या फिर तलाक लेने का अधिकार हो। 1929 में अपनी पुस्तक 'ए रूम ऑफ वंस ओन' में वर्जीनिया वूल्फ इस दोयम स्थिति के संदर्भ में एक प्रश्न पूछती हैं कि यदि शेक्सपियर की कोई बहन होती तो क्या उसे भी अपने कौशल को विकसित करने के वही समान अवसर मिलते जो शेक्सपियर को मिले थे?[21] स्त्री शिक्षा के सीमित अवसरों और संसाधनों की ओर इंगित करते हुए वर्जीनिया लिखती हैं कि, "आप (पितृसत्तात्मक समाज) चाहें तो अपने पुस्तकालयों पर ताला लगा सकते हैं। पर कोई दरवाजा, कोई ताला ऐसा नहीं है जिससे आप मेरी मानसिक स्वतंत्रता को अवरुद्ध कर सकें।"[22] वर्जीनिया वुल्फ के प्रश्न और कथन तब और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब स्वयं वर्जीनिया और उनकी बहन की शिक्षा- दीक्षा घर में ही संपन्न हुई जबकि उनके भाइयों को प्रतिष्ठित कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ने का अवसर मिला। सीमंतनी उपदेश की अज्ञात लेखिका 1882 में स्त्री- पुरुष की तुलना करते हुए महिलाओं पर थोपे गए धार्मिक पाखंडो, रीति- रिवाजों पर प्रश्न उठाती हैं।[23] बीसवीं सदी के शुरूआती दौर में महादेवी वर्मा अपने निबंधों के संग्रह 'शृंखला की कड़ियाँ' में स्त्रियों के मूल नागरिक अधिकारों की मांग करते हुए लिखती हैं कि "हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी। हमारी जागृत और साधन संपन्न बहनें इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण कार्य कर सकेंगी इसमें संदेह नहीं।"[24] स्त्री चेतना के फलस्वरूप स्त्री की सामाजिक दोयम स्थिति के विरोध में विभिन्न प्रयास किए जा रहे हैं। लिंग समानता के पुरजोर प्रयास किए जा रहे हैं परंतु इन लक्ष्यों में सबसे बड़ी बाधा पितृसत्तात्मक व्यवस्था की व्यापकता ही है। आज स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अधिकांश अपराधों के

[17] पितृसत्ता के नए रूप, संपादक: राजेंद्र यादव, प्रभा खेतान, अभय कुमार दूबे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.- 16
[18] मनुस्मृति, संपादक- पंडित हरिशंकर शास्त्री, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं.- 38
[19] मनुस्मृति, संपादक- पंडित हरिशंकर शास्त्री, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं.- 16
[20] अग्रवाल रोहिणी, साहित्य का स्त्री स्वर, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. सं.- 08
[21] वुल्फ वर्जीनिया , ए रूम ऑफ वंस ओन', फिंगर प्रिंट क्लासिक, (प्रकाश बुक्स इंडिया)
[22] वुल्फ वर्जीनिया , ए रूम ऑफ वंस ओन', फिंगर प्रिंट क्लासिक, (प्रकाश बुक्स इंडिया), पृ. सं.- 81
[23] सीमंतनी उपदेश, संपादक: डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
[24] वर्मा महादेवी, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहबाद, पृ. सं.- 23-24

मूल में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की वह मानसिकता ही है जो विभिन्न अपराधों द्वारा पुरुषों की स्त्रियों पर श्रेष्ठता साबित करना चाहती है।

**निष्कर्ष:**

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पितृसत्ता पर हुए गहन अध्ययन के उपरान्त इसे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक कहना उचित नहीं है और न ही इसे मानव सभ्यता के विकास का स्वाभाविक अंग समझना चाहिए। स्त्रीवादी विद्वानों ने मातृसत्ता के अस्तित्व को नकारने के साथ ही स्त्रियों के सदैव पराधीन रहने के तथ्य को भी नकारा है। स्त्रीवादी दृष्टिकोण से पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जांच- पड़ताल का मुख्य उद्देश्य लिंग- समानता की स्थापना तथा किसी भी लिंग विशेष के आधिपत्य से मुक्ति है। इस दिशा में यदि सकारात्मक प्रयास किए जाएँ तो निश्चित रूप से एक ऐसी व्यवस्था उभर कर आएगी जो मातृसत्तात्मक अथवा पितृसत्तात्मक होने की अपेक्षा मानव संभावनाओं के सभी द्वारों को सभी के लिए समान रूप से खुला रखेगी।

---

***शोधार्थी**
**प्रेसीडेंसी यूनिवर्सिटी, कोलकाता**
**9674380830**
**pooja.shukla2607@gmail.com**

# स्त्री विमर्श और 'हंस' पत्रिका : एक अध्ययन

*नुरुल होदा

साहित्यिक विमर्शों में स्त्री विमर्श एक ऐसा विषय रहा है. जिस पर विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं ने रचनात्मक साहित्य और वैमर्शिक आलोचना को प्रमुखता से जगह दी. इन सब के बावजूद स्त्री विमर्श से संबंधित विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में 'हंस' ने जो लोकप्रियता हासिल की वह किसी अन्य साहित्यिक पत्रिका को नहीं हासिल हो सकी. इसका मूल कारण यह है कि 'हंस' पत्रिका में छपने वाले रचनात्मक साहित्य और वैमर्शिक आलोचना स्त्री जीवन से जुड़े सभी पहलूओं को उजागर करने में किसी तरह का कोई संकोच नहीं बरता. 'हंस' का पाठक वर्ग और हिन्दी साहित्यकार 'हंस' पत्रिका की खूबियों से अच्छी तरह परिचित रहे हैं. इसलिए स्त्री विमर्श से संबंधित उन मुद्दों को भी जगह मिली जिन्हें नैतिकता और अश्लीलता माना जाता रहा है. 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव ने अपनी संपादकीय में स्त्री जीवन को सजग दृष्टि से देखते हुए कई महत्वपूर्ण संपादकीय लिखी, जिसके कारण विवाद भी होते रहे. इस विवाद को उन्होंने संवाद के स्तर पर ले जाकर स्त्री विमर्श जैसे अस्मिता परक वैमर्शिक साहित्यिक आलोचना और रचनात्मक साहित्य को एक दिशा दी. विवाद और चुनौतियों को स्वीकार करते हुए राजेन्द्र यादव अपने स्टैंड से कभी भटके नहीं बल्कि उसको स्थापित करने की हर संभव कोशिश की जिसमें वे सफल भी हुए. इसके अलावा विभिन्न विमर्शकारो के सैद्धांतिकी को भी राजेन्द्र यादव ने 'हंस' में स्पेश दिया. जिसका नतीजा ये हुआ कि स्त्री साहित्य और विमर्श पर खुल कर बहस होने लगी. स्त्री साहित्य की सैद्धांतिकी भी उस विमर्श पर तैयार हुई. स्त्री विमर्श के कारण सामाजिक और धार्मिक मूल्यों को चुनौती भी मिलने लगी. राजनितिक स्तर पर भी बदलाव संभव हुआ. 'हंस' के कारण स्त्री विमर्श को नई दिशा और आधार मिला.

'हंस' पत्रिका में स्त्री विमर्श के संबंधित कई विशेषांक समय-समय पर निकलते रहे हैं. 'हंस' में स्त्री विमर्श को ऐसा मुद्दा बनाया गया, जिसपर सबसे लम्बी बहस चली. राजेन्द्र यादव ने 'हंस' की संपादकीय के माध्यम से स्त्री विमर्श से संबंधित कई वाजिब सवाल भी उठाएं. उनका यह कहना था कि स्त्री विमर्श और स्त्री मुक्ती को भारतीय समाज किन रूप में देखना चाहता है. स्त्री की वास्तविक मुक्ती सामाजिक, आर्थिक, दैहिक रूप में किस तरह संभव है. इन सवालों को लेकर 'हंस' पत्रिका में स्त्री विमर्शकारो ने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि प्रकट की. यदि स्त्री विमर्श मुक्ती के नाम पर स्त्री को बाजार की वस्तु के रूप में स्थपित कर दे तो वह वास्तविक स्त्री मुक्ति नहीं है, बल्कि स्त्री की सामाजिक भागीदारी, आर्थिक आत्मनिर्भरता, दैहिक स्वतंत्रता और निर्णय लेने की क्षमता ही वास्तविक स्त्री मुक्ति है. 'हंस' पत्रिका में इस मुद्दे पर वैचारिक चिंतन का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह विचारणीय है. 'हंस' पत्रिका ने चाहे अनजाने में ही सही सबसे ज्यादा चर्चा स्त्री विमर्श पर किया है. स्त्री विमर्श का स्वरूप, उद्देश्य और उसे व्यापकता देने में 'हंस' पत्रिका की महत्वपूर्ण भूमिका रही है. समाज में स्त्री के जैविक, आर्थिक तथा मानसिक शोषण से मुक्त करके पुरुषों के बराबर स्थान दिलाना ही स्त्री विमर्श है. इस बात को 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव भली भांती समझ रहे थे. 'हंस' पत्रिका कि संपादकीय इस बात का जीता-जगता सबूत है कि राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के संपादकीय में स्त्रियों के वे तमाम मुद्दों पर लिखना शुरू किया,जिसे भारतीय समाज अनदेखा करता था. या फिर यू कहे कि स्त्रियों को शारीरिक सुख के अलावा कुछ नहीं समझा जाता था. उन तमाम

बिन्दुओ को नजर में रखते हुए राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के माध्यम से पाठको तक पहुंचाया. ये वो मुद्दे थे जिस पर भारतीय समाज बोलना तो दूर सोचता तक नहीं था. इस तरह के मुद्दों पर राजेन्द्र यादव का लेखन सभी पाठको तक पहुँचती थी साथ में पाठको और लेखको के बीच उन मुद्दों पर वाद-विवाद भी शुरू हिता था. उस वाद-विवाद के बाद अंततः स्त्री विमर्श पर चर्चाओ का दौर शुरू हुआ. यह दौर नहीं एक तरह से आन्दोलन की शुरुआत थी. हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श को केंद्र में लाने का श्रेय 'हंस' पत्रिका को है. रूप सिंह चंदेल लिखते है- " दलित और नारी विमर्श आज साहित्य और वैचारिक विमर्श की मुख्यधारा बन गया है. तो उसका सबसे बड़ा श्रेय वरिष्ठ कथाकार राजेन्द्र यादव का है. उन्होंने इसके लिए 'हंस' का मंच ही उपलब्ध नहीं करवाया बल्कि इन मुद्दों को साहित्यिक बहस बना दिया."(1)

स्त्री विमर्श को 'हंस' पत्रिका ने एक आन्दोलन के रूप में आगे बढ़ाया और इसी के साथ स्त्री विमर्श से संबंधित सिद्धांत भी गढ़े गए. इन सिद्धांतो ने ने विमर्श को एक नैतिक आधार दिया. जिससे आन्दोलन की गतिशीलता में दिनों-दिन विकास हुआ. स्त्री विमर्श की आवधारणा मूलतः भारतीय ना होकर पश्चिमी विचारों से प्रभावित है. स्त्री मुक्ति को लेकर पश्चिम के विचारको ने बहुत सी व्यवहारिक और सैद्धांतिक किताबें लिखी. जिसका नतीजा ये हुआ कि भारत में भी स्त्री विमर्श ने आन्दोलन का रूप ले लिया. इन आन्दोलन को 'हंस' पत्रिका ने एक ऐसी दिशा दी जिससे स्त्री मुक्ति को लेकर बने हुए भ्रम से पर्दा उठ सका. सबसे महत्वपूर्ण बात ये है कि स्त्री के संबंध में भारतीय समाज व्यवहारिक स्तर पर मानवीय दृष्टी के इतर सोच रखता है. यह सोच आज भी कायम है. इसलिए स्त्री भारतीय समाज में मानव कम, इज्जत-आबरू की वस्तु ज्यादा है. सिमोन द बोउवार ने 'द सेकेंड सेक्स' में इस बात को नोटिश करते हुए सही कहा है कि समाज और परिवार से ही औरत को औरत होने की शिक्षा दी जाती है और उसे औरत में बने रहने के लिए अनुकूल स्थितियों से अवगत कराया जाता है.(2) समाज कि इसी मानसिकता से मुक्ति ही स्त्री की वास्तविक मुक्ति है. स्त्री के स्थिति की जिम्मेदार स्वयं स्त्री ही है. जन्म से ही स्त्रीत्व का भाव लेकर नहीं आती. स्त्री के आस-पास के लोग और ये सामज से बोध कराता है कि तुम स्त्री हो. तुम्हे कैसे रहना है, क्या करना है, क्या पहनना है, कैसे दिखना है. यह सब पुरुषवादी समाज स्त्रियों के लिए तय करता है. स्त्रियों का सदियों से शोषण होते आ रहा है. समय के साथ स्त्रियों के शोषण करने का तरीका बदला है. लेकिन आज जो हमारे सामने स्त्री विमर्श का जो स्वरूप दिख रहा है उसकी वजह 'हंस' में स्त्रियों से संबंधित छपने वाले लेख हैं. जिससे विभिन्न मुद्दों पर लोगों के बीच संवाद शुरू हुआ और इस संवाद ने आन्दोलन का रूप लिया. आज स्त्रियों को लेकर जो संवाद शुरू हुआ है, उसकी वजह कहीं ना कही राजेन्द्र यादव हैं. जिन्होंने 'हंस' के माध्यम से साहित्य जगत में स्त्री विमर्श को वाद-विवाद का रूप दिया. आज विभिन्न सामाजिक संस्थाएं स्त्रियों को लेकर काम कर रही हैं. जैसे कि- स्त्रियों कि शिक्षा की बात, स्त्रियों को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक करना, समाज में शोषण की शिकार स्त्रियों के हक़ के लिए लड़ना, उनके ऊपर समाज में हो रहे अत्याचार के खिलाफ आन्दोलन करना. स्त्री विमर्श को लेकर राजेन्द्र यादव कहते हैं. "स्त्री दलित की तरह समाज से बाहर तो नहीं लेकिन भीतर होते हुए भी साथ नहीं. वह पिता-पुत्र की आश्रिता है. यह घोर अमानवीय लगता है. इसी की विभिन्न समस्याओं पर खुली बहस को हम स्त्री विमर्श कहते हैं. जन्म के आधार पर किसी मनुष्य की सामाजिक हैसियत नहीं तय की जानी चाहिए या उसे पुरुष मालिक की सत्ता का गुलाम नहीं बनना चाहिए. यही स्त्री विमर्श है.(3)

स्त्री विमर्श की सबसे बड़ी समस्या यह है कि भारत में स्त्री की छवि आज भी पतिव्रता के रूप में स्थापित है. इसलिए स्त्री की स्वतंत्रता और अधिकार की बात करना समाज के बहुसंख्यक, खासकर पितृसत्ता से मोहरा लेना है. यदि स्त्री के संबंध में परंपरागत सोच से मुक्ति संभव होगी तभी स्त्री को मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकेगा. 'हंस' में राजेन्द्र यादव भारतीय समाज की इसी मानसिकता को लेकर बार-बार सवाल करते हैं. उनका मानना है कि स्त्री विमर्श का सही स्वरूप तभी बनेगा, जब स्त्री बिना किसी दबाव लिहाज के अपने बारे में अपना निर्णय स्वयं ले सकेगी. सच तो यह है कि स्त्री को बहुसंख्यक पुरुष अपनी संपति की तरह देखते हैं और मुक्ति के नाम पर उसे बाजारवाद की वस्तु बनाकर उसकी नुमाईश की जाती है. आज के बाजारवाद में स्त्री का इस्तेमाल वस्तु के विज्ञापन के लिए नंगे-अधनंगे रूप में किया जाता है. यही कारण है कि स्त्री हमेशा समाज में अकेली दिखाई देती है. भारतीय समाज में स्त्रियों के साथ अन्याय, अत्याचार, बलात्कार दिनों-दिन बढ़ते जा रहे हैं. पितृसतात्मक सोच इन मुद्दों पर खुल कर नहीं बोलती. यदि स्त्री इसी तरह पितृसत्ता की शिकार होती रही तो स्त्री मुक्ति, स्त्री अस्मिता, स्त्री विमर्श, स्त्री आन्दोलन जैसे शब्द बेकार हो जायेंगे. भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री को देह और सौन्दर्य तक सीमित करने की पूंजीवादी कोशिश ने हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श को केवल देहवाद तक सीमित कर दिया है. इसी का लाभ लेते हुए कुछ लोगों ने सेक्स मुक्ति को स्त्री मुक्ति का हिस्सा मानकर समूचे स्त्री विमर्श जैसे आन्दोलन को कमजोर और भटकाने की कोशिश करते रहे हैं. नमिता सिंह ने इस संबंध में सही लिखा है- " हिन्दी साहित्य में देह की स्वतंत्रता के नाम पर निश्चित रूप से व्यभिचार को नैतिकता का जामा पहनाने का प्रयास किया गया है. साहित्य तो चलो मान लिया कितने लोग पढ़ते हैं, लेकिन इस आवधारणा ने सामाजिक स्तर पर व्यभिचार का समर्थन किया है और देह को भोगने और बेचने की नारीमुक्ति जैसे आन्दोलन से जोड़ कर सामाजिक विकास की प्रक्रिया को भ्रष्ट किया है तथा स्त्री को बाजारवाद के अभियान में शामिल कर लिया है."(4) ऐसी ही स्त्री को पुरुषमानसिकता 'व्यभिचारी' जैसे शब्द से संबोधित भी करता है. इस संबंध में क्षमा शर्मा लिखती हैं- "यदि वस्त्रविहीन देह स्त्रियों के लिए नग्नता है तो वह पुरुष पौरुष का प्रतिक कैसे है? चूंकी स्त्री के लिए जीवित रहने के सारे नियम पुरुष ने ही बनाए हैं. इसलिए सारी मर्यादाओं का बोझ औरतों के ऊपर डाल दिया गया है और सारी स्वतंत्रता पुरुषों ने अपने लिए रख लिए हैं."(5)

'हंस' पत्रिका में भूमंडलीकरण बाजारवाद के पुरुष मानसिकता को लेकर बहुत सी बाते कि गयी हैं. स्त्री विमर्श की अवधारणा में इस बात को शामिल किया गया है कि भूमंडलीकरण अथवा बाजारवाद ने स्त्री को 'पावर वुमेन' बना दिया है, लेकिन उसने औरत कि जिन्दगी को बदला नहीं बल्कि उसे गुलामी के स्तर पर ले आया. भूमंडलीकरण से स्त्री को एक ऐसी ताकत मिली है जिससे वह सामाजिक, राजनितिक स्तर पर ज्यादा सजग हो चुकी है. इसके अलावा आर्थिक स्तर पर आत्मनिर्भरता का भी विकास हुआ है. आज के समय में भूमंडलीकरण की स्थिति से यह बात सामने आती है कि- "भूमंडलीकरण ने दावा किया है कि अब पहले से कहीं ज्यादा औरते अपने लैंगिगहित को ध्यान में रखकर वोट डालती हैं और राजनीति में सीधे भागीदारी करती हैं. अब पहले से कहीं ज्यादा औरतो के पास अपनी नीजी आमदनी का स्रोत है और वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है."(6) भूमंडलीकरण का यह दावा दुनिया की आधी आबादी के बहुत छोटे से हिस्से तक सीमित है. आज स्त्री बहुसंख्यक रूप से प्रताड़ित ही है. कामकाजी होने के बावजूद स्त्रियों की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक,

राजनितिक भागीदारी और स्वतंत्रता वह आत्मनिर्भरता कम ही देखी जाती है. 'हंस' पत्रिका में स्त्री विमर्श से संबंधित विभिन्न विशेषांको के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने इन सवालों को तलाशने की कोशिश की है. स्त्री विमर्श से संबंधित 'हंस' के प्रमुख विशेषांको का अध्ययन करके ही स्त्री आन्दोलन की वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं.

स्त्री विमर्श से संबंधित 'हंस' पत्रिका का पहला विशेषांक 'औरत-उत्तरकथा' 1994 ई. में निकला. साहित्यिक विमर्श से संबंधित 'हंस' का यह पहला विशेषांक है. इस विशेषांक में स्त्री जीवन से संबंधित रचनात्मक साहित्य के साथ आत्मकथात्मक साहित्य, वैमर्शिक आलोचनाएं, स्त्री जीवन पर स्त्रियों के विचार, अतीत के बहाने स्त्री जीवन की स्थिति आदि पर केन्द्रित 'हंस' में सामग्रियां निहित हैं. इस विशेषांक में राजेन्द्र यादव की संपादकीय 'तेरी-मेरी उसकी बात' अस्मिता परक विमर्श से संबंधित महत्वपूर्ण चिंतन पेश करती है. राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के इसी अंक के संपादकीय में लिखा है-" नारी मुक्ति के आन्दोलन अनेक उलझनों और भटकनो के शिकार रहे हैं. सभी दलित आन्दोलन हो जाते हैं, कहीं वे मालिक पुरुषो से होड़ लेकर उन्ही तरह 'हंटरवाली' (हेमंत) बन जाने के रूप में आए हैं. तो कहीं पुरुष आस्तित्व को ही नकार कर स्वयत और स्व- संपूर्ण हो जाने में इन दोनों स्थितियों से होता हुआ नारी-मुक्ति आन्दोलन एक नयी अवस्था में आ गया है, जहाँ स्त्री एक सह-नागरीक की तरह अपनी पहचान स्थापित करना चाहती है. इसके लिए उसका सारा प्रयास अब तक प्रयुक्त भाषा और मनसिकता के अस्वीकार और स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में स्वीकृति का है. यहाँ उसका संघर्ष दो धरातलों पर है, अपने व्यक्तित्व की स्थापना और उसके विरोध में कदम-कदम पर लगाए गए पुरुष-बैरियर (प्रतिरोधक) जाहिर है कि इस प्रक्रिया में परंपरा और संस्कारो द्वारा लादे गए अपने ही चेहरे (या सिर) को काटकर उसे छिन्नमस्ता बनना पड़ता है, फीनिक्स की तरह आपनी ही आग से उठकर नया जन्म लेना पड़ता है. उभरती स्त्री-शक्ति के अनेक स्तरों में सामने दिखायी देने वाले कुछ आयामों में है, सेक्स, प्रजनन, आर्थिक निर्भरता और सत्ता में हिस्सेदारी."(7)

स्त्री विमर्श को लेकर 'हंस' पत्रिका के स्त्री विशेषांक औरत-उत्तरकथा में विमर्शकारों और आलोचकों ने स्त्री जीवन से संबंधित अपने विचारों को लेखो के माध्यम से प्रकट किया है. मैनेजर पांडेय जहाँ स्त्री विमर्श के बहाने अश्लीलता के बारे में विचार रखते है और उसे विश्लेषित करते हुए य बताते हैं कि अश्लीलता पितृसत्ता संरचना की देन है, उसकी परिभाषा पुरुष समाज अपनी सुविधाओं के हिसाब से करता है. यही कारण है कि पुरुषसत्ता स्त्री के साथ जहाँ एक ओर मानवीय संबंध रखता है, वही दुसरी ओर उसके द्वारा बनाए हुए नियमों का उल्लंघन करने पर वह समूची स्त्री जाति को अविश्वास की नजर से देखता है. उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्री की स्थिति को मात्र साधन के रूप में देखता है. इसलिए उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री की स्वतंत्रता मानवीय स्तर पर नहीं है, वह गुलाम की स्थिति में वस्तुओं के प्रचार-प्रसार के लिए इस्तेमाल की जाती है.(8) स्त्री कि अस्मिता को लेकर विमर्शपरक लेख में राजकिशोर भी अपनी राय रखते हुए ये कहते हैं कि स्त्री का अस्तित्व और उसकी सामाजिक भागीदारी पुरुष वर्चस्व के कारण अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं आ सका है. चूंकी स्त्री का साहित्य शोषण और दमन से भरा हुआ साहित्य रहा है, इसलिए इसमें कई तरह के अंतरविरोध भी मिलते हैं. स्त्री लेखन का ये अंतरविरोध स्त्रिओ के रचनात्मक स्तर पर सहजरूप से अभिव्यक्त ना हो पाने के कारण है. उन्होंने इस संबंध में

लिखा है कि- " यह सोचना गलत है कि स्त्री की यह इच्छा एक नयी इच्छा है. सच यह है कि सभी सभ्यताओं में स्त्रियों के गीत और मुहावरे अलग रहे हैं. पीड़ा हो और व्यक्त ना हो, ऐसा हो ही नहीं सकता. मनुष्य अगर रचनात्मक प्राणी है, तो उसकी यह रचनात्मकता सभी वर्गों में और सभी स्तरों पर प्रकट होनी चाहिए. बाधा वहां आती है, जब वर्ग चेतना धूमिल हो गयी हो. मजदूरों या दलितों के साथ ऐसा संभव नहीं है, किन्तु स्त्री के साथ यह सहज और स्वाभाविक वर्गों में विभाजित भी रही है. संपन्न वर्ग की उसकी सदस्यता की एक शर्त यह है कि वह स्त्री की वर्ग चेतना से अपने को काट लो. इसलिए आधुनिक युग के पूर्व शिष्ट भाषा और शिष्ट संस्कृति के दायरे में रहने वाली स्त्रियाँ अपना नीजी-स्त्री वृत्तान्त अकसर प्रकट नहीं कर पाती थी. एक तरह से वे वर्ग समझौते का शिकार थी. पर सामान्य वर्गों की स्त्रियों के लिए यह मजबूरी नहीं थी. (9)

यह सच है कि स्त्री विमर्श में स्त्री की अस्मिता को लेकर बहुत सी बातें हुई हैं. लेकिन ये भी सच है कि स्त्री के नीजी जीवन, उसके अनुभव, सामाजीक व्यवहार, उसकी सोच, पारिवारिक जिम्मेदारी आदि की वैमर्शिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति कम ही होती रही है. लेकिन 'हंस' ने औरत-उत्तरकथा के माध्यम से पहली बार स्त्री अस्मिता से जुड़े सभी पहलूओं पर विचार एक साथ देखने को मिलते हैं. स्त्री साहित्य और स्त्री लेखन में स्त्री का जीया और भोगा हुआ सच बिना किसी आवरण के अभिव्यक्त होने लगा. 'हंस' जैसी पत्रिका ने इस प्रक्रिया को तेज कर दिया. स्त्रियों ने अपने अनुभव से भाषा अर्जित की और उसे अभिव्यक्ति का रूप दिया. इस तरह स्त्री का घर-परिवार, दफ्तर और दुसरी सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाते हुए स्वयं को अभिव्यक्त करने लगी. यही से स्त्री विमर्श की प्रक्रिया शुरू होती है. स्त्री के अपने अनुभव कि सत्ता उसके लेखन में देखी जा सकती है. आज स्त्री संकोची और लाजवंती जैसी नहीं रही. वह मानव जीवन और समाज से संबंधित हर विषय पर मुखर होकर अपनी बात निसंकोच रखने लगी है. स्त्री विमर्श के इस नये योगदान के कारण 'जेंडर' और 'सेक्स' जैसे प्राकृतिक और सांस्कृतिक विभेद पर खुल कर बहस होने लगी. 'हंस' के औरत-उत्तरकथा विशेषांक में सुधीश पचौरी ने इन्ही पहलूओं पर बात करते हुए स्त्री विमर्श के नये योगदान की चर्चा करते हुए लिखते हैं- "औरत की इस उत्तरकथा में यह जानना जरुरी है कि शारीरिक भेद और लिंगभेद में मर्दो का चिंतन फर्क नहीं करने देता. इसलिए स्त्री पिसती है अलग, लेकिन उसके प्रति अतिचार नहीं दिखते. 'लिंग' चेतना के बाद ही भेद और अतिचार नजर आता है. लिंगभेद मर्द समाज ने दिया है, शारीरिक भेद प्राकृतिक है. प्राकृतिक भेद बना रह सकता है, लेकिन सामाजिक भेद 'ठीक' होना चाहिए. यही स्त्री विमर्श का नया योगदान है."(10)

'हंस' पत्रिका में अस्मितापरक स्त्री विमर्श से संबंधित बहुत सी आलोचनाएं एक साथ पढी जा सकती हैं. ये आलोचनात्मक दृष्टियाँ स्त्री विमर्श की गतिशीलता, व्यवहारिक स्तर पर उसकी स्थिति पितृसत्ता के बनाएं नियम, स्त्री विषयक परंपरागत सोच, धार्मिक और सांस्कृतिक संरचना में स्त्री की दिनचर्या, घरेलू और कामकाजी स्त्री की स्थिति में भिन्नता आदि बहसों को वैमर्शिक स्तर पर लाने की कोशिश की गयी है.राजेन्द्र यादव जौसे दृष्टि संपन्न संपादक के कारण 'हंस' पत्रिका में स्त्री विमर्श को लेकर खुले विचार को जगह दी गयी. इसका नतीजा यह हुआ कि स्त्री विमर्श को लेकर अनेक चिंतको ने अलग-अलग वैचारिक दृष्टि से विमर्श को आगे बढाने का काम किया. तस्लीमा नसरीन, सूर्यबाला, प्रभा खेतान जैसी स्त्री विमर्शकारो ने पितृसतात्मक समाज की सोच और उसकी संरचना में निहित कमियों को रेखांकित करते हुए उसमें स्त्री जीवन को परिभाषित करने कि कोशिश की है.

इस कोशिश में उन्होंने स्त्री विमर्श को नया आयाम दिया. तस्लीमा नसरीन का मानना है कि पितृसतात्मक समाज में स्त्री को आज भी कोमल और लाजवंती के रूप में ही देखा जाता है. जबकि सच्चाई यह है कि आज स्त्रियाँ पितृसतात्मक बंधनों को तोड़ कर आगे बढ़ने की कोशिश कर रही है.(11) जबकि सूर्यबाला समूचे पुरुष समाज को स्त्री शोषण के लिए नये तरीके ईजाद करने का आरोप लगाती हैं, इसके लिए वे कई मिसालें अपनी लेख में पेश करती हैं.(12) इसी क्रम में प्रभा खेतान जैसी स्त्री विमर्शकार स्त्री जीवन, स्त्री मुक्ति, स्त्री विमर्श और उससे जुड़े दुसरे सवालों को एक साथ देखने का आग्रह करती हैं. उनका मानना है कि जब तक हमारी सामाजिक संरचना में समस्याएं वर्त्तमान हैं तब तक स्त्री जीवन की स्वतंत्रता और उसकी अस्मिता पर बात करना बेमानी है. इस संदर्भ में वे लिखती हैं कि- " आज स्त्री संबंधी जितने भी मुद्दे उठाएं जा रहे हैं वे मानवीय रिश्तों में, स्त्री के खुद आतंरिक जगत में उसके मनोविज्ञान में हो रहे बदलावों को नजरअंदाज करते हैं. कोशिश है स्त्री- समस्या एंव मुक्ति के प्रश्न को अन्य दुसरी चुनौतियों के साथ जोड़कर ही देखा जाए. शायद यही वह बिंदु है जहाँ स्त्रियाँ अपने मूल प्रश्नों से विमुख हो जाती हैं. प्रगति के नाम पर उनके हाथ में शार्टकट से निकलने की फूहड़ नसीहत के सिवा और कुछ नहीं बचता. उसके पास उसका निजीजीवन नहीं रह जाता, बल्कि विकास के नाम पर वह नये-नये सामाजिक दबावों के अधीन ही अधिक होती जा रही हैं. मैं यहाँ पर पुरुषसत्ता के विकल्प में मातृसत्ता की बात नहीं उठा रही हूँ, मैं तो साझे के जीवन में विश्वास करती हूँ!...जब तक स्त्री स्वयं को, अपने समाज को अपनी निजी विशिष्टताओं के संदर्भो को अधिक गहराई से अभिव्यक्त नहीं करेगी. तब तक वह पितृसत्ता की नकल में इस अंधी दौड़ और उससे पैदा होने वाली तमाम विकृतियों के प्रतिरोध में एक वास्तविक शक्ति का विकास नहीं कर पायेगी."(13)

स्त्री विमर्श से संबंधित 'हंस' के जितने भी विशेषांक प्रकाशित हुए, उनमे स्त्री के जीवन, उसकी सामाजिक जिम्मेदारी, आर्थिक स्वतंत्रता आदि मुद्दों को लेकर वैमर्शिक लेखों और अस्मितापरक आलोचनात्मक दृष्टियों कि लम्बी फेहरिस्त है. विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए, वैमर्शिक लेख में स्त्री की नियती और पितृसतात्मक समाज में उसकी भूमिका को लेकर काफी बातें हुई हैं. इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि भारतीय समाज की चेतनशील स्त्री ने अपनी स्वतंत्रता और स्वच्छदंता को आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ अपने अस्मिता को हासिल तो कर लिया, लेकिन आज भी वह पुरुष द्वारा बनाए हुए सौन्दर्य के मानदंडो से मुक्त नहीं हो पायी है. इसका मतलब ये हुआ कि उसने भी स्वयं को देह के रूप में परिभाषित किया है. बाजार ने भले ही स्त्री के मासिक धर्म से लेकर सौन्दर्य प्रसाधन तक की वस्तुओं को स्त्री हित में निर्मित किया, लेकिन उसने आज भी स्त्री को उसकी देह और पितृसतात्मक सोच से मुक्ति नहीं दिलाई है. 'हंस' के स्त्री विशेषांक 'अतित होती सदी और स्त्री का भविष्य' (2000 ई.) में अर्चना वर्मा ने विशेष संपादक के रूप में अपनी संपादकीय में लिखा है- " स्त्री स्वयं अपने आप को लेकर, अपने शरीर को लेकर सदियों से इतनी सहज कभी नहीं थी. जितनी सदी के अंत में केयर-फ्री और विस्पर और माला डी और कोहिनूर और पीटर पैन और लिबर्टीना के माध्यम से अपने मासिक धर्म, अपने उन्मद रति भाव और अपने दैहिक ऐश्वर्य के विषय में हुई है- सदियों बाद एक भरपूर खूली साँस ले पाने में समर्थ परंपरागत समाज की नींव अगर स्त्री की शर्मिंदगी पर टिकी थी तो बेशक वह हिल उठी है और ऐसे कुछ दुष्ट चुटकुलों में निहित शरारती विचारों की चोट से तो पूरी इमारत ही अगर ढह जाएं तो आश्चर्य नहीं कि यदि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही स्वाधीनता की कुंजी है तो जब तक स्त्री के पास देह है और संसार के पास पुरुष तब तक स्त्री

चिंता की क्या जरुरत? जरुरत है तो देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त करके अपने अधिकार में लेने की क्योंकि यौन शुचिता, पतिव्रत, सतीत्व जैसे मूल्य स्त्री के सम्मान का नहीं, पुरुष के अंहकार की दीनता और असुरक्षा का पैमाना है, पितृसत्ता के मूल्य है और स्त्रियों की बेड़ियाँ हैं."(14)

'हंस' के स्त्री विषयक विशेषांको के विश्लेषण से स्त्री विमर्श जैसे साहित्यिक और अस्मितापरक विमर्श के मुख्य बिंदु को इस अध्याय में उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट हो गया कि स्त्री स्वतंत्रता और अस्मिता स्त्री मुक्ति अथवा आन्दोलन के मुख्य हिस्से हैं. स्त्री विमर्श का पहला प्रतिरोध पितृसत्ता के प्रति है. इसके साथ ही सामाजिक मूल्यों, धार्मिक विश्वासों, सांस्कृतिक मान्यताओं, परंपराओं से संघर्ष करते हुए अस्मितापरक इस विमर्श ने आन्दोलन का रूप लिया. इस आन्दोलन से स्त्री जाति के मुक्ति की संभावनाओं को बल मिला. साहित्यिक दृष्टि से रचनात्मक लेखन और आलोचनापरक दृष्टि का विकास भी हुआ. इससे साहित्य को पढने का नया दृष्टिकोण मिला. स्त्री विमर्श ने भारतीय सामाजिक संरचना और आर्थिक आत्मनिर्भरता में स्त्री की स्थिति और उपस्थिति को मजबूत किया. यही स्त्री विमर्श की बुनियादी उपलब्धि है.

**संदर्भ-**

1. जवाब दो विक्रमादित्य: राजेन्द्र यादव, पृ.-29
2. द सेकेंड सेक्स, सिमोन द बोउवार( अनु. प्रभा खेतान-स्त्री उपेक्षिता), पृ.सं-32
3. राजेन्द्र यादव से शोध छात्रा की बातचीत, अक्षर प्रकाशन, हंस कार्यालय, दिल्ली
4. संबोधन पत्रिका (त्रैमासिक) जनवरी-अप्रैल 2005, सं.-कमर मेवाड़ी, पृ.-156
5. वही
6. हंस, मार्च 2001, पृ.-27
7. हंस (औरत-उत्तरकथा) स्त्री विशेषांक नवंबर-दिसंबर-1994, पृ.-9-10
8. हंस,वही, पृ.-30
9. हंस, वही, पृ.-31
10. हंस, वही, पृ.-35
11. हंस, वही, पृ.-75
12. हंस,वही, पृ.-73
13. हंस, वही, पृ.-72
14. हंस (स्त्री विशेषांक), अतित होती सदी और स्त्री का भविष्य, जनवरी-फरवरी 2000

*** शोधार्थी, हिन्दी विभाग**
**जामिया मिल्लिया इस्लामिया**

# हिंदी नवजागरण और स्त्री

*सुमित कुमार

इतिहास साक्षी है कि स्त्रियों का शोषण विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रूपों में होता आया है। यही कारण है कि आज 21वीं सदी में पूरे विश्व में नारी मुक्ति के आंदोलन जोर-शोर चल रहे हैं। भारत जैसे देश में परंपरागत रूप में यह देखा जाता है कि स्त्रियाँ आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर करती हैं और इस कारण वे स्वयं को प्राप्त अधिकारों से भी वंचित हो जाती हैं। साथ ही वे पुरुषों के अधीन होकर उनके अनुरूप ही जीवन निर्वाह करने पर विवश हो जाती हैं, चाहे वह उचित हो या अनुचित। एक पितृप्रधान समाज की यह विडंबना है कि वो स्त्रियों को अपने अधीन बनाए रखने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाता है। जैसे कि समाज में स्त्रियों पर कई प्रकार की पाबंदी लगाना, घर से बाहर न निकलने देना, उनके आचार-विचार और व्यव्हार पर पुरुषों की तुलना में कई नियम-कानून लागू करना। शिक्षा, जो सबके लिए अनिवार्य होनी चाहिए उससे भी स्त्रियों को वंचित करना और यदि शिक्षा दी भी जाए तो यह सिखाना कि वे एक आदर्श और पतिव्रता स्त्री कैसे बने आदि। हालाँकि समय के प्रवाह और स्त्री के अधिकार के संघर्ष से परिस्थितियाँ बदली हैं और यह बदलाव विशेषकर नवजागरण काल से शुरू होता है। जिसमें स्त्रियों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में उनके अधिकार और योगदान को लेकर कई आंदोलन हुए। इस लेख में नवजागरण काल की विभिन्न स्थितियों पर नजर डालते हुए यह जानने की कोशिश की जाएगी कि स्त्रियों की दशा कैसी थी और उसमें सुधार किस प्रकार हुए और विशेषकर साहित्य का योगदान क्या रहा। सबसे पहले यहाँ भारतीय नवजागरण और हिंदी नवजागरण को जानना महत्त्वपूर्ण होगा।

पाश्चात्य से आए हुए शब्द 'रेनेसां' का हिंदी रूपांतरण 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' है जिसका अर्थ है 'फिर से जागना'। भारतीय नवजागरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कर्मेंदु शिशिर लिखते हैं, "भारतीय नवजागरण की शुरुआत के संकेत काफी पहले से मिले हैं, लेकिन सन् 1857 के बाद इसका तार्किक और व्यवस्थित स्वरूप स्पष्ट होने लगा। भारतीय भाषाओं में गद्य का विकास तेजी से हुआ और अपेक्षित आधुनिक विचारों के लेखन की शुरुआत हुई। इसकी मुख्य अवधारणा है, हिन्दू मुसलमानों की एकता, धार्मिक रूढ़ियों, पाखंडों का पर्दाफाश, भारतीय भाषाओं के वर्चस्व का आंदोलन, किसानों, देशी उद्योगों और कारीगरों की पक्षधरता, साम्राज्यवादी शोषण और लूट का विरोध, नारियों के उत्थान, दमन का विरोध, सामाजिक जड़ता के विरुद्ध प्रगतिशील और आधुनिक विचारों का वरण, विज्ञान, नई तकनीक और नए उद्योगों का आमंत्रण, भारतीय इतिहास की वास्तविक गरिमा की प्रतिष्ठा, व्यापक शिक्षा, अछूतोद्धार, भारतीय ज्ञान-विज्ञान की मीमांसा, औपनिवेशिक संस्कृति का विरोध।"[1]

ये वो समय था जब भारत औपनिवेशिक सत्ता के अधीन था और विभिन्न आंतरिक समस्याओं से जूझ रहा था। समाज में बाल-विवाह, सती प्रथा जैसी क्रूर और अमानवीय व्यवस्थाएँ थीं। छोटी उम्र में शादी हो जाने की वजह से स्त्रियाँ पूर्ण रूप से पराश्रित होती थीं। उनका मानसिक विकास एक सीमा में बंधा हुआ था। उन्हें अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तक नहीं थी। कम उम्र में शादी होने की वजह से वे कभी अपने स्वयं के आर्थिक उन्नति

के बारे में सोच तक नहीं सकती थी। कभी किसी स्त्री का पति मर जाता तो उसे सती होने के नाम पर जबरन अग्नि में प्रवेश करवाया जाता था। इस तरह की अमानवीय कार्यों के विरोध के लिए कई समाज सुधारकों ने आन्दोलन चलाए। स्त्रियों की शिक्षा की बात की और उन्हें आदर-सम्मान और स्वाभिमान से जीने के लिए संघर्ष की प्रेरणा दी। उस समय भारत ही नहीं पूरे विश्व में स्त्रियों की स्थिति और उसमें सुधार करने के बारे में चर्चा करते हुए लेखिका राधा कुमार अपनी पुस्तक 'स्त्री संघर्ष का इतिहास' में लिखती हैं, "उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा क्योंकि इस सदी में सारी दुनिया में उनकी(स्त्री) अच्छाई-बुराई, प्रकृति, क्षमताएँ एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस का विषय थे। यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति के दौरान और उसके बाद भी स्त्री जागरुकता का विस्तार होना शुरू हुआ और शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के बुद्धिजीवियों ने नारीवादी विचारों को अभिव्यक्ति दी। 19वीं सदी के मध्य तक रूसी सुधारकों के लिए 'महिला प्रश्न' केंद्रीय मुद्दा बन गया था जबकि भारत में खासतौर से बंगाल और महाराष्ट्र में समाज सुधारकों ने स्त्रियों में फैली बुराइयों पर आवाज उठाना शुरू किया।"[2] इसके साथ ही श्रीमती धर्मा यादव जी अपने लेख 'स्त्री विमर्श और हिंदी लेखन' में लिखती हैं, "1975ई. पूरे विश्व में अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में मनाया गया, जिसके परिणाम स्वरूप कोपहेगन में पहला अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन, नैरोबी में दूसरा अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन 1985 में और शंघाई में तीसरा 1995 में संपन्न हुआ। भारत में इस सम्मेलन की शुरुआत नवजागरण के साथ हुई। राजा राम मोहन राय ने 1818ई. में सती प्रथा का विरोध किया और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप 1829 में लॉर्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित किया। बाल-विवाह, विधवा-विवाह हो और बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध लड़ते हुए राजा राममोहन राय स्त्री के पक्षधर नजर आते हैं। स्वामी विवेकानंद और स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी स्त्री शिक्षा पर जोर दिया। इस प्रकार अमेरिका से शुरू हुआ यह आंदोलन भारत में स्त्री जाति की चेतना का स्वर बन गया।"[3]

उस काल में स्त्री का स्वयं अपने अधिकार के लिए जागना भी एक महत्वपूर्ण घटना थी, "बंगाल में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की (सन् 1822ई.) स्थापना की। दूसरी ओर गुजरात में दयानंद सरस्वती का जन्म हुआ (सन्1824-83 ई.) और बम्बई से उन्होंने सन् 1875 ई. में 'सत्यार्थ प्रकाश' निकाला और सन् 1877ई. में लाहौर पंजाब में आर्य समाज की स्थापना की। बंगाल में ही श्री रामकृष्ण परमहंस (सन्1834-86) और विवेकानंद (सन् 1866 ई.) का जन्म हुआ। महाराष्ट्र में गोविंद रानाडे का प्रार्थना समाज (सन् 1867 ई.) प्रभावशाली था। कहना नहीं होगा कि यह सभी मूलतः धार्मिक-सांस्कृतिक आंदोलन थे। राष्ट्रवाद इनकी बनावट में शामिल था। लगभग-लगभग एक ही समय में इन महान विचारकों को केंद्र में रखे ये आंदोलन जन्मे और विभिन्न अंचलों में फैल गए। एक महत्वपूर्ण रेखांकित करने योग्य बात यह है कि इन सभी आंदोलनो ने 'स्त्री विमर्श' को मुख्य मुद्दा बनाया। सती प्रथा निषेध हो या विधवा विवाह प्रारंभ, सभी ने स्त्री गरिमा और स्वतंत्रता की बात की। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्री ने स्वयं को अपनी और अपने परिदृश्य के बारे में सोचना शुरू किया।"[4]

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका (एक अज्ञात हिन्दू औरत),पंडिता रमाबाई और ताराबाई शिंदे के रूप में हमारे समक्ष है। ताराबाई शिंदे जैसी लेखिका के बारे में आलोक श्रीवास्तव लिखते हैं, "आज जब उन्नीसवीं सदी के संपूर्ण सांस्कृतिक आलोड़न के स्वरूप और उसकी प्रकृति पर प्रश्न चिन्ह लग रहे हैं,

उसकी ब्राह्मणवादी सीमाओं और बुर्जुआ हितों की परिधि स्पष्ट हो चुकी है, तब एक ऐसी रचना (स्त्री-पुरुष तुलना) दिखाई देती है, जिसने समाज के एक महत्वपूर्ण मुद्दे पर उसी युग में इस वर्ग की सांस्कृतिक जागरण के अंतर्विरोधों की, इस वर्ग के नारी-संबंधी दृष्टिकोण में स्पष्ट शिनाख्त की, उसे चुनौती दी और उसकी भर्त्सना की।"[5] ताराबाई शिंदे के बारे में वीरभारत तलवार जी लिखते हैं, "स्त्री-पुरुष तुलना किताब की लेखिका ताराबाई शिंदे उस दौर की दूसरी महत्वपूर्ण स्त्री थीं जिन्होंने भद्रवर्गीय पुरुष-सुधारकों के आन्दोलन की सीमाओं को न सिर्फ पार किया बल्कि उसकी कड़ी आलोचना भी की।"[6] स्वयं ताराबाई शिंदे के क्रांतिकारी विचार कुछ इस तरह हैं जिसमें वे विधवा विवाह के बारे में लिखती हैं, "पुराणों में पुत्रहीन राजा की मृत्यु के उपरांत वंश वृद्धि के लिए उसकी रानी को पर पुरुष से नियोग की सम्मति दी गई है। क्या यह परद्वार नहीं ? व्यभिचार नहीं ? ऐसी सम्मति के बजाय पुनर्विवाह की अनुमति ही क्यों न दे दी गई ?"[7] जहाँ एक और ताराबाई शिंदे अपने क्रांतिकारी विचारों को इस तरह व्यक्त करती हैं वहीं 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका अपना विरोध कुछ इस प्रकार जाहिर करती हैं, "हम सिवाय चारदिवारी मकान के और कुछ नहीं देखतीं और हम चाहे इसी को तमाम दुनिया ख्याल करें, चाहे इसी को हिंदुस्तान समझें। इसी जेल खाने में पैदा हुई हैं और इसी में मर जाएंगी।"[8]

उपर्युक्त बातों में भारतीय नवजागरण की मुख्य रूप से चर्चा की गई और अब हिंदी नवजागरण और उसमें स्त्रियों की स्थिति को जानने की कोशिश की जाएगी। हिंदी नवजागरण में भारतेंदु हरिश्चंद्र का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है। उस काल में भारतेंदु द्वारा किये गये कार्यों की सराहना करते हुए डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं, "भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जनता को उद्बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से 'जातीय संगीत' अर्थात लोकगीत की शैली पर सामाजिक कविताओं की रचना पर बल दिया। मातृभूमि-प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यव्हार, गोरक्षा, बालविवाह, निषेध, भ्रूण-हत्या की निंदा आदि विषयों को कविगण (भरतेंदु मंडल ) अधिकाधिक अपनाने लगे थे। राष्ट्रीय भावना का उदय भी इसी काल की अन्य विशेषता है।"[9]

हिंदी नवजागरण में भारतेंदु की अहम् भूमिका को बताते हुए कर्मेंदु शिशिर लिखते हैं, "सन 1857 में जिस संक्षिप्त आक्रोश का विस्फोट हुआ उसी के गर्भ से नवजागरण का उदय हुआ। इसकी गूंज न सिर्फ भारतीय भाषाओं में बल्कि लोक भाषाओं तक में सुनाई पड़ती है। हिंदी में इस नवजागरण का नेतृत्व भारतेंदु हरिश्चंद्र ने किया जब वह सन 1873ई. में हिंदी के नए चाल में चलने की बात करते हैं, तो वस्तुतः भारतीय मानस के नए करवट की चर्चा करते हैं। यह करवट भाषा का ही नहीं, विचारों की भी थी। यह भारत में चिंतन का ऐसा संधिकाल था जब एक ओर आधुनिकता का प्रवेश हो रहा था तो दूसरी ओर पुरानी परम्पराएँ टूट रही थीं। आधुनिकता, वैज्ञानिकता और नए राष्ट्रीय विचारों का तेजी से प्रसार हुआ। जिस बदलते समय में लेखकों के सामने नई चुनोती थी कि वह आगे बढ़ कर रूढ़िवादी विश्वासों का विरोध करते तथा नए परिवर्तनों का अलख जगाते। भारतेंदु ने अपने मंडल के तमाम लेखकों के साथ इन चुनौतियों से सार्थक संवाद किया। इस सार्थक संवाद का आधार था परंपरा का विवेक सम्मत विरोध और विवेक सम्मत स्वीकार।"[10]

भारतेंदु स्त्री शिक्षा के पक्षधर थे और इसी कारण उन्होंने कई प्रयास भी किये, जिससे स्त्री शिक्षा को बढ़ावा दिया जाए। उदाहरण के तौर पर उन्होंने 'बालाबोधानी' नामक पत्रिका स्त्रियों के लिए निकली थी। परन्तु

भारतेंदु जिस स्त्री शिक्षा की बात करते थे उनकी आलोचना करते हुए वीर भारत तलवार जी ने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में भारतेंदु और हंटर कमीशन के बीच हुए बातचीत को बताते हैं, "भरतेंदु ने लड़कियों की शिक्षा के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जगह चरित्र निर्माण, धार्मिक और घरेलू प्रबंध के बारे में बताने वाली किताबें पाठ्यक्रम में लगाने के लिए कहा।"[11] तलवार जी आगे लिखते हैं, "सिर्फ शिक्षा के प्रसंग में ही नहीं, विधवा विवाह के सवाल पर, पुरानी विवेकहीन रूढ़ियों को तोड़ने के प्रश्न पर और धार्मिक सुधारों के मामले में भी समाज में ऐसी ही उथल-पुथल मची थी, तीखा असर छोड़ने वाली तनावपूर्ण घटनाएँ घटी थीं जिससे इन घटनाओं और उथल-पुथल में भाग लेनेवाले मानवीय चरित्रों के अपार साहस और दृढ संकल्प का पता चलता है। अपने बलिया वाले भाषण में सुधारों के लिए साहस भरे संघर्ष की ज़रूरत पर जोर देते हुए भारतेंदु ने कहा था कि जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बहार न निकाले जाएंगें, दरिद्र न हो जाएँगे, वरंच जान से न मारे जाएँगे, तब तक कोई भी देश न सुधरेगा।"[12]

जहाँ एक ओर नवजागरण काल में स्त्रियों को लेकर लेखकों में कई रूढ़ियाँ दिखी, वहीं कुछ ऐसे सकारात्मक परिणाम भी दिखे जिसने स्त्री संघर्षों को और मजबूती प्रदान की। इन सकारात्मक पहल को हम श्रीमती धर्मा यादव के इन शब्दों में देख सकते हैं जो स्त्रियों के लिए सकारात्मक पहल थी उस काल की। वे लिखती हैं , "स्त्री मुक्ति का अर्थ पुरुष हो जाना नहीं है। स्त्री की अपनी प्राकृतिक विशेषताएँ हैं, उनके साथ ही समाज द्वारा बनाए गए स्त्रीत्व के बंधनों से मुक्ति के साथ, मनुष्यत्व की दिशा में कदम बढ़ाना, सही अर्थों में स्वतंत्रता है। स्त्री को अपनी धारणाओं को बदलते हुए, जो भी घटित हुआ, उसे नियति मानने की मानसिकता से उबरने की आवश्यकता है, लेकिन साथ ही पुरुष वर्ग को ही दोषी मानकर कटघरे में खड़े करने वाली मनोवृत्ति बदलनी होगी। स्त्रियों के अधिकारों के लिए लड़ने वाले तथा अपने लेखन व प्रकाशन के द्वारा स्त्री हित विचारने वाले पुरुषों के अमूल्य योगदान को हम विस्मृत नहीं कर सकते।"[13] वे कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आगे लिखती हैं, "हिंदी में पहला स्त्री काव्य संकलन 'मृदुवाणी' (1905) शीर्षक से मुंशी देवी प्रसाद ने प्रकाशित करवाया। इसमें 35 कवित्रियों की कविताएँ शामिल थीं। इसके बाद गिरिराज दत्त शुक्ला और ब्रजभूषण शुक्ल ने 'हिंदी काव्य कोकिलाएँ' (1933) कृति संपादित कर प्रकाशित की। ज्योति प्रसाद मिश्रा निर्मल के प्रकाशन में 'स्त्री कवि संग्रह' (1938) में प्रकाशित हुआ। यह संभवतः 'स्त्री साहित्य' पाठ्यक्रम के लिए तैयार किया गया था। इनके अतिरिक्त नामवर सिंह के प्रधान संपादकत्व में हिंदी कथा लेखिकाओं की 'प्रतिनिधि कहानियाँ' (1984) एवं रमणिका गुप्ता संपादित 'आधुनिक महिला लेखन' (1985) महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। स्त्री चेतना में पत्र-पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पहली पत्रिका 1874 में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रकाशित 'बाला-बोधनी' थी। इसके अतिरिक्त 'अर्पणा', 'आम-आदमी', 'हंस', 'मानुषी', 'निमित्त', 'उत्तरार्ध', 'उद्भावना', 'साक्षात्कार' आदि पत्रिकाओं में स्त्री अंक प्रकाशित हुए।"[14]

हिंदी नवजागरण काल स्त्रियों के लिए, उनकी मुक्ति के संघर्ष के लिए एक शुरुआत थी जिसे पिछले सौ वर्षों से अधिक में देखा गया है। स्वयं स्त्रियाँ भी इसके लिए प्रयासरत रहीं। यही कारण है कि आज नारीवादी साहित्य महिलाओं के हर अधिकारों की मांग करता है जो उसे मिलना चाहिए। हिंदी की कुछ प्रमुख नारी-विमर्श की पुस्तकें तथा लेखिकाएँ इस प्रकार हैं, "बाधाओं के बावजूद नयी औरत' (उषा महाजन,2001), 'स्त्री

सरोकार'(आशारानी व्होरा,2002), 'उपनिवेश में स्त्री' (प्रभा खेतान 2003 ), 'हम सभ्य औरतें' (मनीषा, 2002), 'स्त्रीत्व विमर्श : समाज और साहित्य' (क्षमा शर्मा, 2002), 'स्वागत है बेटी' (विभा देवसरे , 2002), 'स्त्री-घोष' (कुमुद शर्मा, 2002 ), 'औरत के लिए औरत' (नासिर शर्मा, 2003 ), 'खुली खिड़कियाँ', (मत्रेयी पुष्पा, 2003 ), 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास'(सुमन राजे ) इत्यादि।"[15]

इन सभी लेखिकाओं ने नारीवादी साहित्य को पुष्ट किया है तथा विभिन्न विषयों पर इनकी रचनाएँ हैं जो स्त्री के मंगल की कामना करती हैं। इन समकालीन लेखिकाओं के अलावे हिंदी साहित्य में कई ऐसी स्त्रियाँ हुईं जिन्होंने अपनी लेखनी द्वारा दिखाया कि वे भी सृजन की क्षमता रखती हैं और नवजागरण कालीन पुरुषवादी मानसिकता को चुनौती दी। इनमे राजेंद्र बालाघोष (बंग महिला ), सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा तथा कई ऐसी लेखिकाएँ शामिल हैं और आज लेखिकाओं की बड़ी संख्या पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर चल रही हैं, और अपनी भागीदारी न सिर्फ साहित्य में बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में दर्ज करा रही हैं।

उपर्युक्त व्याख्या में हिंदी नवजागरण काल में स्त्रियों की स्थिति को जानने की कोशिश की गई। जिसमें भारतीय नवजागरणकालीन समाज में मुख्यतः ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के विचारों तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी के सिद्धांतों का प्रभाव भी जनजीवन पर पड़ रहा था, और समाज में एक बड़े बदलाव लाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। आर्थिक, औद्योगिक और धार्मिक क्षेत्रों में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरंभ होने लगी थी। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने शैक्षिणिक क्षेत्र में भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्रेरणा प्रदान की। स्त्रियों से जुड़ी विभिन्न समस्याएँ जैसे सामाजिक, आर्थिक और राजनितिक समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया कि किस तरह स्त्रियाँ एक गुलामी की ज़िन्दगी जी रही थीं। उस समय में भारतन्दु जैसे लेखक भी रूढ़िवादिता से ग्रस्त नज़र आते हैं। साहित्यकार तक नारी के भलाई की बात तो करता था, परन्तु उसे परतंत्र ही रखना चाहता था। लेकिन स्त्रियाँ स्वयं ही अपने अधिकारों की मांग करने लगीं तथा उनके द्वारा पुरुषवादी सत्ता का विरोध भी उस काल में देखने को मिलता है। सती प्रथा, विधवा विवाह, बाल विवाह जैसे अनेकों मुद्दे उस काल के प्रमुख विषय थे जिसने आगे स्त्री मुक्ति के आन्दोलन का रूप लिया।

**सन्दर्भ :-**

1. शिशिर, कर्मेंदु (संपादक), 'हिंदी नवजागरण' (राधाचरण गोस्वामी), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ– 12.
2. कुमार, राधा, 'स्त्री संघर्ष का इतिहास', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, आवृति– 2011, पृष्ठ- 23.
3. यादव, श्रीमती धर्मा, 'स्त्री विमर्श और हिंदी लेखन' (लेख), www.strivimarsh.blogspot.in
4. राजे, सुमन, 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास'. भरतिय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , चौथा संस्करण– 2011, पृष्ठ-227.
5. शिंदे, ताराबाई, 'स्त्री-पुरुष तुलना', संवाद प्रकाशन, शास्त्रीनगर, मेरठ, प्रथम संस्करण2002, पृष्ठ-8.

6. तलवार, वीरभारत, 'रस्साकशी', (19 वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रान्त, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ- 236.
7. शिंदे, ताराबाई, 'स्त्री-पुरुष तुलना', संवाद प्रकाशन, शास्त्रीनगर, मेरठ, प्रथम संस्करण2002, पृष्ठ-8.
8. डॉ. धर्मवीर(संपादक), 'सीमंतनी उपदेश' (एक अज्ञात हिन्दू औरत ), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम मूल संस्करण 1982, लुधियाना से, वर्त्तमान आवृति-2006, पृष्ठ-44.
9. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (संपादक), 'हिंदी साहित्य का इतिहास', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973, आवृति- 2012, पृष्ठ-439.
10. शिशिर, कर्मेंदु (संपादक), 'हिंदी नवजागरण' (राधाचरण गोस्वामी), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ – 13.
11. तलवार, वीरभारत, 'रस्साकशी', (19 वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रान्त, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ- 42.
12. वही , पृष्ठ-54.
13. यादव, श्रीमती धर्मा, 'स्त्री विमर्श और हिंदी लेखन' (लेख) www.strivimarsh.blogspot.in
14. वही
15. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल (संपादक), 'हिंदी साहित्य का इतिहास', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973, आवृति- 2012, पृष्ठ-432.

---

***पीएच.डी., हिन्दी अध्ययन केंद्र**
**गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर**
**पता- फ़्लैट न. 89/09, 'च' टाइप, सेक्टर- 20**
**गांधीनगर, पिन- 382021**
**ईमेल- sumitk2004@gmail.com**
**मो. 8866508887, 9718817368**

# स्त्री विमर्श और समकालीन हिंदी कविता

*डॉ. गंगाधर चाटे

## शोध सारांश

*भारत में स्त्री विमर्श की शुरुआत आधुनिक काल में हुई है। आधुनिक शिक्षा के बदौलत यहाँ की स्त्रियों में भी नवचेतना पैदा हुई और वह विभिन्न क्षेत्रों में अपने अधिकारों की माँग करने लगी है। साहित्य के क्षेत्र में भी लेखिकाएं सक्रीय होकर विमर्शमूलक रचनाएँ लिखने लगी। साहित्य की विविध विधाओं में स्त्री विमर्श की बाढ़ सी आ गई। कविता विधा में कई कवयित्रियों ने अपनी कलम से स्त्री विमर्श को बलशाली किया है। समकालीन हिंदी कविता में स्त्री विमर्श की एक अलग ही धारा प्रवाहित हुई और उसने न केवल समकालीन कविता के परिदृश्य को विशाल किया, बल्कि उसे संपन्न भी किया है। कविता में पहली बार स्त्री केंद्र में आ गई और उसने अपनी दमदार उपस्थिति से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। समकालीन कवयित्रियों ने स्त्री जीवन के अनछुए एवं अव्यक्त अनुभवों को कविताओं के दायरे में लाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। उनके लेखन में स्त्री जीवन की एक नई गंध है, जिससे पाठक सुहासित हुआ। वे स्वयं स्त्री होने के नाते स्त्री अनुभवों की अधिकारनी बन गई। यह दूसरी बात है कि पुरुष कवियों ने भी अपनी पूरी ताकत से स्त्री सशक्तिकरण के इस कार्य को काफ़ी आगे बढ़ाया है। दरअसल, स्त्री विमर्श की गरिमा बढ़ाने में समकालीन हिंदी कविता का बहुमोल योगदान रहा है। समकालीन हिंदी कविता में स्त्री जीवन के बहुमुखी पहलुयों का संवेदनशील और सटीक चित्रण मिलता है जिससे न केवल स्त्री जीवन प्रकाशित होता है, अपितु सामाजिक संतुलन भी कायम होता है।*

**बीज शब्द**

*स्त्री, पुरुष, समाज, परिवार, घर, संरचना, वर्चस्व, भेदभाव, अस्मिता, अस्तित्व, पहचान, अधिकार, वंचित, मानसिक, शारीरिक, शोषण, पीड़ा, दर्द, संवेदनशील,समकालीन, कविता, कवि, चेतना, भागीदारी,विमर्श, हक़, आज़ादी, बंधन, योगदान, महत्व, समानता, सशक्त आदि।*

---

## भूमिका

भारतीय समाज में सबसे ज्यादा शोषित स्त्री रही है। सदियों से स्त्री का शारीरिक और मानसिक शोषण होता रहा है। पुरुष वर्चस्ववादी पारिवारिक संरचना में स्त्री का स्थान दोयम दर्जे का है। वैसे देखा जाये तो 'समाज' स्त्री और पुरूष दोनों से बनता है। दोनों ही समाज के समान आधारस्तंभ होते है। दोनों की समान भागीदारी से 'परिवार' नामक सामाजिक संस्था की निर्मिती होती है। किसी एक के अभाव में परिवार की परिकल्पना करना असम्भव है। फिर भी पुरूष वर्चस्ववादी संरचना में स्त्री के योगदान को नजरअंदाज किया जाता रहा है। इसी सामाजिक विडम्बना की अभिव्यक्ति समकालीन कविता में हुई है। समकालीन हिंदी कविता में स्त्री विमर्श का सशक्त हस्तक्षेप रहा है। हिंदी कवयित्रीयों ने स्त्री विमर्श को बल प्रदान करने में विशेष योगदान दिया हैं। सदियों से उपेक्षित स्त्री को कविता की मुख्यधारा में लाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। वे स्त्री की अस्मिता, अस्तित्व,

आज़ादी और अधिकारों की मांग अपनी कविताओं में लगातार कर रही है। उन्होंने स्त्री मुक्ति को अपना कवि कर्म माना है और स्त्री-पुरुष समानता के आंदोलन को खड़ा किया है।

**शोध आलेख**

स्त्री विमर्श को मजबूत करने में स्त्री कवयित्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वरिष्ठ कवयित्री कात्यायनी की कविताएँ एक तरह से स्त्री शोषण के इतिहास का पुनर्लेखन करती हैं। वह अपनी कविताओं में पुरुष के तानाशाही चरित्र का पर्दाफाश करती है। उनके कविता संग्रह का शीर्षक ही है- 'इस पौरुषपूर्ण समय में'। इस पुरूष वादी समय में स्त्री का जीना दुश्वार हुआ है। यह स्त्री के लिए अंधकार का युग है। कवयित्री के शब्दों में, "इस सान्द्र, क्रूरता से भरे अँधेरे में/जीना ही क्या कम है/एक स्त्री के लिए/जो वह/रचने लगी/कविता"।[1] कात्यायनी की 'रात के संतरी की कविता' में भारतीय स्त्री के विविध रूपों को प्रस्तुत किया गया है। हर रूप में स्त्री शोषित, उपेक्षित और उत्पीड़ित हैं। भारत के महानगर हो या गाँव दोनों जगह स्त्री की दुर्दशा को देखा जा सकता है। दिल्ली जैसे महानगर में स्त्री वेश्या व्यवसाय कर रही है, वह रात के बारह बजे ग्राहकों को आकर्षित कर रही है। इसके विपरीत एक कस्बे में हक़ीम स्त्री के गर्भपात के लिए औषधियों का प्रयोग कर रहा है। एक ओर स्त्री विश्वसुंदरी प्रतियोगिता में शामिल हो रही है, वहीं दूसरी तरफ स्त्री ईंट भट्ठों में काम कर रही है। इस तरह पुरुष प्रधान समाज में स्त्री सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़ी रही है। उसे जानबूझकर कर प्रगति की मुख्यधारा से दूर रखा गया है। पुरुषों ने स्त्रियों के आर्थिक विकास के अवसर और अधिकार छीन लिये है। स्त्रियों के अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही कात्यायनी ने अपनी कविताओं के माध्यम से पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती दी है। उनकी मग्दालिन की पहली प्रार्थना कविता, मग्दालिन की दूसरी प्रार्थना कविता, त्रियाचरित्रं पुरुषस्य भाग्यम, एक असमाप्त कविता की अति प्राचीन पांडुलिपि, एक भूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना, औरत और घर, एक गौरतलब सिचुएशन आदि कविताएं स्त्री की अस्मिता, संघर्ष, यातना और आजादी का आख्यान रचती है। यह दुनिया की आधी आबादी का महासंग्राम है। इस महासंग्राम को पुरुषों द्वारा लिखित इतिहास में स्थान नहीं मिला था। इसीलिए कात्यायनी ने अपनी कविता में ऐसे ही उपेक्षित स्त्री चरित्रों को स्थान दिया हैं। धर्म, राजनीति, समाज, शिक्षा आदि क्षेत्रों में स्त्री अपने बुनियादी अधिकारों से वंचित रही हैं। इतना ही नहीं वह यौन शोषण का भी शिकार रही हैं। कात्यायनी की 'मग्दालिन की पहली प्रार्थना कविता' में मग्दालिन मुक्ति के लिए ईसा के चरणों में अपनी देह यौवन समर्पित कर देती है। फलस्वरूप ईसा उसे सात प्रेतात्माओं से मुक्ति दिला देते है। इसी श्रृंखला की दूसरी कविता में भी मग्दालिन प्रभू येशू से बार-बार अपने यौवन को समर्पित करने की बात कह रही है। धर्म के नाम पर स्त्री का यौन शोषण होता रहा है। राजनीति के क्षेत्र में भी स्त्री की स्थिति बेहद खराब रही है। इतिहास में वह राजा-महाराजाओं के जनानखाने में रानी, पटरानी, दासी, वेश्या बनकर रह गई थी। इस दृष्टि से कात्यायनी की 'एक भूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना' कविता विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत कविता में कवयित्री ने राजसत्ता का अनैतिक चरित्र उजागर किया है। इस कविता में एक उत्पीड़ित नगरवधू है । वह राजगृह में बंदी है। वह दुर्गपति से दुर्ग से बाहर जाने के लिए प्रार्थना कर रही है। वह कहती है कि तुम्हारे मीनाबाजार में मेरी दम घुटने लगा है। मैं

[1] कात्यायनी, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ. 55, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999

तुम्हारे मदनोत्सव के लिए अनुपयोगी हूँ, क्योंकि मेरा यौवन ढल रहा है। अब मैं न ग्राहकों को प्रसन्न कर सकती हूँ, न ही विद्युत गति से नृत्य कर सकती हूँ। मैं दिन भर मुस्कुरा नहीं सकती, न निर्माता निर्देशक को रिझा सकती हूँ। मैं दूरदर्शन पर विज्ञापन करने योग्य भी नहीं हूँ। इसीलिए मुझे जाने दो। इसप्रकार स्त्री मुक्ति की छटपटाहट प्रस्तुत कविता में दिखाई देती है, साथ ही पुरुषों के दुष्चरित्र को देखा जा सकता है। स्त्री को ज्ञान विज्ञान, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी हाशिये पर रखा गया है। कात्यायनी की एक असमाप्त कविता की अतिप्राचीन पांडुलिपी व त्रियाचरित्रमं पुरुषस्य भाग्यम कविता में ज्ञान प्राप्ति के लिए स्त्री को किन -किन हालातों, परिस्थितियों और परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है इसका सटीक चित्रण मिलता है। गुरू बिना ज्ञान अधूरा इस कहावत से स्त्री ज्ञानार्जन की शुरुआत करती है। वह गुरू की खोज में निकलती हैं। उसे एक बड़ी उम्र के गुजरने के बाद गुरुवर्य मिले। गुरुदेव ने परीक्षा लेनी चाहीं। गुरु ने कहा पेड़ बनकर फल और छाया दो। वह पेड़ बन गई। पेड़ के नीचे छाया में आराम करने बहुत सारे लोग आ गये। पेड़ के साथ लोगों के किये गये व्यवहार का अद्वितीय शब्दांकन कवयित्री करते हुए लिखती हैं, "बहुत सारे लोग आये भूख मिटाने/मेरी छाया में करने आराम/कुछ ने मेरी टहनियां तोड़ डाली/मसल डाली फुनगियाँ/कुछ काट दी डालियाँ/कुछ ने तो तनों की खाल खुरचकर अपने नाम लिख डालें"।[2] इस कविता में पेड़, धरती, किताब, आकाश आदि प्रतीकों के द्वारा स्त्री यातना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, साथ ही ज्ञान के क्षेत्र में रहे पुरूष वर्चस्व को चुनौती दी है। 'त्रियाचरित्र पुरुष्य भाग्यम' कविता में भी पुरूष रूपी गुरू के भोग -विलासी चरित्र की पोल खोल दी है। इस कविता में स्त्री परिश्रम, संघर्ष और समर्पण की कहानी कहती है, जबकि पुरूष स्त्री के निजी प्रेम को भी सार्वजनिक करने की कोशिश करता है। इसीलिए गुरू ने अंतिम परीक्षा में उस स्त्री के प्रेम की माँग कर दी और हृदय चीरकर दिखाने को कहा। स्त्री शिष्या को लगा कि अब मेरा प्रेम भी छिपा नहीं रहेगा। गुरुवर्य ने छाती चीरकर देखा, तो वहाँ सेवा, निष्ठा, लगन और श्रद्धा मिली। तात्पर्य यह है कि स्त्री को ज्ञान पाने के लिये अपने अंतर्बाह्य को समर्पित करना पड़ता है। कात्यायनी की औरत और घर, एक गौरतलब सिचुएशन यह दोनों कविताएं स्त्री जीवन की करुणा, विसंगति और विडंबना को उजागर करती है। पुरूष सोचता है कि स्त्री का घर से बाहर सड़क पर निकलना खतरनाक है। इसीलिए पुरूष घर, संस्कार और मूल्यों के नाम पर स्त्रियों को बंधनों में रखता है। शायद ही इससे पूर्व किसी समकालीन कवियों ने घर को बंधन के रूप में देखा है। कात्यायनी का यह दृष्टिकोण ही उन्हें समकालीन कविता में अपनी एक अलग पहचान बनाने में मदद करता है।

निर्मला पुतुल कृत 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' कविता संग्रह की कविताओं के केंद्र में आदिवासी स्त्री है। उन्होंने अपनी कविताओं में स्त्री के अंतर्मन की खोज की है। उनकी उतनी दूर मत ब्याहना बाबा, ढेपचा के बाबू, माँ के लिए ससुराल जाने से पहले आदि कविताएँ स्त्री के अंतरंग की विविध छबियाँ प्रस्तुत करती हैं। 'माँ के लिए ससुराल जाने से पहले' कविता में आदिवासी समाज की बेटी है, जो अपनी माँ से बिदाई का गीत गुनगुनाती है। माँ से बेटी कहती है कि, हे माँ ! मैं एक दिन तुम्हारा घर आँगन छोड़कर ससुराल चली जाऊंगी, फिर भी मेरा कुछ अंश यहीं रहेगा। हर काम तुझे मेरी याद आयेगी। जब भैया, बापू खेत चले जायेंगे और तुम घर पर अकेली रह जाओगी। ऐसे में तुम्हें जब प्यास लगेगी और तुम उठ नहीं पाओगी, तो तुम्हें पानी कौन देगा? इसीलिए वह पिता से

---

2 कात्यायनी, इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ. 60, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999

 ISSN: 2454-2725

आत्मनिवेदन करती हैं कि उतनी दूर मत ब्याहना बाबा जहाँ मुझसे मिलने के खातिर तुम्हें घर की बकरियाँ बेचनी पड़ेंगी। जाहिर है कि आदिवासी स्त्री के अंतर्मन के सुंदर बिम्ब हिंदी कविता में पहली बार दिखाई देते हैं।' ढ़ेपचा के बाबू' कविता में अकेली स्त्री के अंतर्मन की करुण व्यथा सुनाई देती है। प्रस्तुत कविता में पुरूष सत्तात्मक समाज में जिस स्त्री का पति उसे छोड़कर रोजगार की तलाश में शहर गया हो ऐसी स्त्री की कठिनाइयों को प्रतिपादित किया गया है। निर्मला पुतुल जी की कविता में स्त्री अपने अस्तित्व की तलाश कर रही हैं। वह पुरूष से अपना अलग अस्तित्व और वजूद चाहती हैं। उसने खुद की जमीन-आसमान और घर-परिवार की परिकल्पना की है। इस दृष्टि से उनकी 'अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री' कविता विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत कविता में कवयित्री ने स्त्री को स्वयं की दृष्टि से दुनिया को देखने की अपील की है। वह कहती हैं कि हर बेचैन स्त्री घर प्रेम और जाति से अलग अपनी एक ऐसी जमीन तलाशती है जो सिर्फ उसकी अपनी हो।उसे एक उन्मुक्त आकाश चाहिए जो शब्द से परे हो। निर्मला जी ने 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए' कविता में पुरुषों की अवधारणाओं का प्रतिरोध करके अपना उससे अलग अस्तित्व स्थापित किया है। उनकी कविता में अपने घर की तलाश करती स्त्री है। इसमें वह स्त्री है जो पुरुषों के घर को अपना घर नहीं मानती। वह कहती हैं कि इस घर पर मेरे पति के नाम की नेम प्लेट लगी है। उसे लगता है कि मेरा घर कहाँ है। वह खुद एक घर बन कर रह गई है जिसमें गर्भ से लेकर बिस्तर तक कई लोग रहते हैं। वह कहती है, "धरती के इस छोर से उस छोर तक/मुट्ठी भर सवाल लिए मैं/दौड़ती हांफती भागती/तलाश रही हूँ सदियों से निरंतर/अपनी जमीं,अपना घर/अपने होने का अर्थ"।[3] यह कविता स्त्री विमर्श में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें पुरूष विरोध की अंधी दौड़ नहीं है, बल्कि स्त्री अस्मिता की तलाश है। यहाँ स्त्री के हक्क छीनने की बात नहीं है, बल्कि स्त्री अधिकारों की भावनिक माँग है। इधर कुछ दिनों से स्त्री को भले ही आर्थिक अधिकार मिले, किन्तु भावनिक हक्क नहीं मिले हैं। इसका बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत कविता है। निर्मला पुतुल ने स्त्री सुरक्षा को भी अपनी कविताओं की अंतर्वस्तु बनाया है। पुरूष प्रधान सामाजिक संरचना में स्त्री असुरक्षित महसूस कर रही है। पुरुष हमेशा ही जाल बिछाये बैठा रहता है, जिसमें स्त्री फँस जाये-हरिण की तरह। इस दृष्टि से निर्मला जी की 'आस पड़ोस के छोटे भाई से' यह कविता विशेष ध्यान आकर्षित करती है। प्रस्तुत कविता में एक बेटी को बाप ने एक छोटी- सी मदद के बदले एक दुष्ट के हवाले कर दिया। उसके बापू ने उसे शाम को झरने से पानी लाने को भेज दिया। उसे रास्ते में पड़ोसी बाबू मिले और साथ चलने की जिद्द कर बैठे। वह तो अच्छा हुआ कि उसने उसे साथ लिया। वह दुष्ट घात लगाकर झाड़ी में बैठा था। बाबू भाई ने उसका इरादा समझ लिया और एक ही बाण में उसकी आँख फोड़ दी, नहीं तो वह दुष्ट उसे नोच नोचकर खा जाता। स्त्री सुरक्षा का प्रश्न उठाती हुई कवयित्री निर्मला पुतुल लिखती है, "पर भाई मेरे/आज तो सैकड़ों दुष्ट बाघ घूरते है मुझे/ललचाई नजरों से/मौका पाकर नोच खसोट लेना चाहते है"।[4] प्रस्तुत कविता पुरुषों की पाशविकता का पर्दाफाश करती है। इसी कड़ी में ढ़ेपचा के बाबू, सुगिया, कुछ मत कहो सजनी किस्कू आदि कविताओं को पढ़ा जा सकता है। इन कविताओं का मूल प्रतिपाद्य यही रहा है कि पुरूष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है।

---

[3] निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ. 30, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005

[4] निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ.15, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005

निर्मला जी कविता स्त्री शोषण को उजागर करती है। स्त्री शारीरिक और मानसिक शोषण का शिकार हुई है। आदिवासी स्त्री मेहनत का काम करती हैं। उसने चटाई बुनने झाड़ू लगाने से लेकर हल चलाने तक के सभी शारीरिक परिश्रम किये हैं।वावजूद इसके स्त्री की विडंबना देखिये-"कैसी विडंबना है कि जमीन पर बैठ बुनती हो चटईयाँ/पंखा बनाते टपकता है/तुम्हारे कटियाये देह से टप-टप पसीना"।[5] जाहिर है कि आदिवासी स्त्री को श्रम का उचित मुआवजा नहीं मिलता हैं। उसके शोषण का षड्यंत्र बनाया गया है। निर्मला जी ने अपनी कविता 'कुछ मत कहो सजनी किस्कू' में आदिवासी स्त्री के शारीरिक शोषण का मार्मिक चित्रण किया है। प्रस्तुत कविता में सजोनी किस्कू ने हल चलाया था। उस समय जालिमों ने बैल बनाकर उसे हल में जोता था। कवयित्री कहती हैं कि संथाल विद्रोह के समय तुम्हने हल जोतने से लेकर फसल काटने तक के सारे कार्य किये हैं। आदिवासी स्त्री यौन शोषण का भी शिकार हुई हैं। निर्मला जी की अनेक कविताएँ इसका प्रमाण है। उनकी चुड़का सोरेन से, ढ़ेपचा के बाबू, ये वे लोग हैं जो, आस पड़ोस के छोटे भाइयों से, सुगिया आदि कविताओं में स्त्री के यौन शोषण पीड़ा है। आदिवासी स्त्री अपनी बनाई वस्तु लेकर जब बाजार में जाती हैं, तो उसकी ओर कामुक नजरों से देखा जाता है। आदिवासी पंचायत भी स्त्री को नंगा करके सारे गाँव में घुमाने की सजा देती रही हैं। साथ ही आदिवासी लड़कियों को शहर में बेचा जाता रहा है। उन लड़कियों की देह को व्यापार की वस्तु बनाकर पेश किया जाता हैं। निर्मला जी की क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए, अपने घर की तलाश में, माँ के लिए ससुराल जाने से पहले, उतनी दूर मत ब्याहना बाबा, मैं वह नहीं हूँ जो तुम समझते हो आदि कविताएँ आदिवासी स्त्री के मानसिक शोषण की अभिव्यक्ति करती हैं। निर्मला पुतुल ने अपनी कविता में स्त्री के संघर्ष को भी विशेष स्थान दिया है। हमेशा से ही आदिवासी स्त्री के जीवन में संघर्ष लिखा है। निर्मला जी की 'पहाड़ी स्त्री' कविता आदिवासी समाज के स्त्री संघर्ष गाथा कहती हैं। पहाड़ी स्त्री अपने सर पे सूखी लकड़ियों का गट्ठर लादे पहाड़ से उतर रही है। वह बाजार में लकड़ियाँ बेचकर अपने घर के पेट की आग बुझाएगी। वह अपने बच्चे को चादर में लपेटकर पीठ पर लटकाये धान रोप रही है। स्पष्ट है कि आदिवासी स्त्री विपरीत परिस्थितियों में अपना जीवन यापन कर रही है। उसका समूचा जीवन संघर्ष से भरा हुआ है। सुख, सुविधा और आनंद उसे अपने जीवन में शायद ही मिले हो। निर्मला जी की कविता में स्त्री द्वारा किए गए प्रतिरोध की ध्वनि भी सुनाई देती है। स्त्री का यह प्रतिरोध उस व्यवस्था और संरचना के खिलाफ है जिसने उसे केवल उपभोग की वस्तु माना है।

नीलेश रघुवंशी की अधिकांश कविताएँ स्त्री केन्द्रीय हैं। उनकी कविताएँ स्त्री विमर्श को केवल आगे बढ़ाने का काम नहीं कर रही हैं, बल्कि वह उसे एक नई ऊंचाई पर ले जाती हैं। वह अपनी कविताओं में स्त्री के परिश्रम, संघर्ष और समर्पण को सहजता से प्रकट करती है।उनकी सत्रह साल की लड़की, कविता लिखने वाली लड़की, घर निकासी, मेहँदी, मेरी कहानी, एक आशंका के साथ जैसे आग, ढ़ाबा आदि कविताएं स्त्री जीवन के परिदृश्य को उभारती है । सत्रह साल की लड़की कविता में स्त्री के आंतरिक और बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति हुई हैं। कवयित्री कहती है कि सत्रह साल की उम्र में लड़की घर बसाने के सपने देखती है। वह हमेशा सामाजिक बंधनों में रहती है। उसे नहीं लगता कि चिड़ियों की तरह आसमान में उड़ जाये। इसीतरह आपकी बिना टिकट यात्रा करती लड़की

---

[5] निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ. 12, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005

कविता में अभाव से भरे स्त्री जीवन के सपने क्या होते है? इसका मार्मिक चित्रण है। घर निकासी कविता में माँ की आशा आकांक्षा का चित्रण किया गया है। मेहँदी कविता में संघर्षशील स्त्री जीवन है।प्रस्तुत कविता में लड़की के हाथों में मेहँदी होने के बावजूद वह टाइप रायटर चला रही है। ऐसे ही कुछ लड़कियाँ खाना पकाती हैं, बर्तन कमीज धोती हैं। नीलेश जी की मेरी कहानी कविता स्त्री जीवन को चेतना प्रदान करती है। कवियत्री कहती है कि इस दुनिया में आना है तो शेर की तरह आना होगा, स्त्रियाँ अब खरगोश की तरह नहीं रहेगी। यहाँ स्त्री शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। एक आकांक्षा के साथ कविता में कवयित्री ने दफ्तर में काम करनेवाली प्रेग्नेंट महिला का मार्मिक चित्रण किया है। कवयित्री कहती हैं कि प्रेग्नेंट होने के बावजूद वह दफ्तर में काम करने आई है। कवयित्री उसके अंतर्मन को समझ रही है, "चाहती है वह भी और औरतों की तरह/सेब फल और मेवा खाते रहना/इच्छा है उसकी भी/बुनते हुए स्वेटर बुनती रहे कुछेक सपने"।[6] नीलेश जी की 'ढ़ाबा' कविता में मेहनती लड़की का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत कविता में एक लड़की विपरीत परिस्थितियों में लड़ रही है। वह ढ़ाबे पर बैठकर स्कूल का होम वर्क करती है। अपने पिता के साथ मिलकर काम करती है। इस तरह नीलेश रघुवंशी ने अपनी कविताओं में स्त्री जीवन का सुंदर चित्रण किया है। उन्होंने स्त्री विमर्श को गरिमा प्रदान करने का कार्य किया है।

स्त्री विमर्श को सशक्त बनाने में पुरुष कवियों का भी विशिष्ट योगदान रहा है। कवि पवन करण ने स्त्री विमर्श को एक नई दिशा दी है। स्त्री विमर्श को मजबूती, ऊँचाई और गरिमा प्रदान करने में पवन का अभूतपूर्व योगदान रहा है। उनकी कविता में चित्रित स्त्री न भारतीय रूढ़ियों का पालन कर रही है, न ही पाश्चात्य अपसंस्कृति का अंधानुकरण। वह तो अपनी प्राकृतिक, शारीरिक और मानसिक जरूरतों की मांग करती है। पवन की कविता में स्त्री अतिरेकी विद्रोह नहीं करती, बल्कि वह अनिवार्य आवश्यकताओं की जिद्द करती है। उनके यहाँ औसत कामनाएँ करती स्त्रियाँ अधिक दिखाई देती है। इस दृष्टि से उनका 'स्त्री मेरे भीतर' कविता संकलन विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत कविता संकलन की अंतर्वस्तु में स्त्री जीवन के अनछूये अनुभवों को शब्दबध्द किया है। स्त्री के प्रति कवि की सोच, समझ और संवेदनशीलता अद्वितीय है। पवन के प्रस्तुत कविता संग्रह का मूल आधार स्त्री ही है। सभी रूपों में स्त्री सामाजिक रूढ़ियों के शिकंजे में फंसी हुई है। वह कई सामाजिक बंधनों में कैद है। इसी कैद से मुक्ति एवं शिकंजे से निजात पाने की कोशिश पवन की कविताओं में दिखाई देती है। उनकी 'जिसे तुम मेरा पिता कहती हो' कविता में माँ के संयमी, सहनशील और शांत स्वभाव का चरित्रांकन किया गया है। इस कविता में माँ ने अपने बेटे को पिता के पास शहर भेज दिया है। पिता ने दूसरी शादी कर ली है। वह शहर में अपनी नई पत्नी के साथ रहता है। माँ गांव में अकेली रहती है। पिता को माँ की कोई चिन्ता नहीं है। बेटा माँ के पास गांव लौट आता है। वह सोचता है कि पिता ने मेरी माँ को क्यों छोड दिया? उसमें क्या कमी थी? उसे अपने पिता के इस क्रूर व्यवहार पर बहुत क्रोध आता है। बावजूद उसकी माँ शांत रहती है। यहाँ माँ के मन की उदारता, त्याग और समर्पण दिखाई देता है। कवि पवन ने 'बीजने' कविता में कर्मशील माँ का स्मरण किया है। कवि के अनुसार माँ को बदलते मौसम का अहसास है। बारिश के पहले केवल माँ को पता है कि घर में पुराने कपड़े कहाँ रखे है? किसी को पूछा जाए कि खजूर के पत्तों में बसे ठंडी हवा के झोंके घर के किस कोने में पड़े है? कोई नहीं बता पाता है। माँ ही इसे जानती है।

[6] निलेश रघुवंशी, घर निकासी, पृ. 68, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009

प्रस्तुत संग्रह में 'स्त्री मेरे भीतर' शीर्षक कविता है। इसमें एक संवेदनशील माँ है। माँ की आँखें जरा-सी बात पर गिली हो जाती है। 'प्यार में डूबी हुई माँ' इस संग्रह की सबसे क्रान्तिकारी कविता है। इसमें माँ का एक प्रेमिका रूप है। अपनी माँ के प्रेम सम्बन्ध को देखकर बेटी खूश है। यह एक विधवा माँ है। पिताजी के गुजर जाने के बाद माँ ने कई यातनाएँ सही है। उसका जीवन उजड़ गया था। ऐसे कठिन समय में माँ के जीवन में प्रेमी का प्रवेश हुआ। बेटी कहती है, "प्रेम करती हुई माँ इन दिनों/बिल्कुल मुझ जैसी लगने लगी है/जैसे मेरे स्कूल की सहेली/शरारती, चंचल और हँसमुख"।[7] निश्चित ही इन कविताओं में कवि ने स्त्री मन की उदारता, सहृदयता, ममता, संवेदनशील, सहनशीलता आदि का मार्मिक चित्रण किया है, साथ ही प्रेम करती माँ में साहसी स्त्री का रूप रेखांकित किया गया है। पवन करण की अधिकांश कविता में स्त्री का पत्नी रूप में रेखांकन मिलता है। परिवार पति-पत्नी के अंतर्संबंध से बनता है। कवि ने इन दोनों के अंतरंग क्षणों को अपनी कविता की अन्तर्वस्तु बनाया है। उनकी 'ये भी कोई भूलनेवाला दिन है' और 'उस अहसास के बारे में' यह दोनों कविताएँ स्त्री-पुरुष के प्रथम संबंध को विश्लेषित करती है। पहली कविता में पति अपनी पत्नी को विवाह की सोलहवीं वर्षगाँठ पर आज के दिन के विशेष महत्त्व के बारे में पूछता है। पत्नी कहती है कि यह भी कोई भूलनेवाला दिन है। दूसरी कविता में पति पत्नी को छोड़कर दूर जाता है। घर से जाते समय वह पत्नी होठों पर चुम्बन छोड़ जाता है। उसका दावा है कि चुम्बन का अहसास नहीं मिटेगा। वह टेलिफोन पर पत्नी से इस अहसास के बारे में पूछेगा। कवि पवन ने अपनी कविताओं में देह को नकारा नहीं है। भारतीय समाज व्यवस्था में काम जीवन पर चर्चा करना वर्ज्य माना है। लेकिन कवि ने देह से सफ़र की शुरूआत करके स्त्री के मन में प्रवेश किया है। उनकी कविता पढ़कर पाठक कामोत्तेजना का अनुभव नहीं करता, बल्कि स्त्री के प्रति सहानुभूति और संवेदना अनुभूति करता है। पवन की 'स्तन' शीर्षक कविता सबसे बोल्ड लगती है। लेकिन कविता पढ़कर वाचक के मन में करूणा उत्पन्न होती है। प्रस्तुत कविता में ऐसी पत्नी है जिसका एक स्तन कैंसर होने के कारण काट दिया गया है। परिणाम स्वरूप उस स्त्री ने अपना सौंदर्य खो दिया है। यह पीड़ित स्त्री अपने अतीत के सुखद क्षणों को याद कर रही है। जब उसका पति उसके दो स्तनों के बीच अपना सिर धँस देता और तब तक देखता जब तक वह शर्म से भागकर चली नहीं जाती। आगे परिवेश बदला। उसके एक स्तन में रोग हुआ। उस एक स्तन को ऑपरेशन करके निकाल दिया। अब उसका पति उसकी ओर नहीं देखता। यह एक पत्नी के जीवन का सबसे बड़ा दुख है। समूची कविता करूणा को उत्पन्न करती है। काम जीवन जैसे वर्जित विषय पर इस तरह की मार्मिक कविता लिखना पवन करण जैसे मेधावी कवि के बस की बात है। पत्नी के इस दुख का अहसास संवेदना की वस्तु में उतारकर कविता लिखना पवन करण के सिवाय किसी अन्य कवि को शायद ही संभव हुआ हो। परिवार में स्त्री का एक रूप बहन का होता है। पवन ने बहन को लेकर भी कविताएँ लिखी है। प्रस्तुत संग्रह में 'मौसरी बहनें' और 'बहन का प्रेमी' यह दो कविताएँ बहन का साक्षात्कार कराती है। 'मौसेरी बहनें' कविता में दो बहनें हैं। यह दोनों एकसी गलतियाँ करती है।- कवि को यह स्त्री की आज़ादी लगती है। कवि आगे कहते है कि दोनों को इस बात का पूरा ध्यान है कि बड़ी गलती न हो जाए। यही पवन की कविताओं विशेषता है। उनकी कविता में स्त्री औसत कामनाएँ करती है, अतिरेकी नहीं। उनकी 'बहन का प्रेमी; पाँच कविताएँ' में भी ऐसी बहन

[7] पवन करण, स्त्री मेरे भीतर, पृ. 92, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006

का चित्रण है जो प्रेम करने लगी है। निश्चित ही हमारी सामाजिक व्यवस्था में बहन का प्रेम प्रकरण स्वीकार्य नहीं किया जाता है। स्त्री पर लादे गये सामाजिक बंधनों का पर्दाफाश यह कविता करती है।

राजेश जोशी की कविताओं में स्त्री जीवन की वेदना, संवेदना और संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। समाज में स्त्री का प्रत्यक्ष-परोक्ष योगदान होता है, जिसे पुरुष सत्तात्मक संरचना में नजरअंदाज किया जाता है। परिवार में स्त्री सुबह से लेकर शाम तक छोटे-मोटे काम करती है। ।उसका पारिवारिक व्यवस्थापन ही घर को सुंदर बनता है। उसे घर की वस्तु की निश्चित जगह पता है। वह पति की गलतियों को ढूँढ निकालती है।वह कवि को वाश बेसिन पर दाढ़ी काटने पर टोकती है। इससे नाली बंद हो जाएगी। बिस्तर पर गीला तौलिया न डालने के लिए कहती है। उतारे हुए कपड़े खूँटी पर टाँगने की जिद्द करती है।कवि के शब्दों में, "कितने आलसी होते जा रहे हो तुम/बरसों से इस पर तुमने पालिश नहीं किया/पिछली बरसात की मिट्टी चिपकी है इन पर अभी तक"।[8] वैसे तो यह छोटी या मामूली बातें है, किन्तु इनका भी अपना एक महत्व है। राजेश की कविता में ही स्त्री जीवन एवं कार्य की इतनी गहराई पाई जाती है। उनकी 'लहसुन की कली' कविता में रसोई घर का अप्रतिम प्रतिबिम्ब है। इस कविता में स्त्री रसोई घर में लहसुन से अलग की गई कली को अपने अँगूठे से दबा रही है और छिलकों को अलग कर रही है। उसमें से लहसून की चिकनी सी कली बाहर आती है। उस स्त्री का पति बाहर धूप में कुर्सी पर बैठकर लहसुन की कलियाँ चबा रहा है और अपने कोलेस्ट्राल को संतुलित कर रहा है। इस कविता में स्त्री योगदान का जो प्रतिबिम्ब उभरता है, वह लम्बे समय तक मानसपटल चलचित्र की तरह चलता रहता है। स्त्री के पारिवारिक योगदान को नकारा नहीं जा सकता। राजेश जी की बहन और बेटी की विदाई कविता भी पारिवारिक प्रेम से ओतप्रोत है। कवि ने 'बहन' कविता में अपने बहन के योगदान को रेखांकित किया है। बचपन में कवि की बहन बाल ओंछती थी। पहाड़े लिखने में मदद करती थी। इतना ही नहीं वह कवि को मार या डाँट से बचाती थी। कवि के जन्म की खबर भी बहन ने मुहल्ले में चिल्ला चिल्लाकर सुनाई थी।-इस तरह बहन का जीवन में योगदान महत्वपूर्ण है। 'बेटी की विदाई' भी इसी श्रृंखला की कविता हैं। इसमे स्री का बेटी रूप दिखाई देता है। प्रस्तुत कविता में तीन मित्र चौथे मित्र की शादी में बरसों बाद मिल जाते है।चौथे की बेटी की विदाई देखकर सभी को अपनी बेटी की याद आ जाती है और सभी की आँखें गिली हो जाती है।इसतरह पुरूषों के जीवन में स्त्री माँ, पत्नी, बहन, बेटी आदि रूपों में योगदान देती है। उसके बिना पुरूष अधूरा है। इसीलिए कवि राजेश जोशी कहते है, "इस आधे वृत्त को पूरा करने ही/बार-बार तुम्हारे पास आता हूँ/तुमसे अलग होकर हर बार/आधा रह जाता हूँ"।[9] निश्चित ही हमें इस आधी दुनिया के योगदान को स्वीकार करना है। राजेश जोशी की रैली में स्त्रियाँ नहीं कहना, मुलाकात, जरिता के बच्चों की कहानी आदि कविताओं में स्त्री के प्रेम, समर्पण और संघर्ष की गाथा है। 'रैली में स्त्रियाँ' कविता में देहाती संघर्षशील स्त्रियों का चित्रण हैं। वे अपना घर, चूल्हा और कामकाज छोड़कर रैली में सामिल हुई है। उनमें से कुछ स्त्रियों की गोद में दूध पीते बच्चे है। कुछ स्त्रियों के साथ हाथ पकड़कर चलनेवाले बच्चें है। ऐसी भी स्त्रियाँ है जो अपने बच्चों को घर छोडकर आयी है। उनकी चिंता उन्हें सता रही है। इसके बावजूद वह रैली में सामिल हुई है। उन्हें आशा है कि

[8] राजेश जोशी, चाँद की वर्तनी, पृ.53, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006

[9] राजेश जोशी, चाँद की वर्तनी, पृ.62, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006

कहीं कभी तो कुछ उनके जीवन में बेहतर होगा। 'नहीं कहना' कविता में स्त्री की सहनशीलता है। वह सब कुछ सहती है, पर कहती नहीं है। 'मुलाकात' कविता में स्त्री के भय का चित्रण है, “हम औरतों के दिमाग में बचपन से ही/इतने डर बैठा दिये जाते है/कि जीवन में अकसर हम एक सुरक्षित कोना ढूंढलेना चाहती है”।[10] राजेश की 'जरिता के बच्चों की कहानी' कविता में माँ का प्रेम और संरक्षण या सुरक्षा का वर्णन है। इस तरह राजेश जोशी जी की कविता में स्त्री जीवन के विभिन्न पहलू दिखाई देते है। स्त्री के प्रति संवेदना, सन्मान और स्वाभिमान उनकी कविता में व्यक्त हुआ है।

कवि आर.चेतनक्रांति जी ने स्त्री जीवन को भी अपनी कविता में विशेष स्थान दिया है। आजकल के गतिमान समय में स्त्री जीवन काफी प्रभावित हुआ है और उनके जीवन में आमूलाग्र बदलाव हुए है। स्त्री चाहे गांव की हो या शहर की भूमंडलीकरण ने उसके जीवन को परिवर्तित किया है। चेतन की 'सीलमपुर की लड़कियाँ' इस कविता में भूमंडल के पूर्व और पश्चात दोनों स्थितियों का चित्रण है। भूमंडल के पूर्व सीलमपुर की लड़कियाँ जन्म से लेकर पन्द्रह वर्ष तक बूढ़ा होने के लिए परिश्रम करती है। कवि के अनुसार यह डॉक्टर मनमोहन सिंह और एम.टी.वी. के उदय से पहले की बात है। इस समय में इन लड़कियों को अपना बदन दो कुल्हे, दो गाल और छातियाँ था। लेकिन 1991 के बाद समय बदल गया। इस बदलते समय में सीलमपूर की लडकियाँ भी बदल गई। उनके बदन में जान आ गई। कवि के शब्दों में-“फिर वक्त ने करवट बदली/ सुष्मिता सेन मिस यूनीवर्स बनीं/और ऐश्वर्या राय मिस वर्ल्ड /और अंजलि कपूर जो पेशे से वकील थीं/किसी पत्रिका में अपने अर्द्धनग्न चित्र छपने/को दे आयीं/ और सीलमपुर, शाहदरे की बेटियों के/गालों, कुल्हों और छातियों पर लटके मांस के /लोथड़े सप्राण हो उठे/वे कबुतर की तरह फड़फड़ाने लगे।"।[11] इस परिवर्तन का रेखांकन कवि चेतन ने किया है। कवि ने 'हिन्दू देश में यौन क्रांति' जैसी विद्रोही कविता भी लिखा है। इस कविता में कवि हिन्दू देश की यौन वर्जनाओं को तोड़ना चाहते है। कवि ने कल्पना की है कि हिन्दू देश में मर्दो ने औरतें और औरतों ने मर्द बाँट लिये। इसके बाद विकास होने लगा। यौन अपना सफर शुरु किया। यौन के ध्वंस को देखकर सभी चकित हुए। तात्पर्य कवि ने हिन्दू धर्म के जड़ बंधनों को छेद दिया है। चेतन की 'कि जैसे रिक्शेवाले ने प्रेम किया हो' इस कविता में भी महानगरीय स्त्रियों का चित्रण है। महानगरीय स्त्री कम कपडे पहनती है। रिक्शेवाले को लगता है कि इन स्त्रियों ने गरीब की सलाह नहीं ली थी। यह उनकी पहली गलती है। आगे वह गलतियों पर गलतियाँ करती गई। इन स्त्रियों को देख रिक्शेवाले मन में कई अरमान जगते है, लेकिन वह अभिव्यक्त नहीं करता। केवल रिक्शा तेज चलता है। अपने घर की औरतों पर वह कोहनियों से घुरते है। चेतन की 'एक दृश्य की समग्र और कलात्मक अभिव्यक्ति की समस्या' कविता भी स्त्री जीवन पर केन्द्रित है। इस कविता में दो महिलाएं है। ये महिलाएं बिहार से दिल्ली में आई है। वे गरीब हैं। दिल्ली स्टेशन से लाल किले तक वह पैदल चली है। उन्हें फैजत्री जाना है। उन्हें बस मिलती है। बस में वे अन्तिम सीट पर बैठती है। वह बैठी मूर्ति के समान लगती है। जीवित महिलाओं का मूर्तिमान रूप कवि को अभिव्यक्त करना है।चेतन ने अपनी महत्वकांक्षी कविता 'काश मैं होता' में अपने आप को स्त्री समान होने की कामना प्रकट की है। कवि के

[10] राजेश जोशी, चाँद की वर्तनी, पृ.55, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006

[11] आर. चेतनक्रान्ति, शोकनाच, पृ.45, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

अनुसार मैं पुरूष हूँ, स्त्री सा नहीं हूँ। स्त्री के पास वेदना, संवेदना और सम्पन्नता होती है। इसीलिए कवि स्त्री की तरह होना चाहता है। कवि कविता के अंत में खेद व्यक्त करते है कि तुम्हारा हूँ, मगर मैं तुम नहीं हूँ। इस प्रकार कवि चेतनक्रांति के 'शोकनाच' संग्रह की कई कविता स्त्री जीवन पर केन्द्रित है। समकालीन समय में स्त्री जीवन का चित्रण हम कवि आर.चेतनक्रान्ति की कविताओं में देख सकते है।

कवि पंकज राग ने स्त्री जीवन के सुख-दुख:, आशा-आकांक्षा और संघर्ष-समर्पण का मर्मस्पर्शी अंकन अपनी कविताओं में किया है। कवि राग की दोपहर, पर्दे, पत्नी, गली, दिल्लीशहर दर शहर आदि कविताओं में स्त्री : प्रधान रूप से सामने आती है।'दोपहर' कविता में एक अधेड औरत का चित्रण किया है। वह औरत दोपहर में अपनी नौकरानी से बातें करती है। शायद उसका इस दुनिया में कोई नहीं था। फिर भी वह आपने आप में पूरी थी। यह औरत कवि को विशिष्ट लगती है; "पता नहीं वह औरत अब होगी भी या नहीं /वह घर और वह गली भी पता नहीं किस हाल में होंगे /पर आज भी जब दोपहर मुझे अधिक ठहरी लगती है /तो वह अधेड औरत याद आती है"।[12] कवि राग 'पत्नी' कविता में भी स्त्री के योगदान एवं समर्पण को स्वीकार किया है। घर में सभी छोटे - मोटे काम पत्नी करती है। वह बेटी का फ्रॉक ठीक करती है। बेटे के जूतों को साफ करती है। रसोई काम करती है। यह सभी उसके परिश्रम है। कवि राग की 'गली' कविता में एक जवान - सुंदर लड़की का प्रतिबिम्ब है। वह लड़की हरे दुपट्टेवाली है। उसकी आँखों में जन्नत है। उस पर अब्बा, अम्मी और खाला के बंधन है। उसका घर से बाहर निकलना गली को खुशनुमा कर देता है। उसकी चाल हलकी सी है।-उस पर नमाजी, चंदनधारी, शोहदें सभी की नजरें पड़ती हैं। लड़की के कदम बहकने की बात कल उठ सकती है। शहरों में अनेक गल्लियाँ हैं। वहाँ ऐसी लड़कियों को लोग अपनी जन्नत बना सकते है। कवि ने यौन उत्पीड़न की संवेदना भी 'दिल्ली: शहर दर शहर' कविता में अभिव्यक्त की है। दिल्ली जैसे महानगर में बलात्कार आम बात बन गई है। लोगों को स्त्री के साथ होते बलात्कार को देखकर अचरज नहीं होता। यह हमारी पुरूष वर्चस्ववादी समाज की हक़ीकत है। कवि राग स्त्री विमर्श के हिमायती है। वे अपनी कविताओं में पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देते है।

लीलाधर मंड़लोई ने स्त्रियों को अपनी कविताओं में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कवि के अनुसार आधी आबादी स्त्रियों की है। उनको नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता है। पुरूष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री शोषित,वंचित और पीड़ित रही है। कवि मंडलोई की कविताओं में स्त्री जीवन के दुख,दर्द और पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है। मंडलोई की और चुप हूँ, मृत्यु का भय, एक अचानक स्त्री, कस्तूरी, बेटियों से क्षमायाचना, कल तक, स्त्री का कंकाल, विलाप में आदि कविताएँ स्त्री प्रधान है, जिसमें सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भूमिका रेखांकन है। कवि के अनुसार स्त्री सदियों से शोषित है। उसका सदियों से दमन होता रहा है और उसके दमन में निर्दयी समाज के साथ–साथ धर्म, कार्यपालिका, न्यायपालिका, पुलिस प्रशासन भी शामिल रहा है। कवि मंडलोई ने अरविंद जैन के लिए लिखी कविता में इसे प्रस्तुत किया है। अरविंद जैन ने अपना जीवन संघर्षरत जिया। प्रेम और विवाह के बारे में वह हमेशा चुप रही। उसकी आँखें ही सब कुछ कहती थी। कवि ने घरेलू स्त्री के संघर्ष की अभिव्यक्ति अपनी कविता में की है। कवि के अनुसार परिवार में जब बीमारी घुसती है तो सभी भयभीत होते है। ऐसे कठिन समय में एक औरत हिम्मत

[12] पंकज राग, यह भूमंडल की रात है, पृ.42, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009

नहीं हारती। वह अपनी अंतिम वस्तु गिरवी रखकर लड़ाई लड़ती है। बावजूद इसके कवि ने स्त्री को पुरूष से भयभीत पाया है। कवि ने एक जगह भयभीत स्त्री को देखा है। कवि सोचते है कि इतना भय कहाँ से आता है। लीलाधर मंड़लोई ने स्त्री पर होनेवाले अन्याय-अत्याचार का चित्रण किया है। कवि के अनुसार पुरातन विभाग की खुदाई में धर्म के कोई अवशेष नहीं मिले,बल्कि वहाँ स्त्री के कंकाल मिले। लेकिन स्त्री पर हुए अत्याचार का कोई इतिहास नहीं लिखा गया है। कवि को स्त्री की करूण पुकार मंदिर की आरती में सुनाई देती है। कवि मंडलोई ने विद्रोही स्त्री देखा है। कवि के अनुसार यह स्त्री सभी बंधनों कों तोड रही है। उनकी 'कस्तूरी' कविता में विद्रोही स्त्री का रेखांकन है।कस्तूरी को स्त्रीत्व से चिढ़ थी। वह साज-संगार नहीं करती थी। उसने बालों को काटकर छोटा किया। वह चूडियाँ नहीं पहनती थीं। वह अपने को मानुष कहती थी। वह पुरूष की बराबरी करती थी। कवि लिखते है-"उसे मर्दजात की गुलामी नामंजूर थी/धर्म की किताबों से उसने वास्ता न रखा/प्रेम को गुलामी की वह पहली सीढ़ी मानती थी"।[13] इस तरह स्त्री ने अपने अधिकारों की मांग की है। कवि स्वीकार करते है कि पुरूष ने स्त्री मुक्ति के लिए कुछ नहीं किया। इसीलिए कवि बेटियों से क्षमायाचना करते है। कवि कहते है कि हमें तुम्हारी मुक्ति के लिए लड़ने की जरूरत थी, लेकिन हम जिसे लड़ाई समझते थे वह एक भ्रम था। कवि पिता के रूप में बेटी से कहते है कि यह दुनिया तुम्हारे किसी काम की नहीं है। इसमें तुम्हें अपने हिस्से का कुछ भी नहीं मिला हैं। इस प्रकार कवि ने अपनी कविता में स्त्री-पुरूष समानता की बात कही है और स्त्री मुक्ति के लिए ठोस कदम उठाने की अपील की है।

दलित कविता में स्त्री की त्रासदी भी दिखाई देती है। दलित कविता स्त्री के परिश्रमी, संघर्षशील एवं समर्पित व्यक्तित्व को रेखांकित करती है। कवि जयप्रकाश कर्दम की कलिया की मौत, लालटेन, क्षणिकाएँ आदि कविताएँ स्त्री जीवन के अलिखित इतिहास से साक्षात्कार कराती है। कवि कर्दम की 'कलिया की मौत' कविता स्त्री जीवन की त्रासदी का आख्यान लिख रही हैं। इसमें कलिया नाम की एक स्त्री है। दुर्भाग्य से उसका पति भरी जवानी में मर गया। उस समय उसकी गोद में दो बरस का बेटा था। कलिया की उम्र उस समय केवल बीस बरस की थी। उसने अपने बेटे के खातिर दूसरी शादी नहीं की थी । उसने निश्चय किया कि वे अपने बेटे को पढ़ाकर बड़ा आदमी बनायेगी। वह रात-दिन मेहनत-मजदूरी करती रही। बेटा भी प्रतिभाशाली निकला। वह प्रतियोगिता परीक्षा पास होकर नौकरी में लगा। बेटे की शादी हुई और उसकी नई जिन्दगी शुरू हो गई। वह महीने में एक बार माँ से मिलने गांव आ जाता था, लेकिन धीरे-धीरे उसका आना कम हो गया। माँ ने साथ चलने की इच्छा व्यक्त की, तो बेटे को लगा कि अशिक्षित माँ को साथ रखना उसकी शान खिलाफ है। यह सुनते ही माँ का विश्वास टूट गया। अब कलिया को मिलने न उसका बेटा आता है, न उसकी चिट्ठी, न भेजे पैसे। यह एक माँ की त्रासदी है। कवि कर्दम ने अपनी अन्य एक कविता 'लालटेन' में माँ के समर्पण की कथा लिखी है। कवि के अनुसार अभावग्रस्त जीवन में माँ ने लालटेन कभी बुझने नहीं दिया। वह जानती थी कि यह लालटेन ही बच्चों के भविष्य में उजाला ला सकता है। यह समझकर उसने लालटेन के लिए तेल कभी कम पड़ने नहीं दिया, भले ही घर में अन्य चीजों की कमी रहे। कवि कहते है कि हम बच्चों के लिए माँ लालटेन बन गई । आगे चलकर दो भाई नौकरी में लग गये। बहनों की शादी हो

[13] लीलाधर मंडलोई, काल बांका तिरछा, पृ.55, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

गई। माँ अकेली रह गई। कवि के शब्दों में, "सबके जीवन में आल्हाद है/ सबके जीवन में सबेरा है/ लेकिन माँ की जिन्दगी में/ आज भी अन्धेरा है"।[14] जाहिर है कि दोनों कविता में एक स्त्री के प्रेम, श्रम, संघर्ष और समर्पण का दस्तावेज है। भले ही स्त्री के योगदान की ओर इतिहास नजरअंदाज करता है, किन्तु यह कविताएँ स्त्री योगदान का अव्दितीय उदाहरण है। कवि ने उपभोक्तावादी समय में स्त्री के भोग्या रूप का भी अपनी कविता 'क्षणिकाएं' में रेखांकन किया है। कवि जयप्रकाश कर्दम के अनुसार उपभोक्तावादी सभ्यता में स्त्री को केवल उपभोग्य की वस्तु माना जाता है। विज्ञापन में स्त्री की नंगी-अधनंगी तस्वीरें दिखाई देती है। इसके प्रति कवि ने चिंता व्यक्त की है। कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कच्ची मुंडेर पर, मुठ्ठी भर सुकुन, वे नहीं जानते आदि कविता में स्त्री केंद्रित है। कवि ने 'कच्ची मुंडेर पर' कविता में दलित स्त्री की कशमकश्श का अंकन किया है। कवि ने लड़की को कबूतर की तरह बैठी देखा है। लड़की के सपनों में दहशत है। उसकी आँखों से आसू टपक रहे है। उसके आँसू कीचड़ में तब्दील हो जाते है। वाल्मीकि की 'मुठ्ठीभर सुकुन' कविता में स्त्री संघर्ष का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। स्त्री घर में कपडे धोती,बर्तन माँझती और बच्चों की देखभाल करती है। स्त्री हमेशा खामोश रहती है। उसके मन में प्रेम की भावना पलती है। जब आकाश में कोई तारा टूटता हुआ देखती है,तो उदास हो जाती है। वह अपने लिए आंनद के क्षण ढूँढ रही है। अपने बच्चों के पीठ पर स्नेह से हाथ फेरती है। कवि स्त्री की बाहरी- भीतरी दुनिया को समझने की कोशिश कर रहे है, "बाहर एक दुनिया है/ जिसे वह पकड़ना चाहती है/भीतर एक दुनिया है/जिसे वह जानना चाहती है"।[15] यहाँ स्त्री मन की गहरी अभिव्यक्ति है। कवि वाल्मीकि ने उत्पीड़ित स्त्री का भी चित्रण किया है। उनकी 'वे नहीं जानते'कविता में दलित स्त्री की करूण गाथा है। प्रस्तुत कविता में एक माँ है। वह काम पर जाती है। सुबह हाथ में झाडू लेकर घर से बाहर निकलती है। उसका बच्चा घर में ही है। उस माँ के स्तन में दूध भी नहीं है। वह काम में इतनी मग्न है कि बच्चों को भूल जाती है। इसतरह कवि स्त्री जीवन के मार्मिक चित्र अपनी कविताओं में खींचे है।

कुलमिलाकर कहा जा सकता है कि स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रकाशित करने में समकालीन हिंदी कविता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसमें जहां एक ओर स्त्री के सुन्दर मानवीय गुणों से साक्षात्कार होता है, वहीं दूसरी ओर स्त्री के विद्रोही तेवर के भी दर्शन होते है। समकालीन हिंदी कविता में न केवल स्त्री जीवन की संवेदनशील अभिव्यक्ति हुई है, बल्कि स्त्री विमर्श का सशक्त प्रस्तुतिकरण हुआ है। अत: स्त्री विमर्श को बल प्रदान करने में समकालीन हिंदी कविता का विशेष योगदान रहा है।

**निष्कर्ष**

---

[14] जयप्रकाश कर्दम, गूंगा नहीं था मैं, पृ.60,विकल्प प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999

[15] ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स बहुत हो चूका, पृ.58, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997

• दुनियाभर में आधी आबादी स्त्रियों की होने के बावजूद भी उनके महत्व को नकारते हुए उन्हें हमेशा से हाशिये पर रखा गया। पुरुष वर्चस्ववादी सामजिक संरचना में उन्हें विकास की धारा से दूर रखते हुए उनसे बुनियादी हक़ छीने गए। परिणाम स्वरुप स्त्री सदियों से उपेक्षित, शोषित और पीड़ित रही है।

• समकालीन हिंदी कविता में सर्वप्रथम सदियों से वंचित स्त्री जीवन को न केवल स्थान मिला मिला, अपितु स्त्री को केंद्र बनाकर नायकत्व प्रदान किया गया है। स्त्री की मूक व्यथा, करुणा और विडंबना को वाणीदेना ही समकालीन कविता की प्राथमिकता रही है। उसमें स्त्री जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

• समकालीन हिंदी कविता में स्त्री कवयित्री की भूमिका विशेष उल्लेखनीय रही है। स्त्री कवयित्री की कविताओं अनुभूति की गहराई, सच्चाई और यथार्थता है। स्त्री जीवन के अंतरंग एवं अंतर्मन की सुंदर अभिव्यक्ति करने में इन कवयित्रियों को अभूतपूर्व सफ़लता मिली है। इनकी कविताओं में एक ओर स्त्री हृदय के कोमल पक्ष के अप्रतिम बिम्ब  मिलते है, तो दूसरी ओर स्त्री के कठोर संघर्ष का चित्रण मिलता है।

• स्त्री विमर्श के सशक्तिकरण में पुरुष कवियों का भी अनमोल योगदान रहा है। समकालीन हिंदी कवियों ने अपनी कविताओं में स्त्री के विभिन्न रूपों का संवेदनशील वर्णन करते हुए स्त्री के सामाजिक-सांस्कृतिक योगदान को प्रतिपादित किया है। उन्होंने स्त्री के पारिवारिक-सामाजिक महत्व को भलीभांति समझ लिया है, इसीलिए स्त्री-पुरुष समानता की वकालत अपनी कविताओं में करते दिखाई देते है।

• समकालीन हिंदी कविता ने स्त्री विमर्श को एक नई ऊँचाई, प्रतिष्ठा और गरिमा प्रदान की है। बेशक ही स्त्री जीवन बहुमुखी पहलुयों की अभिव्यक्ति से हिंदी कविता समृध्द हुई है।

---

***सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग**
**अंबिकाबाई जाधव महिला महाविद्यालय,**
**वज्रेश्वरी(महाराष्ट्र), मोबाईल- 9822740020**
**ई मेल –gangadharchate20@gmail.com**

# स्त्री का मानसिक पर्यावरण: लेखक मुद्राराक्षस के दृष्टिकोण से

***रूपांजलि कामिल्या**

## शोध सार

*स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में स्व-अनुभूति और सहानुभूति के अंतर्विरोध के बीच लेखक मुद्राराक्षस की स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण में स्त्री-अस्मिता को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा दिखाई देती है। स्त्री-अस्मिता की स्थापना के लिए स्त्री-जीवन के अनेक अनछुए पहलुओं, उसकी पीड़ा, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति सदियों से होते आ रहे अन्याय की जड़ को जानना अनिवार्य है और मुद्राराक्षस यही काम किया है। परंपरागत रूप से चली आ रही स्त्री विरोधी मानसिकता का उत्थान विभिन्न धर्म-ग्रंथों में वर्णित कर्मकांडों से शुरू हुआ है, जिसे बनानेवाले पुरूषवादी समाज ही है। स्त्री के मानसिक पर्यावरण की विकृति के मूल में इन्हीं का हाथ है। इन कर्मकांडों के प्रति स्त्रियों की श्रद्धा उनके मानसिक पर्यावरण को इतना दूषित कर दिया है कि वे स्वेच्छा से पुरुष-प्रभुत्वता को स्वीकार लेती है। भारतीय पारिवारिक संरचना में स्त्री पिता, पति और बेटे की अधीनता के लिए बाध्य होती है। कार्यालय में भी स्त्रियों को तरह-तरह के आपदायों का सम्मुखीन होना पड़ता है। सदियों से स्त्री के लिए कन्यादान, स्त्री-धन जैसे शब्दों को महानता के साथ प्रयुक्त किया जाता रहा है। इसतरह के भ्रष्ट पर्यावरण ने स्त्री को एक मानव के बदले एक वस्तु के रूप में स्थापित किया है।*

**बीज शब्द -** *स्त्री-विमर्श, स्त्री-अस्मिता, स्व-अनुभूति, सहानुभूति, मानसिक, पर्यावरण, कर्मकांड, सुखासीन, पुरुषसत्ता, परिवार, पारंपरिक रूढ़ि, न्याय, संघर्ष*

इक्कीसवीं सदी का हिंदी साहित्य विशेष रूप से विमर्शों का दौर है। इस समय में दलित, स्त्री, आदिवासी विमर्श के अलावा भी कई सारे नवीन साहित्यिक विमर्शों का आगमन हुआ है। जब भी हम किसी विमर्श की बात करते हैं तब उसमें दो तरह की धाराएँ देखने को मिलती हैं; एक स्व-अनुभूति की धारा और दूसरी सहानुभूति की धारा। स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में भी स्व-अनुभूति और सहानुभूति का यह अंतर्विरोध लम्बे समय से चलता आ रहा है। महादेवी वर्मा ने इस सन्दर्भ में अनुभूति पर बल देते हुए कहा है कि "पुरुष के द्वारा नारी चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है, परन्तु अधिक सत्य नहीं; विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है पर यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव। अत: अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद ही दे सके।"[1] यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि स्त्री के अनुभव की प्रमाणिकता की बात यद्यपि महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियाँ' में बहुत पहले कर चुकी थीं परन्तु उन्होंने 'स्त्री प्रश्न' को पुरूष के लिए वर्जित क्षेत्र नहीं माना है। अतः स्त्री विमर्श में लेखन की जो दो धाराएँ प्रभावित हो रही हैं, उनमें से एक है स्त्री रचनाकारों द्वारा स्त्री की स्व-अनुभव सम्बन्धी लेखन एवं दूसरा है स्त्री की तरह

[1] महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृ.-63

अनुभव करने वाले तथा स्त्री की अस्मिता को प्रतिष्ठित करनेवाले समस्त रचनाकारों (स्त्री एवं पुरुष) द्वारा किया जा रहा लेखन।

स्त्री-विमर्श का मुख्य सरोकार है- साहित्य एवं समाज में स्त्री-मुक्ति के प्रयास। यह मुक्ति पुरूषों से मुक्ति नहीं बल्कि पुरूषवादी मानसिकता से मुक्ति का प्रयास है। स्त्री-मुक्ति का सम्बन्ध स्त्री-अस्मिता की स्थापना से है। स्त्री-अस्मिता की स्थापना के लिए स्त्री-जीवन के अनेक अनछुए पहलुओं, उसकी पीड़ा, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति सचेत होने का कार्य स्त्री विमर्श करता है। स्त्री के उपेक्षिता और वंचिता रहने का विरोध इसमें किया गया है तथा यह स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करता है। स्त्री विमर्श के केन्द्र में 'स्त्री-दृष्टि' का सर्वाधिक महत्त्व है। वे सभी रचनाकार जो स्त्री के दृष्टिकोण को रूपायित करते हैं, समाज में उसकी स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने पर बल देते हैं तथा द्वन्द्वात्मक रूप में बदलती सामाजिक संरचना पर प्रश्न उठाते हैं, उन्हें हम स्त्री-विमर्श के दूसरी धारा में रख सकते हैं। लेखक **मुद्राराक्षस** के स्त्री-संबंधी विचारधारा के विवेचन एवं विश्लेषण के उपरांत उन्हें इस दूसरी धारा में रखा जा सकता है।

मुद्राराक्षस एक लेखक होने के साथ-साथ एक ऐसे सार्वजनिक बुद्धिजीवी थे जो हाशिए के समाज के मुद्दों, मुहिम और संघर्षों के सक्रिय सहभागी रहे, चाहे वह हाशिए का समाज दलित समाज हो या स्त्री। मुद्राराक्षस की एक खासी विशेषता है कि वह किसी विषय में अपने विचार व्यक्त करने से पहले उसके जड़ तक जाते हैं। सदियों से समाज और साहित्य में स्त्री की जो स्थिति रही है उस पर विचार करते हुए वह वेद, पुराण तथा विभिन्न धर्म-ग्रंथों का गहन अध्ययन करके परंपरागत रूप से चली आ रही स्त्री विरोधी मानसिकता की जड़ का खोज करते हैं। इस खोज के दौरान वह पाते हैं कि जो ग्रंथ स्त्रियों की सामाजिक, सांस्कृतिक दुर्दशा का सबसे मुख्य कारण रहे हैं, उन्हीं ग्रंथों के कर्मकांडों में सबसे ज्यादा श्रध्दा और आस्था स्त्रियों का ही रहा है। इसके पीछे मूल कर्ता-धर्ता सुखासीन समाज ही है। सुखासीन समुदाय ने स्त्री के आसपास ऐसी दुनिया खड़ी कर दिया है कि स्त्री विचारों की दृष्टि से पुराणपंथी में रूपांतरित हो जाती है। यहाँ सुखासीन समाज से आशय पुरूषसत्तावादी समाज से है। स्त्री के मानसिक विकास को बाधित करने में सबसे बड़ा योगदान इसी समुदाय का रहा है। "समूची समाज-व्यवस्था ने स्त्री को जानते-बूझते ऐसा पर्यावरण दिया है जो स्त्री के दिमाग को स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया से दूर रखता है। यही वजह है कि परिवारगत आचरण में कट्टरपंथी रूढ़ियों से स्त्री वहाँ भी बढ़-चढ़कर जुड़ती है जहाँ उसकी खुद की

अस्मिता का सवाल हो। घूँघट, कर्मकांड, दासतासूचक वेशभूषा, अशिक्षा पर घरेलू स्त्रियों को भी जोर देखा जा सकता है। यह उस पर्यावरण का प्रभाव है जो स्त्री को दिया जाता है।"[2]

स्त्री-विमर्श ने मीरा को अपने समय की एक क्रांतिकारी स्त्री के रूप में स्वीकारा है। मुद्राराक्षस यहाँ एक सवाल उठाते हैं कि जिसप्रकार मीरा ने अपने सामंत पति को त्याग कर एक देवता 'कृष्ण' को अपना पति मान लिया था, क्या इस समाज में इस घटना का विपरीत स्थिति कभी संभव है ? कृष्ण भक्त मीरा की तरह कोई देवी भक्त किसी देवी को अपनी पत्नी मान ले ? यह प्रश्न केवल एक प्रश्न ही नहीं, बल्कि हमारे समाज की पुरूषसत्तात्मक सोच पर एक करारा व्यंग्य भी है। हमारे समाज व्यवस्था में एक पुरूष की अनेक पत्नियाँ हो सकती है, चाहे वह देवता हो या साधारण पुरूष। पर देवियाँ या साधारण स्त्रियों के लिए पतिव्रत निभाना ही सबसे बड़ा धर्म है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज व्यवस्था ने स्त्रियों के मानसिक पर्यावरण को देवी-देवताओं के संदर्भ में इस प्रकार से बांध दिया है कि देवियाँ भी अंततः अपने तमाम दिव्य शक्तियों के बावजूद अपने पति के चरणों की दासी हैं।

सदियों से स्त्री को सर्वदा एक वस्तु के समान ही देखा जाता आ रहा है। उसे एक दान की वस्तु, धन के रूप पुराणों, धर्मग्रंथों में वर्णित किया गया है और हमारा समाज उसे सहर्ष ग्रहण भी कर लिया है। तभी तो कन्यादान, स्त्री-धन जैसे शब्दों को महानता का प्रतीक माना जाता है। "महाभारत के दानधर्म पर्व में अग्निपुत्र सुदर्शन की जो कथा ब्राह्मण अतिथि की सेवा के नाम पर दी गयी है वह साबित करती है कि इसी पर्यावरण विकार के कारण सुदर्शन की पत्नी ने सहर्ष वह झेला जो उसके साथ हुआ। ब्राह्मण अतिथि सुदर्शन के पत्नी के साथ सम्भोग चाहता है। इसे सुदर्शन सहर्ष स्वीकार करता है और पत्नी पति की आज्ञा पर ब्राह्मण की अंकशायिनी बनती है।"[3] इस प्रकार की कथाएँ स्त्री के मानसिक पर्यावरण को गंभीर रूप से प्रभावित एवं इतना दूषित करते हैं कि स्त्री स्वेच्छा से पुरुष-प्रभुत्वता को स्वीकार लेती है। सदियों के इस भ्रष्ट पर्यावरण ने स्त्री को एक मानव के बदले एक माल के रूप में स्थापित किया है।

स्त्री के मानसिक पर्यावरण की विकृति का एक और प्रमुख साधन 'परिवार-व्यवस्था' है। अधिकांशतः भारतीय पारिवारिक संरचना में बड़े बुजुर्ग की इच्छा, पति का स्वामित्व और अगली पीढ़ी के नाम पर बेटी की तुलना में बेटे को वरीयता सहज स्वीकार्य घटना होती है। यहाँ पत्नी पति की अधीनता के लिए बाध्य होती है और

[2] मुद्राराक्षस, आलोचना और रचना की उलझनें, पृ. 23
[3] मुद्राराक्षस, आलोचना और रचना की उलझनें, पृ. 23

अगली पीढ़ी में बेटी यह सीखना शुरू करती है कि समाज या परिवार में ऊँची जगह पुरूष की ही होती है। परिवार-व्यवस्था में पत्नी और बेटी के लिए नैतिक बंधन अनिवार्य बन जाती है। इस सन्दर्भ में मुद्राराक्षस का कहना है कि "स्त्री दासता या अधीनता का यहीं जन्म होता है। परिवार में परंपरागत रूप से एक विशेष कार्य विभाजन होता है और चूँकि यह कार्य विभाजन पुरूष ही करता है इसलिए बड़ी चतुराई से वह विभाजन की इस प्रक्रिया द्वारा अपनी स्थिति लाभदायक और अधिकारसंपन्न बना लेता है।"[4] स्त्री आर्थिक रूप से स्वाधीन हो या पराधीन, उसकी स्थिति बँधुआ मजदूर से ज्यादा और कुछ नहीं रह जाती। अपने सभी कार्यों का हिसाब तलब देना उसके लिए अनिवार्य होता है।

उपभोक्तावादी जरूरतों के बढ़ने के बाद कुछ लोगों ने खास कर संयुक्त परिवार से अलग रहनेवाले मध्यवर्गीय परिवार में स्त्री को बाहर काम करने की इजाज़त मिली है। जबकि मानव होने के नाते यह स्त्री का अधिकार है, पर उसके इस अधिकार को इजाज़त का रूप दे दिया गया है। इसमें भी सुखासीन समुदाय अपना फ़ायदा कायम रखता है। स्वतंत्र रूप से बाहरी दुनिया में अपना अस्तित्व कायम करनेवाली स्त्रियों के सम्बन्ध में अमूमन यह धारणा बना ली जाती है कि बाहर काम करनेवाली स्त्री के लिए अपनी इज्जत बचाना कठिन होता होगा, बाहर निकल कर काम कर रही है तो कुछ हद तक यौन-संबंधों की सीमाएँ भी तोड़ आयी होगी आदि न जाने कितना कुछ। कार्यालय में भी स्त्रियों को तरह-तरह के आपदायों का सम्मुखीन होना पड़ता है। ऊपर से पति की सेवा में कमी हो जाय तो वह अपनी पत्नी पर चरित्रहीनता का भी आरोप लगाने में पीछे नहीं हटता।

कला और संस्कृति में भी स्त्रियों पर लगे पाबंदियों पर विचार करते हुए मुद्राराक्षस कहते हैं कि "भरतमुनि समाज में स्त्री-कलाकारों के कारण ही निकाले गए थे और सभी नर्तक-नर्तकी, अभिनेता-अभिनेत्री शूद्र घोषित कर दिये गए थे।"[5] नृत्य-संगीत जगत से जुड़ी हुई स्त्रियाँ अक्सर दैहिक शोषण का शिकार होती रहती है। यह सिलसिला कार्यालय, विद्यालय, विश्वविद्यालय यहाँ तक कि अपने घर में भी स्त्री को सहनी पड़ती है। इसके पीछे सदियों से चली आ रही पुरूषवादी सत्ता का वर्चस्व है। "बहुत से समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने किसी परिवार में विवाहित स्त्री की स्थिति का अध्ययन किया और यह कड़वी सच्चाई रेखांकित की है कि विवाह सम्बन्ध में यौन प्रसंग को लेकर लगभग 80 प्रतिशत स्त्रियाँ अपनी मर्ज़ी के विरुद्ध पति को समर्पण करने को मजबूर होती हैं। लगभग चालीस फीसदी स्त्रियों को पति का बलात्कार झेलना होता है। ए दोनों ही स्थितियाँ परिवार में एक सरल

[4] मुद्राराक्षस, आलोचना का समाजशास्त्र, पृ.- 313
[5] मुद्राराक्षस, आलोचना और रचना की उलझनें, पृ. 26

स्त्री को वेश्या बना देती है और इसे उसे सहर्ष झेलना होता है। शहरों के नौकरीपेशा 68 फीसदी ऐसे पति होते हैं जो पत्नी से उम्मीद करते हैं कि जब वे घर लौटें तो पत्नी सज-धज कर उनका स्वागत करे। यह भी पत्नी को वेश्या बनाकर रखने का एक उदाहरण है।"[6] जहाँ सारी दुनिया में स्त्री को वेश्यालयों से मुक्ति दिलाने के संगठित प्रयास हो रहे हैं वहाँ परिवार की नैतिक, धार्मिक और कानूनी सीमा में बंधी स्त्री को बचाना एक बहुत बड़ा मुहिम है।

मुद्राराक्षस की 'स्त्री-दृष्टि' में केवल सहानुभूति का दर्शन नहीं होता, बल्कि सदियों से स्त्रियों पर हो रहे अन्याय, अत्याचार का घोर विरोधित स्वर भी दृढ़ रूप में मुखरित होता है। वह इस अन्याय, अत्याचार के पीछे पुरूषवादी सत्ता के उद्देश्य को भी बताते हैं तथा स्त्री को गुलाम बनाने के हर दाव-पेंच के सभी आयामों को पाठकों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। वेद, पुराण, विभिन्न धर्मग्रंथों में वर्णित स्त्री विरोधी प्रसंगों का उदाहरण दे कर वह यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि जिन ग्रंथों पर घर-घर की स्त्रियाँ इतनी आस्था रखती हैं, वे ही सब ग्रन्थ उनकी गुलामी का मूल स्त्रोत है। मुद्राराक्षस स्त्री के मानसिक पर्यावरण को विकृत करने के लिए मुख्य रूप से तीन चीजों को जिम्मेदार मानते हैं, एक धर्मादेश, दूसरा पारिवारिक-व्यवस्था एवं तीसरा पारंपरिक रूढ़ियाँ। जिनको ढ़ाल बनाकर पुरूषवादी सत्ता अपना वर्चस्व बनाये रखा हुआ है। अतः न्यास की इस कठिन लड़ाई में स्त्री को जटिल रूढ़ परम्पराओं, धार्मिक रीति-रिवाजों और संस्कारों के मोह-माया से ऊपर उठकर अपने अन्दर साहस जुटा कर संघर्ष करने की जरूरत है। उनका यह संघर्ष कई आन्दोलनों का रूप भी ले चुकी है पर इस दिशा में स्त्रियों को और भी जागरूक होने की आवश्यकता है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**

1. महादेवी वर्मा, 2015, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहाबाद
2. मुद्राराक्षस, 2011, आलोचना और रचना की उलझनें, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी
3. मुद्राराक्षस, 2004, आलोचना का समाजशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली
4. रेखा कस्तवार, 2006, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

***शोधार्थी, हिंदी विभाग**
**अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद**
**मोबाइल नंबर : 7382695721**
**ईमेल : kamilyarupanjali@gmail.com**

[6]वही, पृ. 29

## Bouncing back from failure is our duty

- **Manish Singh**

Around two years ago ( in 2018), I watched an interview of Jurgen Klopp, legendary football coach of Liverpool Football Club in England. At that time, Liverpool had recently lost the final of the Champions League which is the biggest club competition in Europe. Including that loss, Klopp had lost six consecutive major finals as coach. In the Interview, he was asked if he sees an opportunity to bounce back after another failure. Klopp answered, " Bouncing back from failure is our duty. We owe this fans, players , staff and everyone associated with the club." True to his words, he won the Champions league next year and then the English Premier League subsequently.

He said those words in context of Football, but it stuck to my mind that this is also equally true in any other field of life. It also reminded me of the quote which I came across many years ago and still remember always. The quote is below:

*"The greatest glory of life is not in never falling, but in rising after every time we fall."*

In life, whenever I have felt down and out, this quote has given me strength to carry on. And to be honest, the success does feel sweeter when it's achieved after some setbacks. You learn to value the good things more when you have gone through a bad phase previously. You learn to admire all the small but important things that you get in life.

Life is not fair, perhaps it is not even meant to be fair. Everyone has to go through his share of failures in life. But winners are those you keep coming back after failures and keep knocking on the door of success. Eventually, perseverance pays off. One thing is for sure, that life will knock you down. Things can look very bad and the future can be gloomy. In such a situation, it is perfectly alright to feel sad and bad. It's alright to cry and grieve. However, after a period you must stand back. You must try to find a way out. You must never give up. You have to gather the courage and strength to come back harder.

Even the greatest of kings have lost many battles. Biggest of business tycoons have endured losses in work. Even the most famous of writers have seen rejections by publishers. However, their ability to keep trying again and again made the difference. Taking some examples from current times, we see that not everyone can clear the civil services exam in one attempt. Lots of people can get disheartened and stop making the same efforts. However, there are few who own up the failure and try with even more enthusiasm. These are the people who maximise their chances of success.

The meaning of success is different for different people. You obviously don't have to achieve big things on the world stage for being considered as successful. For some with good resources, setting up and profiting in new business can be considered a success. For someone coming from a remote village and no financial support, passing the college and getting a

decent job can be considered a great achievement. At the end of the day, if you see yourself having a sense of satisfaction in what you have acquired, this means you are successful.
Results are not always in our hands, but making efforts is. So the only thing we can do is to introspect and try to avoid mistakes in our subsequent efforts. As long as you breathe, you must never give up. You have to keep going on. If not for your loved ones, then for yourself. You owe yourself a chance to succeed in life. The chances are never handed out, they must be earned and created by being resilient. Sometimes you don't realise but your own story can become an inspiration to others around you.

# हिन्दी साहित्य और सिनेमा में एल०जी०बी०टी० समुदाय का मूल्यांकन

*सविता शर्मा

हिन्दी साहित्य में लगभग नब्बे के दशक से ही विमर्शों का दौर रहा है। हिन्दी कथा साहित्य में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श एवं आदिवासी विमर्श अपनी निर्णांयक भूमिका के साथ अवस्थित हुए। दरअसल ये ऐसे विमर्श हैं जिन्होंनें आज़ादी से पहले ही संघर्ष करना शुरू किया और एक पूरा विमर्श बनते-बनते इन्हें कई साल लगे। किन्तु वर्तमान में हिन्दी साहित्य में ये तीनों विमर्श - दलित विमर्श, स्त्री विमर्श और आदिवासी विमर्श अपने चरम पर हैं।

साहित्य एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा प्रत्येक वर्ग की सुध ली जाती है। दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, स्त्री विमर्श के साथ-साथ समाज में कई अन्य वर्ग भी हैं। जिन्हें हाशिये के भी हाशिये पर जगह नहीं मिली है। इस प्रकार के विमर्श में सबसे मुख्य एल०जी०बी०टी० विमर्श है। एल अर्थात् 'लेस्बियन', जी अर्थात् 'गे', बी०अर्थात् 'बाएसेक्सुअल' तथा टी० अर्थात् 'ट्रांसजेंडर' है। यह एक ऐसा समूह है जिसका अस्तित्व तब से ही समाज में है जब से पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ हुआ।

प्राचीन काल से ही इस एल०जी०बी०टी० वर्ग की उपस्थिति हमारे समाज में रही है और यही नहीं सम्मानीय स्थिति में रही है, जिसके प्रमुख उदाहरण हैं-

वात्सयायन का 'कामसूत्र', वेद व्यास का महाभारत', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तथा 'पुराण' आदि। वर्तमान में 'खजुराहों के मंदिर' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है जो कि यूनेस्को की धरोहर सूची में भी शामिल है। खजुराहों के मंदिर जो कि 11वीं सदी के चन्देलों नें बनवाए थे, तत्कालीन समाज में समलैंगिकता या एल०जी०बी०टी० समुदाय की उपस्थिति का एक जीता-जागता प्रमाण है। अतः इस समुदाय के अस्तित्व को हम मानते तो है किन्तु जाने नहीं।

हैरानी की बात तो यह है कि साहित्य जो कि अत्यंत संवेदनशील माना जाता है। उसने भी इस समुदाय की ओर ध्यान नहीं दिया। हिन्दी साहित्य में एल०जी०बी०टी० विषय पर लिखे गए ग्रंथ इतने है कि इन्हें आसानी से अंगुलियों पर गिना जा सकता है।

जिनमें से ज्यादातर ग्रंथ हाल ही में लिखे गए हैं। जब उच्चतम न्यायालय द्वारा इन समुदायों को मनुष्य का दर्जा देने की पहल की गई। उच्चतम न्यायालय के ऐसे दो फैसले इस प्रकार हैं-

2014 में ट्रांसजेंडर समुदाय को तृतीय लिंग का दर्जा देते हुए 3 % का आरक्षण दिया तो 6 सितम्बर, 2018 में 'धारा 377' जो कि अप्राकृतिक यौन संबंधों के विरूद्ध थी को गैर-कानूनी बताते हुए 'निजता के अधिकार' के तहत स्वेच्छा से 18 वर्ष के व्यस्क व्यक्ति स्त्री या पुरूष के साथ एकांत में संबंध बना सकते हैं मो मान्यता दी है।

ये दो फैसले माननीय उच्चतम न्यायालय ने जब से दिए हैं तब से ही ज़्यादातर हिन्दी जगत भी इन हाशिए के वर्ग के प्रति जागा है। इसमें भी केवल ट्रांसजेंडर के संदर्भ में ही। समलैंगिक समुदाय अभी भी समाज के साथ-साथ साहित्य में भी हाशिये पर ही है। जिस कारण एल०जी०बी०टी० समुदाय का संघर्ष और गहरा ही होता है कम नहीं।

साहित्य के साथ-साथ सिनेमा भी एक ऐसा माध्यम है जो समाज का आईना होता है। किन्तु विडम्बना यह है कि साहित्य की तरह सिनेमा में भी इन एल०जी०बी०टी० वर्ग को लगभग नगण्य स्थान ही मिला है और मिला भी तो हास्यास्पद या नकारात्मक छवि के रूप में। इस प्रकार की कुछ फिल्में - संघर्ष, मर्डर-2, सड़क, दोस्ताना, कल हो न हो हैं।

किन्तु ऐसा नहीं है कि केवल नकारात्मक सिनेमा ही एल०जी०बी०टी० वर्ग पर बना है। कुछ सकारात्मक फिल्में भी इस वर्ग में हैं जैसे- तमन्ना, बोल, शबनम मौसी, डियर डैड, हनीमून ट्रेवल प्रा० लिमिटेड, शुभ मंगल ज़्यादा सावधान आदि।

दरअसल सिनेमा एक श्रव्य-दृश्य माध्यम है, जिस कारण जो लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं उन पर भी फिल्मों का गहरा असर पड़ता है। जिस कारण सिनेमा को समाज में अपनी भूमिका समझते हुए वृहद स्तर पर ऐसे विषयों को उठाना चाहिए जो हाशिये पर जिंदगी जीने को मजबूर हैं, क्योंकि यदि साहित्य की जगह हमारी स्टडीरूम तक है तो सिनेमा की बैडरूम तक। अतः सिनेमा को चाहिए कि वृहद स्तर पर ऐसे विषय उठाए, क्योंकि इसकी पहुँच प्रत्येक उम्र के व्यक्ति से लेकर छोटे-छोटे कस्बों तक है। जिससे समाज में एल०जी०बी०टी० वर्ग की छवि बदलने तथा उन्हें भी आम मनुष्य की तरह जीवन व्यतीत करने में आसानी होगी।

हिन्दी के प्रख्यात रचनाकार राजकमल चैधरी की बहुचर्चित बहुप्रशंसित कृति है 'मछली मरी हुई'। लेखक ने अपनी इस महत्त्वकांक्षी कृति में जहाँ महानगर कलकत्ता के उद्योग जगत की प्रमाणिक और सजीव तस्वीर प्रस्तुत की है, वहीं आनुषंगिक विषय के रूप में समलैंगिक स्त्रियों के रति-आचरण का भी इस उपन्यास में सजीव चित्रण किया है। इसमें ठनकती हुई शब्दावली और मछली के प्रतीक की ऐसी सृजनात्मक है जो लेखक की करूणा सर्वत्र सींचती रहती है।

उपन्यास को स्त्री-समलैंगिकता पर केन्द्रित उपन्यास के रूप में देखा जा सकता है, जो लेखक के इस विषय पर गहन शोध का ही परिणाम है।

समलैंगिकता पर आधारित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का ग्रंथ 'कुल्लीभाट' एक प्रसिद्ध पुस्तक है। कुल्लीभाट अपनी कथावस्तु और शैली-शिल्प के नयेपन के कारण न केवल निराला के गद्य साहित्य की बल्कि हिन्दी के संपूर्ण गद्य-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि कुल्ली के जीवन-संघर्ष के बहाने इसमें निराला का अपना सामाजिक जीवन मुखर हुआ है और बहुलांश में यह महाकवि की आत्मकथा ही है।

कुल्ली के माध्यम से निराला दिखाते है कि केवल समलैंगिक होने के कारण समाज में वह हेय की दृष्टि से देखा जाता है हालांकि कुल्ली है बड़ा संवेदनशली व्यक्ति। कुल्ली के लिए जात-पात कोई मायने नहीं रखती उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है मनुष्यत्व, जिस बात को बाद में बाकी लोग मानते भी हैं। कुल्ली राजनीति में सक्रिय होता है किन्तु उसका अंत इतना दयनीय है, जिससे कि पाठक और स्वयं निराला भी उसकी पीड़ा महसूस करते हैं। समलैंगिकों के विभिन्न क्षेत्र में सक्रियता के बावजूद उनके जीवन का अंत कितना दर्दनाक है यह हम 'कुल्लीभाट' में देख सकते है। गोर्की के शब्दों में - ''जीवन-चरित जैसे आदमियों के बने और बिगड़े, कुल्ली भाट ऐसे आदमी न थे। उनके जीवन का महत्त्व समझे, ऐसा अब तक एक ही पुरूष संसार में आया है, पर दुर्भाग्य से अब वह संसार में नहीं रहा।'' (पृष्ठ सं० 13, कुल्लीभाट, निराला, राजकमल, पेपरबैक्स, नई दिल्ली)

यही नहीं बल्कि ट्रांसजेंडर अर्थात् किन्नर समुदाय पर लिखा गया प्रथम उपन्यास 'यमदीप' भी इस समाज के दुख-दर्द को बेबाकी से बयां करता है। हमारे समाज के घोर अभिशप्त माने जाने वाले किन्नर समुदाय के अंतरंग जीवन की मार्मिक गाथा प्रस्तुत करने वाला यह उपन्यास अपने-आप में एक अद्वितीय कृति है। यह उपन्यास लेखिका नीरजा माधव को एक ओर तो स्त्री-लेखन एवं दलित-लेखन की भीड़ से अलग करता है, तो दूसरी ओर, नारी - अस्मिता और शोषित - उपेक्षित वर्ग के उन अनछुए पहलुओं को भी सामने रखता है, जिनकी ओर आज तक कोई सजग लेखनी उन्मुख ही नहीं हुई।

साथ ही सुप्रसिद्ध कथाकार महेंद्र भीष्म का उपन्यास 'किन्नर कथा' सख्.त भाषा में बेहद गंभीरता के साथ प्रश्न उठाता है कि प्रकृति ने किन्नरों के साथ अन्याय क्यों किया? क्यों हम किन्नरों को मुख्यधारा में शामिल करने से बचते रहे हैं, क्यों यह माना जाता है कि वह हमारी तरह इन्सान नहीं हैं? राजघराने में अपनी जुड़वां बहन के साथ जन्म लेने वाली सोना उर्फ चंदा देखने में अतीव सुन्दर है, उसके बोलने पर ही पता लगता है कि वह किन्नर है। बचपन से ही उसे पिता ने लोकलाज के चलते अपने विश्वस्त दीवान को सौंप दिया था ताकि वह उसे मार डाले। लेकिन वह उसे एक किन्नर गुरू तारा को दे देता है। यहीं से सोना नाम बदलकर चंदा बन जाती है। संयोग से चंदा 15 बरस बाद अपनी ही जुड़वां बहन के विवाह में पहुँचती है। अद्भुत कथा - प्रवाह में बहा ले जाने वाली यह कथाकृति जहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से टकराती है, वहीं कथारस की ऐसी सृष्टि भी करती है कि सांस थामे पाठक पढ़ता ही चला जाए। इसका पाठक संवेदना के उन तंतुओं से स्वतः जुड़ता चलता है जो बताते हैं कि हर किन्नर का एक अतीत होता है। परिवार से विस्थापन का दंश भुगतते हुए उसका अनाम संघर्ष उसे कैसे तपाता रहता है। बेहद गंभीरता के समय किन्नरों की दुनिया की पड़ताल करते हुए महेंद्र भीष्म का यह उपन्यास पाठकों की सोई संवेदना को झिंझोड़कर जगा देता है। किन्नरों की समस्याओं के साथ बाहरी दुनिया को अपने अनूठे अंदाज में परिचित करते हुए यह उपन्यास अपने आपको पढ़ा ले जाने का माद्दा रखता है।

इसी की तरह चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा' भी है जिसमें लेखिका बताती है कि किस प्रकार केवल किन्नर भर होने से विनोद जैसे बच्चे अपने परिवार से दूर जीवन जीने को अभिशप्त हैं। उपन्यास में विनोद बार-बार प्रश्न भी करता है कि यदि आँख की विकलांगता, टांग की विकलांगता या अन्य किसी शरीर के अंग की विकलांगता के कारण आप लोग अपने बच्चे को घर से बाहर नहीं फेकते तो केवल

लिंग विकलांगता के बच्चों को इतनी बड़ी सज़ा क्यों? साथ ही लेखिका किन्नरों की समस्याओं के साथ-साथ घर वापसी जैसे समाधान भी उपन्यास में समझातीं हैं।

'दरमियाना' सुभाष अखिल का एक किन्नर विषय पर आधारित एक अन्य उपन्यास है, जिसमें लेखक इस समुदाय की व्यथा कहता है। दरअसल 'दरमियाना' नाम से 1980 में 'सारिका' में इनकी कहानी प्रकाशित हुई जिसे थर्ड जेंडर पर आधारित प्रथम कहानी भी माना जाता है, इसी को लेखक ने उपन्यास के रूप में भी अब लिखा है।

सहानुभूति से अच्छा वर्णन स्वानुभूति में होता है और आत्मकथा इसका सबसे अच्छा माध्यम रहा है। किन्नर समाज पर आधारित 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी' (लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी) की आत्मकथा तो है ही साथ ही 'पुरूष तन में फंसा मेरा नारी मन' मानोबी बंधोपाध्याय की एक और आत्मकथा है जिसमें मानोबी बताती हैं कि किस प्रकार उन्होंने किन्नर होने के बावजूद संघर्ष करते हुए पश्चिम बंगाल के एक कॉलेज में प्रिंसिपल का पद प्राप्त किया। अत्यंत बेबाकी से उन्होंने यह आत्मकथा लिखी है। इन आत्मकथाओं से अच्छा माध्यम इन हाशिये के समाज को जानने का शायद ही कुछ और हो।

यही नहीं बल्कि 'हमख़्याल' एक अन्य कहानी संग्रह है जो समलैंगिक समाज के यथार्थ को पकड़ने की कोशिश करता है। एम० फिरोज़ की यह कृति तारीफ के काबिल है तो वहीं प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'तीसरी ताली' एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जो अपने में सम्पूर्ण एल०जी०बी०टी० समुदाय को न सिर्फ समेटता है बल्कि उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सबसे ज्यादा सांस्कृतिक पक्षों को पाठकों के सामने रख के इस वर्ग की समस्याओं से रूबरू कराता है जो जन्म से लेकर मरण तक चलती ही रहती हैं। यही नहीं बल्कि यह उपन्यास यह भी बताता है कि दुनिया में हर जगह इस वर्ग की उपस्थिति है। एबीसीडी अर्थात् आरा, बलिया, छपरा प्रत्येक स्थान पर यह समुदाय मिल जाएगा। किन्तु हर जगह इस वर्ग की स्थिति ऐसी ही दोयम दर्जे की है।

इन तमाम रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य में एल०जी०बी०टी० वर्ग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याओं की पड़ताल तो की जा सकती है साथ ही साथ उनके संभावी समाधानों का भी पता लगाया जा सकता है।

दरअसल यह एक ऐसा विषय है जिस पर साहित्य और सिनेमा ने तो कम ध्यान दिया ही है साथ ही शोध की स्थिति भी लगभग नगण्य है। जिस कारण ये समाज निम्नत्तर स्थिति में जीवन जीने को अभिशप्त है। आँकड़ों के मुताबिक एल०जी०बी०टी० वर्ग की लगभग 25 लाख लोगों की जनसंख्या हैं जो कि दयनीय स्थिति में ही हैं। उच्चतम न्यायालय के फैसलों से इनकी स्थिति में सुधार की कुछ उम्मीद है किन्तु समाज इन्हें कहाँ तक अपना पाएगा यह अभी भविष्य के गर्त में हैं।

**सन्दर्भ ग्रंथ**

1. माधव, नीरजा, यमदीप, सामयिक पेपरबेक्स, नई दिल्ली, 2017

2. मुदग्ल, चित्रा, पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016
3. सौरभ प्रदीप, तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011
4. चैधरी, राजकमल, मछली मरी हुई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक्स संस्करण, 2009
5. निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी, कुल्ली भाट, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पांचवा संस्करण, 2019
6. सिंह, विजेंद्र प्रताप, कथा और किन्नर, अमन प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2016
7. सिंह, विजेंद्र प्रताप, हिन्दी उपन्यासों के आइनें में थर्ड जेंडर, अमन प्रकाशन, कानपुर
8. खराटे, मधु, हिन्दी उपन्यासों में किन्नर विमर्श, विकार प्रकाशन कानपुर
9. खान, एम०फिरोज़, थर्ड जेंडर अतीत और वर्तमान, विकार प्रकाशन, कानपुर
10. खान, एम०फिरोज़, थर्ड जेंडर: हिन्दी कहानियाँ, अनुसंधान पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर
11. खान, एम०फिरोज़, थर्ड जेंडर अनूदित कहानियाँ, अनुसंधान पब्लिशर्स एण्ड डिस्टीब्यूटर्स, कानपुर


---

***शोधार्थी, पीएच.डी. हिन्दी**
**जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**
**ईमेल- savita3590@gmail.com**

# 'वैकल्पिक विकास में जैविक कृषि की भूमिका'

*आशीष कुमार

## सारांश

*संसाधनों के उपयोग द्वारा आजीविका की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही विकास होता है। समाज में व्याप्त बेरोजगारी और पलायन की समस्या के समाधान की आज आवश्यकता है। भारतीय कृषि पद्धति में सदैव ही जल, जंगल, जमीन पर महत्व दिया गया है। वैकल्पिक विकास में जैविक कृषि के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। जिस प्रकार से जैविक कृषि में रोजगार के नए-नए सृजन हो रहे है। जैविक कृषि में लागत कम तथा उत्पादन अधिक प्राप्त होता है। उत्पादों में गुणवत्ता अधिक होने कारण अनेक प्रकार की बीमारियों से बचाव होता है। इससे किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार आता है। पिछले कुछ वर्षों में तो जैविक कृषि क्षेत्र में लगातार बढ़ोत्तरी भी दर्ज की गई है। यही स्थिति रही तो आने वाले समय में जैविक कृषि रोजगार का महत्वपूर्ण साधन होगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैविक कृषि की वैकल्पिक विकास में अहम भूमिका होती है।*

**की-वर्ड :** *जैविक कृषि, बाजार, वैकल्पिक विकास, कृषि क्षेत्र।*

## भूमिका

भारत कृषि प्रधान व ग्राम्य प्रधान देश है। इसकी आत्मा गांवों में बसती है। और गांव का विकास कृषि पर निर्भर रहता है। भारत देश की लगभग 70% जनसंख्या गांवों में निवास करती है। (2011 की जनगणना के अनुसार) हालांकि इस आंकड़े में वर्तमान में कुछ कमी आई है इसका कारण है तेजी से हो रहा शहरीकरण। इसके बावजूद देश का समुचित विकास बिना कृषि के संभव नहीं है। कृषि को बेहतर और वैकल्पिक विकास में सहायक हो इसके लिए एक सुनियोजित कृषि पद्धति की आवश्यकता है। जैविक कृषि ऐसी पद्धति है जिसमें समग्र लाभ (कृषकों की दृष्टि से, पर्यावरण की दृष्टि से, मृदा की दृष्टि से, मानव की दृष्टि से) अर्जित हो जाते हैं। जैविक कृषि पद्धति से कम लागत में अधिक उत्पादन प्राप्त होता है। जैविक उत्पादों की बाजार में मांग अधिक होती है, जैविक उत्पादों की कीमत रासायनिक उत्पादों की अपेक्षा अधिक प्राप्त होती है। जब कृषि में उत्पादन अच्छा प्राप्त होता है, तथा कीमत अधिक मिलती है तो किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार आता है। जिससे किसी भी देश के विकास में गति प्रदान होती है। स्वास्थ्य लाभ के साथ जैविक कृषि में कम लागत आती है। कम लागत और अधिक उत्पादन से किसान समृद्ध होता है तो गांव का विकास होता है। इस प्रकार गांव के विकास से देश के वैकल्पिक विकास में सहायता प्राप्त होती है। अतः किसी भी देश के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए सबसे पहले गांव और गांव के किसानों को विकसित करने की आवश्यकता होती है। क्योंकि गांव का विकास ही देश के वास्तविक विकास को प्रदर्शित करता है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आजीविका का प्रमुख साधन कृषि है, इसके बारे में महात्मा गांधी ने एक बार कहा था कि "भारत की वास्तविक प्रगति का तात्पर्य शहरी औद्योगिकरण केंद्रों के विकास से नहीं, बल्कि गांवों के विकास से है।"

"मिट्टी की जुताई करने वाले ही अधिकार के साथ जीते हैं, शृंखला के शेष लोग उनके आश्रय की रोटी खाते हैं"। (थिरूवलूवर)

## वैकल्पिक विकास की आवश्यकता

सतत विकास "वह विकास है जो भविष्य की आने वाली पीढ़ियों की क्षमताओं और बेहत्तरी से समझौता किए बिना वर्तमान समय की आवश्यकता को आसानी से पूरा किया जा सके, दूसरे शब्दों में कहा जाए एक ऐसा आर्थिक विकास जिसमें हमारे प्राकृतिक संसाधनों को किसी प्रकार की हानि न पहुंचाई जाए या प्राकृतिक संसाधनों के बर्बाद होने की गुंजाइश ना के बराबर हो"।

किसी भी देश के सतत विकास के लिए या वैकल्पिक विकास के लिए ग्रामीण विकास सबसे अनिवार्य होता है। ग्रामीण विकास की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई क्योंकि भारत की ज्यादातर जनसंख्या गांवों में निवास करती है। इसलिए ऐसे विकल्पों की आवश्यकता थी जिससे ग्रामीण लोग समाज के साथ सामंजस्य बिठा सके। भारत जैसे देश में समतामूलक समाज की अवधारणा का विकास हो सकता है। एक तरफ जहां गांव में निवास करने वाले लोगों की खुशहाली एवं विकास जरूरी है वही प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग एवं संरक्षण भी बहुत आवश्यक है।

गांधी जी जब भी विकास की बात करते हैं उनकी बातों के केंद्र में हमेशा गांव रहा है गांव के विकास व गांव के पुनर्निर्माण की बात को मुख्य मुद्दा मानते थे गांधीजी भी मानते थे कि गांव के विकास के बिना भारत देश का विकास संभव नहीं है इसलिए गांधीजी आदर्श गांव की मांग करते हैं और भारत के हर गांव को आदर्श ग्राम बनाने की अपनी मंशा भी जाहिर करते हैं। हरिजन सेवक में 1926 में वह इसको लेकर लिखते हैं "ग्रामीणों श्रम के इस प्रकार उठ जाने से ग्रामवासी कंगाल हो रहे हैं और अमीर लोग अमीर हो रहे हैं अगर यह क्रम ऐसे ही चलता रहा तो किसी प्रत्यय के बगैर ही गांवों का नाश हो जायेगा।"

प्राचीन काल से ही भारत कृषि प्रधान देश रहा है और यहां के लोग सदैव प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर रहते आए हैं। भारत में आज भी प्रकृति की पूजा का विधान है जिसका जिक्र वेद पुराणों के साथ-साथ अनेक रचनाओं में भी किया गया, परंतु जिस प्रकार से पिछले कुछ दशकों में प्रकृति के साथ लूट मचा रखी गई है और सतत विकास के महत्व को बिल्कुल ही नकार दिया गया है, मौजूदा पीढ़ी सिर्फ प्राकृतिक संसाधनों की रखवाली है और यह उसकी जिम्मेदारी भी है कि वह आने वाली पीढ़ी को बिना किसी प्रकार के हानि पहुंचाए यह प्राकृतिक संपदा अगली पीढ़ी को सौंपे और देश को एक बेहतर भविष्य प्रदान करें इस जिम्मेदारी को हम सबको मिलकर उठाना होगा और एक संकल्प के साथ आगे बढ़ना होगा।

सच्चिदानंद सिन्हा के अनुसार- "वैकल्पिक विकास के मॉडल की बात करना आज उसी तरह अर्थहीन है जैसे कभी यूटोपिया की बात करना समाजवादी आंदोलन के प्रारंभिक काल में था। कोई भी व्यवस्था सामने की हकीकत के संदर्भ में ही बनती है बनी बनाई कल्पना के अनुरूप नहीं"।

## जैविक खेती एवं वैकल्पिक विकास

इसमें किसी भी भारतवासी को संदेह नहीं होना चाहिए कि भारत देश के विकास के लिए ग्रामीण विकास और कृषि विकास सबसे आवश्यक है। इसका प्रमुख कारण है भारत एक कृषि प्रधान व ग्राम प्रधान देश है। यहाँ लोगों की आजीविका का साधन मुख्य रूप से कृषि है। अतः ग्रामवासी जैविक कृषि को अपनाकर बहुत सी समस्याओं का सामना उचित प्रकार से कर सकते है। जनसंख्या में लगातार जिस प्रकार से बढ़ोतरी हो रही है। उससे जैविक कृषि पद्धति में खाद्यान्न समस्या का सामना करना पड़ सकता है ऐसा अनुमान बहुत से समाज शास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों का है। जबकि यह एक भ्रम के शिवाय कुछ नहीं है। साथ ही अक्सर यह भी सुना जाता है कि जैविक कृषि कम उत्पादन देती है, लागत अधिक आती है। जबकि जैविक कृषि खाद्य समस्या से जुड़ी प्रत्येक समस्या का एक बेहतर विकल्प है। जैविक कृषि से जलवायु परिवर्तन में स्थिरता प्राप्त होती है। जैविक कृषि पानी की कमी को दूर करती है, मृदा की जल धारण क्षमता का विकास करती है, किसानों की गरीबी और कुपोषण जैसी समस्याओं का समाधान करती है। अतः जैविक कृषि से संबंधित पहलुओं और मिथकों पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है। यह एक बेहतर विकल्प साबित हो सकती है वैकल्पिक विकास में। आवश्यकता है इसे सुनियोजित तरीके से अपनाने की।

## जैविक खेती का परिदृश्य

आज विश्व के लगभग 181 देशों में 698 लाख हेक्टेयर भूमि पर जैविक खेती की जा रही है। पूरे विश्व में जैविक कृषि किसानों की संख्या 30 लाख के आसपास है। अगर भारत देश में जैविक कृषि के विस्तार की बात की जाए तो बीते कुछ वर्षों में बहुत तेजी से हुआ है। वर्ष 2017-18 में लगभग 36 लाख हेक्टेयर में प्रमाणित जैविक कृषि क्षेत्र था। 2017-18 में 17 लाख टन जैविक उत्पादों का उत्पादन किया गया। इस उत्पादन के मुख्य सहयोगी राज्य रहे, सिक्किम, असम, मध्य प्रदेश, केरल, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक आदि राज्य थे। वर्तमान में भारत से जैविक उत्पादों का निर्यात भी किया जा रहा है। इससे निश्चित तौर पर वैकल्पिक विकास में सहायता प्राप्त होगी और भविष्य में जैविक कृषि क्षेत्र को बढ़ावा मिलेगा।

इस सत्य से नकारा नहीं जा सकता है कि विश्व को जैविक कृषि भारत की देन है और जब भी जैविक कृषि का इतिहास टटोला जाएगा तो भारत और चीन ही इसके केंद में आएंगे। भारत और चीन की कृषि परंपरा 4000-5000 वर्ष पुरानी है। इस कारण यहां के किसानों का ज्ञान भी लगभग 5000 वर्ष पुराना है। जब से कृषि का आरंभ हुआ है तभी से भारत में खेती का स्वरूप मानव स्वास्थ्य के अनुकूल तथा प्राकृतिक वातावरण के लिए हितकारी हो इसका विशेष ध्यान रखा गया है। जब इन सभी विषयों पर ध्यान रखकर कृषि की जाती है तो जैविक और अजैविक पदार्थों के बीच आदान-प्रदान निरंतर चक्र चलता रहता है। जिसके कारण जल, मृदा, वायु तथा वातावरण प्रदूषित नहीं होता है।

भारतीय कृषि के इतिहास को देखने से पता चलता है कि यहाँ कृषि के साथ-साथ गोपालन भी किया जाता था जिसके प्रमाण हमारे धर्म ग्रंथों से प्राप्त होते हैं। महाभारत में वर्णित श्री कृष्ण और बलराम जिन्हें गोपाल वह हलधर

के नाम से संबोधित किया जाता है। परंतु जैसे-जैसे कृषि का परिवेश बदलता गया वैसे-वैसे गोपालन भी कम होता गया तथा रासायनिक खादों और जहरीले कीटनाशकों के प्रयोग को महत्व बढ़ गया। जिसके कारण संपूर्ण विश्व के जैविक और अजैविक पदार्थों का संतुलन बिगड़ता गया। इसके परिणाम वर्तमान में सभी के सम्मुख हैं।

**भारत में जैविक कृषि से रोजगार की संभावनाएं**

आज भले ही देश के सीमित कृषि क्षेत्र में जैविक खेती की जा रही हो। परंतु यह संभव है कि आने वाले कुछ वर्षों में देश की कृषि योग्य मृदा पूर्ण रुप से जैविक कृषि में परिवर्तित हो जाए। क्योंकि खाद्य सुरक्षा की निरंतरता बनाए रखने के लिए परंपरागत कृषि पद्धति भी आवश्यक है। आज कुछ खास क्षेत्रों में ही जैविक कृषि की जा रही है। लेकिन समय के साथ इसको बढ़ावा मिलेगा। जैविक कृषि का यही बढ़ावा एक तरह के रोजगार का अवसर उत्पन्न करता है। आने वाले समय में जैविक कृषि से संबन्धित रोजगार के अवसर कुछ इस प्रकार होंगे-

- जिस प्रकार से जैविक कृषि को विश्व भर में बढ़ावा मिल रहा है उसके अनुसार बीजों की उपलब्धता में कमी है। इसलिए किसान बीजों का उत्पादन कर अच्छी कीमत पर बेच सकते हैं। इससे किसानों की आय में वृद्धि होगी साथ ही रोजगार की भी प्राप्ति होगी। जिससे रोजगार के और नए अवसर उत्पन्न होंगे।
- जैविक रेस्टोरेंटस खोलना, जैविक कृषक पाठशाला चलाना आदि।
- जैविक फार्म तथा प्राकृतिक रूप से रखरखाव के स्थानों पर इको भ्रमण में लोगों की रुचि बढ़ रही है जहां लोग जैविक खाद्य पदार्थ आदि व्यवस्थाओं को पसंद करते हैं। भारत में जैविक कृषि फार्म भ्रमण का प्रचलन बढ़ रहा है।
- जैविक कृषि संबंधी समझ विकसित करने के लिए विशेष कौशल विकास केंद्र खोले जा सकते हैं।
- जैविक कृषि में बाजार अनुसंधान, उपभोक्ता सर्वे, प्रीमियम मूल्य, सरकारी प्रोत्साहन कार्यक्रम आदि कि सूचना कृषकों तक जल्दी पहुंचाने के लिए विशेषज्ञ सेवाओं की जरूरत है। इच्छुक एवं निपुण व्यक्तियों के लिए यह एक नया एवं अच्छा व्यवसाय हो सकता है।
- जैविक दूध संबंधी उत्पादों के क्षेत्र में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से रोजगार के नए अवसर उत्पन्न किए जा सकते हैं।
- जैविक कृषि की अच्छी समझ रखने वाला व्यक्ति या संगठन एपीडा से प्रशिक्षण प्राप्त कर जैविक कृषि क्षेत्र में सेवादाता का कार्य कर सकते हैं।
- जैविक रूप से उत्पादित वस्तुओं के प्रमाणीकरण में भी अनेक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होगा।
- जैविक कृषि में फसल चक्र को अपनाया जाता है इससे कृषि क्षेत्र में वर्ष भर रोजगार के अवसर बने रहते हैं।
- ग्रामीणों को जैविक कृषि पद्धति के उपयुक्त प्रशिक्षण दिए जाएं जिससे उनके कौशल का विकास हो। तथा बाद में इसी कौशल से किसान रोजगार के नए अवसरों का सृजन कर सकें।
- जैविक कृषि में अनेक प्रकार की जैविक खादों का प्रयोग होता है, इन खादों के उत्पादन कार्यों से रोजगार के अनेक नए सृजन होते हैं।

## जैविक कृषि के उत्पादों की गुणवत्ता

यह तो सर्वविदित सत्य है की जैविक कृषि उत्पादों की गुणवत्ता रासायनिक कृषि उत्पादों की गुणवत्ता से अधिक होती है। अनेक अनुसंधान से भी यह सिद्ध हो गया है। जैविक कृषि से उत्पादित उत्पादों में शुद्ध पदार्थ, खनिज और ऑक्सीकारक विरोधी तत्व पाए जाते हैं। जो मानव स्वास्थ्य को बेहतर बनाए रखने में सहायक सिद्ध होते हैं। जैविक कृषि उत्पादित वस्तुओं में अम्लीय तत्व कम मात्रा में प्राप्त होते हैं, नाइट्रेड की मात्रा रासायनिक कृषि की अपेक्षा जैविक कृषि में 50% कम होती है जो मानव और पशु-पक्षियों के स्वास्थ्य के लिए हितकारी होती है। जैविक रूप से उत्पादित उत्पादों में स्वाद अधिक होता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो चुका है कि जैविक कृषि उत्पाद रासायनिक कृषि उत्पाद से बेहतर और लाभकारी है।

## निष्कर्ष-

भारत प्राचीन काल से कृषि प्रधान देश रहा है, यहाँ पर परंपरागत कृषि या जैविक कृषि प्रारम्भ से होती आ रही है। वर्तमान समय में जैविक कृषि वैकल्पिक विकास में अहम भूमिका का निर्वहन कर रही है, जहां एक तरफ जैविक कृषि के माध्यम से नए-नए रोजगार का सृजन हो रहा है, वहीं जैविक कृषि से उत्पादित उत्पादों की गुणवत्ता रासायनिक कृषि की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। जिससे मानव, पर्यावरण और मृदा स्वास्थ्य के लिए बेहतर है। जब सभी क्षेत्रों में उचित वृद्धि होती है तो वैकल्पिक विकास को एक प्रकार की गति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैविक कृषि वैकल्पिक विकास में सहायक होती है।

## संदर्भ-सूची

1. अग्रवाल, ड. ग. (2011). *सजीव खेती*. वाराणसी: सर्व सेवा संघ प्रकाशन.
2. ओझा, ए. ए. (2020). भारत में जैविक कृषि : स्थिति एवं सरकार के प्रयास. *क्रॉनिकल*, 27, 28.
3. काशिव, ड. आ. (2012). जैविक खेती : इक्कीसवीं सदी में फसलों की उत्पादकता बढ़ाने का एकमात्र साधन . *जअप*, 22.
4. कुमार, ड. द., & शिवे , ड. य. (2019). सतत विकास में जैविक कृषि की भूमिका . *कुरुक्षेत्र* , 05-11.
5. गांधी, म. (1909). *हिंद स्वराज* . अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन .
6. गांधी, म. (2005). *मेरे सपनों का भारत*. अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन .
7. चितौरी, व. (2012). *जैविक खेती (सजीव खेती)*. वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन .
8. चौहान, ड. श. (2017). सन 2022 तक कृषकों की आय को दोगुना करना . *प्रतियोगिता दर्पण* , 79-82.
9. झा, र. क. (2012). जैविक खेती और पर्यावरण संरक्षण. *नंद प्रचार ज्योति-10*, 45, 46 .
10. टॉक, प. क. (2017). *जैविक खेती की समग्र अवधारणा* . जयपुर : सिद्धिविनायक प्रिंटर्स .
11. तिवारी, र. क., तिवारी , श., & हरिशंकर. (2017). *जैविक खेती के नए आयाम एवं प्रमाणीकरण*. लखनऊ: OnlineGatha - The Endless Tale.

12. दिनकर, र. स. (1956). *संस्कृति के चार अध्याय*. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी.
13. दुबे, श. (1996). *विकास का समाजशास्त्र* . नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन .
14. धर, प. (2011). भूमि सुधारों की दुनिया में भारत. *योजना*, 22-23.
15. पटनायक, क. (2000). *विकल्पहीन नहीं है दुनिया* . नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन .
16. पांडेय, ड. व. (2018, june 11). *krishisewa*. Retrieved july sundey, 2019, from www.krishisewa.com: https://www.krishisewa.com/articles/soil-fertility/890-organic-farming-land-and-life-requirements.html
17. पालेकर, स. (2011). *क्या रासायनिक खेती षडयंत्र है?* अमरावती : अथर्व ग्राफिक्स, सेट पॉइंट .
18. बामेहता, ड. अ. (2011). परंपरागत जैविक कृषि ही है हमारा आधार . *जअप*, 05.
19. राठौर, क. र. (2012). कैसे कटे, कृषि रासायनों का जाल ? *जअप*, 26-27.
20. लाम्बा, र. (2017 ). जैविक कृषि में रोजगार के नए आयाम . *साकेत मार्गदर्शिका* , 15-16.
21. विभाग, क. (2008). *जैविक खेती* . गाजियाबाद : राष्ट्रीय जैविक खेती केंद्र .
22. विभाग, क. (2015-16). *उत्तर प्रदेश में जैविक खेती*. उत्तर प्रदेश: कृषि विभाग .
23. शर्मा, अ. क. (2017). जलवायु परिवर्तन के असर को करे बेअसर जैविक खेती. *साकेत मार्गदर्शिका* , 05-06.
24. शर्मा, क., & प्रधान, स. (2011). जैविक खेती समस्याएँ और संभावनाएं. *योजना*, 31-34.
25. शर्मा, स. क. (2016). जैविक कृषि की ओर बढ़ते किसानों के कदम . *Pratidhvani The Echo* , 47.
26. शर्मा, स. क. (2016). जैविक खेती की ओर बढ़ते किसान के कदम . *Pratidhwani the Echo*, 46-51.
27. शासन, म. प. (2011). *मध्य प्रदेश की जैविक कृषि नीति* . भोपाल : किसान कल्याण तथा कृषि विभाग मंत्रालय .
28. शुक्ल, ड. प. (2015). *जैविक खेती* . जयपुर: पोइंटर पब्लिशर्स.
29. सारस्वत, स. (2011). जैविक खादों से कृषि उत्पादन में वृद्धि . *योजना* , 51-52.
30. सिंह, अ. क. (2020). भारतीय परिदृश्य में जैविक कृषि की दशा एवं दिशा. *कृषि मंजूषा* , 06.

*** पी-एच.डी. (शोध छात्र)**
**गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग**
**महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
**वर्धा, महाराष्ट्र- 442001**
**E-mail: ashishpatel3135@gmail.com**
**Mob. 9839853135**

# 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' की शिक्षक, शिक्षा और शिक्षार्थी ही आधार

***प्रदीप सिंह**

सन 2015 में सरदार बल्लभ भाई पटेल की 140 वीं जन्म जयंती 31 अक्टूबर को 'एक भारत श्रेष्ठ भारत'अभियान की शुरुवात देश के विभिन्न राज्यों में सांस्कृतिक एकता ,राष्ट्रीय एकीकरण को कला,संगीत और वाद्य द्वारा सीखने की प्रवृत्ति बढ़ाने हेतु किया गया।एक भारत श्रेष्ठ भारत अभियान मूलतः भारत के राज्यों के लिए है जिसमें प्रतिवर्ष एक राज्य किसी अन्य राज्य का चुनाव करेगा और उस राज्य की भाषा,इतिहास,संस्कृति,ज्ञान विज्ञान आदि को अपनाएगा और उसको पूरे देश के सामने बढ़ाएगा।अगले वर्ष किसी अन्य राज्य का चुनाव किया जाएगा।इस तरह यह योजना पूरे देश में चलती रहेगी जिससे राज्य आपस में संगठित होंगें।एक दूसरे भी भाषा को समझेंगे जिससे अनेकता में एकता का विकास होगा।सरदार पटेल की जीवनी और प्रधानमंत्री जी की प्रेरणा से शिक्षक और छात्र इस अभियान को सफलतम बनाने के लिए अपना सर्वोत्तम प्रयास कर रहे हैं।देश सीमाओं तथा राष्ट्र भूमि,जल और संस्कृति के संघात(संयुति) से निर्मित होता है।सरदार पटेल जी ने देश को एकता के सूत्र में पिरोनें का महान कार्य किया था।

प्रेरक प्रसंग:सरदार पटेल के पिताजी किसान थे और सरदार पटेल बाल्यकाल में अपने पिताजी के साथ खेत पर जाते थे।एक दिन सरदार पटेल के पिताजी खेत में हल चला रहे थे और पटेल जी उनके साथ चलते हुए पहाड़े याद कर रहे थे पहाड़े याद करते हुए इतना तन्मय हो गए कि पैर में कांटा चुभने पर भी उनकी तन्मयता में कोई प्रभाव नही पड़ा और वे पहाड़ा याद करते रहे अचानक उनके पिता जी की नजर पटेल जी के पाव पर पड़ी बड़ा कांटा देखकर चौंक गए फिर कांटा निकाला और घाव पर पत्ते बांधकर रक्त बहने से रोका।

सरदार पटेल की इस तरह की एकाग्रता और तन्मयता देखकर उनके पिताजी अत्यंत खुश हुए और उन्हें जीवन में बड़ा करने का आशीर्वाद दिया जिसको उन्होंने अपने जीवन काल में सफल किया।सरदार पटेल जी ने आज़ादी के बाद छोटे-छोटे राज्यों को देश में सम्मिलित कर देश का सुखद एवं शांतिपूर्ण एकीकरण किया था।आज उसी एकीकरण में एक भारत श्रेष्ठ भारत नव ऊर्जा द्वारा देश में शान्ति एवं एकता का संचार कर रहा है।

एक भारत श्रेष्ठ भारत अभियान में 36 राज्य और केंद्रशासित प्रदेश सम्मिलित रूप से एक दूसरे राज्य कस चुनाव करके उस राज्य की भाषा,संस्कृति,इतिहास,कला,विज्ञान आदि को अपनाएगा और दोनों राज्य इसी तरह से एकता के सूत्र में बंध जाएंगे ।देश की एकता एवं अखण्डता देश के विकास में बहुत सहायक सिद्ध होगी इस तरह की पहल देश के लिए मजबूती का कार्य करेगी।यह सोच बल्लभ भाई पटेल ने देश में बोई थी जिसको फलीभूत करने के लिए यह कदम उठाए जा रहे है जिससे बिना किसी मतभेद के आसानी से राज्यों के बीच संस्कारों का आदान प्रदान होगा जो कि भारत में एकता के रूप में उजागर होगा।पिछले कुछ समय से देश में सांप्रदायिकता का शोर सुनाई दे रहा है जिसे खत्म करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य है लेकिन जेहन में आता है इस प्रकार की योजना एक बेहतर पहल है जो कि सरकार ने बहुत ही व्यवस्थित ढंग से सभी के सामने रखा है।यह अभियान

आसानी से देश के भिन्न- भिन्न राज्यों को आपस में जोड़ रहा है। शिक्षकों और छात्रों के माध्यम से त्यौहारों की तरह ही खुशियां फैला रहा है।

मुख्य विशेषता:1- एक भारत श्रेष्ठ भारत के तहत एक राज्य अन्य राज्य का चुनाव करके उंसकी भाषा ,संस्कृति को अपनाकर आगे बढ़ा रहा है इससे दोनों राज्यों के एक नया रिश्ता बन रहा है।

2-सरकार द्वारा राज्यों के बीच एक समिति का गठन किया गया है जो कि इस योजना को सही तरीके से क्रियान्वयन करने का कार्य कर रही है।

3-इस अभियान में सरकार,नागरिक,सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन,सरकारी एवं निजी क्षेत्र मिलकर कार्य कर रहे हैं।

4-इस योजना के विस्तार के लिए आधुनिक संसाधन एवं मीडिया का उपयोग किया जा रहा है।

5-दो राज्य अपने छात्रों का आदान प्रदान कर रहे हैं जो एक वर्ष तक दूसरे राज्य की संस्कृति को समझ और सीख रहे हैं।

असम के बच्चों द्वारा मध्यप्रदेश के बुन्देलखण्ड के टीकमगढ़ जिले का परधोनी लोकनृत्य,असम का बिहू मध्यप्रदेश के बच्चों द्वारा,गुरुग्राम के छात्रों द्वारा झारखंड के आदिवासी भेषभूसा नृत्य संगीत गुजरात के बच्चों द्वारा ,झारखंड के बच्चों द्वारा डांडिया,दिल्ली के बच्चों द्वारा जम्मू काश्मीर का डोंगरी सीखना एक अभूतपूर्व प्रयोग है।

कहा जाता है कि दिल में उतरने का रास्ता पेट से होकर जाता है।

"जैसा भोजन खाइए, वैसा तन होए,
जैसा पानी पीजिए, वैसी वाणी होए।"

एक भारत श्रेष्ठ भारत अभियान के तहत शिक्षक और छात्रों का खानपान द्वारा एक दूसरे राज्यों के नजदीक आना भारत की एकता को और अधिक मजबूती प्रदान करेगा।स्कूलों ,कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में 'एक भारत श्रेष्ठ भारत(ईबीएसबी) क्लब ' द्वारा भाषा व संस्कृति के आधार पर गतिविधियों स्कूल पाठ्यक्रम में शामिल करने से एक राष्ट्र की अवधारणा को मजबूती मिल रही है।

प्रधानमंत्री जी ने स्पष्ट किया है कि योजना एक भारत श्रेष्ठ भारत देश की अखण्डता के लिए एक बहुत अच्छा प्रयास साबित होगा।इससे लोगों को एक दूसरे से जुड़ने का माहौल मिलेगा जो कि सभी तरह से देश के हित में

कार्य करेगा ।उनके द्वारा अपने मासिक प्रोग्राम 'मन की बात' में भी इस योजना का जिक्र करते हुए समस्त देशवासियों से बढ़ चढ़कर सहयोग देने और सुझाव देने का आग्रह किया है

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि जब विश्व के अन्यान्य देश नस्लभेदी और साम्प्रदायिक दंगों की आग में जल रहें हो उस समय भारत को जातीय संघर्ष की आग में झोंकने के प्रयास का सफल न होना भारत के राष्ट्रीय चरित्र का एक होना है।जिसमें 'एक भारत श्रेष्ठ भारत अभियान'की भूमिका महत्वपूर्ण रही।इस अभियान को प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक की शिक्षा में अनिवार्य बनाए जाने की आवश्यकता है।जिससे शैक्षणिक प्रक्रिया में संलग्न शिक्षक और छात्र इस अभियान का अभिन्न अंग बनकर भारत को एक और श्रेष्ठ बनाने में अपनी भूमिका सुनिश्चित कर सकेंगे।

प्रदीप सिंह(शिक्षक कुशीनगर उत्तरप्रदेश),ईमेल-psingh.ddu@gmail.com,सम्पर्क सूत्र-9628737874

# 19वीं शताब्दी में हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में भाषा संबंधी बहसें

**संजय कुमार***

यह सच है कि 19वीं सदी से पहले हिन्दी भाषा के नाम पर कुछेक पद्यात्मक रचनाएँ तथा एकाध गद्यात्मक रचना के अलावा कुछ नहीं मिलता है। आज हम ब्रजभाषा, अपभ्रंश, अवधी तथा अन्य देशी भाषाओं को भी हिन्दी की पूर्ववर्ती मानकर इसका इतिहास लम्बा-चैड़ा करने में लगे हुए हैं, परन्तु दूसरी तरफ यह विडम्बना है कि हम 18वीं सदी के अंत से ही ऐसी हिन्दी को हिन्दी मानने के लिए बेताब हैं जो संस्कृत से निष्ट तथा भाषा में विशिष्ट हो। यह हिन्दी की बोलियों की बदकिस्मती ही है कि हिन्दी भाषा को जिस मेहनत से उन्होंने सींचा है, बड़ा किया है तथा आगे बढ़ाया है, वही 19वीं सदी के अंत में आकर उन पर हावी हो गई, न केवल हावी हुई बल्कि उनके अस्तित्व से अपने अस्तित्व को पूरी तरह अलग करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देने लगी। समय के साथ और देशी भाषाओं की उपेक्षा बड़ी तथा वर्तमान में तो यह स्थिति है कि देशी शब्दों तक हिंदी भाषा में विद्वानों को अखरने लगे।

भारतेन्दु काल के बाद मानो हिन्दी ने अपने माता-पिता (देशी भाषा) को लात मार ढकेल दिया तथा उनकी पूर्ण उपेक्षा करते हुए स्वयं को तत्कालीन समाज का प्रतिनिधि घोषित कर दिया। समय के साथ यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। वर्तमान में हिन्दी, संस्कृत के भारी भरकम शब्दों से दब सी गई। आज हिन्दी की यह स्थिति हो गई अगर आमफ़हम की शब्दावलियों का उसमें पुट किया जाए तो हिन्दी के बड़े-बड़े धुरंधर नाक सिकोड़ने लगते हैं।

जिसे हम आज हिन्दी कहते हैं वास्तव में वह अपभ्रंश की संचित सांस्कृतिक परिवेश की निरन्तर चली आ रही धारा है। इसे हम संस्कृत, पाली, प्राकृत एक से जोड़ सकते हैं आरम्भ से ही भाषाओं का इतिहास देखकर यह जाना जा सकता है कि "एक निरन्तर लड़ी में ही भाषा का विकास संभव है, चाहे वह अपभ्रंश हो या पाली या फिर प्राकृत सभी में अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं से शब्दावलियाँ तथा तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश को ग्रहण किया है।"[1] हिन्दी भाषा की निर्मिति भी प्राचीन भाषिक परिवेश से ही संभव हुई है। 19वीं सदी से पहले आधुनिक खड़ी बोली की क्रमागत विकास के कुछ क्रम देखे जा सकते हैं। पद्य में संभवतः सबसे पहले खड़ी बोली का प्रयोग अमीर खुसरो ने किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अमीर खुसरो की भाषा की तरफ ध्यानाकषर्ण करते हुए लिखा है- "खुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोल चाल की भाषा व ब्रजभाषा।"[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे खड़ी बोल चाल की भाषा कहा है असल में उसी का विकसित रूप 19वीं सदी के आरम्भ में जाते-जाते आमफ़हम की भाषा के रूप में उभरती हुई देखी जा सकती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल खुसरो के भाषा बोध का गहराई से अवलोकन करते हुए कहते हैं- "खुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में खुसरो में मिलती है कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था।"[3] इस तरह आचार्य शुक्ल का प्रत्यक्ष रूप से इशारा उस समय के भाषा परिवेश की तरफ है। 19वीं सदी से ही हिन्दी की कुछ टूटी-फूटी शब्दावलियाँ आम जन में प्रचलित थी। मुगलकाल में फारसी भले ही राजभाषा रही पर आम जन में आम बोलचाल की भाषा (जिसे आज हम खड़ी बोली कहते हैं) उसी का प्रचलन था। उदाहरणार्थ अमीर खुसरो की पहेलियों में प्रयुक्त होने वाली शब्दावलियों को देखा जा सकता है-

"एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा।।

चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।"[4]

अमीर खुसरो की इस भाषा को भला कौन खड़ी बोली हिन्दी नहीं कहेगा। 19वीं सदी तक हिन्दुस्तान के उत्तरी भाग में ऐसी ही भाषा का प्रचलन था। अन्य समकालीन भाषाओं ब्रज, अवधी, डिंगल, मालवी, भोजपुरी आदि के प्रारम्भिक रूप भी 19वीं सदी के बाद उभरने लगे थे, भाषा में आपसी प्रतिस्पर्धा थी पर मतभेद नहीं था। एक-दूसरे के सहयोग से, अपने को विकसित करने में लगी हुई थी। 19वीं सदी से पहले के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण की निर्मिति किसी एक भाषा को वरीयता देकर नहीं बनाया जा सकता। सबके मूल्यबोध अलग-अलग तरंगों में आगे बढ़ रहे थे, 'ब्रजभाषा' यदि सूरदास व केशवदास जैसे बड़े रचनाकारों के संरक्षण में फलफूल रही थी तो वही 'अवधी' तुलसीदास, 'राजस्थानी' चन्दबरदाई, मालवी संत किनाराम आदि देशी भाषाओं का प्रगामी धाराओं का सोता 19वीं सदी से पहले हिन्दी की बोलियों के नाम पर बहता आया है। सही मायने में विद्वानों ने इस विशाल सोते को हिन्दी भाषा में समाहित करके इसकी अलग से पड़ताल करने की आवश्यकता नहीं समझी।

20वीं सदी के बाद इस दृष्टिकोण से भाषाओं का आकलन शुरू हुआ। डॉ.रामविलास शर्मा ने 19वीं सदी की भाषा को हिन्दी की सहोदरी भाषा का दर्जा प्रदान किया है। राम विलास शर्मा ने खड़ी बोली का पक्ष लेते हुए इसे 10वीं सदी के करीब से ही बोलचाल की भाषा सिद्ध करने का प्रयास किया है। भाषा और समाज पुस्तक में वे लिखते हैं- "खड़ी बोली मुसलमानों के आने से पहले भी थी, उनके शासन काल में भी रही और आज भी है।"[5]

इस तरह खड़ी बोली की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए हिन्दी के आलोचकों ने उन्नीसवीं सदी से प्रचलित सभी उत्तर भारत की रचनाओं से हिन्दी के तार जोड़ने का प्रयास किया। 19वीं सदी से पहले का भाषा संबंधी दृष्टिकोण सभी सिद्धान्तों का कुछ हेर-फेर के साथ एक जैसा दिखाई देता है। रामविलास शर्मा ने जहाँ 19वीं सदी से पहले की भाषा को हिन्दी की सहोदरी भाषा कहकर उसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है वही नामवर सिंह ने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक पुस्तक में 19वीं सदी से पहले के भाषायी परिदृश्य की तरफ इशारा करते हुए लिखते हैं- "अपभ्रंश से हिन्दी साहित्य का क्या संबंध है? इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश साहित्य को रखा अपभ्रंश से निकली हुई अन्य भाषायी बोलियों से ही बाद की हिन्दी भाषा का पुख्ता निर्माण संभव हुआ।"[6]

सभी मायने में 19वीं सदी से पहले की हिन्दी भाषा अलग-अलग धाराओं में बह रही थी, एक निष्ठता के अभाव में तथा हिन्दी की एक रूपता दिखाने के लिए ज्यादातर आलोचकों ने उन्नीसवीं सदी की भाषा को वर्तमान हिन्दी की सहचर व सहयोगी भाषा के रूप में माना है। 19वीं सदी से पहले ही भाषा में शब्दों का आदान-प्रदान तीव्रता से हुआ है तभी तो भाषायी संरचना में उनकी प्रकृति की एकरूपता की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। कहने का मतलब यह है कि 19वीं सदी से पहले की भाषा किसी एक धारा में न चलकर अनन्त धारा में प्रवाहित थी, उसके बावजूद आमफ़हम की भाषा लोगों में ज्यादा लोकप्रिय थी। अन्ततः यही 19वीं सदी में जाकर खड़ी बोली के रूप में विकसित हुई।

भाषा सम्बन्धी बहसों का तीव्र शोरगुल उन्नीसवीं सदी से पहले बड़ी मात्रा में नहीं दिखाई देता। 19वीं सदी से पहले खड़ी बोली का बीज-वपन काल था तथा 19वीं सदी के बाद इसकी परिपक्वता शुरू हुई। सही मायने में इसके स्वरूप का सैद्धान्तिक अवयवों के विकास से ही भाषा संबंधी बहसें जोर-शोर से शुरू हुई। 19वीं सदी से पहले भाषा में सौहाद्रर्ता एवं एकरूपता के गुण बहुतया देखे जा सकते हैं। इसी का परिणाम है कि 19वीं सदी तक

आते-आते हिन्दी भाषा जैसी शक्तिशाली भाषा का जन्म हुआ। कहना न होगा कि 19वीं सदी का काल हिन्दी खड़ी बोली भाषा का शैशवकाल था। ऐसे में बहसों की बजाय उस समय भाषा की प्रकृति के लिए सहयोगात्मक प्रवृत्ति की जरूरत थी तथा इसी का निर्वाह इस काल में दिखाई देता है।

19वीं सदी के आरम्भ तक आते-आते आमफ़हम की भाषा का मानक स्वरूप उभरना शुरू हो गया था परन्तु इसको पूरी तरह से विशुद्ध भाषा का परिमार्जित स्वरूप नहीं कहा जा सकता। विभिन्न बोलियों तथा अरबी फारसी से सदी आमफ़हम की भाषा 1800 ई. के आस पास आम प्रचलन में थी। हालांकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की माने तो "भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश काव्यों की जो परम्परा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है।"[7]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल में निर्गुण धारा के संत कवियों को खड़ी बोली का प्रयोग कत्र्ता स्वीकार किया है- "भक्तिकाल के आरम्भ में निर्गुण धारा के संत कवि खड़ी बोली का व्यवहार अपनी सधुक्कड़ी भाषा में किया करते थे।"[8]

इसी तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अकबर के समय के कवि गंग, जहाँगीर के दरबार में प्रयोग होने वाली भाषा तथा भाषा योगवशिष्ठ तक की एक खड़ी बोली की शृंखला अपने इतिहास में दर्शाते हैं। 19वीं सदी तक समस्त उत्तर भारत की प्रमुख बोली बनकर खड़ी बोली उभर चुकी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं स्वीकार किया कि "जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तर भारत में खड़ी बोली व्यवहार में शिष्ट भाषा हो चुकी थी।"[9]

खड़ी बोली के विकास एवं प्रचार-प्रसार में ईसाई मिशनरियों खासकर सिरामपुर में संचालित मिशनरियों का प्रमुख योगदान था। 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज खुलने से खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। पद्म सिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तान' में लिखा है- "हालांकि फोर्ट विलियम कॉलेज के अन्योपदेश ज्यादा थे फिर भी प्रारम्भिक हिन्दी की ज्वलंत अग्नि को द्वार-द्वार पहुँचाने में इसका महत्त्वपूर्ण हाथ है। आज हिन्दी का जो रूप उभरा है उसमें उन महाशयों का काम भूलाया नहीं जा सकता।"[10]

18वीं सदी के प्रारम्भ तक हिन्दी व उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ हिन्दुस्तानी से उभरकर अलग ढंग से होने लगी थी। तभी तो गिलक्राइस्ट ने हिन्दी खड़ी बोली तथा उर्दू की पुस्तकों का अलग-अलग अनुवादक चुने थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा है- "खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ाने वाले चार महानुभाव हुए- मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र।"[11] इनमें सदल मिश्र फोर्ट विलियम कॉलेज के भाषा अधिकारी थे तथा लल्लूलाल मुंशी पद पर नियुक्त थे। दोनों महानुभावों ने खड़ी बोली की प्रारम्भिक रूपरेखा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

फोर्ट विलियम कॉलेज ने हिन्दी पद्य की रूपरेखा पर उतना कार्य नहीं किया जितना हिन्दी गद्य की आरम्भिक रूपरेखा को तैयार करने के लिए किया। वास्तव में 1857 से पहले कुछेक किताबों को छोड़ दिया जाए तो हिन्दी की रूपरेखा का प्रचलित रूप नहीं बन सका था। हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) के प्रचलित रूप को विकसित करने में फोर्ट विलियम के विद्वानों की अनुशंसा सराहनीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल खड़ी बोली गद्य की उन विशेषताओं की तरफ हमारा ध्यान खिंचा है जो 19वीं के प्रारम्भ में प्रचलित थी, सदा सुखलाल, इंशा

अल्ला खां, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र इन चारों विद्वानों की भाषा संबंधी विशेषताओं को रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है-

- मुंशी सदासुख लाल की भाषा संस्कृत मिश्रित या शिष्ट बोलचाल की भाषा के करीब थी।
- इंशा अल्ला खाँ की भाषा चटकीली, मटकीली, मुहावरेदार और चलती भाषा थी। आचार्य शुक्ल ने उनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा है- "इंशा का उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था जिसमें हिन्दी को छोड़कर और किसी बोली का पुट न रहें।"[12]
- लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की ब्रजरंजित खड़ी बोली है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लल्लूलाल की भाषा की गहराई को खोदते हुए लिखा है- "अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अंतर इतना ही है कि गंग ने इधर-उधर फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे है पर लल्लूलाल ने ऐसे शब्द बचाए है। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर में पूरी है।"[13]
- सदल मिश्र की भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूरबीपन लिए हुए खड़ी बोली स्वीकार किया है- "गद्य की एक खास परम्परा चलाने वाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुंशी सदासुख लाल और सदल मिश्र की भाषा में मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मुंशी सदासुख लाल की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है।"[14] इस तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली की आरम्भिक भाषा की प्रचलित स्थितियों का पूरा ब्यौरा दिया है। सदासुख लाल की भाषा आचार्य शुक्ल को खासकर आकर्षित करती है। इसका कारण स्पष्ट है कि वे ऐसी ही भाषा जिसमें हिन्दी के अलावा अन्य भाषा का पुट न हो। सदासुख लाल भी उर्दू को चलती भाषा से अधिक नहीं मानते थे तथा उसको मिलाकर लिखने वालों की निंदा करने से नहीं चुकते- "रस्मौ रिवाज भाषा का दुनिया से उठ गया।"[15]

इस तरह 1800 ई. के प्रारम्भ तक हिन्दी भाषा का स्पष्ट स्वरूप निर्मित होना शुरू हो गया था। पद्य भाषा तो पहले से ही विभिन्न शैलियों में गतिमान थी परन्तु गद्यात्मक रचनाओं की विधिवत् परम्परा का विकास 1800 ई. के बाद से ही देखा जा सकता है। 19वीं सदी के प्रारम्भ से ही भाषायिक झगड़े प्रारम्भ होने लगे थे। ख़ासकर हिन्दी एवं उर्दू दोनों ही अपने को श्रेष्ठ कहलाने के लिए अपने आप को विशिष्ट बनाने में लगे हुए थे। दोनों के विद्वान एक-दूसरे की भाषा को नीचा दिखाने में लगे हुए थे। उर्दू को यामिनी भाषा, मलेच्छ भाषा, जैसी विभिन्न उपाधियों से विदूषित करके उसकी साख गिराने का हर संभव प्रयास किया गया। वहीं हिन्दी को भी गद्यों की भाषा, नीरस भाषा जैसे कितने ही अपमानजनक शब्दों से विदूषित किया जाने लगा था। कहने का मतलब 1857 के बाद जो हिन्दू-उर्दू को लेकर हमें तल्खी दिखाई देती है। उसकी शुरुआत 1857 से 50 साल पहले ही शुरू हो गई थी।

समय के साथ खड़ी बोली हिन्दी की दुरवस्था होने लगी। विद्वानों ने खड़ी बोली को प्रासंगिक व विशिष्ट भाषा बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। हालांकि हिन्दी विद्वानों में भी दो गुट बने जिन्होंने हिन्दी भाषा की दशा व दिशा को अलग-अलग रूप में संचालित करने का फैसला किया। एक गुट राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का था जो देवनागरी लिपि की महत्ता को स्वीकार करते हुए आमफ़हम की भाषा को मान्यता देने के लिए प्रयत्नशील था तो

वहीं दूसरा गुट भारतेन्दु मण्डली का था जो आमफ़हम की प्रचलित सरल अरबी फारसी शब्दों को खड़ी बोली से निकालने के लिए कर्तव्य निष्ठ बने हुए थे। तथा संस्कृत के शब्दों से लादकर हिन्दी को संस्कृत की परम्परा से जोड़ने के लिए प्रयत्नशील थे। यह वाक्युद्ध समय के साथ गहराता गया। जल्द ही भाषा की रूपरेखा में भी साम्प्रदायिक रूप की झलक देखी जाने लगी। मुसलमानों ने अरबी फारसी से अपनी परम्परा जोड़ने के लिए उर्दू को नीरस व बोझिल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी तो वहीं हिन्दी विद्वानों में हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाकर ही दम लिया। रही सही कसर नागरी प्रचारिणी सभा, खड़ी बोली आंदोलन जैसे संगठनों ने पूरी कर दी। 19वीं सदी के अंत तक जाते जाते हिन्दी की खड़ी बोली पूर्णतः संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली की पर्याय बन चुकी थी। द्विवेदी काल के किसी भी लेखक की रचनाओं को उठाकर देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ द्विवेदी काल के प्रमुख रचनाकार अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के प्रियप्रवास की पंक्तियाँ द्रष्टव्य है। इसे खड़ी बोली का पहला महाकाव्य भी माना जाता है-

"दिवस का अवसान समीप था। गगन कुछ लोहित हो चला।।

तरु-शिखा पर थी अब राजती। कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा।।"[16]

इन पंक्तियों को देखकर ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि 19वीं सदी के अंत तक किस प्रकार हिंदी संस्कृतनिष्ठ शब्दों से पटी पड़ी थी।

19वीं सदी में भाषा संबंधी आये इस बडे बदलाव के पीछे अपेक्षाकृत अस्मिता का सवाल भी छुपा हुआ था। प्रांतों में वर्चस्व की रणनीति तथा अंग्रेजों से अपनी भाषा की प्रतिष्ठा के लिए दोनों ही वर्ग (हिन्दी व उर्दू) जी जान से लगे हुए थे। अपनी भाषा को 'राजभाषा' का दर्जा दिलाने के लिए दोनों ही वर्ग के विद्वान भाषा की महत्ता को बढ़ाचढ़ा कर पेश करने लगे थे। कई नयी-नयी संस्थाएँ बनाई गई मुसलमानों ने अंजुमने हिमायते उर्दू, उर्दू डिफेंस एसोसिएशन जैसे संगठनों का निर्माण कर उर्दू को 'राजभाषा' का दर्जा दिलाने का भरसक प्रयास किया तो वहीं हिन्दी प्रेमियों में भारतेन्दु मण्डल, हिन्दी नवजागरण मंच, हिन्दी-हिन्दु-हिन्दुस्तान जैसे विभिन्न बुनियादी संगठनों के द्वारा हिन्दी की मजबूत कड़ी को सामने लाने का प्रयास किया। डॉ. नामवर सिंह ने 'देसी भात में खुदा का सांझा' नामक लेख में इस विवाद की गहराई से पड़ताल की है साथ ही हिंदी की हिमायत करते हुए वे लिखते हैं- "कहां तो समस्या अंग्रेजी के प्रभुत्त्व को हटाने की थी और कहाँ चर्चा हो रही है हिंदी को थोपे जाने की 'थोपी हुई' अंग्रेजी से कोई एतराज नहीं, लेकिन 'थोपी जाने वाली' हिन्दी पर इतना हंगामा।"[17]

19वीं सदी के आरम्भ से शुरू हुआ यह हिन्दी-उर्दू वैमनस्य आज भी जारी है। इसके चलते ही न तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त हो सका और न ही उर्दू की स्पष्ट छवि विकसित हो सकी। दोनों की बन्दरबांट में 19वीं सदी के पूरे सौ साल में खींचतान का माहौल बना रहा। वर्तमान में भी कुछ हद तक बढ़ते हुए स्वरूप में जारी है।

**सन्दर्भ सूची:**

1. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.- 105
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.- 35

3. वही, पृ.- 35
4. वही, पृ.- 35
5. शर्मा, रामविलास, भाषा और समाज, पृ.- 284
6. सिंह, नामवर, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ.- 219
7. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.- 282
8. वही, पृ-282
9. वही, पृ.-284
10. शर्मा, पद्मसिंह, हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तान, पृ.- 93
11. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.- 285
12. वही, पृ.- 287
13. वही, पृ.- 289
14. वही, पृ.- 29
15. वही, पृ.- 286
16. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.- 114
17. हंस पत्रिका, मार्च 1987

---

***शोधार्थी पीएच.डी, हिंदी**
**जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय,**
**नई दिल्ली**
**ईमेल: sanjayk2210@gmail.com**
**मो. 9650946058**

# साहित्य और कला के अध्ययन में मार्क्सवाद का महत्त्व

*अनीता

मार्क्सवादी कला और साहित्य-चिन्तन मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है। इसके दो प्रमुख आधार हैं,एक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दूसरा ऐतिहासिक भौतिकवाद । द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक विकास का सिद्धांत है जो वाद, प्रतिवाद और संवाद के द्वारा आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। तो वहीं ऐतिहासिक भौतिकवाद में मानव समुदाय का मूल प्रयत्न आर्थिक या उत्पादन-परक है। इसी के लिए वह श्रम का आधार ग्रहण करता है और इन्हीं तत्वों से कला और साहित्य का निर्माण होता है। मार्क्स के साथ एंजिल्स ने भी मिलकर कार्य किया।

मार्क्सवाद के साहित्य और कला-संबंधी विचार इनकी (मार्क्स और एंजिल्स से) पुस्तक 'लिटरेचर एण्ड आर्ट' मे है, जो इनके 'ए कण्ट्रीब्यूशन टु दि क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकलइकोनामी नामक ग्रंथ की प्रस्तावना का अंश है मार्क्स के अनुसार साहित्य और कलाएं समाज के आर्थिक -भौतिक जीवन से उत्पन्न होती है तथा उसी पर आधारित भी होती है और जैसे-जैसे इनमें परिवर्तन होता है वैसे-वैसे साहित्य, कला तथा विचारधारा में भी परिवर्तन होता है। इनके अनुसार साहित्य और कला केवल परिस्थितियों से प्रभावित ही नहीं होती, बल्कि उन्हें प्रभावित भी करती है। जिस कारण सामाजिक क्रांति एवं समाज के पुनर्निर्माण में भी कला एवं साहित्य महत्त्वपूर्ण कार्य करते है।

कला के उद्भव और विकास में श्रम की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि श्रम के कारण ही-मानव हाथ नें वह उच्च क्षमता प्राप्त की, जिसकी बदौलत रेफेल की सी चित्रकारी, थोर्वाल्दसें की सी मूर्तिकारी और पागानीनी का सा संगीत आविर्भूत हो सका।

यह कला तथा साहित्य ही है जो मनुष्यों को पशु-पक्षियों के श्रेणी से अलग करता है, क्योंकि, वे केवल अपने तथा अपने परिवार के बारे में ही सोचते है, जबकि मनुष्य सभी के विषय में सोचता है, और यही सामाजिकता साहित्य सृजन की शर्त है। जब मनुष्य स्वतंत्र होकर सृजन करता है तो उसकी शैली भी भिन्न होती है। साथ ही कलात्मक प्रतिभा कुछ व्यक्तियों में ही सीमित तभी तक होती है जब तक श्रम विभाजन असंतुलित होता है। साम्यवादी समाज में विसंगतियाँ न होने से सभी लोग अन्य कार्यों के साथ कलात्मक भी होंगे क्योंकि कला चेतना व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक चेतना का प्रतिफलन है। धर्म को मार्क्स अफीम की भांति मानते है, जिस कारण धार्मिक साहित्य थोड़े समय के बाद सार ही न हो जाता है। वे साहित्य को समाज का दर्पण भी नहीं मानते हैं बल्कि साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का अचूक हथियार ही मानते है।

मार्क्स के प्रमुख सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार समाज के दो ढांचे है, पहला आधारभूत ढांचा (base) और दूसरा उस पर आश्रित अर्थात् अधिरचना (superstructure)। दूसरे ढांचे के अंतर्गत समाज, साहित्य, कलादर्शन एवं संस्कृति संबंध तत्त्व आते है। इस तरह आर्थिक व्यवस्था सबकी नियामक है। मात्र्स के इस विचार की साहित्य में सबसे अधिक आलोचना भी हुई। ग्राम्सी ने अपनी पुस्तक 'प्रिसन नोट बुक' में 'आधार व अधिरचना' को नए तरीके से देखा, जिसे उन्होंने हेजेमोनी (hegemony) का सिद्धांत कहा। इनके अनुसार सभी

चीज़ों को आर्थिक ढांचा निर्धारित नहीं करता बल्कि प्रकृति के आधार पर समाज अपनी संस्कृति गढ़ता है न कि बंदूक की नोकसे। कलाएँ सापेक्षित रूप से स्वतंत्र होती है, जिस कारण हेजोमोनी के अंदर से ही विरोध शुरू होता है। अर्थात् कला ही विरोध करके सच्चाई समाज को बताती है।

लुईस अल्थुसर के 'आधार और अधिरचना' के बारे में राय है कि आधार तो ठीक है किन्तु 'अधिरचना' दो प्रकार की होती है- पोलिटीगोलीगल और विचार धारा। ये दोनों आपस में संबंधित है। जिस कारण परिवर्तन होता है। कला को विचारधारा की भूमिका मानते हुए अल्थुसर यह मानते है कि कला समाज में परिवर्तन कर सकती है, क्योंकि यह यथार्थ में हस्तक्षेप करती है, इसके अलावा एडोरनों और जार्जलुकाच की बहस जो कि 'एस्सेआनथोमस' पुस्तक में है अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कला और साहित्य पर विचार करने वाले प्रमुख नाम है-मैक्सिमगोर्की, क्रिस्टोफरकाडवेल, अनसर्टफिशर, जार्जलूकाच आदि हैं। मैक्सिमगोर्की के अनुसार कला के लिए कल्पना, ज्ञान और नयी दृष्टि आवश्यक होती है। कल्पना को उन्होंनें बिम्बों में विचार करने की क्रिया माना है। इन्होंने मनुष्य को सारे विचारों और भावों का स्रष्टा कहा है। वह लेखक के लिए यह आवश्यक मानते है कि वह जीवन के ऊपरी यथार्थ की बजाय आंतरिक यथार्थ पर गहरी नज़र डाले। भाषा के बारे में इनकी स्पष्ट राय है कि जन सामान्य के बीच प्रचलित भाषा और साहित्य की भाषा में कोई अंतर नहीं होना चाहिए। भाषा को वे जनता द्वारा निर्मित वस्तु मानते है। 'एक पाठक' कहानी में गोर्की ने लेखक और पाठक के संवाद के माध्यम से बताया है कि साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को अपने को समझने, आत्मविश्वास को जगाने, सत्य की खोज आदि करने के साथ-साथ मनुष्य की कृण्ठा, निराशा, दासता आदि को दूर करना है।

एक अन्य विद्वान क्रिस्टोफरकाडवेल के भी मार्क्सवादी विचार उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में है। काडवेल कला को प्रयत्न और संघर्ष से उत्पन्न तत्त्व मानतें है उनके अनुसार कला और संस्कृति सतत् गतिशील है। ये बात कला और संस्कृति के इतिहास से समझी जा सकती है। सभी कलाओं का रूप अपने समय के समाज की स्वतंत्रता संबंधी भावनाओं से निर्मित होता है। कला स्वतंत्रता की एक शैली है। यों तो सभी वस्तुएँ नष्ट होती रहतीं और उत्पन्न होती रहती है, पर कला तत्व तब तक बना रहता है, जब तक मनुष्य रहता है। सच्ची सौंदर्य-भावना का उद्भव वर्ग विहीन, शोषण मुक्त समाज में ही सम्भव हो सकता है। तभी श्रम सौंदर्य मणि होगा।

जार्जलूकाच का मार्क्सवादी कला तथा साहित्य चिंतन में विशेष योगदान है। यह प्रथम विद्वान है, जिन्होंने यथार्थ की मार्क्सवादी व्याख्या की है। लूकाच के अनुसार मनुष्यता की सम्पूर्ण विरासत के प्रति मार्क्सवाद की गहरी रूचि और संरक्षण की भावना है। कला और साहित्य ही है जो मनुष्य के विकास के इतिहास को समग्रता में प्रदर्शित करता है। अतः हमारे नव-निर्माण में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। लूकाच के विचार से कला, मानव की सामाजिक और नैतिक समस्याओं से गहराई तक जुड़ी रहती है। अतः वह हमारे लिए सामग्री का स्रोत भी है और नव-निर्माण का माध्यम भी।

मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र तथा समाजवादी यथार्थवाद के सैद्धांतिक पक्षों के साथ-साथ इसके व्यवहारिक पक्ष पर भी विचार की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी कला तथा साहित्य पर विचार करें तो 1936

में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ यहाँ माक्र्सवादी धारा तेजी से उभरती हुई दिखती है। इस विचार के मूल में भी समाज, आमजन तथा सामाजिक यथार्थवाद आदि ही केन्द्र में है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर नंददुलारे वाजपेयी, मुक्तिबोध, डॉ. रामविलास शर्मा, तथा डॉ. नामवर सिंह तक सभी लोगों ने इस पर विचार किया हैं। 1969 ई० में नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी में शिवदान सिंह चैहान ने समाजवादी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (1919-1939) शीर्षक निबंध पढ़ा था। इस निबंध में शिवदान सिंह जी ने मार्क्सवादी विचारधारा तथा हिन्दी साहित्य के यथार्थवादी रूझानों को मुखर रूप से प्रस्तुत किया है।

किसी भी मार्क्सवादी साहित्यिक समालोचक के लिए इस बात की गहराई से छानबीन करना एक आवश्यक कार्यभार है कि कला कर्म और साहित्यिक सृजन के क्षेत्र की हर क्रिया शीलता के पीछे जो भी नया तत्त्व उदित हो रहा है उसका मूल प्रेरक क्या है? मार्क्सवादी साहित्यिक विचार को लेनिन, माआत्सेतुंग और ग्राम्शी ने आगे बढ़ाने का कार्य किया। इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन का मूल उद्देश्य कला और साहित्य की समाज परकता तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसकी अवधारणा के साथ सर्जना माने जा सकते है। कला और साहित्य विचारधारा का ही एक अंग है। मनुष्य उस विचारधारा का केंद्र बिन्दु है। इस चिंतन में जहाँ एक ओर परम्परा-बोध है, वहीं दूसरी ओर यथार्थ-बोध भी आवश्यक है। इतिहास परम्परा-बोध एवं यथार्थ-बोध के आधार पर सामाजिक दृष्टि से यथार्थ चित्रण आवश्यक है।

**संदर्भ ग्रन्थ**

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र इतिहास, सिद्धांत और वाद – डॉ.भगीरथ मिश्र, (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी)
2. आलोचना के सौ बरस - अरविंद त्रिपाठी (प्रकाशक-शिल्पायन, दिल्ली)
3. वाद विवाद संवाद- डॉ. नामवर सिंह (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)
4. आधुनिक हिन्दी आलोचना -डॉ. रामचंद्र तिवारी संदर्भ एवं दृष्टि, (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी)
5. तीसरा रूख़- पुरूषोत्तम अग्रवाल (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली)
6. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली – डॉ. अमरनाथ (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)
7. हिन्दी काव्य में माक्र्सवादी चेतना, डॉ.जनेश्वर वर्मा, ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर
8. प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन, हंसराज रहबर, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली
9. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, डॉ. राम विलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
10. मार्क्सवाद साहित्य चिंतन: इतिहास तथा सिद्धान्त, शिवकुमार मिश्र, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
11. आलोचना के सिद्धान्त, शिवदान सिंह चैहान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
12. मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त, जनेश्वर वर्मा, समाजवादी साहित्य सदन, लखनऊ
13. कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणा पत्र, कार्ल मार्क्स , फ्रेडरिक एंगेल्स, नेशनल बुक एजेंसी, कोलकाता
14. हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना: सैद्धान्तिक, श्याम कश्यप, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

***शोधार्थी, एम.फिल. ,हिंदी**
**जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय,**
**नई दिल्ली**
**ईमेल: vermaanita937@gmail.com**

# साहित्य के समाजशास्त्र की दृष्टि से मार्क्सवाद की उपयोगिता

*रमन कुमार

साहित्य, समाजशास्त्र और मार्क्सवाद तीनों समाज में अपना स्वतंत्र रूप निर्धारित करते हैं, किन्तु यह भी एक सत्य है कि समाज के बिना साहित्य का और साहित्य के बिना समाज का वजूद नाम मात्र होगा। अब सवाल यह बनता है कि जब साहित्य और समाज दोनों अलग-अलग हैं तो साहित्य के समाजशास्त्र का क्या अर्थ बनता है? और यदि साहित्य और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तो साहित्यिक समाजशास्त्र को साहित्य से अलग करके क्यों देखा जाए? इस विषय पर जिन विद्वानों ने अपनी लेखनी चलाई और विचार प्रस्तुत किए, उनके मतों से साहित्यिक समाजशास्त्र को समझने पर हम देखते हैं कि शुरुआत से ही साहित्य में समाजशास्त्रीय पद्धति विवादित तर्कों के साथ आगे बढ़ी और आज भी इस स्थिति में कुछ ज्यादा बदलाव देखने को नहीं मिलता। साहित्यिक विचारक इसे साहित्य की स्वतंत्र विधा मानते हैं तो समाजशास्त्री इसे समाजशास्त्र की शाखा मात्र समझते हैं। पी. फॉस्टर और सी. केनफोर्ड अपने एक लेख में साहित्यिक समाजशास्त्र को समाजशास्त्र का एक प्रकार मानते हुए लिखा हैं कि "आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के नाम पर जो कुछ लिखा और पढ़ाया जा रहा है उसमे से अधिकांश साहित्यिक समाजशास्त्र है। उसे ऐसी साहित्यिक आलोचना कहना उचित होगा जो समाजशास्त्र के सामान्य ज्ञान के सहारे काम करती है। उसके मूल में सक्रिय समाजशास्त्री दृष्टि इतनी दुर्बल होती है कि उसके साहित्य विवेचन को समाजशास्त्रीय कहना कठिन है।"[1]

साहित्य में मार्क्सवाद किस प्रकार आया? साहित्य में इसे कैसे और क्यों स्वीकारा गया? आइए देखते हैं- हम सबको यह मत स्वीकार्य है कि समय परिवर्तनशील होता है। जैसे-जैसे समय परिवर्तित होता चलता है वैसे-वैसे समाज की विकास प्रक्रिया में बदलाव आता रहता है, लेकिन कई बार हमे यही परिवर्तन साहित्य में अचानक हुआ जान पड़ता है। लेकिन समय के साथ साहित्यिक विकास की प्रक्रिया निरंतर बढ़ती चलती है। शुरुआत में हिन्दी में साहित्य के नाम पर केवल कविता होती थी। क्योंकि उस समय साहित्य के अन्य रूप विकसित नहीं हुए थे, लेकिन आधुनिक काल में विभिन्न विधाओं का विकास होने के बाद यह धारणा नहीं रही। इसी विकसित धारणा का सदैव साहित्य से जुड़ाव रहा है। इस संदर्भ में डॉ. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- "जातीय साहिय की धारणा और विश्व साहित्य की धारणा का विकास आधुनिक युग के सामाजिक विकास का परिणाम है।"[2] जुलाई 1881 ई. में हिन्दी प्रदीप में बालकृष्ण भट्ट ने एक लेख लिखा जिसका शीर्षक ही था- "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।"[3] उस समय इस लेख का शीर्षक ही तत्कालीन साहित्य की धारणा को व्याख्यायित करता प्रतीत होता है। आगे चले तो हम देखते हैं कि महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का युग बना, तो उन्हें इस साहित्यिक धारणा को भावना तक सीमित ना रखते हुए लिखा कि- "ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है।"[4] लेकिन छायावादी युग की रचनाशीलता को "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" या "ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है" कहकर सीमित रखना कठिन था। इसीलिए आचार्य शुक्ल को लिखना पड़ा- "साहित्य जनता की चितवृति का संचित प्रतिबिंब है।"[5] वहीं साहित्य के संदर्भ में निर्मला जैन 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन' में लिखती हैं कि- "साहित्य को एक हद तक अपने आप में बंद, आत्मनिर्भर रचना माना जाए तो बल मूलतः उसकी आंतरिक रचना पर होगा- यानि बिम्ब-विधान, चरित्रांकन, कथानक की द्वंद्वात्मकता,

लय, भाषा आदि विचार पर।"[6] साहित्य अपने भीतर समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि गतिविधियों एवं परिणामों को समाहित किए रहता है। यही तत्व साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति को शोध के अंतिम बिन्दु तक लेकर जाते हैं।

उपरोक्त व्याख्याओं के अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि साहित्य सामान्यतः विकासशील सामाजिक धारणा का एक रूप है जो समय के साथ परिवर्तित होती रहती है। इसके परिवर्तन का मूल केंद्र समाज है। चाहे वह जनसमूह के हृदय की बात करे या संचित ज्ञान राशि की बात करे या फिर जनता की चितवृतियों की। साहित्य और समाज आपस में सीधा संबंध रखते हैं। दोनों किसी साईकिल के टायरों की भांति एक साथ आगे बढ़ते हैं। यदि एक टायर खराब हो जाए तो दूसरा टायर भी ठीक तरह से नहीं चल सकता और टायरों के बिना साईकिल का अपना कोई अस्तित्व नहीं होगा। वह साईकिल ठीक तरह से तब तक आगे बढ़ती रहेगी जब तक साईकिल के दोनों टायर अबाध गति से सकुशल आगे बढ़ते रहेंगे। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि सम्पूर्ण समाजकीय प्रक्रिया हमारा साईकिलनुमा ढांचा है तथा साहित्य और समाज उसके दोनों पहिये। हमारी समाजकीय प्रक्रिया समयानुरूप परिवर्तित और विकसित होती रहे, इसके लिए आवश्यक है साहित्य और समाज का एक साथ आगे बढ़ना। अतः समाज तभी आगे बढ़ेगा जब साहित्य का विकास होगा और साहित्य तभी आगे बढ़ेगा जब समाज का विकास होगा।

आगे चलकर साहित्य में समाजशास्त्रीय विवेचन प्रक्रिया बहस का मुद्दा बनी। इस बहस की मूल जड़ में साहित्य की स्वायतता और उसकी स्वतन्त्रता थी। यह बहस साहित्य के तत्त्ववादी, रूपवादी, अनुभववादी और मीमांसावादी दृष्टिकोण के आधार पर आगे बढ़ती है। रूपवादियों ने साहित्य में विभिन्न प्रकार की धारणाओं का निर्माण किया और वे उन धारणाओं के अनुरूप साहित्य की व्याख्या करने लगे। इन धारणाओं के आधार पर न तो साहित्य का इतिहास लिखा जा सकता है और न साहित्य के समाजशास्त्र को विश्लेषित किया जा सकता है। इस संदर्भ में अनुभववाद और मीमांसावाद के बारे में डॉ. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- "अनुभववादी साहित्य के समाजशास्त्र के लिए पहले से बनी-बनाई किसी धारणा की जरूरत नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार साहित्य की धारणा के पीछे मूल्य चेतना भी काम करती है जिसका वे विरोध करते हैं। अनुभववादी साहित्यिक कृति की अस्मिता को भी महत्वपूर्ण नहीं मानते। लेकिन मीमांसावादी समाजशास्त्री साहित्य की इस धारणा को जरूरी मानते हैं, उन्होंने साहित्य की ऐसी धारणा निर्मित की है जिससे समाज के साथ साहित्य के बहुस्तरीय संबंध की व्याख्या संभव होती है।"[7] अनुभववादी विचारधारा साहित्य में सामाजिक स्थिति की विवेचना करती है और मीमांसावादी विचारधारा साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज करती है। इसी मीमांसावादी विचारधारा के अंतर्गत मार्क्सवादी, संरचनावादी और आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय दृष्टियां सक्रिय रूप में कार्य करती हैं। **जेने उल्फ** साहित्य के समाजशास्त्र के तीन पक्ष बताते हैं- कृति की व्याख्या, कृति में विचारधारा की पहचान और विचारधारा के सौंदर्यबोध का विवेचन। पिछले कई दशकों से साहित्य के समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण विकास यात्रा साहित्य की मीमांसावादी दशा में हुई है। इसी साहित्यिक विकासशील प्रक्रिया में आगे चलकर मार्क्सवादी विचारधारा साहित्य में आती है।

साहित्य में मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद नाम से प्रसिद्ध है। इस भौतिकवाद को तीन तत्वों- अवस्थान (थीसिस), प्रत्यवस्थान (ऐन्टीथीसिस) और साम्यावस्था (सिनेथीसिस) के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है। मार्क्स का मानना है कि इस जगत में प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्व विद्यमान रहते हैं और उनमें निरंतर द्वंद चलता रहता हैं। इस निरंतर द्वंद के चलते एक समय ऐसा आता है कि इन विरोधी तत्वों में संतुलन स्थापित हो जाता है- "अवस्थावान (थीसिस) अपने ही सन्निहित विरोधी तत्वों से द्वंद्व करता हुआ प्रत्यावस्थान (ऐन्टीथीसिस) में परिणत हो जाता है और आगे चलकर दोनों में संतुलन स्थापित हो जाता है, तो वह साम्यावस्था (सिन्थेसिस) की स्थिति में आ जाती है, किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह पाती। विरोधी तत्त्व पुनः उद्भूत होते हैं, द्वंद्व चलने लगता है।"[8] मार्क्स इसी प्रक्रिया को आधार बनाकर वर्तमान समय को व्याख्यायित करते हुए बताता है कि- "पूंजीवादी वर्ग प्रस्तुत अवस्थावान (थीसिस) है। सर्वहारा वर्ग प्रत्यवस्थावान (ऐन्टीथीसिस) है। इन दोनों का द्वंद्व अनिवार्य है। द्वंद्व के पश्चात साम्यवाद के रूप में साम्यावस्थान (सिन्थिसिस) की स्थिति आना अवश्यम्भावी है।"[9] इसके अलावा साहित्य में वस्तु-जगत, जड़-जगत और विचार-जगत ये तीनों तत्त्व मार्क्सवादी चिंतन का हिस्सा है। वस्तु-जगत चरम सत्यता पर कायम है। चेतन-जगत का निर्माण जड़-जगत के दुख उत्पन्न होने के कारण होता है। मानव विचार भौतिक जगत के रूप में मानव मस्तिष्क में पड़े हुए प्रतिबिंब हैं।

मार्क्स की अवधारणा ईश्वर के अस्तित्व को और उसकी न्यायिक व्यवस्था को सिरे से नकारती है। मार्क्सानुसार ईश्वर न्याय का नहीं बल्कि मानव स्वार्थ का परिणाम है। इस प्रक्रिया को वे इस प्रकार समझाते हैं कि- "आरंभ में एक प्रकार कि साम्यवादी व्यवस्था थी जिसे 'आदिम साम्यवाद' कहा जा सकता है। इस 'आदिम साम्यवाद' की परिणति 'दास प्रथा', 'दास प्रथा' की परिणति 'सामंतशाही' और 'सामंतशाही' की परिणति आधुनिक पूंजीवाद में हुई।"[10] इसी पूंजीवादी व्यवस्था के कारण समाज में दुर्व्यवस्था बढ़ती जा रही है। इस पूंजीवाद को समाप्त करने से ही साम्यवाद को फिर से स्थापित किया जा सकता है। इसके लिए शोषित वर्ग को शोषक वर्ग द्वारा किए गए अत्याचारों का एहसास करवाकर उसका स्वाभिमान जगाना होगा। यही स्वाभिमान पूंजीवाद को ध्वस्त कर साम्यवाद को स्थापित कर सकता है। इसके अलावा जो रचना शोषक या शाषक वर्ग की निंदा करते हुए शोषित वर्ग को न्याय दिलाने की बात करती है, मार्क्सवादी दृष्टि से ऐसी रचना 'मानवतावादी' होती है।

साहित्य में समाजशास्त्र और मार्क्सवादी अवधारणा का अपना-अपना महत्त्व है। कई मायनों में साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति और मार्क्सवादी अवधारणा एक समान प्रतीत होती है किन्तु ऐसा नहीं है। साहित्य में समाजशास्त्रीय पद्धति समाज के आंतरिक-बाह्य सम्बन्धों की जीवन प्रक्रिया के मध्य विविध सामाजिक पक्षों को साहित्य के माध्यम से रूपायित करती है। समाजशास्त्री साहित्य को संस्थात्मक रूप में देखते हैं। जिस प्रकार सामाजिक संस्थाए अपने सदस्यों को दिशा-निर्देश देकर उन्हें सामाजिक मूल्यों और आदर्शों का पाठ पढ़ाती है ठीक वैसे ही साहित्यकार भी अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्ति और समाज के बीच आपसी सम्बन्धों की स्थापना करने की कोशिश करते हैं। सामाजिक संस्थाएं सीधे व स्पष्ट रूप में बाते अपने सदस्यों तक पहुँचाती हैं, लेकिन साहित्यकार अपनी बाते बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों, लोकोक्तियों और मुहावरों के माध्यम से पहुंचाता है।

समान्यतः कहा जा सकता है कि 'साहित्य का समाजशास्त्र' एक ऐसी साहित्यिक प्रक्रिया का नाम है जो परिवारवाद, क्षेत्रवाद को नकारते हुए समाज को अबाध गति से निरंतर आगे बढ़ाती चलती है। इसे उन सभी बंधनों से मुक्ति का घोषणा पत्र समझा जा सकता है जो आमजन की स्वतंत्रता और उनकी इच्छाओं को बांधने या दबाने का प्रयास करते हैं। अतः साहित्य का समाजशास्त्र पिछली दो-तीन सदियों पर पर प्रकाश डालते हुए वर्तमान समय की यथास्थिति को सुधारने की बात करता है। यह नई क्रांति का प्रतीक है। माना जाता है इसका जन्म ही क्रांति से हुआ था। 1776 की अमेरिका में उपनिवेशवाद के विरोध में हुई क्रांति,1789 की फ्रांसीसी क्रांति और अठारहवीं सदी के समय ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति इसके उदाहरण हैं।

साहित्य में मार्क्सवादी अवधारणा एवं उसकी उपयोगिता पर बात करें तो हम देखते हैं कि मार्क्सवादी समीक्षा में साहित्यकार को एक सामाजिक प्राणी माना गया है। किन्तु साहित्यिक तत्त्वों और सामाजिक परिस्थितियों के आंतरिक एवं बाह्य सम्बन्धों की व्याख्या मार्क्सवादी जीवन दर्शन के आधार पर करती है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी मार्क्सवादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय समीक्षा की धारा मात्र समझते है। हिन्दी साहित्य में समाजशास्त्रीय संबंधी समीक्षा एवं विचार-विवेचन 'आलोचना पत्रिका' द्वारा विश्लेषित किए गए। उस समय यह बहस का मुद्दा बनकर उभरा था और आज भी यह बहस थमी नहीं है। साहित्य में इन बहसों की शुरुआत पश्चिमी साहित्य से होती हुई विश्वसाहित्य के रास्ते समाजशास्त्र पर आकर रुकती है। आजकल यहीं से खड़े होकर हिन्दी साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा रहा है, लेकिन हमें यह बात भी समझनी होगी कि साहित्य का समाजशास्त्र से गहरा संबंध रहा है। साहित्य के बिना समाज और समाज के बिना साहित्य व्यर्थ है। एक अच्छा साहित्य अच्छे समाज के निर्माण में काफी हद तक अपनी भूमिका अदा कर सकता है और एक अच्छा समाज एक अच्छे साहित्य को निर्मित कर सकता है। ये दोनों समाज में सांस और शरीर की भांति कार्य करते हैं। यह सत्य है कि साहित्यिक सामाजशास्त्रीय प्रक्रिया एवं समाजशास्त्र में बहुत हद तक समानताएं देखने को मिल सकती हैं। ये समानताएँ ठीक वैसी हैं जैसे किसी व्यक्ति के गुण-दोष किसी अन्य व्यक्ति में देखने को मिल जाते हैं लेकिन ऐसा जरूरी नहीं है कि उनका कोई आपसी संबंध हो।

अंततः कहा जा सकता है कि साहित्यिक समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रक्रिया को समाजशास्त्र की एक शाखा माना जा सकता है, क्योंकि रचनाकार भी प्रकारान्तर से सजग समाजशास्त्री ही होता है। यह बात अलग है कि इन दोनों में दृष्टिकोण, सौंदर्यबोध, विचारधारा और यथास्थिति के खंडन-मंडन में भेद-विभेद देखने को मिल जाता है। इस विषय की जटिलता को समझने के लिए श्रीराम मेहरोत्रा कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र', डॉ. बच्चन सिंह कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' तथा डॉ. नगेन्द्र कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र', एंथनी गिडेन्स कृत 'समाजशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय' आदि पुस्तके उल्लेखनीय हैं, लेकिन इन पुस्तकों के आधार पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। मूल्यांकन की दृष्टि से यह सामग्री पर्याप्त नहीं है। इसे अभी और अधिक विकसित करने की आवश्यकता है।

## संदर्भ सूची

1. पाण्डेय, ड. म. (2006). साहित्य के समाजशास्त्र कि भूमिका. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी. पृ. स.4

2. पाण्डेय, ड. म. (2006). साहित्य के समाजशास्त्र कि भूमिका. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी. पृ. स.7
3. पाण्डेय, ड. म. (2006). साहित्य के समाजशास्त्र कि भूमिका. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी. पृ. स.7
4. पाण्डेय, ड. म. (2006). साहित्य के समाजशास्त्र कि भूमिका. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी. पृ. स.8
5. पाण्डेय, ड. म. (2006). साहित्य के समाजशास्त्र कि भूमिका. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी. पृ. स.8
6. जैन, न. (1986). साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन. दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय. पृ.स.2
7. पाण्डेय, ड. म. (2006). साहित्य के समाजशास्त्र कि भूमिका. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी. पृ. स.9
8. तिवारी, ड. र. (2016). हिन्दी का गद्य-साहित्य . वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन पृ.स.134
9. तिवारी, ड. र. (2016). हिन्दी का गद्य-साहित्य . वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन . पृ.स.134
10. तिवारी, ड. र. (2016). हिन्दी का गद्य-साहित्य . वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन . पृ.स.134

### अन्य पुस्तकें

1. यशपाल. (2018). मार्क्सवाद. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन .
2. सांकृत्यायन, र. (2020). कार्ल मार्क्स . नई दिल्ली: किताब घर पब्लिशर्स.
3. सिंह, ब. (2007). साहित्य का समाजशास्त्र. इलाहाबाद : लोकभारती.
4. गिडेन्स, ए. (2008). समाजशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय. नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी.

***पीएच.डी शोधार्थी, हिंदी**
**अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली**
**मोबाइल नंबर: 9315337171**
**E-Mail:- ramantakiyadu@gmail.com**

# दीर्घतपा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

*शेषांक चौधरी

फणीश्वर नाथ रेणु हिंदी आलोचना को "आंचलिक उपन्यास" का विशेषण देने वाले स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन तथा भारतीयता के सफल कथाकार हैं। फणीश्वर नाथ रेणु का जन्म 4 मार्च 1921 को पूर्णिया (बिहार) जिले के 'औराही हिंगना' गांव के एक मध्यम वर्गीय किसान परिवार में हुआ। रेणु का पूरा नाम 'फणीश्वर नाथ रेणु मंडल' है। रेणु के इस नाम की भी एक कथा है। स्वयं रेणु के शब्दों में – "जब मैं पैदा हुआ था तो घर वालों पर कुछ कर्ज हो गया था। दादी बोली अरे यह तो 'रिणुआ' है। घर पर ऋण हो गया, बाद में 'रिणुआ' से 'रिणु' और फिर 'रुणु' हो गया। बड़ा हुआ तो पिताजी के मित्र ने कहा इसे 'रेणु' कहो और मैं 'रेणु' हो गया।"(1)

'रेणु' मिट्टी के एक बहुत छोटे से, नगण्य से कण को कहते हैं। प्रत्येक कण में आकाश को छूने की शक्ति सन्निहित होती है तथा उसका अपनी धरती के प्रति भी कुछ दायित्व होता है, अपने अंचल के प्रति भी कुछ दायित्व होता है। इसी दायित्वबोध को, ऋण को रेणु हमेशा महसूस करते रहे।

रेणु ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा फारबिसगंज के अररिया स्कूल में, माध्यमिक शिक्षा नेपाल (विराटनगर) में कोइराला परिवार के साथ रहकर और उच्च शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी से प्राप्त की।
रेणु के औपन्यासिक कृतियों की चर्चा करें तो उन्होंने 'मैला आँचल' (1954), 'परती परिकथा' (1957), 'दीर्घतपा' (1963), 'जुलूस' (1965), 'कितने चौराहे' (1979) और 'पलटू बाबू रोड' (1979) जैसे उपन्यासों की सर्जना की।

11 अप्रैल 1977 को रेणु ने इस संसार को अलविदा कहा। 'दीर्घतपा' उपन्यास दिसंबर सन् 1963 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का लेखन दिसंबर सन् 1961 को पूरा हो चुका था। रेणु ने 'पंचकन्या' नाम से पंचकन्याओं को अलग-अलग रूपायित करने वाला 'अलबमनुमा उपन्यास' उन कन्याओं के संक्षिप्त वक्तव्यों को गूँथकर प्रस्तुत करने का विचार किया था। उनकी यह योजना सफल ना हो सकी। इसीलिए उन्होंने उन कन्याओं को अलग-अलग उपन्यासों के रूप में ही क्रमश: प्रकाशित करने का निश्चय किया। इस मालिका का केवल एक ही उपन्यास उन्होंने लिखा शेष उपन्यास किन्हीं कारणों से वह नहीं लिख सके।

दीर्घतपा रेणु का तीसरा आंचलिक उपन्यास है। इसकी भूमिका में वे लिखते हैं – "यह उपन्यास.....नहीं, आंचलिक.....नहीं.....हां, आंचलिक ही......किंतु......अर्थात् यह उपन्यास, उपन्यास है।"(2)

प्रस्तुत उपन्यास 'दीर्घतपा' कुमारी बेला गुप्त के हृदय के यथार्थ रूप की पहचान प्रकट करता है। जीवन और संसार की मंगलकामना से प्रेरित होकर बेला गुप्त ने अपना संपूर्ण जीवन समाज की सेवा में अर्पित कर दिया है। बेला के माध्यम से लेखक ने यह पूछना चाहा है कि क्या यही वह आजादी है जिसके लिए अनगिनत लोगों ने जेलें काटीं और अपने प्राणों की आहुति दी ? जिस समाजवाद की चर्चा गला सूखने तक सभी पार्टियां करती रहती हैं, क्या उसकी सामाजिक रूपरेखा उस व्यंग्य-चित्र में पर्यवसित नहीं हो गई हैं, जो 'सत्यमेव जयते' के ध्येय वाक्य की विडंबना को उजागर करता है और पुकार-पुकार कर कहता है कि सच्चाई का लोप होता जा रहा है। स्वार्थ सिद्धि

के लिए लोग किसी भी शर्त पर अपनी आत्माएं बेचने लगे हैं। अच्छाई पर से विश्वास उठता जा रहा है और चारों ओर व्यर्थता का राज फैला हुआ है।

इस व्यर्थता का ही एक सामाजिक रुप 'वर्किंग विमेंस हॉस्टल' के बंद होने की घटना के द्वारा लेखक ने उपन्यास में प्रस्तुत किया है। यह हॉस्टल बंद ही नहीं हुआ है बल्कि इसके भावी काल में खुलने की संभावना भी लगभग नहीं है। भावी पीढ़ी के अंदर सामाजिक संस्कार लुप्त होते चले जा रहे हैं। जिसका प्रमाण हमें उस ग्यारह वर्ष के किशोर में दिखाई देता है जिसने हॉस्टल के बंद फाटक पर कोयले के टुकड़े से एक अश्लील वाक्य लिख दिया है।

इस उपन्यास में आरंभ से अंत तक नारी जीवन के यथार्थ चित्र को प्रकट किया गया है। नारी अब घर की चारदीवारी में बंदी रहकर केवल बच्चे पैदा करने की मशीन नहीं कहलाना चाहती अपितु वह भी अपने हृदय से उठने वाली अभिलाषाओं और इच्छाओं को सच्चे रूप में प्रस्तुत करना चाहती हैं।

कुमारी वीणा (उपन्यास की एक पात्र) के शब्दों में – "रमला मौसी नहीं होती तो अब तक किसी साहू के आध दर्जन बच्चों की बीमार मां होती और रमला मौसी के किसी मेटरनिटी सेंटर में दवा के लिए रिरियाती फिरती।"(3) विभावती सेवा की भावना से प्रेरित होकर हॉस्टल में आई है और वह अपने गांव के लोगों की सेवा ही सबसे बड़ी सेवा समझती है। बेला के पिता का भी कथन है – "बेटी ! अबला नहीं, शक्ति की आराधना करके सबला बनना है तुम्हें।"(4) बेला की सहचरी फातिमा भी 'बुर्का पर्दा मुर्दाबाद' करके, इंकलाब करके घर से निकल पड़ती है। तारा, गौरी और श्यामा भी वर्तमान प्रगति के पथ पर नित्यप्रति अग्रसर हो रही नारियों के उज्जवल उदाहरण हैं।

'दीर्घतपा' एक आंचलिक उपन्यास है अतः अंचल की एक-एक विशेषता इसमें स्वयमेव उजागर हो यह स्वाभाविक है। दीर्घतपा जिस अंचल से संबद्ध है वहाँ योग और तंत्र के प्रति गहरी आस्था भावना आज भी विद्यमान है। श्री-सुंदरी की साधना में तत्पर रहने वाले 'काम' को वर्ज्य न मानकर आचरणीय और उपयोगी मानते रहे हैं। उसके साथ ही स्वतंत्रता संग्राम की उथल-पुथल और 1947 के देश विभाजन के बाद पश्चिमी सभ्यता के अभिशाप स्वरूप चारित्रिक गिरावट, तिकड़म, सुरा-सुंदरी के प्रति नितांत उच्छृंखल और भोगवादी आचरण आदि कुप्रवृत्तियां बहुत तेजी से बढ़ी हैं। रेणु ने 'वीमेंस वेलफेयर बोर्ड' के चित्रण में 'देश' और 'काल' की इस वृत्ति को बड़ी सफाई से चित्रित किया है। काम, कामुकता और कामी-कामिनिओं के व्यभिचारी आचरणों के चित्रण इस दृष्टि से बड़े यथार्थ बन पड़े हैं। बेला की सारी पीड़ा, मिसेज आनंद का चकलाधर्मी आचरण, अंजू-मंजू की गतिविधियां, प्रोफेसर रमा निगम की रेडियो प्रोग्राम के चक्कर में लाल भाई के साथ व्यभिचारी केलि-क्रीड़ा, अंजू-मंजू को लेकर सुखमय घोष का 'वाइफ एंड हसबैंड' जैसी कामोत्तेजक नृत्यनाटिका का आयोजन, बागे का मिसेज आनंद के साथ व्यभिचार और नाटिका देखने गई हुई विभावती और गौरी के साथ यौनहिंसा आदि में देश और काल-व्यापी कामुकता मुखर है।

कामुकता का सर्वाधिक विकृत रूप, समलिंगी कामाचार भी लेखक की पैनी दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। विभावती मिस बेला से शिकायत करती है कि – " रुक्मिणी और कुंती देवी हमेशा खराब-खराब बातें करती हैं। वह हम लोगों के पास आकर सो जाती हैं......उनकी आदत ठीक नहीं है...... हम लोगों को रात में सोने नहीं देती।"(5)

हॉस्टल का संपूर्ण वातावरण कामुकता से परिपूर्ण है। एक समय ऐसा भी था कि सेंटर की इज्जत गली के बच्चे तक भी करते थे परंतु अब तो हर लड़की छेड़ी जा रही है।डॉ.गोपाल राय के अनुसार -"इस उपन्यास में इन छात्रावासों के अन्दर पनपने वाले भ्रष्टाचार, स्त्रियों के काम-शोषण आदि का अंकन हुआ है।"(6)

श्रीमती आनंद अपनी हीन एवं गर्हित (Discreditable) वृत्ति के कारण निकृष्ट-से-निकृष्ट कार्य करने में भी नहीं हिचकतीं। एक तरफ तो वह रमला बनर्जी के प्रभाव को समाप्त करना चाहती हैं तो दूसरी ओर वह बेला को भी पथभ्रष्ट करना चाहती हैं। मिस्टर आनंद को तो इसकी लेशमात्र चिंता नहीं कि उनकी पत्नी क्या करती रहती हैं, उसे तो बस रुपए चाहिए चाहे इसके लिए उसकी पत्नी दूसरों के साथ रंगरलियां क्यों ना मनाती फिरे।

रमला बनर्जी के रूप में रेणु ने स्त्री की उदार सेवावृत्ति द्वारा सम्बद्ध अंचल की नारियों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। रमला का विभिन्न शिल्प-केंद्र खुलवाना, नारी को साहस देकर अपने पैरों पर खड़े होने के लिए प्रेरित करना तथा बाढ़ और भूकंप आदि में पीड़ितों की सहायता करना विभिन्न समस्याओं का अप्रत्यक्ष रूप में समाधान ही तो है। सामाजिक पक्ष के समाधान के रूप में बेला को मूर्त किया गया है।

हॉस्टल के वातावरण में जाति-पाति के स्वाभाविक चित्रण रेणु की लेखनी से पूर्ण स्पष्ट होकर उभर सके हैं। श्रीमती आनंद जातिवादी मानसिकता से भरी हैं। हॉस्टल का क्लर्क तो अंजू-मंजू से केलि करने में जाति-पाति को बाधक नहीं समझता परंतु जब श्रीमती आनंद उसे शादी करने के लिए कहती हैं तो वह कहता है – "उससे कैसी शादी ! ऊ हिंदुस्तानी है।"(7)

अंधविश्वास पिछड़े समाज का अनिवार्य गुण होते हैं। 'दीर्घतपा' में चित्रित अंचल भी इससे अछूता नहीं है। वैसे सभ्यता के विकास तथा शिक्षा के प्रसार के कारण लोगों में अंधविश्वासों की गांठें कुछ ढीली तो पड़ गई हैं परंतु ऐसा नहीं कि वह समाप्त हो गई हों। उपन्यास में हॉस्टल के पास के मोहल्ले में रहने वाली बूढ़ी औरतें 'परिवार नियोजन' को अपने अंधविश्वासों के कारण ही अपशगुन समझती हैं। इसीलिए कहती हैं – "खूब कोख खाती फिरो, घूम-घूम कर डायन, सब कहती हैं कम बच्चा पैदा करो।"(8) माताएं अपने बच्चों की सुख-सुविधा के लिए अनेक प्रकार की मनौतियां कबूलती हैं, और भरे गले से – "जै मैया काली माता, काला छागल चढ़ाऊँगी भगवती।"(9) जैसी प्रार्थनाएं भी करती हैं। इस प्रकार के अंधविश्वासों का उपन्यास में यथार्थ अंकन हुआ है।

'दीर्घतपा' में पूंजीपतियों की मनोवृत्ति का उद्घाटन यथार्थ के कुरूप चेहरे को उजागर करके रख देता है। इनके मत से - "पार्टी पावर में आए जातीयता फूलेगी ! फेवरटिज्म मिटेगा नहीं भाई-भतीजावाद भी कायम रहेगा।...... रूलिंग पार्टी का अदना कार्यकर्ता जिला के कलेक्टर की कलम पकड़ने का साहस तब भी करेगा।...... सत्य की विजय नहीं होती है कभी, इसीलिए 'सत्यमेव जयते' लिखकर टांगने वाला वाक्य हो गया है। इस वाक्य का प्रथम अक्षर 'अ' लुप्त है।"(10) इस प्रकार पूंजीपतियों ने समाज के हर क्षेत्र में अपना आधिपत्य जमा लिया है। भ्रष्टाचार का जोर तो हॉस्टल में इस सीमा तक बढ़ चुका है कि पूंजीपति हॉस्टल के प्रबंधकों से मिलकर किसी भी लड़की को अपने मनोरंजन के लिए अपने घर बुला सकते हैं और उन्हें हफ्तों गायब भी कर सकते हैं। रिश्वतखोरी के लिए तो यहाँ की औरतें भी कहती हैं – "रामरती और उसकी मां बड़ी लालची हैं। हर महीने हम 'परबी' कहाँ से लावें ?

पैसा नहीं पाती हैं तो सताती हैं, 'छिनाल'।"(11) हॉस्टल के नियमानुसार तो अंजू-मंजू को हॉस्टल में स्थान मिलना नहीं चाहिए था। बेला के लाख विरोध करने पर भी उन्हें स्थान मिला इसलिए कि श्रीमती आनंद ऐसा चाहती हैं। अतः स्थिति ऐसी बन चुकी है कि यहाँ सब बालू की दीवार बना रहे हैं।

कुमारी बेला गुप्त जैसी समाज सेविकाओं के प्रयत्नों को सार्थक बनाने के लिए यह नितांत आवश्यक है की विपरीततम परिस्थितियों में भी अच्छाई के लिए श्रद्धा पैदा की जाए। यह उपन्यास इस दृष्टि से सफल है। उपन्यास में 'बागे' नाम का पात्र कहता है – "जहां सभी बालू की दीवार बना रहे हैं वहाँ ईट सीमेंट का घर कोई पागल ही बना देगा। सदर बाजार का जमाना चला गया।"(12) अपने को 'दलाल' कहने में बागे लजाता नहीं। वह श्रीमती आनंद से साफ-साफ कहता है – "दलाली मेरा पेशा है।" यही बागे श्रीमती आनंद का सहायक होने के बावजूद उसे देखकर घृणा से मुंह बिगाड़ लेता है। इन दोनों पात्रों के असामाजिक रूप के विरुद्ध पाठकों के मन में घृणा भर आती है। यह उपन्यास का वर्जनात्मक उद्देश्य है और इस उद्देश्य में लेखक सफल हुआ है।

उपन्यास का विधेयात्मक उद्देश्य अच्छाई में आस्था को बनाए रखना है। उपन्यास की नायिका कुमारी बेला गुप्त अपने समाज सेवा के कार्य में कभी-कभी कष्टों के असह्य होने पर सोचने लगती है कि रमला मौसी के बिना कष्ट झेलने की क्षमता उसमें नहीं रह गई है। किंतु इसके बावजूद वह टूटती नहीं। बेला के मन में बसी रमला मौसी ने 'सिस्टर निवेदिता' का आदर्श सामने रखकर जीने की प्रेरणा दी है। सिस्टर निवेदिता का संदेश उसके हृदयाकाश में सहसा कौंध जाता है-

"And the Majesty of the soul comes fourth,
Only when someone is wounded to his depths."

कुमारी बेला गुप्त विपरीत परिस्थितियों में भी दुनिया में ऐसा ही होता है, कहकर बुराइयों की ओर से न आंखें मूंद लेती है और न ही प्रतिक्रियास्वरुप स्वयं को अपने में ही कैद कर डालती है। वह यथार्थ के घने अंधकार के बीच परमार्थ के प्रकाश को बिखेरती रहती है। वह गबन करने, व्यभिचार का अड्डा चलाने आदि के अभियोग को स्वीकार करना पसंद करती है, किंतु नई खेलती हुई विभावती की विभा को मंद होते देखना नहीं चाहती। मात्र इसलिए नहीं की विभावती उसकी मौसेरी बहन है, इस नाते के अतिरिक्त व्यापक मानवीयता के कारण भी वह विभावती को अपमानित देखने की बजाय स्वयं जेल काटना अधिक श्रेयकर समझती है। बेला चाहती तो ज्योत्सना आनंद, बांके, रमाकांत आदि के कारनामों को बता कर स्वयं मुक्त हो सकती थी, लेकिन ऐसा करने पर विभावती और गौरी जैसी सच्चरित्र लड़कियों के बलात्कार कांड पर भी प्रकाश पड़ता जो उनके लिए उचित नहीं था। बेला जेल जाते-जाते भारत के समाज - सुधारकों और अपने शुभचिंतकों पर व्यंग्य भी करती जाती है ठीक उसी तरह का व्यंग्य जो निराला के 'तोड़ती पत्थर' कविता की मजदूरिन उनसे (कवि से) करती है -

"देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार
देखकर कोई नहीं
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं

सजा सहज सितार
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।"(13)

बेला ने किसी की ओर आंख उठाकर देखा नहीं। वह चुपचाप कटघरे में खड़ी रही होंठों पर हल्की मुस्कान लेकर। भाषा की दृष्टि से अन्य उपन्यासों के समान ही रेणु ने इस उपन्यास में भी स्थानीय शब्द, उच्चारण और ध्वनियों के वैचित्र्य को पूर्ण रूप से प्रस्फुटित करने का प्रयत्न किया है। भाषा में स्थानीय बोली के शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं। उनके कारण उपन्यास का वातावरण अधिक सजीव एवं यथार्थ रूप में उपस्थित हो सका है। उदाहरणार्थ – 'जुलुम बात', 'मनुस पिटना', 'छिनरपनी', 'मउगी', 'हरपटाही', 'परबी' आदि। स्थानीय शब्दों के अतिरिक्त उर्दू ('सुरूर', 'चश्मदीद', 'नूर' आदि) और अंग्रेजी ('लोन', 'रिकमेंड', 'केनाइन ट्रुथ', 'हंटर' आदि) के अनेक शब्द में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं क्रिया-विशेषण 'स्मूथली' है तो कहीं विशेषण 'अरजेन्टी' भी है। कहीं-कहीं 'सर्वदर्दहर ग्रंथ' जैसे समास भी हैं, जिसमें संस्कृत और उर्दू दोनों के समस्त शब्द एक-दूसरे के निकट आ गए हैं।

उपन्यास में मुहावरों का भी प्रसंगानुकूल प्रयोग हुआ है। 'आंखों के आगे जुगनू उड़ना', 'बालू की दीवार बनाना' आदि मुहावरे तो हैं ही किंतु 'डगरे का बैंगन होना'- जैसे व्यंजक स्थानीय मुहावरे भी हैं।

उपन्यास के संवाद पात्रों एवं प्रसंगों के अनुकूल हैं। गांव की रहने वाली गौरी देवी कुत्ते को 'कूकड़' बोलती है। रामरति को डोरोथी के शुभचिंतक मित्र भरसक 'पियेले' दीख पड़ते हैं। वह एक स्थान पर कहती है – "गली के लड़के सभी चलित्तर देखते-देखते अब छुछुआने लगे हैं.....।..... लीला खेला देखकर बदमाश लोग जरूर बमकेंगे।"(14) कुंती देवी तो 'सलीमा' देखने के लिए छटपटा उठती है। शारदा कुमारी को 'अथि' लगाकर बोलने की आदत है।

उपन्यास में बंगला भाषा का प्रयोग संवादों में कई जगह हुआ है। श्रीमती रमला बनर्जी हिंदी और बांग्ला के समानार्थक वाक्य साथ-साथ बोल जाती हैं – "..... कोनो भय नेई।.....डरने की कोई बात नहीं।" इसी प्रकार उपन्यास का पात्र सुखमय घोष श्रीमती आनंदी को 'छागली' का अर्थ बताते हुए कहता है – "छागली माने बोक्री"
फणीश्वरनाथ रेणु की श्रुतिसंवेदना अत्यंत सूक्ष्म है, इसलिए इस संवेदना के अनुकूल प्रयोग उनकी शैली की विशेषता है। उपन्यास के प्रारंभ में ही इसका परिचय मिल जाता है – ".....खो-लो-ओ-ओ ! ढन-ढन-ढन-ढन ! कें-कें-कें-कें ! भौं-भौं ! के है-ए-ए !"(15)

रेणु के उपन्यास में कहीं लोकगीत का प्रसंग ना आए, यह कैसे संभव है ? प्रस्तुत उपन्यास में एक स्थान पर रेणु ने फिल्मी लोकगीत पर व्यंग्य कसते हुए कहा है कि –" हैयो-रे-हैयो" या "हजी-ओ-ओ-ओ" के जोड़ देने मात्र से कोई गीत, लोकगीत नहीं बन जाता है। गौरी के मुख से जँतसार गीत सुनकर बेला बहुत देर तक गीत की चक्की जैसी घूमती गति पर चक्कर खाती हुई चित्रित की गई है –
"के तोरा देलकउ सुन्दरि दस सेर गेंहूंआ
के तोरा भेजलकउ एकसरि जँतसारे ना-कि।" (16)

रेणु ने इस उपन्यास के माध्यम से आजादी के बाद बढ़ते हुए भ्रष्टाचार और सद्वृत्तियों पर कुवृत्तियों की विजय को दिखाया है। जिस बेला की आजादी के बाद आरती उतारी जानी चाहिए थी वह बेला जेल में डाल दी गई। श्रीमती आनंद जैसी पथभ्रष्ट और पतित स्त्री स्वच्छंद विचरण कर रही है, जब 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' होगी तो यही हाल होगा। देश के बड़े-बड़े अधिकारी जब सुरा और सुंदरी के कदमों पर शीश झुकाते हैं तो देश के भविष्य का क्या होगा ? रेणु का यह उपन्यास आरोपित यथार्थ नहीं है। इस उपन्यास के संदर्भ में बकौल मन्मथ नाथ गुप्त – "अमानवीय स्पर्श जहाँ-तहाँ बहुत अधिक है, व्यंग्य भी है और सबसे बड़ी बात यह है कि समाज के घाव को खोलकर रख दिया गया है, पर घाव की हालत को देखकर डर लगता है कि घाव कैंसर तो नहीं है। रेणु का यह उपन्यास विश्व-साहित्य के किसी अच्छे उपन्यासकार की कृति के साथ एक तराजू में रखा जा सकता है।"(17)

**सन्दर्भ-ग्रंथ सूची** –

1. धर्मयुग, 25 मार्च 1975 में प्रकाशित रेणु से साक्षात्कार
2. भूमिका-दीर्घतपा, फणीश्वरनाथ रेणु, संस्करण-2008,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली।
3. वही, पृ.सं.25
4. वही, पृ.सं.53
5. वही, पृ.सं.58
6. गोपाल, राय, *हिन्दी उपन्यास का इतिहास*, संस्करण-2014, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ.सं.251
7. वही, पृ.सं.22
8. वही, पृ.सं.72
9. वही,पृ.सं.72
10. वही,पृ.सं.90
11. वही, पृ.सं.35
12. वही, पृ.सं.50
13. राग-विराग , संपादक-रामविलास शर्मा, संस्करण-2014, लोकभारती प्रकाशन, पृ.सं.118
14. दीर्घतपा, फणीश्वरनाथ रेणु, संस्करण-2008,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, पृ.सं.95
15. वही, पृ.सं.74
16. वही, पृ.सं.46
17. आलोचना-पत्रिका, सम्पादक-नन्ददुलारे बाजपेई, जुलाई-1984,पृ.सं.121

---

***शोधार्थी**
**हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय**
**पता- म.नं.1/100/30, गोपनपल्ली, हैदराबाद, तेलंगाना-500019**
**ईमेल – chaudharysheshank.brh2016@gmail.com**

# फणीश्वरनाथ रेणु की 'जलवा' कहानी में देशप्रेम

**- डॉ० पवनेश ठकुराठी**

## शोध विस्तार

कथाकार फणीश्वर नाथ 'रेणु' का जन्म 4 मार्च 1921 को बिहार के अररिया जिले में फॉरबिसगंज के पास औराही हिंगना गाँव में हुआ था। उस समय यह पूर्णिया जिले में था। उनकी शिक्षा भारत और नेपाल में हुई। प्रारंभिक शिक्षा फारबिसगंज तथा अररिया में पूरी करने के बाद रेणु ने हाईस्कूल की परीक्षा नेपाल के विराटनगर आदर्श विद्यालय से उत्तीर्ण की। इन्होंने इन्टरमीडिएट काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1942 में उत्तीर्ण किया। इसके बाद वे स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। बाद में 1950 में रेणु जी ने नेपाली क्रांतिकारी आन्दोलन में भी हिस्सा लिया, जिसके परिणामस्वरुप नेपाल में जनतंत्र की स्थापना हुई। आपने पटना विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के साथ छात्र संघर्ष समिति में सक्रिय रूप से भाग लिया और जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति में अहम भूमिका निभाई। रेणु जी ने हिन्दी में आंचलिक कथा साहित्य की नींव रखी।

फणीश्वरनाथ रेणु का पहला उपन्यास 'मैला आँचल' था, जो 1954 में प्रकाशित हुआ। इस आंचलिक उपन्यास ने रेणु जी को हिंदी साहित्य संसार में अपार ख्याति दिलाई। मैला आंचल के बाद रेणु जी के परती परिकथा, जुलूस, दीर्घतपा, कितने चौराहे, पलटू बाबू रोड आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। अपने प्रथम उपन्यास 'मैला आंचल' के लिये रेणु जी को पद्मश्री से सम्मानित किया गया।

फणीश्वरनाथ रेणु ने कहानी लेखन की शुरुआत 1936 ई० के आसपास की। उस समय इनकी कुछ कहानियाँ प्रकाशित भी हुई थीं, किंतु वे किशोर रेणु की अपरिपक्व कहानियाँ थीं। 1942 के आंदोलन में गिरफ़्तार होने के बाद जब वे 1944 में जेल से मुक्त हुए, तब घर लौटने पर रेणु जी ने 'बटबाबा' नामक पहली परिपक्व कहानी लिखी। 'बटबाबा' कहानी 'साप्ताहिक विश्वमित्र' के 27 अगस्त, 1944 के अंक में प्रकाशित हुई। रेणु जी की दूसरी कहानी 'पहलवान की ढोलक' भी 11 दिसम्बर, 1944 को 'साप्ताहिक विश्वमित्र' में प्रकाशित हुई। वर्ष 1972 में रेणु जी ने अपनी अंतिम कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' लिखी। उनकी अब तक उपलब्ध कुल कहानियों की संख्या 63 है। 'रेणु' को जितनी प्रसिद्धि उपन्यासों से मिली, उतनी ही प्रसिद्धि उनको कहानियों से भी मिली। 'ठुमरी', 'अगिनखोर', 'आदिम रात्रि की महक', 'एक श्रावणी दोपहरी की धूप', 'अच्छे आदमी', 'सम्पूर्ण कहानियां', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'प्रतिनिधि कहानियाँ' आदि उनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

रेणु जी को प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवादी परंपरा को आगे बढ़ाने वाला कथाकार कहा जाता है। इसीलिए इन्हें आजादी के बाद के प्रेमचंद की संज्ञा भी दी जाती है। रेणु जी के उपन्यास हों या फिर कहानियाँ सबमें बिहार की आंचलिक बोलियों का जैसा स्वाभाविक समावेश हुआ है, वैसा शायद ही किसी अन्य कथाकार के कथा साहित्य में हुआ हो।

फणीश्वरनाथ रेणु की **'जलवा'** कहानी एक ऐसी मुस्लिम युवती की कहानी है, जो तथाकथित मुस्लिम प्रदर्शनकारियों के जुल्मों की शिकार बनती चित्रित हुई है। कहानी में चित्रित इस देशभक्त युवती का नाम है- फातिमा।

फातिमा मौलवी साहब की बेटी है, जो बचपन से ही स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़ती है- "एक दस-ग्यारह साल की लड़की लेक्चर दे रही थी। लड़की को पाजामा-कुरता पहनने देख बहुत अचरज हुआ था। सुना, सोनपुर के मौलवी साहब की बेटी है। मौलवी साहब खिलाफत के समय से ही मोटिया पहनते हैं, चर्खा कातते हैं।

सफेद पाजामा- कुरता पहने, कंधे पर तिरंगा झंडा लेकर खड़ी लड़की।"[1] फातिमा गांधी जी के साथ आंदोलनों में निरंतर सक्रिय रहती है। इसीलिए तो वह दो साल[2] जेल में सजा काटती है। इतना ही नहीं गिरफ्तारी के समय वह पुलिस के डंडे से बुरी तरह घायल हो जाती है।

फातिमा अत्यंत जागरूक, चेतनाशील और देशप्रेमी युवती है। कांग्रेस की एक सभा के समय मुस्लिम लीग के सदस्य सभा में व्यवधान उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं, तो वह उन्हें सचेत करती है- "उस सभा में प्रोफेसर अजीमाबादी की तकरीर के समय मुस्लिम लीगियों ने गड़बड़ी मचाने की कोशिश की। फातिमादि लपककर मंच पर गई थीं। और उनकी तेज आवाज पंडाल में गूंज उठी- गद्दारो ! शरम करो।"[3]

वस्तुतः फातिमादि के माध्यम से कहानीकार ने इस कहानी में न सिर्फ देशभक्त मुस्लिम वर्ग के देशप्रेम की भावना को अभिव्यक्त किया है, बल्कि इस वर्ग की नारी चेतना को भी अभिव्यक्ति दी है। जब कथावाचक उससे पालिटिक्स छोड़ने के विषय में सवाल पूछता है, तो वह जिस प्रकार से उत्तर देती है, वह उसकी नारी चेतना को ही दर्शाता है- "कल तक गांधी- जवाहर- पटेल को सरेआम गालियाँ देने वाले, कौमी झंडे को जलाने वाले फिरकापरस्त लीगियों की इज्जत अफजाई की गई और मुल्क के लिए कटने-मिटने वालों को दूध मक्खियों की तरह निकालकर फेंका ! तुम खुद अपने से यह सवाल क्यों नहीं पूछते ?"[4]

कहानी में फातिमादि अपने ही वर्ग के स्वार्थी और देशविरोधी गतिविधियों में संलग्न रहने वाले अवसरवादी व संवेदनहीन व्यक्तियों के शोषण का शिकार बनती चित्रित हुई है। जब कुलीन मुस्लिम वर्ग के साहबजादों की अगुवाई में प्रदर्शनकारी टाउन हॉल से गुजर रहे होते हैं, तब उन्हीं प्रदर्शनकारियों में से कुछ लोग अश्लील गालियाँ देते हुए फातिमादि को जमीन पर पटक देते हैं और उनका शारीरिक शोषण करते हैं- "देखते ही देखते दरिंदों ने उनको जमीन पर पटक दिया और बाल पकड़कर घसीटना शुरू किया। दोनों ओर खड़ी भीड़ ने तालियाँ बजाई- शाबाश ! जब तक पुलिस के सिपाहियों की टुकड़ी पहुंचे उन्होंने फातिमादि के सभी कपड़े उतार लिए थे।"[5] इतना ही नहीं भीड़ में छुपे दरिंदे उस पर एसिड की शीशी भी उड़ेल देते हैं।

वस्तुतः इस कहानी में कहानीकार ने फातिमादि के माध्यम से न सिर्फ देशप्रेम को अभिव्यक्ति दी है, बल्कि सांप्रदायिक समन्वय व सौहार्द को भी बढ़ावा दिया है। फातिमादि एक हिन्दू परिवार के साथ जिस अपनत्व की भावना से घुल-मिलकर रहती है, वह स्वयं में अनुकरणीय है- " फातिमादि को कभी 'आदाब अर्ज' नहीं कहा हमने। वह हमारे प्रणाम को कबूल कर हमेशा 'खुश रहो' कहकर आशीर्वाद देती।"[6]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि फणीश्वरनाथ रेणु की जलवा कहानी आजादी से पूर्व के भारतीय समाज में व्याप्त देशप्रेम को चित्रित करने वाली कहानी है। इस देशप्रेम को चित्रित करने के लिए कहानीकार ने एक उदार मुस्लिम नारी चरित्र फातिमादि को आधार बनाया है, जो न सिर्फ एक देशप्रेमी चरित्र है बल्कि सांप्रदायिक सद्भाव को बढ़ाने वाली आदर्श नारी चरित्र भी है। यद्यपि वह कहानी में अपने ही वर्ग के अपराधी प्रवृत्ति के स्वार्थी प्रदर्शनकारियों की घृणित मानसिकता का शिकार बनती चित्रित हुई है, तथापि उसके माध्यम से ही कहानी में देशप्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

**संदर्भ-**

1. मेरी प्रिय कहानियाँ, फणीश्वरनाथ रेणु, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016, पृ० 87
2. वही, पृ० 88
3. वही, पृ० 88
4. वही, पृ० 92
5. वही, पृ० 94

6. वही, पृ० 87

***लोअर माल रोड, तल्ला खोल्टा,**
**अल्मोड़ा, उत्तराखंड** - 263601
**मो०** 9528557051,
**वेबसाइट**- www.drpawanesh.com,
**ई मेल**- pawant2015@gmail.com

# निम्नवर्गीय आक्रोश और रेणु की रचनादृष्टि

***डॉ. रामउदय कुमार**

**सारांश:**

*भारतीय समाज में शोषण के जितने चक्र रहे हैं, उतनी ही उनके खिलाफ संघर्ष की कवायद भी रही है। निम्न वर्ग के ये संघर्ष अलग- अलग रूपों में हमारे सामने आते रहे हैं, आज़ादी से पहले भी, आज़ादी के बाद भी। फणीश्वरनाथ रेणु ने यह दोनों दौर देखे थे। आज़ादी के बाद स्वराज्य का स्वप्न जिस तरह टूटा वह भी उनके साहित्य में दर्ज़ है। रेणु संघर्षशील रचनाकार आंदोलनकारी थे। जो उन्होंने साहित्य में लिखा उसे जिया भी। अलग अलग रचनाओं में अलग अलग पात्रों के ज़रिये उन्होंने उन्होंने समाज में मौजूद इस आक्रोश को जगह दी। अपनी रचनाओं में वे किस तरह इस आक्रोश को देखते-समझते थे यह पत्र उसी दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करता है।*

**बीज शब्द:**

*रेणु, आक्रोश, राजनीति, अपराधीकरण, जाति, जनवाद, नक्सलवाद, हिंसा, मैला आँचल, परती-परिकथा*

## भूमिका:

फणीश्वरनाथ रेणु के कथा साहित्य का ग्रामांचल अपने भविष्य का स्पष्ट संकेत देता है। वह है आज के ग्राम्य जीवन का कटु यथार्थ। आजादी के बाद निहित स्वार्थों की राजनीति, जाति-धर्म की राजनीति, राजनीति के अपराधीकरण, व्यवस्था में सामन्तों-पूँजीपतियों के वर्चस्व को रेणु के कथासाहित्य में हम उभरता हुआ पाते हैं। सदियों से दबे जनसमुदाय की उपेक्षा के परिणामस्वरूप उग्रवाद एवं उपेक्षितों के बीच बदले की भावना के उभार के साथ, उचित - अनुचित के विवेक का ह्रास हुआ है जिसने समाज को खोखला करना शुरू कर दिया है।

'मैला आँचल' का कालीचरण चरित्तर कर्मकार से मिल जाता है, जो भावी उग्रवाद का सूचक है। सोशलिस्ट पार्टी के साथ सोमाजट व वासुदेव आदि जैसे अपराधी प्रवृति के लोगों का जुड़ना आंदोलनों में विवेकहीन हिंसा के पनपने की सूचना देता है। 'परती-परिकथा' के लुत्तो का चरित्र जाति की राजनीति करने वाले हरिजन पात्र का है जो बदले की भावना में उफनता, लगातार गंदी राजनीति का शिकार होता जाता है। कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा लुत्तो का इस्तेमाल एवं ग्रामीण स्तर की राजनीति में उसका लगातार किनारे होते जाना उसे और भी अविवेकी बनाता है। लुत्तो की समस्या यह भी है कि वह अपने से नीची जाति के लोगों से उच्च वर्णों की तरह ही घृणा करता है। रेणु ने क्षुद्र स्वार्थों व पारंपरिक जातीय संस्तरीकृत घृणा-परम्परा पर बलि होते जनवाद की ओर यहाँ संकेत किया है।

जन आक्रोश का बिखरकर इस प्रकार व्यक्तिगत बदले की भावना एवं निजी अहंभाव में विसर्जित होते जाने की प्रक्रिया आज के नक्सलवाद की बड़ी कमजोरी है जिसे हम आज स्थानीय स्तर पर शिद्दत से महसूस करते हैं। इसीलिए रेणु हिंसक संघर्ष में यकीन नहीं करते। वे सामाजिक संरचना को बड़े नजदीक से जानते हैं और इसकी जटिलता से पूरी तरह वाकिफ हैं।

यह जरूर है कि उग्रवाद के प्रति रेणु के यहाँ एक सहानुभूति भी पाई जाती है। 1970 ई० में रघुवीर सहाय को दिए साक्षात्कार में कहते है – "मुझे विश्वास था कि जब कोशी योजना सफल होगी तो जिन्हें अभी जमीन नहीं मिली है उन्हें आगे चलकर मिल जाएगी लेकिन वैसा नहीं हुआ.... आज भी 100 में से 75 लोग ऐसे हैं जिनके पास कोई भूमि नहीं है....किसी ने कुछ किया नहीं। आज जो लोग कुछ कर रहे हैं, वे नक्सलपंथी नाम से जाने जाते हैं, लेकिन जमीन की लड़ाई वे लड़ रहे हैं।"[1]

एक अन्य बातचीत में कथाकार मधुकर सिंह से 1971 में कहते हैं- "नक्षत्र मालाकार जनता का आदमी है। वह गिरफ्तार हुआ। आजीवन कारावास की सजा झेल रहा है....नक्षत्र का मतलब है, जनजीवन की जबर्दस्त छटपटाहट।"[2]

यह छटपटाहट हजारों वर्षों से उपेक्षित आम आदमी की है, जो नाना विकृतियों में फूटती है। यह हमारे रहनुमाओं से मोहभंग का परिणाम है। जैसा कि ऊपर भी दिखाया गया है रेणु के कथा चरित्रों में इस छटपटाहट एवं जनविद्रोही राजनीति व धर्म-जाति आदि अन्तर्विरोधों के अवरोध के सामने ये विकृतियाँ रूपाकर ग्रहण करती हैं। कालीचरण, बावनदास, बालदेव, लुत्तो आदि चरित्र इसके प्रत्यक्ष रूप हैं जो वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व द्वारा किनारे कर दिए गए और उस मोड़ पर खड़े पाए जाते हैं, जहाँ से उनके लिए भटकाव एवं विकृत राजनीति, उग्र एवं हिंसक राह खुलती है। कालीचरण उधर पाँव बढ़ाता है। बालदेव अन्त में जाति की राजनीति करने की सोचता है और लुत्तो तो खुद को जाति की राजनीति के लिए शाबाशी भी देता है।[3]

रेणु इस सहानुभूति के बावजूद हिंसक आंदोलन का समर्थन नहीं करते। वे प्रेमचंद की मानिंद मानवतावादी रचनाकार हैं जो मानवीय अंतर्वस्तु को तरजीह देता है। मधुकर सिंह से बातचीत के अन्त में वे कहते है – "नक्सलवाद तो एक प्रतीक है, गुस्सा है। इनके पास कोई नया समाधान नहीं है जमीन के लिए, अभी सही लड़ाई बाकी है जब सही जनता सामने खड़ी हो जाएगी तो बंदूक की सारी बातें हवा हो जाएंगी और जनता जमीन को स्वयं लड़कर ले लेगी।"[4]

रेणु की रचनादृष्टि गाँधीवाद से प्रभावित है। वे जब 1972 में चुनाव में खड़े हुए तब जुगनू शारदेय से बातचीत में उन्होंने कहा – "मैं इन समस्याओं को लेकर सरकार को कभी चैन नहीं लेने दूँगा -सभा के अन्दर और बाहर ! यदि लेखनी से काम ना हुआ तो व्यक्तिगत सत्याग्रह एवं आन्दोलन।"[5] परती परिकथा में कम्युनिस्ट रंगनाथ गुरूजी के तर्कों में जैसे स्वयं रेणु ही बोलते है। ह्रदय परिवर्तन जैसे विश्वासों के लिए पार्टी के लोग जब गुरूजी को झिड़कते हैं तो उनका कहना है – "आखिर किसी का पार्टी-सदस्य बनना ह्रदयपरिवर्तन नहीं तो क्या है। प्रचार की सामग्री और किसलिए होती है"[6] हिंसा की अमानवीयता के खिलाफ रेणु के कथा साहित्य में कई चरित्र व घटनाएँ

[1] रेणु रचनावली भाग -4, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ – 411
[2] वही, पृष्ठ – 413
[3] परती परिकथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
[4] रेणु रचनावली, राजकमल प्रकाशन, भाग -4 , पृष्ठ - 413
[5] रेणु रचनावली, भाग - 4, पृष्ठ - 426
[6] परती - परिकथा, पृष्ठ - 115

गाँधीवादी मानवीय अंतर्वस्तु की लक्ष्यात्मकता के संकेत बनकर आते हैं। 'मैला आँचल' का एक प्रसंग यहाँ उदधृत करना मौजूं होगा। संथालों पर गाँव वाले धावा बोलते है। गाँव के गरीब लोग भी इसमें शामिल हैं। सोशलिस्ट पार्टी के सदस्यों ने इसमें जबर्दस्त मारकाट की। "एकदम फिरी ! आजादी है, जो जी में आवे करो। बूढ़ी, जवान, बच्ची जो मिले। पाट का खेत है। कोई परवाह नहीं...!"[7] रुलाई को संगीत समझने वाली इस मनः स्थिति को क्या कहेंगे। पशुता का चरम ही न। सदियों से संचित उपेक्षाजन्य आक्रोश हिंसा के सही लक्ष्य को भटकाता है। ऐसे में एक प्रकार की तुष्टिमयी अपराधवृत्ति का विकास होता है। निरन्तर उपेक्षित व्यक्ति का हीनताबोध विरोधी को ही नहीं, अपनों का भी इसका शिकार बनाता है और इसकी निरन्तरता नृशंस गिरोहबद्धता में तब्दील हो रहती है। फिर इस प्रवृति के साथ बदले की हिंसा का जो सिलसिला चलता है, वह हमें गाँधी जी के इन शब्दों की याद दिलाता है कि आँख के बदले आँख लेने की प्रवृति तो समूचे विश्व को अंधा बना देगी।

रेणु में भी प्रेमचंद की तरह जहाँ उपेक्षितों के संचित आक्रोश के प्रति सहानुभूति है, वहीं गाँधीवादी हृदयपरिवर्तनवाद मानवीय अन्तर्वस्तु, सहानुभूति, दया, करुणा, त्याग, प्रेम आदि की संरक्षा-सुरक्षा की चेतना भी है। इनके उपन्यासों-कहानियों के आदर्श में यह चीज है। यह जरूर है कि ये आदर्श-यथार्थ विषमता के आगे कभी - कभी अलग से उतरते प्रतीत होते है, पर हमेशा ऐसा नहीं है और फिर एक अलग स्थिति भी बनती है। मैं उसी की चर्चा करूँगा जो लेखकीय रचना दृष्टि के ख्याल से महत्वपूर्ण है।

प्रेमचंद व रेणु के अमर चरित्रों होरी व बावनदास की बात करें तो यह अलग सी स्थिति सामने आती हैं। इन दोनों चरित्रों का करुण अन्त एकबारगी हमें स्तबध कर देता है। एक पूरे परिवेश के बीच हमारे जाने - पहचाने चरित्र मृत्यु से जो गहन अवसाद जगाते है, वहाँ उच्छल आक्रोश की नहीं, अपितु गम्भीर विचार-मग्नता की स्थिति बनती है। इस ट्रेजेडी के इर्द - गिर्द जो पूरी दुनिया बच रही है, वह एक गहरे अवसाद और क्षोभ के बीच हममें एक गम्भीर समझ पैदा करती है - एक सम्यक परिस्थितिगत चेतना।

यह स्थिति कोरी भावुकता वाले आदर्शवाद और दिशाहीन आक्रोश के उच्छल भावावेग से नितान्त भिन्न हैं। इस स्थिति का प्रतिकार दोनों ग्राम कथाकारों के इन अमर चरित्रों की परिणति पर विचार करने पर चित्तवृतियों के परिष्करण व मानवीयता को सुरक्षित रख लड़ी गई ठण्डे दिमाग की लड़ाई से ही सम्भव है। होरी के अतिरिक्त मेहता - मालती के चरित्रों के जरिए एक सहज निःस्वार्थ बौद्धिक व्यक्तित्व का जो क्रमिक विकास हुआ है, हीरा एवं मातादीन के चरित्रों में जो परिष्कार सम्भव हुए हैं, वे प्रेमचन्द की दृष्टि के संकेतों को स्पष्ट करते हैं। गोबर का चरित्र भी परिस्थितियों की आँच में तपकर अधिक मानवीय हो सका है। रेणु के यहाँ बावनदास का चरित्र अपने अपराजेय संघर्ष के माध्यम से इन्हीं मानवीय अन्तर्वस्तुओं के पक्ष में दिखता है। एक निःस्वार्थ एवं विवेकपूर्ण जनपक्षधरता जो मानवीय सत्व से संकलित हो तमाम जनविरोधी शक्तियों के सामने अकेला भी खड़ा हो सकने का माद्दा रखता है - गाँधीवाद का सारभूत अंश है, जो विषम यथार्थ को होरी की तरह सम्पूर्ण रूप से उघाड़कर रखने देने में भी सक्षम है। यह रेणु की रचनादृष्टि का भी उत्कर्ष है। यह यूँ ही नहीं है कि 'मैला आँचल' के अस्वाभाविक आदर्शवादी अन्त के बाद बावनदास से सम्बन्धित एक वाक्य आता है – "चेथरियापीर में मानत

[7] मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ - 156

करके किसी ने एक टुकड़ा और लटका दिया।"[8] मानो रेणु स्वयं उस आदर्शवादी अन्त से सहमत नहीं हैं। जैसे वे यह कहना चाहते हैं कि विषम परिस्थितियाँ इतनी आसानी से निपटनेवाली नहीं, बल्कि इनके लिए तो बावन की तरह पूर्ण समर्पित एक अनथक संघर्ष काम्य है जिसमें अपने लक्ष्य के लिए सर्वस्व लुटा देना पड़ सकता है। पर इस संघर्ष में मानवीयता का समावेश आवश्यक है, आक्रोश का नहीं। वर्तमान ग्रामीण यथार्थ के संदर्भ में रेणु प्रेमचन्द की मानवतावादी विरासत को आगे बढ़ाते हुए समकालीन परिदृश्य में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करते हैं।

**सन्दर्भ सूची :**

1. रेणु रचनावली, (सं. भारत यायावर) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण, 2012
2. परती परिकथा, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
3. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

---

***सह आचार्य, हिन्दी विभाग,**
**शिवदेनी साव महाविद्यालय, कलेर (अरवल ), बिहार**

[8] मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, अंतिम वाक्य

# पूंजीवादी-उपभोक्तावादी संस्कृति और स्त्री
## (विशेष संदर्भ- पंकज सुबीर की कहानियाँ)

*दिनेश कुमार पाल

**शोध सारांश:-**

*पूंजीवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू है। ब़ाजार की दुनिया में आत्मा का कोई मूल्य नही है, मूल्य है तो सिर्फ़ शरीर का। "आज की दुनिया में एक नया विचार दर्शन अत्यन्त प्रबल है जिसको हम मोटे तौर पर ब़ाजारवाद कह सकते है। ब़ाजारवाद राज्यवाद के मुकाबले में ज्यादा आर्कषक लग रहा है। ब़ाजारवाद का व्यक्ति के लिए सरांश क्या है? इसको कुछ लोग उपभोक्तावाद कहते है।"[1] पूंजी कुछ थोड़े ही आदमियों के हाथ में रह जाती है। बल्कि अधिकांश लोग निर्धनता के प्रकोप से पीड़ित रहते है। आज भूमडण्लीकरण के दौर को मिश्रण का युग कहा जाये तो कोई अतिशायोक्ति नही होगी। वर्तमान दौर में पूंजीवाद ने ब़ाजार के कमर को जकड़ रखा है। आज का समय उपभोक्ता को महत्त देता न कि उत्पादक को। आज के ब़ाजारवाद को लाने का काम भूमण्डलीकरण का है। और पूँजीवाद का बुनावट वैश्विक है। आज पूरा विश्व एक ब़ाजार है और इस आधुनिक युग के हर एक व्यक्ति उपभोक्ता है। "भूमण्डलीकरण सिर्फ पूंजी के हित में है, किसी देश के हित में नही इसलिए चेहरा अदृश्य-अभूर्त है लेकिन उसका आघात बहुत विषम है।"[2]*

*"कहानी का संक्षिप्त कलेवर हो या उपन्यास का विस्तृत फलक, वह रह-रह कर मनुष्यता को निगल जाने को आतुर है। उपभेक्तावादी मानसिकता के खिलाफ मोर्चाबन्दी कर्ता दिखाई पड़ता है।"[3] आज पूरी दुनिया को पूँजीवाद ही संचालित कर रहा है। और पूंजीवाद के चलते उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है। इन सब के बीच सबसे ज्यादा शोषण का शिकार स्त्री को होना पड़ता है। या इसको ऐसा भी कहा जा सकता है कि जब भी कोई नई क्रान्ति उपजी है या कोई सत्ता स्थापित हुई उसमें सबसे ज्यादा शिकार स्त्री का हुआ है।*

**बीज-शब्द:-** *भूमण्डलीकरण, पूंजीवाद, उपभोक्तावाद, अपसंस्कृति, ब्रांडेड, जारसत्ता, बेनक़ाब, स्टेट्स आदि।*

**आमुख:-**

हमारे समय के सबसे बड़े हस्ताक्षर कथाकार, आलोचक, गज़लकार पंकज सुबीर की कहानियों में पूंजीवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति और स्त्री बड़े बखूबी के साथ उभरे है। पंकज सुबीर की तीन कहानियों (सदी का महानायक उर्फ कूल- कूल तेल का सेल्समैन,मिस्टर इण्डिया, चैपड़े की चुड़ैलें) के माध्यम से देखेंगे की पूंजीवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति हमारे समाज के स्त्री को किस प्रकार प्रभावित करता है। समकालीन लोकप्रिय कथाकार पंकज सुबीर की शैली भिन्न-भिन्न प्रकार की है। पंकज सुबीर की समकालीन समय में कहानियों के देखने की नजरियां और उसे कहानी में प्रस्तुत करने की शैली भिन्न प्रकार की है। पंकज सुबीर अपने कथा साहित्य में यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार समाजिक संघातों और ब़ाजारवादी अपसंस्कृति के चलते आज का युवा अपनी चेतना को गिरवी रख पूंजीवादी शक्तियों के हाथों की कठपुतली बन कर रह गया है।

'सदी का महानायक उर्फ कूल-कूल तेल का सेल्समेन' पंकज सुबीर कहानी संग्रह महुआ घटवारिन और अन्य कहानी में संकलित है। यह कहानी ब़ाजार के रूप में तीन मित्रों की प्रतिकात्मक शैली पर अधारित है। जो

व्यक्ति के अन्दर हवा की तरह समाहित हो जाते हैं,- "मैं शिल्पा के साथ पार्क की बैच पर बैठा पापकार्न टूंग रहा था कि अचानक ही तीनों हवा में प्रकट हो गये थे और देखते ही देखते धड़-धड़ करके शिल्पा में घुस गये थे।"(सदी का महानायक उर्फ कूल-कूल तेल का सेल्समैन ) यह कहानी फैंटसी के जरिए एक सामान्य उपभोक्ता से प्रारम्भ होकर पूंजीवादी ब़ाजार की ब्राण्ड एम्बेस्डर तक अंत होती है। यह संपूर्ण कहानी पूंजीवादी, उपभोक्तावादी अपसंस्कृति और एक स्त्री के प्रेम में उपभोक्ता का इनके सक्षम आत्मसमर्पण का चित्रण करती है। "अब हम तय करेगें कि तुम्हे किस चीज की जरूरत है और किसकी नहीं। अब तुम खुद नहीं तय करोगे ये सब। अब तुम्हारा और हमारा लिंक जुड़ चुका है। इसलिए अब ये सोचने की जवाबदारी हमारी हो चुकी है। हम ब़ाजार है और तुम खरीददार। हम नहीं जानते कि तुम पैसो की व्यवस्था कहाँ से करोगे, मगर हाँ ये तय है कि अब तुमको वो सब कुछ खरीदना है, जो हम बताते है।"(वहीं-24)

ब़ाजार पहले के उत्पादों को कमजोर करके नये उत्पादों का प्रसार करती है और व्यक्ति को प्रेमिका की तरह आत्म समर्पण करने के लिए विवश कर देती है। ब़ाजार समय के अनुसार हम पर इस कदर हावी हो जाता है कि हमारा स्वरूप उसके सामने नगण्य हो जाता है। उसे सिर्फ़ हमारा शरीर ही नज़र आता है। वर्तमान में अपना स्टेट्स को दिखाने की प्रतियोगिता की आंधी चल रही है। "कच्छे में घूमना कोई शर्म की बात नही है, बस कच्छा ब्रांडेड होना चाहिए। और अगर कच्छे में ना भी घूम पाओ तो कम से कम पैंट को इतना नीचे खिसका कर पहनो कि तुम्हारी चड्डी का ब्राण्ड दिखाई दे। ये केवल चड्डी नही है ये स्टेट्स है समझे ?"(वहीं-12)

"उत्तर-आधुनिक (वृद्ध पूंजीवादी के) दौर तक आते-आते अनुभव के स्थान भोग लेता है, विश्वास का स्थान प्रतीक (ब्राण्ड) ले लेता है और स्मृति की जगह आनन्द आ बैठता है।"[४] स्टेट्स ब्रांडेड में बदलता जा रहा है। ब्राण्ड के सामने भूख, गरीबी कुछ भी दिखाई नही देता। पूंजीवादी अपसंस्कृति इस कदर हावी हो गया है कि ब़ाजार अपनी व्यवस्थायें पहले तय करके चलता है। हमेंें और उपभोक्ता को वस्तु खरीदने के लिए मजबूर कर देता है। "ब़ाजार सारी व्यवस्थायें करके ही चलता है। अगर ब़ाजार ने तुमको दो सौ रुपये का कच्छा खरीदवाया है तो अब ये ब़ाजार की ही जिम्मेदारी है कि वो ऐसी व्यवस्था करे ताकि लोग जान सकें कि तुमने दो सौ रुपये का ब्रांडेड कच्छा पहना है। आखिर तुम सब को पैंट खोल- खोल कर तो बताओगे नहीं।"(वहीं-15)

पंकज सुबीर इस कहानी के माध्यम से पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते ब़ाजार की उन तमाम चालाकियों को उजागर करतें हैं जो परत दर परत बेचने की कोशिश करते है कि ब़ाजार ब्राण्ड के साथ- साथ अपना प्रचार- प्रसार भी व्यक्ति की चेतना को गिरवी रख कर उसके शरीर के माध्यम से करती है "सुनो बच्चे! ये चड्डी दिखाने का युग है या यूं कहो कि हर वो चीज दिखाने का युग है, जिसे अब तक छुपाने लायक समझा जाता था। बाजार का बहुत सीधा कहना है कि दिखाएगा वही, जिसके पास कुछ होगा अगर तुम्हारे पास दिखाने लायक चड्डी है तो बिंदास दिखाओ, दिखाओ सबको कि अब तुम भी उस स्पेशल क्लास में आ गए हो।" ( वहीं-15)

ब़ाजार यह भी हमें बताती है कि हम तुम्हारे अपने है हम तुमको बदलने आए है। और हमारा धर्म हम है हम तुम्हे बदले। और तुम्हारी माली हालत में भी तुम्हारी मदत करने के लिए तैयार है। उपभोक्तावादी संस्कृति में विलासिता की वस्तुओं को ब्राण्डो के वर्चस्व के रूप में देखता है और 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत' (आर्थात उपभोग की वस्तुओं का प्रयोग करना) आदि को बढ़ावा देता है। अर्थात् कर्ज लेकर अपनी आवस्यकता की पूर्ति करना।

"ठीक है। लो ये तुम्हारा क्रेडिट कार्ड है। अब जेब तंग होने का रोना मत रोना, जितनी चाहो, खरीददारी करो। जब चाहे खरीददारी करो, करो, करते रहो, करते रहो।"(वहीं-19)

पूँजीवाद ने मानव को विचार शूून्य बना दिया है। मानव सिर्फ पूंजीवाद के चलते उपभोक्तावाद की वस्तु बन कर रह गया है। बाजारवादी, पूंजीवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य को विचारों से शून्य करके सिर्फ शरीर बना दिया है। और उसके पूरे शरीर पर अधिकार जमा कर बैठ गया है। "भूमण्डलीकरण,मुक्त ब़ाजार इत्यादि के पीछे की विचार धारा ने जो एक विशेष किस्म की विचार हीनता पैदा की है, उसका असर अब हर तरफ़ दिखाई देने लगा है। हद तो यह हुई कि वैचारिकता और मूल्यनिष्ठा जिन लोेगो की पहचान थी और प्रतिरोध के लिए जाने जाते थे वे भी इस बाढ़ में बहते देखे गये और भारी विचलन का शिकार हुए।"[५] और बड़े दावे के साथ कहते है कि "विचार ? इसकी इजाजत अब नहीं है तुमको। अब तुम केवल शरीर हो। शरीर विचार नहीं करता। हम अपने ग्राहकों को शरीर से ज्यादा होने की इजाजत नहीं देते। तुम भी शरीर ही रहो, विचार करने या विचार होने की कोशिश मत करो। वो सब कुछ खरीदते रहो, जो हम बता रहे हैं, वो सारी चीजें, जो शरीर के लिए हैं।"(वहीं-24)

ब़ाजार अपना उत्पाद व्यक्ति को खरीदने के लिए मजबूर कर देता है। और पूंजीवाद के चलते व्यक्ति के ऊपर चढ़ कर वो हर चीज बेचने के लिए तैयार है जो ब्रांडेड है,चाहे वह व्यक्ति की हिम्मत से परे हो। और उसके लिए शोभनीय न हो लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति खरीदने के लिए विवश कर देती है "क्यों शोभा नहीं देता ? मेरी बात है, मेरा प्रभाव है, मैं कुछ भी बेच सकता हूँ, तेल बेच सकता हूँ, कंडोम बेच सकता हूँ , जो कुछ भी मुझे कहा जाएगा, वो बेचूंगा। इसमें शोभा नहीं देने की क्या बात है।"(वहीं-25) वर्तमान का ब़ाजार फैशन का ब़ाजार है। व्यक्ति वस्तु नही खरीदता चेहरे खरीदता। ब़ाजार यही चाहता है। "वो हमको नहीं पता, हमारा काम बेचना है, केवल बेचना। ये जो हमारा चेहरा है, इसे देखो और खरीदो। तुम सामान को नहीं खरीद रहे, हमारे चेहरे को खरीद रहे हो, सदी के महानायक के चेहरे को खरीद रहे हो।"(वहीं-25)

भूमण्डलीकरण के दौर में आज उपभोक्तावादी अपसंस्कृति, पूंजीवादी दमनकारी व्यवस्था का परिणाम ही नही अपितु उसके आगे मासाल लेकर चलने का काम करती है। सामान्य जीवन पर कैसे प्रभाव पड़ रहा है। पूंजीवादी संस्कृति है वह मूलतः उपभोक्तावादी है और वह बहुत अश्लीलता और अपसंस्कृति का प्रसार कर रही है। पूंजीवाद वैश्वीकरण के दौर में ब़ाजार निर्माण का कार्य करता है। वह रोज नये नये माॅडल तैयार करता है। पूंजीवाद व्यक्तिवाद को महत्व देता है। और व्यक्ति को एकाकी बनाता है। पूंजीवाद समाजवाद का खण्डन करके व्यक्ति पर अपना अधिकार स्थापित करने की कोशिश करता है। हाँ यह भी कहा जा सकता है जहाँ पूंजीवाद व्यक्ति को एकाकी बनाता वहीं उसे समृद्ध में करता है।

पंकज सुबीर की कहानी 'मिस्टर इण्डिया' (महुआ घटवारिन और अन्य कहानियाँ में संकलित) में दिखाया गया है कि किस प्रकार बाज़ार का बिछाया हुआ जाल में रातों- रात सफलता पाने के लिए व्यक्ति को क्या- क्या कीमत चुकानी पड़ती है। पूंजीवाद व्यक्ति प्रायः को विचार मूल्य बना देता है। "पिछले कुछ सालों में ये सब कुछ इस बाजार ने कर दिया है। सत्यानाश। सत्यानाश बौद्धिकता का, सत्यानाश विचारों का और सत्यानाश दिमागों का भी।"(वहीं-48)

आज की पूंजीवादी, उपभोक्तावादी ताकतें व्यक्ति के सिर्फ शरीर को महत्व देता है उसके बौद्धिकता को नही अगर शरीर बिकने के लिए तैयार है तो उसके गुणवत्ता के हिसाब से उसकी मुंहमागीं रक़म भी देने के लिए तैयार है "ये साहित्य, ये संस्कृति, ये विचारधाराएं, ये सब तो दिमागों के लिए हैं और बाजार कब चाहेगा कि दिमागों का विकास हो। उसे तो शरीर चाहिए। ताजा और जवान जिस्म। आज जो दौर है, ये शरीर का दौर है, ये बाजार का दौर है। कुछ सालों पहले तक दिमागों का दौर हुआ करता था और तब इसी बाजार को कोई पूछता भी नहीं था। दिमागों को विचार नियंत्रित करते हैं, किंतु शरीरों को बाजार नियंत्रित करता है। इसीलिए बाजार ने पहले विचारों को समाप्त किया और फिर दिमागों को और उसके बाद शरीर उसके कब्जे में आ गए।"(वहीं-49)

बाजार ने व्यक्ति के माइण्ड ब्रेन को इस प्रकार हैंक किया है कि आप के पास सिर्फ आपका शरीर ही बचा है और वह हर चीज जो "बाजार तो बनाता है कंडोम, कोल्ड ड्रिंक, मोटरसाइकिलेें, कारें, मोबाइल, अंडरवियर और जाने क्या-क्या।"(वहीं-49) बेचने के लिए तैयार है। पंकज सुबीर इस कहानी के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि बाजार ने आदमी के विचार को हाशिये से भी बाहर फेंक दिया है। और उसके सम्पूर्ण शरीर पर विजय का पताका लहरा रही है। "और चूंकि बात शरीर की है, इसीलिए समय कम है। शरीर जल्दी तैयार होता है और जल्दी ही खत्म भी हो जाता है। विचार बहुत धीरे-धीरे तैयार होते है और देर तक कायम रहते है। तुम चुंकि बाजार बेचने वाले शरीरों की दुनिया में जा रहे हो, इसलिए तुम्हारे पास उतना ही समय है, जितना तुम्हारे शरीर के पास है।"(वहीं-49)

आज पूंजीवादी उपभोक्तावाद संस्कृति के चलते व्यक्ति के प्रत्येक अंग का उपयोग बाजार बड़े वाखूबी से करती है। "मेरा आशय है तुम्हारे इन गुलाबी होंठोें से, चमकते दातों से, रेशमी बालों से, जिम में जाकर तराशे गए इस सुगठित बदन से, बिकाऊ तो यही सब कुछ है, तुम थोड़े ही हो। तुम्हारे ये बाल शैम्पू वालों के काम आएंगे, तुम्हारे दांत टूथ पेस्ट वालों के, शरीर चड्डी-बनियान वालों के हिस्से आएगा और तुम्हारा कसरती बदन काम आएगा कंडोम वालों के। इन सबको अपना सामान बेचने के लिए एक जिंदा माल चाहिए। कभी मेडिकल काॅलेज की प्रयोगशाला गए हो ? वहां हर विभाग वाले शव के अलग-अलग हिस्से पर कब्जा कर लेता है और उस पर अपने-अपने हिसाब से प्रेक्टिकल करता है, यही तुम्हारे साथ भी होगा।"(वहीं-50)

"उपभोक्तावादी बाजार की प्रक्रियाओं से 'यूज एण्ड थ्रो' यानी भोगो और बदलो के व्यवहार प्रतिफल नवीनता अस्थिरता और थ्रिल का मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।"[६] आज बाजार की सत्ता का युग है। और बाजार को हर दिन ताजा माल की जरूरत होती है। वह बाजार सिर्फ़ नया समान ही बेचता है और पुराने सामान को कूड़ादान में फेंक देती है। बाजार वह ताकत है जो व्यक्ति को अपने अनुसार बनने के लिए मजबूर कर देती है। "हर चीज का मतलब हर चीज, क्योंकि बाजार का मानना है कि हर चीज बिकती है और हर चीज खरीदी जा सकती है। और चूंकि बाजार की सत्ता का युग है, इसलिए तुमको वही करना होगा, जो बाजार चाहता है। नहीं करोगे तो बाजार तुमको लात मारकर बाहर कर देगा। तुम बाजार के प्रतिनिधि बनने जा रहे हो, इसलिए ये मान लो कि अब वही तुमको नियंत्रित करेगा। उसे तुम्हारा उपयोग करके अगरबत्ती से लेकर कंडोम तक सब कुछ जो बेचना है।"(वहीं-51)

"जैसे-जैसे पूंजीवादी सभ्यता मानव-जीवन के सभी पक्षो को घेरती गयी, वैसे-वैसे वह उत्पादन और उपभोग को श्रम और सृजन को वस्तु और कला को उपभोग और मानव को एक दूसरे से दूर और विरोधी बनाती गयी है।"[७] पूंजीवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति ने बाजार को बाजारू बना दिया है। और बाजार में सिर्फ सफलता ही महत्वपूर्ण बन गया है। व्यक्ति सफलता पाने के लिए क्या रास्ता अतियार करता है यह कोई मायने नही रखता है। वहां सिर्फ और सिर्फ सफलता नज़र आती है। "इसलिए भूल जाना विचारों को, दिमाग को, सबको। वही करना, जो बाजार चाहता है। अगर तुमको बाजार में टिकना है तो तुम्हें भी बाजारू बनना होगा। बाजारू होने का अर्थ तुम समझते हो ना ?"(वहीं-52)

सफलता का हर रास्ता बिस्तर से होकर जाता है चाहे वह क्रिकेट, हा ॅकी, फिल्मी आदि की दुनिया ही क्यों न हो। यहां सिर्फ सफलता महत्वपूर्ण है रास्ता नही। व्यक्ति के सफल होने के बाद वह कितना घूंस दिया है और क्या-क्या किया है यह कोई मायने नही रखती है। सफलता पाने के लिए व्यक्ति को कई पायदान से गुजरना पड़ता है यह भी कोई मायने नही रखती है। पूंजी में सब दब सा गया है। "यहां सबकी बात सब जानते हैं, पर कोई किसी से कुछ नहीं कहता। ये जो पूरे भारत से खूबसूरत और जवान लड़के इकट्ठा करते हैं, ये क्या यूं ही किए जाते हैं ? ये सारे जवान जिस्म सुधा, जैमिनी और मेरी तरह के लोगों के लिए जुटते हैं। ये प्रतियोगिता, ये इवेंट तो सब एक बहाना होता है।"(वहीं-59)

आज व्यक्ति की सफलता की चाभी पूंजीवादी ताकतों के हाथ में है जिसे चाहे सफलता के शिखर पर पहुंचा दे, जिसे चाहे नीचे ढ़ाकेल दे। "प्रद्युमन कुछ मर्यादाओं के चलते बस यही बात मैं खुलकर नहीं कह पा रहा था, लेकिन मैं बार-बार जिसके बारे में कहता था कि हर बात के लिए तैयार रहना, वो बात यही थी। सुधा जैमिनी वाली घटना किसी भी पुरुष के लिए स्वाभाविक घटना है, पर ये जो दूसरी घटना है, ये तो ....। खैर उस सोनू जार्ज और सुधा जैमिनी को ग्रिप में रखना, उनके बिस्तरों में तुम्हारी सफलता की चाबी छुपी है।"(वहीं-60)

पूंजीवादी संस्कृति और उपभोक्तावादी अपसंस्कृति ने अश्लीलता को बढ़ावा दिया है। आज व्यक्ति को सफल बनाने के लिए आदमी सारे हादे पार कर देती है। पूंजीवाद बाजार का प्रचार करने के लिए व्यक्ति के हर एक अंग का इस्तमाल करते है। और फिर उस पर सफलता की मोहर लगा देती है। आज से हम सफल हुए-"प्रद्युमन के लिंग पर चिपकी एक जौंक के पास एक कंडोम बनाने वाली कंपनी ने अपना टैग पंच कर दिया, उसके दोनों कूल्हों पर चिपकी दो जोंकों के पास एक अंडरवियर बनाने वाली कंपनी अपना टैग लगा चुकी थी।"(वहीं-64)

पंकज सुबीर की 'चैपड़े की चुड़ैले' परिवर्तन की कहानी कही जा सकती है। यह कहानी 'चौपड़े की चुड़ैलें' कहानी संग्रह में संकलित है। इस कहानी में नयी दुनिया का चित्र क्रिएट किया गया है। इसको हमारा समाज भोगता रहा, लेकिन उसे स्वीकार करने से डरते है। इस कहानी की बनावट प्रतीकात्मक शैली पर अधारित है। कहानी सामंतशाही के विलासपूर्ण चरमावस्था का चित्रण करती है। जिसके केन्द्र मे स्त्री है। कहानी का सफर बहुर ही लम्बा और व्यापक स्तर का है। 'चैपड़े की चुड़ैले' कहानी दो सत्तात्मक समाज से निकल कर तीसरे सत्ता का पर्दाफास करती हुयी नज़र आ रही है। और स्पष्ट रूप में कहूं तो जारकर्म का बढ़ावा दे रही है। यही कहानी सामन्तीवादी मूल्यो की पैरवी करती हुई इँटरनेट, फ्रैंडशिप, मोबाइल सेक्स परोसने लगी है। इस कहानी के केन्द्र में बाजार है। इसमें देह के माध्यम से वर्तमान के व्यापार को परोसने की कोशिश की गयी है। निश्चित तौर पर इस

कहानी का फलक बहुत बड़ा है, सुधांशु गुप्त के अनुसार, "पितृसत्ता का विरोध है और वर्तमान में लैंगिक भेदभाव का चित्रण है।"[८] मेरा मानना है कि इस कहानी में मातृसत्ता की आड़ में जारसत्ता को बढ़ावा दिया गया है। जिसमें आने वाली पीढ़ी में भ्रष्टाचार और तमाम व्यभिचारों को करने के लिए मजबूर करती है। मामा, चाचा, पिता, भाई आदि के कर्मो का प्रभाव उनके जारजसन्तान पर पड़ता है। यही तो आज का अपसंस्कृति के चलते उपभोक्तावा ादी बाजार चाहती है। और स्त्री के देह को विविध रूपों में परोसने के लिए तत्पर है।

इस कहानी के एक भाग को स्पष्ट तौर पर छिपाया गया है। हवेली में हो रहे व्यापार को एक महिला को मालूम हो जाता है तो और हवेली में हो रहे व्यापार का पर्दाफाश होने से पहले ही उस महिला को मार डाला गया और उसको चुड़ैल घोषित कर दिया गया । इस कहानी में तीन चुड़ैलों के जरिए हवेली में तीन महिलाओ के माध्यम से चल रहे देह व्यापार के छिपाने के लिए चुड़ैलों का डर बिठाया गया है। कहानी एक तरफ हवेली के रहस्य का पर्दाफाश करती है तो दूसरी और अप्रत्यक्ष देह-व्यपार की आधुनातन ताकनीक से जोड़ती है। वैश्विक स्तर पर पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते है आधुनिक समाज के बदलते मानवीय मूल्यों के साथ-साथ स्त्री अपने को विधिव रूप में चित्रित करने के लिए मजबूर है या पुरूषवादी सोच स्त्री को मजबूर करती है।

पूंजीवादी उपभोक्तावादी अपसंस्कृति ने इतिहास को तहस नहस करने में लगा। आज का मनुष्य अपने मस्तिक का इस्तमाल गलत कार्यों में लागाना शुरू कर दिया है। कहानी में मीडिया के चारित्रिक पतन का जिक्र भी है।"विज्ञापन उसी समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ था, जिसके मालिक ने कुछ दिनों पहले किसी संस्था में भाषण देते हुए कहा था कि महिलाओं को ठीक कपड़े पहनने चाहिए, उनके द्वारा पहने जा रहे ग़लत कपड़ों के कारण ही बलात्कार की घटनाएँ बढ़ रही हैं।" (चैपड़े की चुड़ैले, पृष्ठ-92)

पूंजीवादी उपभोक्तावादी बाजार यह समझ गया है कि आज का मनुष्य क्या चाहता है इन कहानी के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि "दुनिया भर की गरीब और जरूरतमन्द औरते कैसे इन पुरूषों के मन बहलाव के लिए वह सब करती है जो मर्द चाहते हैं ----------अपना परिवार चलाने के लिए जरूरतपन्द औरतों को इस मोबाइल कम्पनी के गोरख धन्धे से जुड़ता पड़ता है"[९] इस कहानी में पंकज सुबीर यह भी दिखाने का प्रयास करते है कि बाजार रोज अपना नया रूप बदलकर मनुष्य के सामने ला रहा है, "चुड़ैलें अब हवेली से निकल कर विरचुअल हो गई हैं। हवा में फैल गई हैं, सिग्नल्स के रूप में, फ्रिक्वेंसी के रूप में। अब वे हर किसी के मोबाइल में हैं। मीठी बातें करती हुई, कुछ लाइव ध्वनियाँ पैदा करती हुई। चुड़ैलें अब रूप बदल-बदल कर आ रही हैं। अब उनका कोई नाम कोई ठिकाना स्थायी नहीं है। अब वह चैपड़े की चुड़ैलें नहीं रहीं, अब वे ब्रह्माण्ड की चुड़ैलें हो चुकी हैं। पूरे के पूरे विरचुअल ब्रह्माण्ड की चुड़ैलें।"(वहीं-96) जो बाजार में पूंजीवादी की तरह फैल रही है और झपट्टा मार कर हर इन्सान में समा जा रही है। यह कहानी इस बात को भी स्पष्ट करती हैं कि पूंजीवाद ने बाजारवादी अपसंस्कृति के विकास मे मनुष्य की चेतना को गुलाम बना दिया है और अपने हाथों का कठपुतली बना कर युवा हो रही पीढ़ी को गुमराह कर रही है। बीमार मानसिकता का चित्रण किया गया है। अखबारो और इण्टरनेट का भी पर्दाफाश किया गया है। कामुकता और दमित वासनाओं की परते उतारती कहानी है। भूमण्डलीकरण के दौर ने आज की पूंजीवादी संस्कृति उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्रियों की मजबूरियों का इस्तेमाल अपने लाभ के लिए

करता है। और इनका नाम, वास्तविक पहचान आदि को छीनकर प्रेतयौनि में ढकेल दे रहा है। और इसके चलते निन्दा इन औरतों की जाती है और लाभ कोई दूसरे लूटते है।

**निष्कर्ष:-** निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि आज के मनुष्य को बाज़ार चला रहा है। पूंजीवाद, उपभोक्तावाद ने मनुष्य को विचार शुन्य कर दिया है और बाज़ार आदमी को मृत शरीर मात्र बना कर छोड़ दिया है। भूमण्डलीकरण जहाँ एक ओर पूरे विश्व को एक गाँव या परिवार माना, वहीं मनुष्य के मानवीयता को छीन लिया है।

## सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

**आधार-ग्रन्थ:-**

1. महुआ घटवारिन और अन्य कहानियाँ(कहानी संग्रह),पंकज सुबीर, ( सदी का महानायक उर्फ कूल- कूल तेल का सेल्समैन,मिस्टर इण्डिया) सामयिक प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2012
2. चैपड़े की चुड़ैलें(कहानी संग्रह),पंकज सुबीर( चौपड़े की चुड़ैलें) शिवना प्रकाशन, सिहोर मध्यप्रदेश, प्रथम पेपर बैक संस्करण, सितम्बर-2017

**सहायक-ग्रन्थ:-**

1. भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास, संपादक- नीरू अग्रवाल, अनन्य प्रकाशन,नवीन शाहदरा दिल्ली-2018, पृष्ठ सं.18
2. संचार ब्राजार और भूमण्डलीकरण,अजय तिवारी,अनन्य प्रकाशन,नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2018,पृष्ठ-142
3. समकालीन कथा साहित्य सरहदें और सरोपकार,रोहिणी अग्रवाल,आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा द्वितीय संस्करण- 2012,पृष्ठ सं. 29
4. संचार ब्राजार और भूमण्डलीकरण,अजय तिवारी,अनन्य प्रकाशन,नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2018,पृष्ठ-140
5. कहानी समकालीन चुनौतियाँ, शंभु गुप्त, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृति संस्करण-2015, पृ.-127
6. संचार ब्राजार और भूमण्डलीकरण,अजय तिवारी,अनन्य प्रकाशन,नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2018,पृष्ठ-140
7. वहीं- पृष्ठ-140
8. विमर्श दृष्टि-पंकज सुबीर की कहानियाँ -सम्पादक- राकेश कुमार, शिवना प्रकाशन, सिहोर म.प्र.-2020 पृष्ठ स. 32
9. पंकज सुबीर की कहानियों का स्त्री पक्ष, प्रतिभा सिंह, शिवना साहित्यिकी( पत्रिका) जुलाई-सितम्बर-2020,पृष्ठ संख्या- 36

---

**हिन्दी एंव आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज**
**ई.मेल- dineshkumarpal6126@gmail.com**
**मो.- 9559547136**

'जनकृति' बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका (विशेषज्ञ समीक्षित)
JANKRITI (Multidisciplinary International Magazine) (Peer-Reviewed) ISSN: 2454-2725

# तुलसी और समाज

*डॉ. भारती मोहन

तुलसीदास जी के जन्म के समय समाज बहुत सी कुरीतियों में जकड़ा हुआ था। वातावरण में चारों तरफ अशांति थी। उस समय के वातावरण में अपनी लेखनी के द्वारा तुलसीदास जी ने समाज के बेहतर स्वरूप को प्रदर्शित किया। ताकि समाज में बदलाव आ सके।तुलसीदास जी का उद्भव उस समय हुआ जब भारतीय सभ्यता और संस्कृति पतन की कगार पर खड़ी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि भारतीय संस्कृति का सूर्य किसी भी समय अस्त हो जाएगा। मुस्लिम राजाओं का शासन था। साम्राज्य प्राप्ति के लिए मनुष्य -मनुष्य की हत्या कर देता था। महिलाओं की दशा भी खराब थी । धर्म के नाम पर बाह्य-आडंबरो की अंधी दौड़ थी। जिसके कारण गरीब जनता अपनी संस्कृति और धर्म से दूर होती जा रही थी। अतः जनता में पुन जागृति लाने। समाज को अपनी संस्कृति से अवगत करने में तुलसीदास जी का बहुत बड़ा योगदान है ।इसीलिए उन्हें लोकनायक भी कहा जाता है।

तुलसीदास जी एक विश्व विख्यात कवि हैं, जिन्होंने "वाल्मीकि रामायण" का अनुवाद किया था ।उनका जन्म ऐसे भारत में हुआ।जब भारत में मुसलमान शासकों का पूरी तरह से अधिकार था। हिंदू राजा नाम मात्र के नरेश में गए थे। विद्वानों का व्यवसाय भी सिर्फ चाटुकारिता करना ही रह गया था ।कविगण अधिकतर विलासिता में डूबे रहते थे और अपने काव्य में राजाओं की स्तुति करना ही उनका लक्ष्य था ।शायद यह समय की मांग भी थी क्योंकि राजाओं की प्रशंसा करने पर उन्हें उपहार प्रदान होते थे और सच्चाई लिखने पर दंड। इसीलिए अधिकतर विद्वान चाटुकारिता का ही सहारा लेते थे। ऐसे समय में तुलसीदास जी ने राग -रोष से ऊपर उठकर "स्वात- -सुखाय "का मंत्र जनता को दिया।

यह वह समय था जब सांस्कृतिक सूरज डूब चुका था। हिंदू सम्राटों के राज्य मानचित्र में सिमटते जा रहे थे। मुगल सम्राटों का ऐश्वर्य और वैभव देखते ही बनता था। उनके अत्याचार दिन प्रतिदिन बढ़ रहे थे। देश में सामाजिक स्थिति बेहद खराब और चिंताजनक थी | ऊंच-नीच। जातिवाद जोरों पर था ।हिंदू मुसलमान निरंतर संघर्ष करते रहते थे । पाश्चातय संस्कृति का हर तरफ बोलबाला था ।देश अनेक हिस्सों में बट गया था ।जो सही स्तर पर विद्वान और पंडित थे वह अपने आपको समाज से दूर ही रखते थे। जनता के सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था।

इस समय समाज को सही दिशा और रास्ता दिखने की ज़रूरत थी । शायद तुलसीदास जी का आविर्भाव मरते हुए समाज के लिए एक संजीवनी साबित हुआ ।

ऐसा नहीं है कि तुलसीदास जी से पहले सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए किसी ने प्रयास नहीं किए। संत कबीर जी ने इस भेदभाव को मिटाने की चेष्टा की।पर कबीर की वाणी इतनी तीखी थी कि अधिकतर लोग उनसे खुश नहीं थे ।इसी समय समाज में सूफी मत भी तेजी से फैल रहा था। पर कहीं ना कहीं उनके धार्मिक सिद्धांतों में इस्लाम की गंध आती थी ।अतः वह भी हिंदुओं को पूरी तरह अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सके।

तुलसीदास जी का काल संक्रमण काल कहलाता है। इसीलिए उन्होंने आदर्श विहीन जनमत को आदर्श प्रदान किया। पथभ्रष्ट जनसमूह का पथ प्रदर्शन किया। तुलसीदास जी एक ऐसे समाज की स्थापना चाहते थे जो रोग मुक्त

हो,।जिसमें वैमनस्य ना हो। लोगों के बीच कोई भेदभाव नहीं हो।क्योंकि वह यह मानते थे कि इन्हीं रूढ़िवादी सोच के कारण ही समाज का पतन होता है। वह एक आदर्श समाज की नींव रखना चाहते थे |

तुलसीदास जी के आराध्य देव श्री रामचंद्र जी थे और यही कारण था कि रामराज्य की कल्पना करते थे। जिस समाज में त्याग हो। समानता हो। राजा जनता का आदर्श हो और इसी कारण से वह रामचरितमानस के रचियेता बने | यह ग्रंथ समाज को एक प्रेरणा प्रदान करता है और जनता का मार्गदर्शन भी करता है।

तुलसीदास के समय में छुआछूत चरम सीमा पर था । शुद्रो के साथ उच्च वर्ग का व्यवहार अशोभनीय था। रामचरितमानस में तुलसीदास जी उल्लेख करते है कि प्रभु श्री राम को भी बनवास या युद्ध में इन्हीं लोगों की आवश्यकता पड़ी। निषाद राज से भेंट समाज में एकता पर बल देती है। राम- रावण के युद्ध के समय वानर। भालू।रीछ का साथ बहुत ही सुंदर उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया गया है ।रामचरितमानस यह दर्शाता है कि निषाद राज। शबरी। भील आदि के बिना इस ग्रन्थ की प्रस्तुति अधूरी ही रह जाती। तुलसीदास जी का मानना था कि राजा अपने राज्य का मुखिया होता है और समस्त राज्य उसका परिवार होता है ।रामराज्य एक तंत्रीय शासन ना होकर प्रजातंत्रीय , शासन था। राजा का कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना।उनके हितों का ध्यान रखना होता है। राजा में केवल त्याग ही नहीं होना चाहिए अपितु वीरता और पराक्रम भी होना चाहिए। तुलसी के राम में यह दोनों गुण है।

यह हम सभी जानते हैं कि तुलसी राम के अनन्य भक्त हैं परंतु फिर भी उनमें सांप्रदायिकता नहीं थी।उनकी यही भक्ति और राम के प्रति उनकी उपासना उनके गुणों को दर्शाती है ना कि दोष को।
रामचरितमानस समाज में छुआछूत को कहीं भी नहीं दर्शाता है।इसका उदाहरण ब्रह्मण गुरु वशिष्ठ और शुद्ध निषादराज से भेंट का सुंदर उदाहरण है ।
रामचरितमानस के अनुसार सभी को शिक्षा का अधिकार था। हमें ज्ञात होता है कि श्रीराम और निषादराज ने गुरुकुल में साथ में शिक्षा प्राप्त की थी। इस तरह से सभी वर्गों को एक जगह और एक समान शिक्षित किया जाता था ।
तुलसी की रामचरितमानस से हमे यह पता चलता है कि उन दिनों शूद्रों को भी राज को चलाने का अधिकार था | वह लोग भी राजा बन सकते थे क्योंकि इसका सबसे बड़ा उदाहरण निषादराज हैं जो श्रृंगवेरपुर में राज्य करते थे। जोकि कौशल राज्य की सीमा पर स्थित था ।

एक और उदाहरण से हमें यह पता लगता है कि उस समय वर्ण -भेद नहीं था ।राम का वानर।भालू।रिछ आदि से प्रेम ऊँची जाति और नीची जाति का सुंदर उदाहरण पेश करता है और हनुमान के बिना तो राम -कथा की कल्पना करना भी संभव नहीं है ।तुलसीदास निश्चय ही व्यक्तिवाद के विरोधी तथा लोक -वाद के समर्थक थे परंतु उनकी लोक -वाद की भी एक मर्यादा थी। उन्होंने कभी भी किसी की स्वतंत्रता का हरण नहीं किया।
तुलसीदास पर आरोप लगाया जाता है कि वह स्त्री विरोधी थे , परंतु स्त्री के उच्च आदर्शों को अगर कोई ग्रंथ प्रस्तुत करता है तो रामचरितमानस ही है ।यह विचारणीय है कि जिस सामंती समाज में तुलसीदास जी का जन्म हुआ ,उस समय स्त्रियों को केवल भोग-विलास की वस्तु ही समझा जाता था ।स्त्रियों की दशा बेहद चिंताजनक थी

।राजा के बहुत बड़े हरम हुआ करते थे , और उसमे अनेको पत्निया । उस समय में नारी की दशा को सुधारने के बहुत से उदाहरण हमें रामचरितमानस में मिलते हैं।

तुलसीदास जी एक जगह कहते हैं कि जो पुरुष परायी स्त्रियों को माँ की दृष्टि से देखे, उसी के हृदय में भगवान वास करते हैं।

एक अन्य चौपाई में "धीरज। धर्म।मित्र और नारी की परीक्षा" हमेशा मुश्किल परिस्थिति में ही होती है ।नारी को इसमें शामिल करना ,नारी के प्रति उनकी आस्था को दर्शाता है।

एक अन्य दोहे में श्री राम बाली को कहते हैं कि तुमने अपने अभिमान में अंधे होकर अपनी विदुषी पत्नी की बात को अनसुना किया , जिसके परिणाम स्वरूप तुम्हारी पराजय हुई।

तुलसीदास जी ने सीता को अतुलनीय देवी के रूप में प्रस्तुत किया है ।उनको जगत जननी कहा है ।सीता के द्वारा यह दर्शाया है कि कठिन से कठिन समय में भी सीता ने अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं किया। यहां पर इसका वर्णन इसलिए भी आवश्यक था क्योंकि मध्यकाल में मर्यादा को कोई अस्तित्व नहीं रह गया था।

तुलसीदास ने राक्षस गण में भी मंदोदरी। सुलोचना जैसी राक्षसियो को धर्म परायण और नीति निपुण दर्शाया है ।अतः तुलसी को नारी निंदक कहना व्यर्थ है|

**निष्कर्ष**

तुलसीदास जी का यह सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही रहा कि भारत में उन्हें पहले लोकनायक माना और बाद में कवि ।तुलसीदास जी की रचनाएं व्यक्ति को जिंदगी की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी धीरज रखना सिखाती है। आपसी भाईचारे और प्रेम को दर्शाती हैं ।समाज की पथ-भ्रष्ट जनता को पथ -प्रदर्शन कराती है। उनकी रचनाएं मध्यकाल में तो क्या आज के युग में भी प्रेरणा स्त्रोत हैं|

**सन्दर्भ**

1. कमलेश वधवा , "आलेख: तुलसी के साहित्य में सामाजिक जीवन मूल्य",Apni Maati, ISSN-2322-0724, Retrieved from http://www.apnimaati.com/2018/08/blog-post_39.html?m=1
2. बुन्देलखण्ड News, "तुलसी काव्य में समाज दर्शन", published on Jun 9,2020,retrieved from https://bundelkhandnews.com/Social-philosophy-in-Tulsi-poetry
3. धर्म डेस्क, अमर उजाला ," मानस की ये चौपाईयां दूर कर देंगी तुलसीदास के नारी विरोधी होने का भ्रम", published on 17 Aug ,2018 , retrieved from https://www.amarujala.com/spirituality/religion/goswami-tulsidas-thoughts-about-women-in-ramcharitmanas

***एसोसिएट प्रोफेसर,**
**अदिति महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय**

 ISSN: 2454-2725

# तुलसीदास से पहले के अवधी भाषा साहित्य में रामकथा संदर्भ

*राम कुमार

जब भी अवधी भाषा साहित्य में रामकथा अर्थात् रामचरित से जुड़े हुये विषय पर बात की जाती है तो अवधी सहित्य जगत में तुलसीदास एवं उनके द्वारा रचित साहित्य का ही नाम आगे आता है। इसके पीछे एक कारण यह है कि तुलसीदास एवं उनके द्वारा रचित साहित्य पर वृहद स्तर पर शोध कार्य का होना। जैसे – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित *तुलसीग्रंथावली*, माता प्रसाद गुप्त – *तुलसीदास एक समालोचनात्मक अध्ययन*, योगेन्द्र प्रताप सिंह – *रामचरितमानस के रचना शिल्प का विश्लेषण*, सूर्य प्रसाद दीक्षित द्वारा लिखित लेख - मध्ययुगीन अवधी रामकाव्य और तुलसी 'मानस', देवकीनंदन श्रीवास्तव – तुलसी के रामकाव्यों की अवधी आदि।[1] लेकिन तुलसीदास से पहले के अवधी भाषा साहित्य पर हमें गिने – चुने ही काम देखने को मिलते है। जैसे – विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखित लेख – अवधी के प्राचीन रामकाव्य, संतलाल विश्वकर्मा, 'मृगावती' में रामकथा आदि।[2]

इसी संदर्भ में जो तुलसीदास से पहले का प्रमुख अवधी साहित्य - 1. मुल्ला दाउद कृत *चंदायन* (1379 ई०) 2. ईश्वरदास कृत *स्वर्गारोहिणी कथा* (1500 ई०) 3. पुरुषोत्तम दास कृत *जैमिनी पुराण* (1501 ई०) 4. कुतुबन कृत *मृगावती* (1503 – 04 ई०) 5. लालचदास कृत *हरिचारित अर्थात भागवत दशम स्कंध की भाष* (1528 – 30 ई०) 6. मलिक मुहम्मद जायसी कृत *पद्मावत* (1540 ई०) व *कहरानामा* 7. कवि मंझन कृत *मधुमालती* (1545 ई०) आदि लिखा गया है। इन साहित्यों में किस प्रकार से रामकथा से जुड़े हुये सन्दर्भों को चित्रित किया गया है एवं कैसे वे संदर्भ अवधी भाषा साहित्य के लिए महत्वपूर्ण साबित हो सकते है। इन्ही सब अवधी साहित्य के माध्यम से अपने इस शोध लेख में यहां पर हम रामकथा से संबंधित विषय का अध्ययन करेंगे। इससे पहले कि हम इस दिशा में आगे बड़े यहां पर अवधी भाषा पर संक्षिप्त परिचर्चा कर लेना जरुरी होगा।

अवधी भाषा अवध क्षेत्र में प्रमुख रूप से बोली जाने वाली भाषा है। 'अवधी' शब्द का अर्थ ही होता है 'अवध की भाषा' अर्थात् अवध क्षेत्र की बोली – भाषा। 'अवधी' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरों के द्वारा लिखित ग्रन्थ *नूह सिपेहर* (1319 ई०) में मिलता है। जिसका अनुवाद सैयद अतहर अब्बास रिज़वी[3] ने *खलजी कालीन भारत* में किया है। अवधी का प्रथम काव्य मुल्ला दाउद कृत *चंदायन* (1379 ई०) को माना जाता है। मलिक मुहम्मद जायसी कृत *पद्मावत* (1540 ई०) एवं तुलसीदास कृत *रामचरितमानस* (1575 ई०) को एक प्रकार से विकसित अवधी साहित्य का स्थान प्राप्त है। वर्तमान समय में प्रमुख रूप से अवधी भाषा उत्तर प्रदेश के लखीमपुर, खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फ़तेहपुर, बाराबंकी, बहराइच, बलरामपुर, गोंडा, फैज़ाबाद, सुल्तानपुर, अमेठी, रायबरेली, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर आदि जिलों में बोली जाती है। तत्कालीन समय में लगभग यही क्षेत्र अवधी भाषा के अंतर्गत आता था।

रामकथा अर्थात् रामचरित से जुड़े हुये विषय पर हमारे पास वर्तमान समय में जो सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है, वह है संस्कृत भाषा में महार्षि वाल्मीकि कृत *रामायण*।[4] इसके बाद ही चीनी, पाली, तमिल, बंगाली,

उड़िया, अवधी आदि भाषाओं में रामकथा से जुड़े हुये साहित्य का सृजन हुआ। लेकिन रामकथा को वैश्विक पटल पर ख्याति दिलाने का जो काम अवधी भाषा ने किया वह शायद ही अन्य किसी भाषा में हुआ हो। इसलिए भी अवधी भाषा साहित्य में रामकथा के सन्दर्भों को देखना अनिवार्य हो जाता है। अब हम बात करते है अवधी भाषा साहित्य में उपलब्ध रामकथा संदर्भ की।

**1.चंदायन –**

यह काव्य अवधी भाषा में लिखा गया एक प्रेमाख्यान काव्य ग्रन्थ है। इसमें भी रामकथा से संबंधित कुछ प्रसंग कई जगहों पर आयें है। एक प्रसंग में जब काव्य की नायिका चंदा अपने घर में सोयी हुई होती है। और उसी समय काव्य का नायक लोरिक चंदा के घर में प्रवेश करता है, तो कवि उस समय की परिस्थितियों की तुलना रामकथा से जोड़कर करता है।

**लंक ‘उरेहि’ भभीखनु ‘रेहा’। ‘संची’ ‘मानु दसगियं कइ’ देहा।**

**‘छीता’ हरन राम संगरामू। दर ‘पांडव’ कुरखेत ‘क’ ठाऊँ।**[5]

(अर्थ / व्याख्या – लंका को उरेह कर (उसमें) विभीषण को उरेहा गया था और दशग्रीव की देह मानों (उसमें) संची हुई थी। सीता – हरण और राम का (रावण से हुआ) संग्राम, पांडव दल तथा कुरुक्षेत्र का स्थान भी उरेहे हुये थे।)

**2. स्वर्गारोहिणी कथा –**

इस रचना के लेखक ईश्वरदास जब अपने पूर्वजों अर्थात् पुरखों के विषय में चर्चा करते है तो वह बताते है कि मेरे सभी पूर्वज राम के दास अर्थात् राम के सेवक थे।

**महा पुरुख बरनौं कहा सबै राम के दास**

**ईश्वरदास तेहि पलि कथा कीन्ह प्रगास।**[6]

(अर्थ / व्याख्या – अपने पूर्वजों का उल्लेख ईश्वरदास यह कर समाप्त करते है कि महापुरषों (अपने पूर्वजों) का वर्णन कहां तक करूं। सभी राम के दास थे। उनके पश्चात् ईश्वरदास ने कथा को प्रकाशित (रचना) प्रारम्भ किया।)

**3. जैमिनी पुराण –**

इस रचना में कवि ने जो अपना परिचय एवं तत्कालीन भौगोलिक परिचय दिया है। वह भी रामकथा से संबंधित है। और तत्कालीन समय में इस क्षेत्र (अयोध्या) के व रामकथा के महत्व को दर्शाता है। उदाहरण –

**जंबू दीप भारत षंडा। कनउज कै पाती परचंडा।**

**सप्तपुरी महा उत्तिम थाना। कौसल देसवे (देस सब) कोऊ जाना।**

**रामपुरी सरजू के तीरा। नाम अजोध्या निर्मल नीरा।**

**सर्गाद्वार पाप कर नासन। जहंवा रामचन्द्र कर आसन।**

**तिहि ते दक्षिन जोजन चारी। आदि गोमती किल्मिष हारी।**

**नारायणपुरी सुधर सुदेसा। तहां बसै विकार नरेसा।**

**कुवर ब्रह्मा दबीच सुजाना। वोन्ह की सरकार राव न आना।**

**तहवा नगर बसत इक दादर। जहवा जती सती कर आदर।**

**राजा रूपमल्ल वहां रहई वैश्व वंश नित धर्म हिचहई। लागि गुहारि केरि संहारा।**

**दादरपुर के महा जुझारा। सर्व सकुल निर्मल राजा रूपमल्ल नाम।**

**राम भक्त पुरुषोत्तम दास बसहिं सुदादर ग्राम। वंश विभूति पिता मंह प्रीती।**

**क्षेमानन्द धर्म की रीति। तिनके सुत पुरुषोत्तम दासा प्रथम गए जग्रनाथ निवासा।**[7]

(अर्थ / व्याख्या – जंबू दीप भारत खण्ड में कान्य कुब्ज की प्रचंड परिपाटी है। वहा सप्तपुरी नामक महास्थान है, कोशल देश को सब कोई जानता है। इस देश में निर्मल नीर वाली सरयू के तीर रामपुरी अयोध्या है। अयोध्या में पापों का नास करने वाला ‘सर्गाद्वार’ नामक स्थान है जहां रामचंद्र का आसन है। वहां से चार योजन दक्षिण, पाप हारिणी आदि गोमती बहती है। वहां नारायणपुर नामक सुन्दर देश (इलाका या गांव) है जहां ‘विकार’ नरेश बसते है। उनके राजकुमार ब्रह्मा दधीच सुजान है। उनकी सामानता करने वाला कोई अन्य राजा नहीं है। उस इलाके में ‘दादर’ नामक नगर है जहां यतियों और सतियों का बहुत आदर होता है। उस नगर के राजा रुपमल्ल (जिनका वंश वैश्य है।) है। वे नित्य धर्म की उन्नति चाहते है। उसी दादर ग्राम में रामभक्त पुरुषोत्तम दास निवास करते हैं। पुरुषोत्तम दास की प्रति वंश की विभूति अपने पिता क्षेमानन्द में बहुत है। क्षेमानन्द के पुत्र पुरुषोत्तम दास हैं। वे पहले जगन्नाथ गये।)

कवि ने अपनी इस रचना में एक स्थान पर सीता के दुःख मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है जो नारी संवेदना एवं रामकथा दोनों पर प्रकाश डालता है। इस संदर्भ में राम के द्वारा लंका की विजय के बाद राम के माध्यम से सीता को त्यागने को कवि सीता के मुख कुछ इस प्रकार कहलवाता है –

**पुरुषोत्तम कह जानकी, कवन राम की रीति।**

**जो पै मन ऐसी बसी, क्यों आनी रणनीति ।।**[8]

(अर्थ / व्याख्या – सीता कहती है कि ये राम का कौन सा रीति – रिवाज (नियम – कानून) है। कौन सी रणनीति है, जो मन में पहले ही त्यागने को बसा रखा था तो इससे अच्छा होता मुझे लंका में ही छोड़ देते यह सब संग्राम करने की क्या जरुरत थी।)

**4. मृगावती** –

यह एक सूफ़ी प्रेमाख्यान काव्य ग्रन्थ है। परमेश्वरी लाल गुप्त[9] के अनुसार कवि ने *रामायण* के अंश को भी कई सन्दर्भ में अपनी रचना में प्रयोग किया है। जैसे – *रामायण* के अंश – दशरथ सुत वियोग, सीता हरण, राम वियोग, सीता वियोग, बाली बध, लंका दहन, रावण वध आदि। उदाहरण –

**आन भई जस राम कली का। राघो बंस राम औतारा॥**

**रावन हरी राम घर सीता। यहै राम जै मारेउ बारी (बाली)।**

**को राम जै रावण मारा, सिय लाग हन जिय।**

**रावन मार सिय लै आवा। इहे राम जै रावण मारा।**[10]

(अर्थ / व्याख्या – जब कलयुग की शुरुवात हुई तो रघुकुल वंशी राम का अवतार हुआ। लंकापति रावण राम की पत्नी सीता को हर कर लंका ले गया। इन्ही राम ने बाली का वध किया। सीता को वापस लाने के लिए राम ने लंकापति रावण वध कर दिया। ये वही राम है जिन्होंने रावण को मारा।)

इस प्रकार के अनेक प्रसंग *मृगावती* में रामकथा से संबंधित मिलते है। जिन पर संतलाल शर्मा पहले ही अपने लेख के माध्यम से चर्चा कर चुके है। इस बात का जिक्र हम पहले ही कर चुके है।

**5. हरिचरित** –

यह रचना मूल रूप से कृष्ण की गाथा पर आधारित है लेकिन इसमें भी कुछ स्थानों पर रामकथा से जुड़े संदर्भ प्राप्त होते है।

**राम नाम संतन्ह सुखदाई। सर्वभूत रमि रहे गोसाईं।**[11]

(अर्थ / व्याख्या – राम नाम एक ऐसा नाम है जो संतों से लेकर हर एक प्रकार का मनुष्य जपता है, और सुख प्राप्त करता है।)

**6. पद्मावत** –

यह एक सूफ़ी प्रेमाख्यान काव्य ग्रन्थ है। लेकिन फिर भी इसमें रामकथा से जुड़े प्रसंग भरे पड़े है। इस संदर्भ में वासुदेव शरण अग्रवाल[12] का मानना है कि "तुलसी का *रामचरितमानस* उस समय तक अस्तित्व में न

आया था किन्तु रामकथा अवध के ग्रामों में लोगों की जिह्हा पर थी। जायसी ने जनता के स्तर से ही रामकथा का संग्रह करके लगभग सौ बार *पद्मावत* में उसका उल्लेख किया है। इनके मिलने से एक छोटी जायसी रामायण बन जाती है।" जिनके कुछ उदाहरण इस प्रकार है।

**रामा आइ अजोध्या उपने लखन बतीसौ अंग।**

**रावन राइ रूप सब भूलै दीपक जैसे पतंग।**[13]

(अर्थ / व्याख्या – इसकी वही गति होगी जैसे स्त्री (रामा, सीता) अयोध्या में जन्मी और उसकी देह में बत्तीस लक्षण प्रकट हुए पर दूरस्थ रावण उसके साथ रमण करने के लिए रूप पर मुग्ध होकर दीपक पर पतिंगे की भांति सब कुछ भूल गया। ऐसे ही सिंघल द्वीप की इस पद्मावती के लिए चित्तौड़ से पति (रमण) पतिंगे की भांति भूला हुआ आएगा।)

**भाइंह मांह होई जनि फूटी। घर के भेद लंका असि टूटी।**[14]

(अर्थ / व्याख्या – भाइयों में फूट न होनी चाहिए। घर के भेद से ही लंका नष्ट हुई थी।)

घर का भेदी लंका भूकीं जैसी पंक्तियां आज भी अवध क्षेत्र में प्रचलित है जो रामकथा का एक हिस्सा है।

**7. कन्हावत –**

यह भी जायसी की रचना है। इस रचना पर चर्चा करते समय मुजीब रिज़वी ने बड़े ही अच्छे से रामकथा की व्याख्या की है। इसलिए उसे ही यहां पर प्रस्तुत करना बेहतर होगा। मुजीब रिज़वी का कहना है कि जायसी ने अपनी समस्त रचनाओं में राम को कष्ट भोक्ता के रूप में ही चित्रित किया है। और अपने उस काल के दुखमय जीवन के वृतांत को *कन्हावत* में भी विष्णु के मुख से विधाता को सुनवाया है –

**दुःख पायों रामा औतारा। अब नहिं औतरों महि संसारा।**

**जरम मोर सब चिंत मंह बीता। एक इस्तिरी जानौ सीता।**

**सो पुन हर रावन लइ गयो। फिर सति आप पिर्थी जुन गयो।।**[15]

(अर्थ / व्याख्या – ये विधाता राम का अवतार पाकर मुझे बहुत दुःख हुआ। अब दुबारा मुझे इस संसार में अवतार के रूप में नहीं पैदा करना। मेरा पूरा जीवन चिंता में ही बीत गया। एक मेरी स्त्री अर्थात् पत्नी थी जिसे रावण हर ले गया।)

**8. मधुमालती –**

यह एक सूफ़ी प्रेमाख्यान काव्य ग्रन्थ है। कवि ने इस रचना में काव्य के नायक के विरह वेदना को *रामायण* के पात्र लक्ष्मण और हनुमान जी के साथ जोड़कर देखा है। जब लक्ष्मण को शक्ति बाण लगता है तो हनुमान जी लक्ष्मण के लिए संजीवनी बूटी लाने के लिए जाते है। इसी प्रकार से काव्य के नायक की विरह वेदना देखकर 'पेमा' (हुनमान जी की भूमिका अदा कर) काव्य की नायिका मधुमालती का समाचार लाने के लिए जाती है। उदाहरण -

**लक्खन कहं सकती परी मोहि विरह रहा घट पूरि।**

**पेमां तुइं हनिवत भै मेरउ संजीवन मूरि ।।**[16]

(अर्थ / व्याख्या – लक्ष्मण को शक्ति लगी थी, वैसे ही मेरे शरीर में विरह पूरित हो रहा है। ऐ पेमां तू हनुमान की भूमिका निभा कर संजीवनी मूल मुझे ला दे।)

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास से पहले का शायद ही कोई ऐसा प्रमुख अवधी साहित्य होगा जिसमें किसी न किसी रूप से रामकथा या उससे जुड़े हुये विषय का जिक्र न हुआ हो। इसलिए इस तरह के विषयों की तरफ भी अब हमें ध्यान देना चाहिए ताकि रामकथा से जुड़े हुये विषयों पर और वृहद् स्तर पर प्रमाणिक जानकारी प्राप्त की जा सके।

## संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सं० *तुलसी ग्रंथावली*, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, सं० – संवत 2033 वि०, माता प्रसाद गुप्त, *तुलसीदास एक समालोचनात्मक अध्ययन*, इलाहाबाद : लोकभारती, सं० – 2015, योगेन्द्र प्रताप सिंह, *रामचरितमानस के रचनाशिल्प का विश्लेषण*, इलाहाबाद : लोकभारती, प्रथम सं० – 2015, सूर्य प्रसाद दीक्षित, मध्ययुगीन अवधी रामकाव्य और तुलसी 'मानस', सं० योगेन्द्र प्रताप सिंह, सूर्य प्रसाद दीक्षित, *भारतीय भाषाओं में रामकथा अवधी भाषा*, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम सं० – 2015, पृष्ठ - 37-70. देवकीनंदन श्रीवास्तव, तुलसी के रामकाव्यों की अवधी, सं० योगेन्द्र प्रताप सिंह, सूर्य प्रसाद दीक्षित, *भारतीय भाषाओं में रामकथा अवधी भाषा*, वही, पृष्ठ – 71-81.
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, अवधी के प्राचीन रामकाव्य, सं० योगेन्द्र प्रताप सिंह, सूर्य प्रसाद दीक्षित, *भारतीय भाषाओं में रामकथा अवधी भाषा*, वही, पृष्ठ – 30-32. संतलाल शर्मा, मृगावती में रामकथा, सं० जगदीश पीयूष, *अवधी ग्रन्थावली*, खण्ड – 3, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम सं० – 2008, पृष्ठ – 174-175.
3. अमीर खुसरो, *नूह सिपेहर*, हिंदी अनु० सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, *खलजी कालीन भारत*, नई दिल्ली : राजकमल, चौथा सं० - 2016, पृष्ठ – 180.
4. भगवान सिंह, रामकथा : ऐतिहासिक – सामाजिक संदर्भ, सं० कुँवरपाल सिंह, *भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति*, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, सं० – 2015, पृष्ठ – 249.
5. माता प्रसाद गुप्त, सं० *चांदायन*, आगरा : प्रमाणिक प्रकाशन, प्रथम सं० – 1976, पृष्ठ – 188-189 (लोर – धवलगृह – आरोहण खण्ड, चौपाई संख्या – 193)
6. विश्वनाथ त्रिपाठी, *प्रारम्भिक अवधी*, दिल्ली : राधा कृष्ण प्रकाशन, द्वितीय सं० – 2018, पृष्ठ – 56.

7. वही, पृष्ठ - 229-30, 75-76.
8. जगदीश पीयूष, सं० *पुरुषोत्तम दास कृत जैमिनी पुराण*, नई दिल्ली : किताब वाले, सं० – 2019, पृष्ठ – भूमिका – xi.
9. परमेश्वरी लाल गुप्त, सं० *कुतुबन कृत मिरगावती*, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम सं० – 1967, पृष्ठ – 74.
10. वही, पृष्ठ – 74.
11. नलिनविलोचन शर्मा, सं० – *लालचदास रचित अवधी काव्य हरिचरित*, प्रथम खण्ड, पटना : बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, द्वितीय सं० – 2015, पृष्ठ – 65.
12. वासुदेव शरण अग्रवाल, सं० *जायसी कृत पद्मावत*, इलाहाबाद : लोकभारती, सं० – 2016, पृष्ठ – प्राक्कथन – 07.
13. वही, पृष्ठ – 52-53 (जन्म खण्ड, चौपाई संख्या – 52)
14. वही, पृष्ठ – 378-379 (रत्नसेन विदाई खण्ड, चौपाई संख्या – 376)
15. मुजीब रिज़वी, *सब लिखनी कै लिखु संसारा पद्मावत और जायसी की दुनिया*, नई दिल्ली : राजकमल, प्रथम सं० – 2019, पृष्ठ – 69.
16. माता प्रसाद गुप्त, सं० *मधुमालती*, इलाहाबाद : मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम सं० – 1961, पृष्ठ – 207 (चौपाई संख्या – 244)

*** इतिहास विभाग**
**सामाजिक विज्ञान संकाय**
**काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी**
**Email-ram225205@gmail.com**
**Mob- 9956033147**

# हिन्दी भक्ति-काव्य में राम-महिमा

***डॉ. चंद्रकांत सिंह**

**सारांश**

*हिंदी भक्ति काव्य-धारा ज्ञान, भक्ति, शील की काव्य धारा है। प्रस्तुत काव्य धारा में राम की महिमा का अपूर्व रूप दिखता है। प्रस्तुत आलेख में राम महिमा, संसार की निस्सारता एवं रामत्व की सार्थकता को भक्ति सन्दर्भों में देखने का प्रयास किया गया है। भारतीय चेतना के साथ राम जिस तरह एकमेव हो जाते हैं वह अत्यंत महनीय है। विभिन्न संतों ने राम के महत्त्व का जिस तरह प्रतिपादन किया है उसे उद्घाटित करते हुए रामत्व की सार्थकता को देखने का प्रयास इस लेख में किया गया है।*

**बीज शब्द**

*भक्ति, राम एवं राम की महिमा, संसार- अन्तस चेतना के अंतर्संबंध, सगुण-निर्गुण अवबोध को इस आलेख में दर्शाने का प्रयास किया गया है।*

## भूमिका

संत दादू दयाल की पंक्ति 'राम राई मो कौं अचिरज आवै, तेरा पार न कोई पावै' के माध्यम से राम के अपरंपार स्वरूप, उनके जीवन-कर्म एवं व्यक्तित्व को भूमिका में दर्शाने का प्रयास किया गया है। राम के चरित्र पर आधारित जो विभिन्न पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें वाल्मीकि रामायण, कंब रामायण, कृत्तिवासी रामायण, अग्रगण्य हैं उनमें राम के चरित्र को देखने की एक व्यवस्थित समझ दिखती है। राम एवं राम- रसायण की अपूर्व महिमा है जिसे संतों ने गाया है। वर्तमान सन्दर्भ में राम की सार्थकता को भूमिका में देखने का प्रयास है।

राम राई मो कौं अचिरज आवै, तेरा पार न कोई पावै।|
ब्रह्मादिक सनकादिक नारद, नेति नेति जे गावै।
सरणि तुम्हारी रहें निस बासुरि, तिन कौं तूँ न लखावै।|
संकर सेस सबै सुर मुनि जन, तिन कौं तूँ न जनावै।
तीनि लोक रटै रसना भरि, तिन कौं तूँ न दिखावै।|
दीन लीन राम रँग राते, तिन कौं तूँ संगि लावै।|

संत दादू की उपर्युक्त पंक्तियों में हरि-लीला के प्रति कौतुक एवं आश्चर्य देखते ही बनता है। दादू मानते हैं कि राम राम की लीला को समझ पाना अत्यंत दूभर एवं श्रमसाध्य है। सुर, नर, मुनि कोई भी उनकी अकथ लीला को बिना उनकी कृपा के जान नहीं सकता। जो राम में लीन होकर राममय हो जाता है उसे ही राम के सच्चे स्वरूप का बोध होता है। वाकई, राम प्रभुता के पर्याय भर नहीं हैं बल्कि भारतीय जीवन-बोध हैं, जिन्हें जाने-समझे बगैर भारतीय सांस्कृतिक जीवन को नहीं समझा जा सकता। जीवन को कैसे महत्तम रूप दिया जाए ? जीवन में आदर्श का प्रतिफलन कैसे हो ? इसे राम के बगैर भला कैसे जाना जा सकता है। मनुष्य के भीतर अपार ऊर्जा एवं संभावना है कि वह देवत्व से भर उठे। राम मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करने वाले आदर्श हैं जिनके जीवन, कर्म एवं व्यक्तित्व को देखकर सहज ही हर व्यक्ति को प्रेरणा एवं संबल मिलता है। मनुष्य जन्म की सार्थकता ही पूर्णत्व का

विकास है और राम इसी पूर्णत्व के परिचायक हैं। राम केवल आराध्य भर नहीं हैं, उन्हें मात्र आराध्य समझना बड़ी भूल होगी। वे साधारण मनुष्य के भीतर भगवत्ता को विकसित करने वाले दिव्य स्वरूप हैं जिनका परस पाकर हर कोई जन्म-जन्मान्तर के पाश से मुक्त हो सकता है। उनके उदात्त चरित्र पर अनगिनत कवियों ने अब तक शोध किया है। वाल्मीकी रामायण, कम्ब रामायण, कृत्तिवासी रामायण राम के चरित्र को देखने की भिन्न-भिन्न कोटियाँ हैं जिनसे राम की छवि पूर्ण होती है। भक्ति एवं दर्शन के क्षेत्र में अनगिन सम्प्रदाय आए जिन्होंने वेदों के काल से अब तक प्रभुता और भगवत्ता का सुन्दर चित्र खींचा है। आगम-निगम परम्परा के जितने स्रोत हैं वे सभी चेतना की उर्ध्व-यात्रा पर बल देते हैं और चेतना की उर्ध्व-यात्रा राम के बिना संभव ही नहीं। भक्तिकाल के कवि चेतना की उर्ध्व-यात्रा के जितने उपायों का प्रयोग करते हैं उन सभी को साधने की कला राम (हरि) के प्रसाद से मिलती है। आत्म साक्षात्कार के जितने सुन्दर अनुभव भारत में मिलते हैं उनमें राम रसायण की महिमा अपूर्व है जिसे दरकिनार नहीं किया जा सकता। एक तरह से कह सकते हैं कि भक्तिकाल के कवियों के लिए राम आस्था-पुंज हैं जिन्हें पाकर पराजित एवं हताश जीवन को नूतन दिशा प्राप्त हो सकी। भारत और राम इन दो शब्दों को अलग-अलग नहीं मानना चाहिए। भारत की अस्तित्वगत संज्ञा राम के बगैर अधूरी है जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसके भीतर अनस्यूत सार्थकता और गरिमा का दूसरा नाम राम हैं। भारत एक ऐसा देश है जिसके निवासी सदैव अहिंसा, त्याग, कर्तव्यपरायणता के लिए जाने जाते रहे हैं। सचाई एवं नेह के मनकों से गुँथी हुई भक्ति की गंगा सदैव उदास एवं हारे हुए को त्राण देती आयी है। धर्म की परिभाषा एवं स्वरूप की जितनी व्याख्याएँ संभव हैं वे सभी राम से बनती हैं। एक गहरे अर्थ में कह सकते हैं कि राम जीवन जीने की पद्धति हैं।

मनुष्य जन्म कंटकों से भरा हुआ है। प्रकृति, जीव को प्रशिक्षण एवं सीख देने हेतु मानव-शरीर में भेजती है और मनुष्य अपने आचरण और स्वभाव से दुःख भोगता है और रामत्व से दूर होता है। जैसे ही जीव सांसारिक उपक्रमों एवं बाधाओं को समझने की दृष्टि प्राप्त करता है ; वह ईश्वर की खोज में तत्क्षण लग जाता है। उसकी यह ईश्वरीय खोज चेतना की ही खोज एवं अन्वेषण है, जिसके लिए वह जंगल जाता है तमाम तरह के उपक्रम करता है। जिस दिन उसकी यह खोज पूरी होती है उस दिन वह राम का ही साक्षात्कार करता है। एक तरह से कह सकते हैं कि उसकी चेतना ही राम है जिससे वह सदैव दूर है और दुखी है। तुलसी की दृष्टि में राम नाम समस्त सांसारिक सारी व्याधियों के निस्तारण की एकमात्र औषधि है। यह मनुष्य के पूर्व जन्म के संचित कर्म हैं जिनके अनुरूप वह सुख और दुःख पाता है। राम परम ऐश्वर्य का दूसरा नाम है किन्तु यह मनुष्य जन्म की त्रासदी है कि जीवन भर इस नाम का वास्तविक मर्म वह नहीं समझ पाता। शवगाहों में पड़ी हुई लाशों को देखकर भी नहीं चेतता कि तमाम तरह के दुष्कर्म का कोई सार-आधार नहीं। एकमात्र राम रसायण के पारायण से ही वह मुक्त हो सकता है। तुलसी कहते हैं कि जिस जीव ने राम का स्मरण नहीं किया वह संसार में व्याप्त तीनों तापों से भला कैसे मुक्त हो सकता है अर्थात राम ही वास्तविक मुक्ति हैं जो व्यक्ति इस नाम से अपरिचित है वह सारे भोगों को भोगकर भी चिंतित और व्याकुल है –

राम राम राम जीह जीलों तू न जपिहै।
तौलौं तूँ कहूं ही जाय तिहूँ ताप तपिहै।|
सुरसरि-तीर बिनु नीर दुःख पाइहै।

सूरतरु तरे तोहिं दारिद सताइहै।|
जागत-बागत सपने न सुख सोइहै।
जनम-जनम जुग-जुग जग राइहै।|

तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि यह मन सांसारिक भोगों की बजाय यदि राम में अनुरक्त हो तो सभी द्वंद्वों, कष्टों से मुक्त हो सकता है। इस मन को परम गति प्राप्त हो सकती है। संसार में रमना और सांसारिक कुचक्रों में फँसना जीव की यथास्थिति है जिससे मुक्ति एकमात्र राम के कारण संभव है। विषयों से यदि यह मन विरत होकर शुद्ध भक्ति में अनुरक्त हो सके तो इसे वह सब प्राप्त हो सकता है जिससे कि यह निर्मल हो सके –

जो मन लागै रामचरन अस,
देह-गेह-सुत-बिन-कलत्र मंह मगन होत बिनु जतन किये जस।
द्वंद्व रहित,गतमान, ग्यानरत,विषय-बिरत खटाय नाना कस।
सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होंहिं बस।|
सर्वभूत-हित,निर्व्यलीक चित्त, भगति-प्रेम दृढ़ नेम एकरस।
तुलसिदास यह होई तबहि जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस।|

यही कारण है कि भक्ति काल के सभी कवियों ने राम पर लिखा, यह अकारण नहीं कि सगुण-निर्गुण दोनों ही भक्ति मार्गों में राम भक्ति-सेतु हैं जिन्हें रूप-अरूप दोनों ही रूपों को भक्त स्वीकारते हैं। जिनसे टकराए बिना धर्म, दर्शन की व्याख्या संभव नहीं। सगुण संतों के यहाँ राम दशरथ पुत्र दिव्य आत्मा हैं जिन्होंने अपने आचरण एवं वाणी के संयम से पूरे संसार को आलोकित किया, जिन्होंने अपनी निष्ठा एवं पुरुषार्थ से मनुष्य के भीतर देवता बनने की क्षमता को संवर्धित किया। निर्गुण संतों के यहाँ वही सगुण परब्रह्म के रूप में समादृत हैं। कबीर यदि कहते हैं कि –

पारब्रह्म के तेज का, कैसा उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।|

तो कहीं न कहीं वे राम की ओर ही इशारा कर रहे हैं। निस्संदेह कबीर के राम तुलसी के राम से भिन्न हैं। वे जीव को मुक्ति देने वाले परम स्वरूप हैं जिनको कबीर अलख निरंजन या निर्लेप कह देते हैं। खैर, राम की चारित्रिक व्याख्या कबीर और तुलसी की भले ही भिन्न एवं विलग हो किन्तु तात्विक समानता एक-सी है। अपने-अपने तईं दोनों ने राम को देखा-परखा है। दोनों की दृष्टि में भिन्नता का यह कतई अर्थ नहीं कि दोनों के राम में तात्विक अंतर है। हाँ, स्वरूपगत या दृष्टिगत भेद संभव है जिस ओर कबीर चिन्हित करते हैं-

राम नाम का मरम है आना।
ना दशरथ घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सताया।
देवै कख न औतरि आवा। जा जसवै ले गोद खेलावा।

राम रूप धारण करते हैं या नहीं, साँवले हैं या गोरे हैं, सगुण हैं या गुणों से रहित हैं इसका अंतर या भेद समझ आता है किन्तु राम ब्रह्म हैं या सामान्य जीव। इसमें किसी तरह का संशय एवं भेद नहीं। सभी संत निर्विकार भाव से स्वीकारते हैं कि राम सृष्टि के प्राणाधार हैं। उन्हें शब्द में बाँधना सहज नहीं, राम की महिमा अनंत है, उन्हें हल्का या भारी कहना ठीक नहीं। तभी तो राम-शब्द के अमर गायक दादू ने कहा –

ऐसा राम हमारे आवै। वार पार कोइ अंत न पावै।|
हलका भारी कह्या न जाइ। मोल माप नहिं रह्या समाइ।|
कीमति लेखा नहिं परिमाण। सब पचि हारे साध सुजाण।|
आगौ पीछौ परिमित नाहीं। केते पारिष आवहिं जाहीं।|
आदि अंत मधि लखै न कोइ। दादू देखे अचिरज होइ।|

दादू की भाँति हर संत को रामत्व का बोध अपने-अपने ढंग से हुआ तो स्वाभाविक है कि उस बोध की व्याख्या भी भिन्न होगी किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राम पर आधृत पूरा भक्ति निराधार है। राम पर बात होते ही भक्ति की प्रतिछाया पहले पहल उभरती है, भक्ति को पूर्णतः समझकर ही राम शब्द की बोधकता को जाना जा सकता है। भक्ति को केवल भजन करने या स्मरण-बोध के सामान्य अर्थ में रूढ़ करना ठीक न होगा। भक्ति जीवन-दर्शन है जिससे जीवन को व्यवस्थित दिशा मिलती है। कई बार जीवन एवं अध्यात्म दोनों को भिन्न समझकर लोग देखते हैं किन्तु भक्ति और जीवन के सिरे देखने में भिन्न हो सकते हैं किन्तु वे पारस्परिक जुड़े हुए हैं। भक्ति ब्रह्म या राम तत्व के साथ एकाकार होने की अवस्था है जिससे जीव की प्रज्ञा का समुचित विकास होता है। आचार्यों ने भक्ति को हृदय की निश्छल पुकार एवं एकनिष्ठता का सच्चा रूप माना है। श्रीमद्भागवत में भक्ति को निष्काम भाव से परमात्मा में लगाने वाली वृत्ति के तौर पर देखा गया है –

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।|

भक्त की अहेतुक भक्ति रामत्व के आत्मसातीकरण की प्रकिया है जिससे होता हुआ भक्त एक दिन राम में ही पूर्णतः लय हो जाता है जिसके लिए कबीर कहते हैं कि –

हेरत-हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराई।
बूँद समानी समद में सो कत हेरी जाई।|

राम-रस की बात भक्ति काल के सभी संत करते हैं, मीरा ने सत्संग द्वारा राम-रस के आत्मसातीकरण पर बल दिया है –
राम नाम रस पीजै मनुआं, राम नाम रस पीजै।

ताज कुसंग सतसंग बैठ णित हरि चरचा सुण लीजै।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं, बहा चित्त से दीजै।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के संग में भीजै।।
गुरु नानक जी भी कहते हैं जिसको राम की भक्ति प्राप्त हो गयी उसके भीतर के सारे कल्मष दूर हो जाते हैं वह तो आनन्द स्वरूप ही हो जाता है –

करम करतूत बेल बिसथारी राम नाम फल हूआ।।
तिस रूप न रेख अनाहद वाजै सबद निरंजन कीआ।।
जिन्ह पीआ से मसत भए है तूटे बंधन फाहे।।
जोती जोत समाणी भीतर ता छोडे माइआ के लाहे।।

कई बार भक्ति अहेतुक नहीं होती वह भी अटकाव या बाधा हो जाती है जिससे जीव की निर्बाध गति रुक जाती है। मंदिर-मस्जिद के नाम पर जितने आग्रह रहे हैं, वे एक संकुचित परिधि को रचते हैं जिससे मनुष्य की मुक्ति बाधित होती है। गौणी भक्ति की तरफ अपने कदम रखने वाला भक्त सहसा मंदिर-मस्जिद में अटक जाता है जिससे कि भक्ति को विकास का पथ नहीं दिखता और वह मंद पड़ जाती है। यही कारण है कि संत मंदिर-मस्जिद के विवाद में नहीं पड़ते, उन्हें लोकप्रसिद्धि की भाँति मंदिर-मस्जिद की भी चाह नहीं। बाहर परमात्मा के अस्तित्व की जितनी छायाएँ हैं, संत न तो उनकी निंदा करते हैं और न ही प्रशंसा वे तो आकंठ प्रभु भक्ति में लीन होते हैं। हृदय में परमात्मा के नूर की झलक पाकर मदमस्त होते हैं इस ओर संत रविदास जी ने सही संकेत किया है –

मस्जिद सों कछु घिन नहीं, मंदिर सो नहीं पिआर।
दोउ महं अल्लह राम नहीं, कह रविदास चमार।।

राम का अर्थ स्वतंत्रता की प्राप्ति है जो जीव का मूल स्वभाव है किन्तु संसार में आकर जीव फँस जाता है उसे समझ नहीं आता कि कैसे परम स्वतंत्रता प्राप्त करें। सभी संतों ने स्वतंत्रता को सार माना है। माया-मोह की जुगति से मुक्त होने का नाम राम है, इस रामत्व को यानि परम स्वतंत्रता को भक्ति एवं साधना से ही अर्जित किया जा सकता है। यदि कृष्ण को विराट का पूर्णोपम उत्सव कहें तो राम को जीवन की संयत व्याख्या कह सकते हैं। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय के बीच अनुशासन की महीन परिपाटी में बंधा हुआ जीवन कैसे निर्बंध हो सके, मुक्त हो सके यह प्रेरणा और संबल राम से मिलता है। अँधेरे में भटकते हुए मानव के लिए राम रोशनी की किरण हैं जो सदैव मनुष्य का मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे। जब भी जीव माया-मोह के जाल में उलझा हुआ अपने स्वविवेक से परे फिसलता जाएगा उसके हृदय का संबल एवं व्यक्ति की प्रखरता राम के माध्यम से निसंदेह नवीन रूप प्राप्त करेगी। अंत में यही कहा जा सकता है कि रेत के तटबंधों की तरह सिमटती और बिखरती जिन्दगी में राम आश्रय हैं, शरणगाह हैं और इस शरणगाह की आवश्यकता सदैव मानव-मात्र को रहेगी, क्योंकि यही वह कुंदन है जिससे जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है।

**निष्कर्ष**

आलेख के निष्कर्ष में जीव के मूल स्वभाव आनंद, स्वतंत्रता आदि को देखने की कोशिश एवं उच्च स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु राम- महिमा के महत्त्व को दर्शाने का प्रयास है। सुख –दुख, लाभ- हनि, हर्ष- विषाद में पड़ा हुआ आम आदमी किस तरह अपने कर्तव्यों का पालन करे जिससे कि वह परमतत्व राम को प्राप्त कर सके इसे लेख के निष्कर्ष में देखने का प्रयास किया गया है।

---

**संदर्भ-**

1. दादू दयाल, संस्करण 2009, दादू दयाल की बानी, भाग-2, वेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद
2. वियोगी हरि (सम्पादन-टीका), संस्करण-2018, विनय-पत्रिका,सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन,नई दिल्ली
3. वियोगी हरि (सम्पादन-टीका), संस्करण-2018, विनय-पत्रिका,सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. डॉ. सत्यनारायण सिंह (सम्पादन), पंचम संस्करण 2014, मध्ययुगीन काव्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
5. दादू दयाल, संस्करण 2009, दादू दयाल की बानी, भाग-2, वेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद
6. डॉ.सुमन शर्मा, संस्करण-1974, मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, तृतीय संस्करण-2006, मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली
8. महाराज सावन सिंह जी, बारहवाँ संस्करण 2011, शब्द की महिमा के शब्द, राधास्वामी सत्संग ब्यास, पंजाब
9. आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद, सातवीं आवृत्ति 2017, गुरु रविदास, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली

***सहायक आचार्य (हिंदी)**
**हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय,धर्मशाला**
**मोबाईल-9805792455**
**ईमे- parikardigant@gmail.com**

# 'रामलला नहछू': सामाजिक सौहार्द का सांस्कृतिक समारोह

*रमेश कुमार राज

'रामलला नहछू' सोहर छंद है, जिसमें 12, 10 के विश्राम से 22 मात्राएँ होती हैं। 'रामलला नहछू' की रचना-तिथि का पता वेणीमाधवदास कृत 'गोसांई चरित' से मिलता है। उसके दोहा संख्या- 94 में लिखा है कि गोस्वामी जी ने इसकी रचना मिथिला प्रदेश में की है। जैसे-

मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोय।
मुनि प्राँचे मंत्रित, किए सुख पावें सब कोय।।

इस दोहे के अनुसार तुलसीदास ने 'रामलला नहछू' की रचना मिथिला यात्रा के दौरान की थी। सीता का संबंध मिथिलांचल से है और राम का पुर्वांचल के नजदीक अयोध्या से। यहाँ केवल दो आत्माओं का ही नहीं, दो संस्कृतियों का भी परस्पर मेल है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी इसका संबंध मिथिला की संस्कृति से जोड़ा है। वे कहते हैं - "इसमें कथा की सत्यता पर न जाकर प्रथा की सत्यता पर जाना चाहिए, राम का नहछू तो एक बहाना है।"[1] गोस्वामी जी ने मिथिला की संस्कृति का वर्णन कर जनकपुर के राजा जनक और जनक जननी सीता के मान की रक्षा की है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने यह आरोप लगाया है कि यदि यह राम के विवाह का नहछू है, तो उसे मिथिला में होना चाहिए, क्योंकि राम विवाह के पूर्व अयोध्या आए ही नहीं, किन्तु 'नहछू' में स्पष्ट लिखा है कि यह नहछू अवधपुर में हुआ-

आज अवधपुर आनंद नहछू राम क हो।
चलहु नयन भरि देखिय सोभा धाम क हो।।[2]

राम और लक्ष्मण गुरु विश्वामित्र के साथ घूमते हुए मिथिलांचल पहुँचे थे। वहाँ सीता का स्वयंवर होने वाला था। स्वयंवर में धनुष तोड़कर राम ने सीता से विवाह किया था। विवाह संबंधी कोई भी संस्कार उस समय राम का नहीं हुआ। लेकिन 'नहछू' मिथिलांचल के विवाह पूर्व की एक विशिष्ट संस्कृति है, जिसके बिना विवाह पूर्ण नहीं माना जाता। इसलिए गोस्वामी तुलसीदास ने इस विधि वर्णन अलग से 'रामलला नहछू' में किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा कहते भी हैं कि "वस्तुतः यह राम-कथा से संबंध रखने वाला नहछू न होकर साधारण नहछू की रीति पर लिखी हुई रचना है।"[3]

यह छंद आनंदोत्सव या विवाह के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। परिजन परिहास करते हैं और नहछू विधि के गीत गाते हैं। इस दौरान गाए जाने वाले गीतों में परिजन दूल्हे और उनके माता-पिता को परिहास के रूप में गाली देते हैं। ऐसे अवसर पर दी जाने वाली गाली से परिजन नाराज नहीं होते। नहछू संस्कार में नाई या नाइन द्वारा दूल्हे का नाखून काटा जाता है। मिथिलांचल के नहछू संस्कार में वर और वधू दोनों की सबसे छोटी अंगुली को नाई या नाइन द्वारा नहरनी से हल्का काटा जाता है और उससे निकलने वाले खून की एकाध बूंदों को रुई में लगाकर उसे मिठाई में रखकर वर और वधू को खिलाया जाता है। वर का वधू को और वधू का वर को। लोकमत यह है कि इससे वर और वधू का खून आपस में घुल-मिल जाता है। उनमें लड़ाइयाँ नहीं होती। दोनों का प्रेम प्रगाढ़ होता है। इस क्रिया के बाद ही नहछू संस्कार पूर्ण माना जाता है। लेकिन गोस्वामी तुलसीदास के नहछू संस्कार में नाखून काटने की विधि बताई गई ही। जब नाई या नाइन दूल्हे का नाखून काटते हैं, तब परिजन के साथ-

साथ आस-पास की महिलाएँ नाई या नाइन से परिहास करते हैं। यह ऐसा संस्कार है जिसमें वर्ग-भेद और वर्ण-भेद की सीमा समाप्त हो जाती है। सभी वर्ग की स्त्रियाँ इस संस्कार में न केवल भाग लेती हैं बल्कि एक-दूसरे से परिहास भी करती हैं। इससे पता चलता है कि राम राजकुमार होकर भी एक साधारण ग्रामीण बालक हैं, राजा का पुत्र होकर भी प्रजा की संतान हैं। वे सबके हैं, सब उनके अपने हैं। तुलसीदास की इस छोटी-सी कृति में लोक और संस्कृति एक-दूसरे में घुल-मिल गई है। लोक और संस्कृत का इतना सूक्ष्म अन्वेषक हिन्दी साहित्य में तुलसी पूर्व कोई नहीं हुआ। वे लोक संस्कृति के गाहक और वाहक दोनों हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं- "अपने दृष्टि विस्तार के कारण ही तुलसीदास जी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदयमंदिर में पूर्ण प्रेमप्रतिष्ठा के साथ रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को।... इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है।"[4]

'नहछू' संस्कार के दौरान माता अपने दूल्हे पुत्र को गोद में लेकर बैठती हैं और उसके सिर पर अपने आँचल की छाया करती हैं। पुत्रोत्सव के बाद विवाहोत्सव मातृत्व स्नेह का दूसरा सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण क्षण होता है। गोस्वामी तुलसीदास उस स्नेह को महसूस कर रहे हैं। माता के हृदय तल की गहराइयों की थाह ले रहे हैं। वे लिखते हैं कि कौशल्या जी दूल्हा बने राम को अपनी गोद में लेकर बैठी हैं और उनके शीश पर अपने आँचल की छाया कर रही हैं-

गोद लिए कौसल्या बैठी रामहि वर हो।
सोभित दुलह राम सिस पर आँचर हो॥[5]

सूरदास के यहाँ पुत्रोत्सव (वात्सल्य) का सौन्दर्य है तो गोस्वामी तुलसीदास के यहाँ विवाहोत्सव का सौन्दर्य। ऐसे अवसर पर राजा और प्रजा का भेद समाप्त हो जाता है। सामंत और मजदूर का भेद समाप्त हो जाता है। अमीर और गरीब का भेद समाप्त हो जाता है। साधारण से साधारण परिवार की स्त्रियाँ राजा, सामंत और मालिकों से परिहास करती हैं। राजा-महाराजा भी अपने आसन से नीचे उतरकर एक साधारण मनुष्य की भाँति उस परिहास का आनंद लेते हैं और स्वयं भी परिहास करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने राजा दशरथ की इसी रसिकता का वर्णन करते हुए उनको नीच कुल की स्त्रियों के रूप यौवन पर मुग्ध होते दिखाया है। जैसे-

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।
बिहँसत आउ लोहारिन हाथ बरायन हो॥
अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लेइ आवइ हो।
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो॥[6]

राजा दशरथ का यही आचरण उन्हें मनुष्य के रूप में स्थापित करता है। उन्हें जनता का राजा सिद्ध करता है। उन्हें लोकधर्मी शासक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। जो मिथिला की संस्कृति से अनजान हैं, उन्हें राजा दशरथ का यह आचरण अश्लील लग सकता है। वे उनकी दृष्टि को दोषी ठहरा सकते हैं। बहुत संभव है कि कोई उन्हें कुंठित तक कह दें। लेकिन जो मिथिला की संस्कृति से वाकिफ़ हैं, उन्हें पता है कि 'नहछू' संस्कार बगैर गाली के पूर्ण नहीं होता। तुलसीदास बड़े कवि हैं। इसलिए उन्होंने वहाँ की संस्कृति का सजीव वर्णन बिल्कुल मिथिला के अंदाज में

किया है। 'रामलला नहछू' में यदि गाली का प्रयोग न हुआ होता तो कवि की प्रतिबद्धता पर संदेह किया जाता। यही वह अवसर है जहाँ दूल्हे की माता को सामूहिक रूप से गालियाँ दी जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं-

काहे रामजिउ साँवर, लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्रीरघुनाथ क हो॥[7]

डॉ. रामकुमार वर्मा का कहना है कि 'नहछू' को लोगों के गाने के लिए बना दिया गया है। वे कहते हैं- "'नहछू' में कवि का न तो अभ्यास है और न ही प्रयास ही। ऐसी स्थिति में या तो 'नहछू' कवि के काव्य-जीवन के प्रभात की रचना होनी चाहिए ('मानस' से बहुत पहले) या ऐसी रचना जिसे कवि ने चलते-फिरते बना दिया हो, जिसे लोग अश्लील गीतों के स्थान पर गा सकें। जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह रचना सरल और सुबोध रखी गई, इसमें काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित करने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। जन-साधारण की रुचि के लिए ही शायद कवि ने आवश्यकता से अधिक शृंगार की मात्रा 'नहछू' में रख दी है।"[8] बाबू श्यामसुंदरदास तथा डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल लिखते हैं- "भारत के पूर्वीय प्रांत में अवध से लेकर बिहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन से नहछू करने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छंद है, जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर गाती हैं। पंडित रामगुलाम का मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। संयुक्त प्रदेश (उत्तर प्रदेश), मिथिला आदि प्रांतों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचन्द्र जी का विवाह आकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसलिए विवाह में नहछू नहीं हुआ। गोसांई जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गंदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिए बनाया है।"[9]

नहछू संस्कार में कई वर्ण की स्त्रियाँ शामिल हैं। इसमें लोहारिन हैं, अहिरिन हैं, तमोलिनि हैं, दरजिनि हैं, मोचिनि हैं, मालिनि हैं, बारिनि और नउनिया हैं। सभी दलित और पिछड़े वर्ग की महिलाएँ हैं। सभी राजा रानी से परिहास करती हैं। वर्ग-भेद और वर्ण-भेद की सीमा का अतिक्रमण ही राजा दशरथ को महान और उदार शासक बनाता है। राम के स्वभाव में जो आदर्श हमें दिखाई देता है, वह उनके माता-पिता का संस्कार है। डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र लिखते हैं- "गोस्वामी जी ने राम के व्यक्तित्व को कौटुम्बिक इकाई और शासकीय इकाई में भी इस तरह विकसित कर रखा है कि उनका कुटुम्ब एक परम आकर्षक राज्य बन गया है। वह कुटुम्ब ऐसा नहीं जिसमें जनसाधारण अपने हृदय की आत्मीयता का अनुभव न करता हो और वह राज्य भी ऐसा राज्य नहीं जिसमें जनसाधारण अपने पूरे विकास की सामग्री न पा रहा हो।"[10] रामजी तिवारी लिखते हैं- "तुलसीदास जी सामाजिक जीवन में व्यक्ति, परिवार, समाज और शासन के परस्पर संबंधों में मूल्यधर्मी सामंजस्य की भूमिका को बार-बार रेखांकित करते हैं।"[11]

गोसमी तुलसीदास ने 'नहछू' संस्कार का ऐसा बिम्ब प्रस्तुत किया है कि उसका एक-एक दृश्य आँखों के सामने साकार हो उठता है। ऐसा लगता है, मानों सच में राम दूल्हा बने बैठे हैं और उनका विवाह होने वाला है। राजा दशरथ के घर बाजे बज रहे हैं और देवलोक आनंद से विभोर हो रहे हैं। नगर को दुल्हन की तरह सजा दिया

गया है। वधू के आगमन से जितनी खुशी माँ को होती है, शायद ही किसी को होती हो! यह दृश्य देखकर माता कौशल्या बहुत प्रसन्न हो रही हैं-

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दशरथ के गृह हो।
देवलोक सब देखहिं आनंद अति हिय हो।।
नगर सोहावन लागत बरननि न जातै हो।
कौसल्या के हरष न हृदय समातै हो।।[12]

बाँस के माँड़व छवाना, मोतिन्ह के झालर, गंगाजल, कलश, गजमुकुता हीरमानि से सुसज्जित चौका, कनक सरीखे खम्भे, मानिक दीप आदि एक-एक चीज पर गोस्वामी जी का पूरा ध्यान है। ऐसा लगता है कि नहछू संस्कार के दौरान कवि स्वयं वहाँ उपस्थित थे और एक-एक चीज को व्यवस्थित कर रहे थे। जैसे-

आल हि बाँस के माँड़व मनिगन पूरन हो।
मोतिन्ह झालरि लागि चहूँ दिसि झूलन हो।।
गंगाजल कर कलश तौ तुरति मँगाइय हो।
जुवतिन्ह मंगल गाइ राम अन्हवाइस हो।।[13]

उत्तर भारत, विशेष रूप से मिथिलांचल के विवाह संस्कार को जानना-समझना हो तो 'रामलला नहछू' इसका सुंदर उदाहरण हो सकता है।

विवाह संस्कार के अवसर पर हर जाति की स्त्रियों को उनके श्रम के लिए आभूषण, वस्त्र, धन, मुद्राएँ आदि दिए जाते हैं। इसमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका नाई अथवा नाइन की होती है। उनके बिना यह संस्कार पूर्ण नहीं होता। भारतीय संस्कृति में विवाह, नहछू, पुजापाठ, आज्ञोपवीत आदि संस्कारों में ब्राह्मण के बाद जिस दूसरी जाति की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है, वह है नाई। नाई अथवा नाइन बिना पैसे और वस्त्र लिए दूल्हे का नाखून नहीं काटते। उसकी आमदनी का यह सबसे बड़ा स्रोत होता है। नाखून काटने से पहले वे खूब मान करते हैं और माँग पूरी होने के बाद ही दूल्हे का नाखून काटते हैं। नाई की भूमिका वधू के ससुराल आने और गृह प्रवेश करने तक बनी रहती है। इसलिए उसकी हर फरमाइश पूरी की जाती है। 'नहछू' में नाइन का सौन्दर्य देखते ही बनता है। जैसे-

मोचिन बदन सँकोचिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो।।[14]
नैन बिसाल नउनिया भौं चमकावइ हो।
देइ गारि रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो।।[15]

गोस्वामी जी की नजर 'नहरनी' पर है। बहुत कम लोग 'नहरनी' के बारे में जानते होंगे। तुलसी पूर्व शायद ही किसी कवि ने 'नहरनी' का वर्णन किया हो। अस्तुरा, कैंची, कंघी आदि नाई के श्रम और जीविका का मूलाधार है तो नहरनी नाइन की जीविका का। नाई समाज में स्त्री-पुरुष दोनों बराबर का श्रम करते हैं। नाई पुरुषों के

बाल-दाढ़ी बनाने का काम करते हैं तो नाइन स्त्रियों के नाखून काटने, हाथ और पैरों में रंग और महावर लगाने का काम करती हैं। नाइन की पहुँच घर के कोने-कोने तक होती है। परिवार के अतिरिक्त बाहर के लोगों में नयी नवेली दुल्हिन का मुख जो सबसे पहले देखती हैं वे नाइन हैं। नयी बहुएँ अपने सुख-दुख की बात जिनसे निःसंकोच साँझा करती हैं वे नाइन हैं। विवाह, छठी आदि पारिवारिक और सांस्कृतिक उत्सवों पर नाइन का महत्त्व और आदर अधिक बढ़ जाता है। क्योंकि बिना उसके द्वारा विधि सम्पन्न किए कार्य पूर्ण नहीं माना जाता। उसके इस सम्मान-स्वाभिमान का संबल है नहरनी। यह लोहे का एक बिता लम्बा पेंसिलनुमा औज़ार होता है जो पीछे से नुकीला और आगे से चपटा और धारदार होता है जिससे नाखून काटा जाता है। छोटी-सी नहरनी का बड़ा महत्त्व है। इसका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं-

कनक-चुनिन सों लसित नहरनी लियकर हो।
आनंद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥[16]

नाइन रानी की दी हुई साड़ी पहनकर आई है। विवाह के मौके पर सबसे अधिक प्रसन्न नाइन होती है। उसके जितना सम्मान पिछड़ी जातियों में शायद ही किसी महिला को मिलता हो! वह घर की एक सदस्या की तरह मानी जाती है। अधिकार से सब कुछ माँगती है और वह पूरी भी की जाती है। पिछड़े वर्ग की इस सुंदर स्त्री का वर्णन हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलता। गोस्वामी जी लिखते हैं-

कानन कनक तरीवन, बेसरि सोहइ हो।
गजमुकुता कर हार कंठमनि माहइ हो॥
कर कंकन, कटि किंकिनि, नूपुर बाजइ हो।
रानि कै दीहीं सारी अधिक बिराजइ हो॥[17]

जिस पग की धुली के लिए सिद्ध, मुनि तरसते हैं, उसी पग को अधिकार के साथ बड़े गुमान से नाइन धोती है। जिनके चरण स्पर्श से पत्थर स्त्री बन गई, केवट को जिस चरण को स्पर्श करने के लिए राम से विनती करनी पड़ी, वह चरण नाइन को सहज ही प्राप्त हो जाता है। केवट को राम से याचना करनी पड़ी, लेकिन नहछू संस्कार में वर का पैर धोने के लिए नाइन से आग्रह किया जाता है। जैसे-

जो पग नाउनि धोवइ राम धोवावइं हो।
सो पगधूरी सिद्ध मुनि दरसन न पावइं हो॥[18]

नहछू संस्कार के बाद सब अपनी-अपनी श्रद्धानुसार नाइन को उपहार भेंट करते हैं। राजा उन्हें हाथी देते हैं तो रानियाँ हार। उसके हाथ में रखा हुआ सूप उपहारों से भर जाता है। गाड़ी भरकर नाऊ निवछावर अपने घर ले जाता है। जैसे-

भइ निवछावरि बहु बिधि जो जस लायक हो।
तुलसीदास बलि जाऊँ देखि रघुनायक हो॥
राजन दीन्हें हाथी, रानिन्ह हार हो।

भरि गे रतनपदारथ सूप हजार हो॥[19]

गोस्वामी जी ने 'रामलला नहछू' के माध्यम से न केवल विवाह संस्कार के महत्त्व को रेखांकित किया है, बल्कि अत्यंत पिछड़ी जाति की स्त्री नाइन की महत्ता को भी स्थापित किया है। इस पूरे प्रसंग में राम के बाद कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण पात्र है तो वह नाइन है। यहाँ कोई बड़ा और छोटा नहीं, कोई ऊँच और नीच नहीं, सब एक हैं। 'रामलला नहछू' सामाजिक सौहार्द का एक जीवंत सांस्कृतिक समारोह है। सामाजिक सौहार्द ही है कि राम को सामूहिक रूप से माता के सामने गाली दी जा रही है और वे शर्म से सकुचा रहे हैं। एक उदाहरण देखिए-

गावहिं सब रनिवास देहिं प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहिं देखि महतारी हो॥
हिलिमिलि करत स्वाँग सभा रसकेलि हो।
नाउनि मन हरषइ सुगंधन मेलि हो॥[20]

बच्चन सिंह लिखते हैं- "तुलसीदास संबंधी आलोचना का बीजशब्द 'लोकधर्म' है। 'लोकमंगल' और 'लोकसंग्रह' भी उसी से संबद्ध है। 'लोकधर्म' के दो पक्ष हैं- धन पक्ष और ऋण पक्ष। धन पक्ष में सामाजिकता, सहृदयता आदि का समावेश है तो ऋण पक्ष में वर्णाश्रम धर्म का।"[21] आगे वे लिखते हैं- "तुलसी के राम लोक-पीड़ा के भंजक हैं, इसलिए वे लोकमंगल के स्रष्टा हैं। वे भिन्न-भिन्न वर्गों के संबंधों को सुखावह बनाने के लिए लोकसंग्रही हैं।"[22] लोकमंगल की यही कामना गोस्वामी तुलसीदास को अन्य कवियों से श्रेष्ठ बनाती है। "इसमें संदेह नहीं कि तुलसीदास बहुत बड़े कवि थे। जीवन के जितने आयामों और मार्मिक पक्षों का समावेश उनकी रचना में हुआ है, वह अन्यत्र नहीं दिखाई देता।"[23]

डॉ. रामकुमार वर्मा कहते हैं: "काव्य की दृष्टि से रचना साधारण है। इसमें न तो तुलसी के समान कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं और न उसकी भक्ति का दृष्टिकोण ही मिलता है।"[24] साधारण ही सही, लेकिन 'नहछू' संस्कार के सौन्दर्य का उल्लेख करने वाले हिंदी के वे संभवतः पहले कवि हैं। उत्कृष्ट प्रतिभा का प्रदर्शन तो उन्होंने अपनी श्रेष्ठ कृति 'रामचरितमानस' में भी नहीं किया है। 'मानस' के 'बालकांड' में उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि 'कबित बिबेक एक नहिं मोरें' और 'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ'। उनका ध्यान काव्य के संसाधनों पर नहीं, भारतीय संस्कृति पर है। प्रतिभा के चमत्कार पर नहीं, सामाजिक संस्कार पर है।

**संदर्भ-**

1. वर्मा, डॉ. रामकुमार: हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 2010 पृष्ठ सं. 358
2. शुक्ल, रामचन्द्र, लाला भगवानादीन (सं.): तुलसी ग्रंथावली; काशी नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस, 2004, पृष्ठ सं. 4
3. वर्मा, डॉ. रामकुमार: हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 2010 पृष्ठ सं. 358
4. शुक्ल, रामचन्द्र: हिंदी साहित्य का इतिहास; प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं. 113

5. शुक्ल, रामचन्द्र, लाला भगवानादीन (सं.): तुलसी ग्रंथावली; काशी नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस, 2004, पृष्ठ सं. 4
6. वही,
7. वही,
8. वर्मा, डॉ. रामकुमार: हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 2010 पृष्ठ सं. 357
9. गोस्वामी तुलसीदास (बा. श्यामसुंदर दास, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल); हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1931, पृष्ठ सं. 96
10. मिश्र, डॉ. बलदेव प्रसाद: भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान; नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, 1953, पृष्ठ सं. 68
11. तिवारी, रामजी: गोस्वामी तुलसीदास; साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1998, पृष्ठ सं. 65
12. शुक्ल, रामचन्द्र, लाला भगवानादीन (सं.): तुलसी ग्रंथावली; काशी नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस, 2004, पृष्ठ सं. 3
13. वही,
14. वही, पृष्ठ सं. 4
15. वही,
16. वही,
17. वही,
18. वही,
19. वही, पृष्ठ सं. 5
20. वही,
21. सिंह, बच्चन: हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास; राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996, पृष्ठ सं. 392
22. वही,
23. वही, पृष्ठ सं. 392-393
24. वर्मा, डॉ. रामकुमार: हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 2010 पृष्ठ सं. 359

***असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ)**
**हिंदी विभाग, हिन्दू कॉलेज**
**दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007**
**Email: rameshdu09@gmail.com**
**M: 8448971626/8810399646**

# पदमावत व मधुमालती में स्त्री पुरुष सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन

*रेखा

स्त्री पुरुष सम्बन्ध हमारे समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। सम्पूर्ण समाज स्त्री पुरुष सम्बन्धों पर ही आधारित होता है। नारी हमारे समाज की धूरी है लेकिन पुरुष के बिना भी हमारे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। स्त्री पुरुष के स्वस्थ सम्बन्ध पर ही स्वस्थ समाज का अस्तित्व टिका है। पहले समाज मातृ सत्ता प्रधान हुआ करते थे लेकिन बाद में यह स्थिति बदल गई। डॉ. अनिल राय कहते हैं कि- "जैसे ही नारी का परिवार से आधिपत्य हटा कि घर के अन्दर पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गयी। वह पुरुष की वासना की दासी, सन्तान उत्पन्न करने का यंत्र मात्र बनकर रह गयी। दासता के इस युग में नारी को खरीदा और बेचा जाता था, अपने स्वामी द्वारा पशुओं की भाँति नारी किराये पर बेची जाती थी या उधार दी जाती थी।"[1] इस प्रकार समाज के संतुलित अस्तित्व के लिए स्त्री पुरुष सम्बन्धों का संतुलित होना आवश्यक है।

पदमावत व मधुमालती सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ हैं। पदमावत के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी है और मधुमालती के रचयिता मंझन हैं। पदमावत का रचनाकाल 1540 ई. है तो मधुमालती की रचना 1545 ई. में हुई। ये दोनों ही नायिका प्रधान कृति हैं और इन दोनों में ही ईश्क मजाजी (सांसारिक प्रेम ) से ईश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम ) तक पहुँचने का मार्ग बताया गया है। पदमावत व मधुमालती दोनों के ही नायक अपनी नायिका को प्राप्त करने के लिए योगी वेश धारण कर घर से निकल पड़ते हैं और अनेक कष्ट सहकर अपनी नायिका को प्राप्त करते हैं क्योंकि पदमावती व मधुमालती दोनों ही ईश्वर का रूप है और ईश्वर की प्राप्ति सरलता से नहीं होती उसके लिए कष्ट तो सहना ही पड़ता है। अत: दोनों ही कृतियाँ स्त्री पुरुष सम्बन्धों पर आधारित हैं।

पदमावत में हमें स्त्री-पुरुष सम्बन्ध कई रूपों में देखने को मिलते हैं, जैसे – प्रेमी-प्रेमिका के रूप में, पति-पत्नी के रूप में, गुरु शिष्य के रूप में, माँ-पुत्र के रूप में, स्त्री-देवता के रूप में, रानी व मंत्री के रूप में, रानी व सेनापति के रूप में, वेश्या व पुरुषों के रूप में, एक स्त्री व दो पुरुष, दो स्त्री व एक पुरुष आदि आदि। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है :-

"जौं यह सुआ मंदिर महँ रहई। कबहुँ कि होइ राजा सौं कहई।१।
सुनि राजा पुनि होइ बियोगी। छाँडै राज चलै होइ जोगी।२।
बिख राखै नहिं होइ अँगूरू। सबद न देइ बिरह तवंचूरू।३।
धाइ धामिनी बेगि हँकारी। ओहि सौंपा जिअ रिसि न सँभारी।४।
देखु यह सुअटा है मंदचाला। भएउ न ताकर जाकर पाला।५।
मुख कह आन पेट बस आना। तेहि औगुन दस हाट बिकाना।६।
पंखि न राखिअ होइ कुभाखी। तहँ लै मारू जहाँ नहिं साखी।७।
जेहि दिन कहँ हौं निति डरौं रैनि छपावौं सूर।

[1]डॉ अनिल राय, 2001, निर्गुण काव्य में नारी, पृष्ठ सं.-12 सार्थक प्रकाशन, गौतम नगर, दिल्ली-110049

लै चह दीन्ह कँवल कहँ मोकहँ होइ मंजूर।।"[2]

उपर्युक्त छंद में हमें पत्नी नागमती का अपने पति रत्नसेन को खोने से बचने के लिए हीरामन तोते को मरवाने का प्रयत्न दिखाई देता है, क्योंकि उसे भय लगता है कि कहीं यह तोता पदमावती की सुन्दरता का वर्णन राजा से न कर दे और यह सुनकर राजा उसे छोड़कर न चला जाये। इसलिए वह अपनी दासी को बुलाकर उसे मारने की आज्ञा देती है। यहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में दिखाई देता है, जबकि मधुमालती में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध इतने अधिक रूपों में दिखाई नहीं देता। यहाँ पर तो स्त्री-पुरुष सम्बन्ध कुछ ही रूपों में देखने को मिलता हैं, जैसे – प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध, पति-पत्नी का सम्बन्ध, पुरुष व धाय का सम्बन्ध, पुत्र व माँ का सम्बन्ध, पुत्री-पिता का सम्बन्ध, भाई-बहन का सम्बन्ध, पुरुष व स्त्री मित्र, और स्त्री व पुरुष मित्र आदि आदि। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है :-

"सुनत कुंवर मधुमालति बाता। हरखित भएउ पीत सेउं राता।
सुनतहि परा पाउं लै मोरे। कहेसि जीउ निउछावरि तोरे।
कुंवरि चाह मैं कतहुं न पाएउं। आजु कुंवरि तुइं मोहि जियाएउ।
अब जौ तोहि बन छाडौं बारी। लाजै जननि चढै कुल गारी।
औ तैं मधुमालति कै सहेली। तोहि कैसें बन तजौं अकेली।
राकस मारि मोहि लै आएउ अपने बर बौसाइ।
आदर मान करहु ओहि केरा ओह मोर बचा क भाइ।।"[3]

जब मधुमालती को खोजते हुए मनोहर वन में पहुंचता है तो वहाँ वह प्रेमा को राक्षस द्वारा बंधी पाता है। फिर वह राक्षस को मारकर प्रेमा को मुक्त करवाता है तो प्रेमा उसे भाई मानकर मधुमालती से मिलवाने का वचन देती है।अत: यहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्ध भाई बहन के रूप में है , जबकि पदमावत में स्त्री पुरुष सम्बन्ध भाई बहन के रूप में कहीं भी दिखाई नहीं देता है। अत: यह एक विषमता है।

इसके अतिरिक्त पदमावत व मधुमालती में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की दृष्टि से कई समानताएं भी हैं, जैसें दोनों ही कृतियों में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध प्रेमी प्रेमिका के रूप में दिखाई देता है। पदमावत में प्रेमी प्रेमिका सम्बन्ध का उदाहरण इस प्रकार है -

"पदुमावति तेहि जोग सँजोगाँ। परी पेम बस गहें बियोगाँ।१।
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केवाँछ जानु कोइ लावा।२।
दहै चाँद औ चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गंभीरु।३।
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी। तिल तिल मरि जुग जुग बर गाढ़ी।४।
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तब रहै ओनाई।५।
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसी बिथा रैनि सब जागै।६।

[2] पदमावत, मलिक मुहम्मद जायसी कृत महाकाव्य (मूल और संजीवनी व्याख्या), व्याख्याकार – वासुदेवशरण अग्रवाल, छंद सं.-८५, 2013, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1

[3] मंझन कृत मधुमालती, संपादक – माताप्रसाद गुप्त, छंद सं.-२९१, मित्र प्रकाशन, इलाहबद, १९६१

कहाँ सो भँवर कँवल रस लेवा। आइ परहु होइ घिरिनि परेवा।७।
सो धनि बिरह पतंग होइ जरा चाह तेहि दीप।
कंत न आवहु भृंगि होइ को चंदन तन लीप।।"[4]

यहाँ जायसी कहते हैं कि रत्नसेन के योग के प्रभाव से पदमावती भी उससे प्रेम करने लगी और उसके विरह में जलने लगी। रत्नसेन के वियोग में उसे नींद नहीं आती थी और चन्द्रमा की ठंडक उसे दाहक प्रतीत होती थी।अत: प्रेमी रत्नसेन के प्रेम के कारण पदमावती के हृदय में भी प्रेम के वियोग का वर्णन किया गया है। अत: यहाँ भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध प्रेमी प्रेमिका के रूप में दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त मधुमालती में भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध प्रेमी प्रेमिका के रूप में कई स्थानों पर देखने को मिलता हैं, जैसे एक उदाहरण इस प्रकार है :-

"सूती सेज सहज बिकरारा। देखि सजग भा राजकुमारा।
चक्रित चित्त दहुं दिसि फिरि हेरा। बिधि यह नगर मंदिल केहि केरा।
औ यह कौन सोव बिकरारी। धनि जेहि लगि बिधनै औतारी।
देखत हियें समानी स्यामां। कुंवर जीउ करिगै परनामां।
सूती सुखी सेज देखि बाला। नख सिख उठी कुंवर के ज्वाला।
कंवल भांति परगासै पुरुख निरखि मुख सूर।
देखत पेम पिरीत पुब्ब कै हिय उर महं अंकूर।।"[5]

उपर्युक्त छंद में मधुमालती को सोती देखकर मनोहर का उस पर अनुरक्त होने का वर्णन किया गया है।यहाँ मंझन कहते हैं कि अपनी शय्या पर मधुमालती को सोते देखकर मनोहर कुछ सावधान हुआ और सोचने लगा कि यह सुन्दरी कौन है और किसके लिए धरती पर आई है। उसे देखकर मनोहर में नख से शिख तक ज्वाला सी लगा गई और उसके अंदर पूर्व जन्म का प्रेम जाग उठा।

इस प्रकार दोनों (पदमावत व मधुमालती) ही कृतियों में स्त्री पुरुष सम्बन्ध की दृष्टि से कई समानताएं व विषमताएं हैं।

इसके अलावा पदमावत की तुलना में मधुमालती में स्त्री पुरुष सम्बन्ध कम रूपों में देखने को मिलता हैं। जबकि पदमावत में स्त्री पुरुष सम्बन्ध कई रूपों में देखने को मिलता हैं। प्रेमी प्रेमिका व पति पत्नी का सम्बन्ध दोनों में ही समान रूप से देखने को मिलता है। अत: यह एक समानता है लेकिन कुछ विषमतायें भी है, जैसे कि- गुरु शिष्य का सम्बन्ध, स्त्री-देवता का सम्बन्ध, दो स्त्री व एक पुरुष, एक स्त्री व दो पुरुष, रानी व मंत्री का सम्बन्ध, रानी व सेनापति का सम्बन्ध आदि आदि सम्बन्ध केवल मात्र हमें पदमावत में ही देखने को मिलते हैं मधुमालती में नहीं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है :-

"आवा सुवा बैठ जहँ जोगी। मारग नैन बियोग बियोगी।१।

[4] पदमावत, मलिक मुहम्मद जायसी कृत महाकव्य, व्याख्याकार वासुदेवशरण अग्रवाल, छंद सं.-१६८
[5] मंझन कृत मधुमालती, संपादक -माताप्रसाद गुप्त, छंद सं.-७५

आइ पेम रस कहा सँदेसू। गोरख मिला मिला उपदेसू।२।
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा। लीन्ह अदेस आदि कहँ दीन्हा।३।
सबद एक होइ कहा अकेला। गुरू जस भृंगि फनिग जस चेला।४।
भृंगि ओहि पंखिहि पै लेई। एकहिं बार छुएँ जिउ देई।५।
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ नै काया।६।
होइ अमर अस मरि कै जिया। भँवर कँवल मिलि कै मधु पिया।७।
आवै रितु बसंत जब तब मधुकर तब बासु।
जोगी जोगी जो इमि करहि सिद्धि समापति तासु।।"[6]

यहाँ जायसी कहते हैं कि हीरामन रत्नसेन के पास आकर कहता है कि गुरु ने तुम पर कृपा कर तुम्हारा आदेश मान लिया। और वह कहता है कि गुरु भृंगी व शिष्य पतंगें के समान होता है जो शिष्य को नया जन्म व शरीर प्रदान करता है। और तभी शिष्य कमल से भेंट कर मधु प्राप्त करता है। अत: यहाँ पदमावती को गुरु के रूप में दर्शाया गया है और यह संदेश दिया गया है कि गुरु के उपदेश से ही साधक में पुण्य दशा जागृत होती है और वह प्रेम साधना करके ही सिद्धि को प्राप्त करता है। अत: यहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्ध गुरु शिष्य के रूप में है।

इसके अलावा एक अन्य स्थान पर भी स्त्री व देवता के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है जैसे :-

"एहि बिधि खेलत सिंघल रानी। महादेव मढ़ जाइ तुलानी।१।
सकल देवता देखैं लागे। दिस्टि पाप सब तिन्हके भागे।२।
ये कबिलास सुनी आछरीं। कहँ हुत आईं परमेसरीं।३।
कोई कहै पदुमिनीं आईं। कोइ कहै ससि नखत तराईं।४।
कोई कहै फूल फूलवारीं। भुलै सबै देखि सब बारीं।५।
एक सुरूप औ सेंदुर सारे। जानहुं दिया सकल महि बारे।६।
मुछिं परे जाँवत जे जोहे। जानहुं मिरिग देवारी मोहे।७।
कोई परा भँवर होइ बास लीन्ह जनु चाँप।
कोइ पतंग भा दीपक होइ अधजर तन काँप।।"[7]

यहाँ जायसी कहते हैं कि जब पदमावती अपनी सखियों सहित शिव मन्दिर में जाती है तो सभी देवता उन्हें देखने लगते हैं। कोई इन्हें अप्सरा समझता है तो कोई पद्मिनी स्त्री।वें देवता उसे देखकर मूर्छित हो जाते है और कोई कांपता हुआ दीपक का पतंगा ही बन जाता है। अत: यहाँ पदमावती के सौन्दर्य का देवताओं पर पड़े प्रभाव का वर्णन किया गया है। अत: यहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्ध स्त्री व देवता के रूप में है जबकि ऐसा कोई भी सम्बन्ध हमें मधुमालती में देखने को नहीं मिलता। इसी प्रकार भाई बहन का सम्बन्ध, पुरुष व स्त्री मित्र और स्त्री व पुरुष मित्र आदि आदि सम्बन्ध केवल मात्र मधुमालती में ही देखने को मिलते हैं, पदमावत में नहीं। जैसे :-

---

[6] पदमावत, मलिक मुहम्मद जायसी कृत महाकाव्य, व्याख्याकार – वासुदेवशरण अग्रवाल, छंद सं.-१८२
[7] वही, छंद सं.-१९०

"जौ कुंवरहि कहि बात सिरानी। सुनि कै रही औगि भै रानी।
मनहिं गुनै औ करै बिचारा। काहि देखि यह भएउ बिकारा।
औ असि सखी मोरि नहीं कोई। पेमां मकु त होइ तौ होई।
कहेसि कि करहु बीर मनु धीरा। मैं उपचरौं जाइ तोरि पीरा।
मधुमालति निह्चै कै जानां। पेमां छाडि होइ नहिं आनां।
मैं सभ सखिन्ह हंकारि कै पूछौं खोज करेउं।
कै कुंआरि कै बियाही तस तोहि आइ कहेउं।।"[8]

यहाँ मंझन कहते हैं कि जब मधुमालती को ज्ञात होता है की उसका भाई ताराचंद उसकी किसी सखी(प्रेमा) पर मोहित है तो वह उसे उससे मिलाने का वचन देती है और कहती है कि तुम्हें अभी आकर बताती हूँ कि वह विवाहित है या कुंवारी है। अत: यहाँ मधुमालती द्वारा ताराचंद को भाई बोलकर धैर्य धारण कराने का वर्णन किया गया है। अत: यहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्ध भाई बहन के रूप में हैं, जबकि पदमावत में इस तरह का कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता।

अत: इस प्रकार स्त्री पुरुष सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों ही कृतियों में कुछ समानताएं व कुछ विषमताएं हैं।

**निष्कर्ष** – इस प्रकार पदमावत व मधुमालती में स्त्री पुरुष सम्बन्ध का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इन दोनों ही कृतियों में स्त्री पुरुष सम्बन्धों का वर्णन बड़ी ही सफलता पूर्वक किया गया है। दोनों ही कृतियों में स्त्री पुरुष सम्बन्ध की दृष्टि से कुछ समानताएं व कुछ विषमतायें अवश्य ही है। पदमावत में जहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्ध कई रूपों में उपस्थित है वहीँ मधुमालती में स्त्री पुरुष सम्बन्ध इतने अधिक रूपों में उपस्थित नहीं है, यहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्ध कुछ ही रूपों में दिखाई देता है।

***पीएचडी शोधार्थी**
**हिंदी विभाग**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**
**मोबाईल – 9717548597**
**ईमेल – rk74979@gmail.com**

[8] मंझन कृत मधुमालती, संपादक – माता प्रसाद गुप्त, छंद सं.-४८५

# नवजागरण के अग्रदूत श्रीनारायणगुरु

**डॉ.विजी. वी**

**शोध सारांश :-**

*भारत के इतिहास में नवजागरण का दौर दरअसल सामाजिक सांस्कृतिक धार्मिक पुनरुत्थान का दौर था । केरल जैसे छोटे राज्य में भी इस नवोन्मेष की लहर फैल गयी । केरल के नवजागरण की अगुवाई करने वाले सामाजिक कार्यकर्त्ताओं में श्रीनारायणगुरु, अय्यनकाली,मन्नत्तु पत्मनाभन, ब्रह्मानन्द शिवयोगी आदि प्रमुख हैं । इनमें श्रीनारायणगुरु के योगदान की अपनी अलग पहचान है । श्रीनारायणगुरु के जीवन के विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत करने के साथ केरल के नवजागरण को पुख्ता आधार प्रदान करने में उनके समाज सुधारवादी कार्य कलाप किस हद तक सहायक बने हैं इसको सामने लाना प्रस्तुत आलेख का लक्ष्य है।*

**बीज शब्द:-**

*नवजागरण के जनक - मंदिर-निर्माण - मूर्तियों की स्थापना – जाति व्यवस्था -धार्मिक रूढ़ियाँ– दर्पण की स्थापना - शिक्षा – सामाजिक संस्था - शिवगिरि- अद्वैताश्रम - प्रेरणा स्रोत - साहित्यिक अवदान - पथप्रदर्शक।*

केरल के नवजागरण के जनक नाम से विख्यात श्रीनारायणगुरु महान संत, दार्शनिक, समाज सुधारक और क्रांतदर्शी थे । तिरुवनन्दपुरम् के चेम्पष़न्ती गाँव में जन्मे श्रीनारायणगुरु ने अपने चिंतन से पूरे भारत में नवजागरण की लहर फैलायी । उनके जन्मवर्ष को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद हैं । श्रीनारायणगुरु के शिष्य नटराजगुरु, स्वामी धर्मतीर्थर् और मलयालम के महाकवि कुमारनाशान् के अनुसार गुरु का जन्मवर्ष क्रमश: सन् 1854 सन् 1855 और सन् 1856 है । बालक नारायण को सब लोग 'नाणु' कहकर पुकारते थे । बाद में अपनी समाज सुधार संबन्धी मान्यताओं के चलते 'नारायण' ने केरल के पददलितों के हृदय में 'श्रीनारायणगुरु' नाम से चिर प्रतिष्ठा हासिल की । उनके पिता माटनाशान् वैद्य थे और शिक्षक भी । माता कुट्टियम्मा गृहस्थी संभालती थी। बचपन से ही उनके मन में हिंदु धर्मग्रंथों और वेदांत के अध्ययन की अदम्य लालसा थी । उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा पिता माटनाशान् और चाचा कृष्णनवैद्य से ग्रहण की । बाद में करुनागप्पल्ली के रामनपिल्लै आशान से उन्होंने संस्कृत में उच्च शिक्षा प्राप्त की । अपनी पढ़ाई पूरा कर गाँव लौटे नाणु ने गाँव की निम्न जाति के बच्चों को ज्ञान प्रदान करना अपना फर्ज़ समझा । ऐसे में लोग उन्हें आदर के साथ 'नाणु आशान्' कहकर पुकारने लगे ।'आशान्' का मतलब है गुरु । तत्कालीन परंपरा के अनुसार कालियम्मा के साथ नाणु का विवाह तो हुआ । लेकिन यह रिश्ता अधिक समय तक नहीं रहा ।

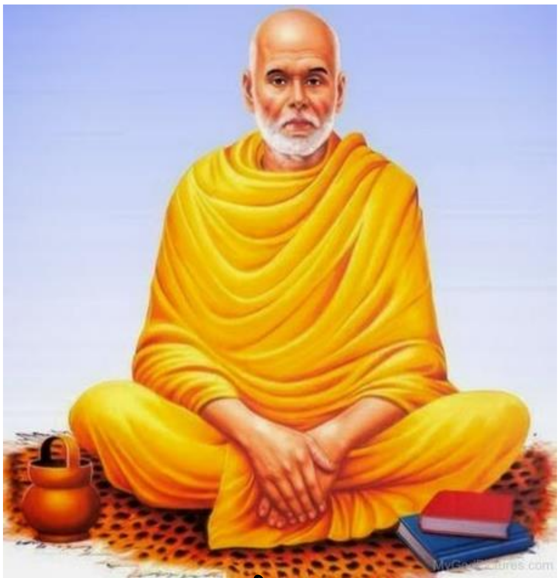

श्रीनारायणगुरु

माँ-बाप की मृत्यु के बाद सांसारिक गठबंधनों से स्वयं को मुक्त कर 29 वर्ष की आयु में नारायण घुमक्कड़ बन गए। इसी बीच समाज सुधारक चट्टम्पीस्वामी और तैक्काट्टु अय्यावु से उनका परिचय हुआ। कहा जाता है कि तैक्काट्टु अय्यावु से उन्होंने हठयोग की कार्यप्रणाली अर्जित की। श्रीनारायण गुरु का आविर्भाव एक ऐसे दौर में हुआ था जब जातीयता अपना अमानवीय रूप धरकर समाज में मौजूद थी। अस्पृश्यता और छुआछूत की गिरफ़्त में पडकर दलित जनता बदत्तर ज़िंदगी बिता रही थी। ईष़वा जाति के साथ ही समाज की अन्य निम्न जाति का मंदिर-प्रवेश जघन्य अपराध माना जाता था और वे ईश्वर की आराधना करने के हक़ से वंचित रहते थे। समाज में मौजूद जाति व्यवस्था के दुष्परिणामों से वाकिफ़ गुरु ने पिछड़ी जाति के लोगों की आध्यात्मिक तृप्ति की पूर्ति हेतु मंदिर-निर्माण की दरकार को महसूस किया। अपने लक्ष्य को साकार करने के साथ ही उन्होंने मंदिरों में अनेक मूर्तियों की स्थापना की और ऐसे मंदिरों में अपनी जाति के लोगों को ही नहीं, बल्कि निम्न जाति के लोगों को भी प्रवेश करने और पूजा-अर्चना करने की इज़ाज़त भी दी। सन् 1888 में शिवरात्रि के दिन उन्होंने नेय्याट्टिनकरा के अरुविप्पुरम् में शिवलिंग की आकृतिवाले पत्थर को स्थापित कर मौजूदा सवर्ण वर्चस्ववादी व्यवस्था पर कटु प्रहार किया। ईष़वा समाज में जन्मे श्रीनारायण गुरु के शिवलिंग की प्रतिष्ठा करने के हक़ पर उँगली उठायी सवर्णवर्चस्ववादी व्यवस्था के दम्भ पर चोट करते हुए उन्होंने कहा कि मैंने ब्राह्मण शिव की नहीं बल्कि ईष़वा शिव की स्थापना की है। इतिहास के पन्नों पर स्वर्णिम लिपियों में दर्ज इस घटना ने केरल के नवजागरण को नई अर्थवत्ता प्रदान की। अरुविप्पुरम् में शिवलिंग को स्थापित कर श्रीनारायण गुरु दरअसल केरल में सदियों से मौजूद जाति व्यवस्था को जडों से उखाड फेंकना चाहते थे। तत्कालीन समाज में मंदिरों में मूर्तियों को स्थापित करने और पूजा-पाठ करने का अधिकार ब्राह्मण पर निक्षिप्त था। लेकिन सभी जातियों के लोगों को मंदिर-प्रवेश और देवी-देवताओं की आराधना करने का अधिकार दिलाकर गुरु समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए। अरुविप्पुरम् के मंदिर-निर्माण में गुरु को आम जनता का सहयोग भी प्राप्त हुआ था | इसी वजह से प्रचलित परंपरा से अलग हटकर उन्होंने मंदिर के पत्थर की दीवारों पर यों अंकित किया :-

"जातिभेदम् मतद्वेषम्
एतुमिल्लाते सर्वरुम्
सोदरत्त्वेन वाषुन्न
मातृकास्थानमानित्"

("यह वह आदर्श जगह है
जहाँ सभी लोग,
रहते हैं भाईचारे के साथ
बिना किसी जाति भेद और धर्म द्वेष के ")

अर्थात् गुरु मंदिर को केवल आराधना की जगह नहीं मानते । उनके मत में मंदिर मानव के मन में सद्भाव उत्पन्न करता है और सदाचरण की सीख भी देता है । सन् 1927 जून को गुरु ने कलवम्कोटम् मंदिर में दर्पण की स्थापना की जो अरुविप्पुरम् की शिवलिंग प्रतिष्ठा के बाद की ऐतिहासिक घटना थी । इसके ज़रिए गुरु ने मनुष्य को उसकी आत्मपहचान के मार्ग को प्रशस्त किया। वैकम के नज़दीक उल्लला ओमकारेश्वर मंदिर में भी उन्होंने दर्पण को स्थापित किया । उनके द्वारा स्थापित मंदिरों में प्रमुख हैं:- वर्कला के शिव मंदिर, तलश्शेरी के जगन्नाथ मंदिर, कूर्क्कंचेरी महेश्वर मंदिर , मुरुक्कुमपुष मंदिर, कारमुक्कु मंदिर आदि । मंदिरों में देवी-देवताओं को पशु की बलि देने और शराब चढ़ाने के रिवाज़ को उन्होंने खारिज किया । बाह्याडंबर और अपव्यय का विरोध किया।

हिंदू समाज में प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करने के साथ ही श्री नारायण गुरु ने तत्कालीन समाज में मौजूद कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। तत्कालीन जर्जरित सामाजिक व्यवस्था के तले दम घुटकर जीनेवाली पिछड़ी जाति के लोगों की दर्दनाक जीवन - स्थितियों को देखकर उन्होंने पहचान लिया कि शिक्षा के ज़रिए ही उनकी ज़िन्दगी में उत्कर्ष संभव है । इसलिए उन्होंने घोषणा की कि लोगों में वैचारिक क्रांति का प्रचार करने के लिए अब मंदिरों की नहीं,बल्कि पाठशालाओं की ज़रूरत है । खासकर पिछडी जाति के लोगों को शिक्षा प्रदान करने के उपलक्ष्य में मंदिरों के नज़दीक ही उन्होंने शैक्षिक संस्थाओं और पुस्तकालयों का निर्माण किया। स्त्री की तत्कालीन सामाजिक हैसियत बहुत शोचनीय थी । इसमें परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर ज़ोर दिया।

तालिक्केट्टुकल्याणम्,तिरण्डुकुली प्रथा,बहुविवाह और बालविवाह का विरोध उन्होंने किया। तत्कालीन समाज में विवाह के लिए दुल्हा-दुल्हिन की आपसी सहमति को कोई महत्व नहीं था । दुल्हे की बहन पुटवा (विवाह के संदर्भ में वर पक्ष से वधु को देनेवाला विशेष प्रकार का वस्त्र) देकर वधु को अपने साथ ले आने की प्रथा का चलन था । लेकिन गुरु ने विवाह के विधि-विधानों में संशोधन कर उसको नया रूप प्रदान किया । जाति-व्यवस्था के खात्मे के लिए उन्होंने अंतर्जातीय विवाह और सहभोज को प्रोत्साहित किया। ईष़वा समाज के सदस्य होने के बावजूद गुरु ने अपनी समाज की आलोचना की । शराब का धंधा ईष़वा समाज का पुश्तैनी पेशा था जो ईष़वा समाज के पिछडेपन की मुख्य वजह था । श्री नारायण गुरु ने ईष़वा समाज को अपनी परंपरा तोडने की प्रेरणा दी । उन्होंने पहले-पहल अपने समाज को शिक्षा की अहमियत से वाकिफ़ कराया और शराब के धंधे को त्यागकर नये उद्योगों के ज़रिए आत्मनिर्भरता और आर्थिक उत्कर्ष प्राप्त कर ज़िन्दगी की राहों में आगे बढ़ने का आह्वान दिया | श्रीनारायणगुरु के ज़माने में अपनी पराधीनताओं के चलते ईष़वा समाज के लोग बडी तादाद में ईसाई और इस्लाम धर्म में शरण लेते थे | लेकिन गुरु के समाज सुधारवादी कार्यकलाप धर्मपरिवर्तन में रोक लगाने में बेहद सहायक बने |

केरल के सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में श्रीनारायणगुरु द्वारा सन् 1903 में गठित श्रीनारायणधर्मपरिपालनयोगम् (एस० एन० डी० पी योगम्) के अवदान को नकारा नहीं जा सकता । मनुष्य को पशु से भी गए बीते माननेवाली जातीयता की अमानवीयता से आहत ईष़वा समुदाय के डॉ.पल्पु के मन में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने और मनुष्य की हैसियत से देखने-परखने और उसे सामाजिक स्वीकृति दिलाने की सोच उत्पन्न हुई । स्वामी विवेकानंद ने उन्हें सलाह दी कि लोकप्रिय और महान संत की अगुवाई में किए जानेवाले जनसंघर्ष के ज़रिए ही हम समाज से जाति व्यवस्था को दूर कर सकते हैं । स्वामी विवेकानंद से प्रेरणा ग्रहण कर डॉ.पल्पु श्रीनारायणगुरु से मिलने आते हैं और उन दोनों के बीच जाति व्यवस्था के खिलाफ़ जनता को एकजुट करने, दमित पीडित जनसमुदाय के उद्धार के लिए एक संगठन बनाने की अनिवार्यता के बारे में बातचीत होती है ।

श्रीनारायणधर्मपरिपालनयोगम् नामक संस्था इसका परिणाम है । श्रीनारायणगुरु इसके संस्थापक और अध्यक्ष थे । सचिव थे मलयालम के मशहूर कवि कुमारनाशान। डॉ.पल्पू इसके मुख्य कार्यकर्त्ता थे ।

सन्1904 में अरुविप्पुरम में एस.एन.डी.पी योगम् का प्रथम वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसी वर्ष में ही गुरु ने वर्कला के शिवगिरि में मठ स्थापित कर आजीवन वहाँ रहने का इरादा लिया। शिवगिरी में उनके द्वारा निर्मित श्री शारदा मंदिर आज विश्व के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों में से एक है। **संगठित होकर मज़बूत बनो, शिक्षा के ज़रिए सचेत बनो, धर्म जो भी हो,मनुष्य भला होना है,शराब ज़हर है** सरीखी वाणियों से उन्होंने केरल में सामाजिक नवनिर्माण की दुंदुभि बजायी। उन्होंने **मनुष्य के लिए एक जाति , एक धर्म , और एक ईश्वर** की वकालत की। सन् 1913-14 में उन्होंने एरणाकुलम जिले के आलुवा में पेरियार नदी के किनारे अद्वैताश्रम की स्थापना की। सन् 1924 में गुरु ने विभिन्न धर्मावलंबियों को एक मंच पर खड़ा की सार्थक पहल की । अद्वैताश्रम में आयोजित यह सम्मेलन दरअसल इतिहास के पन्नों में स्वर्णिम लिपियों में अंकित महत्वपूर्ण घटना है।

श्रीनारायणगुरु के समाज सुधार संबंधी विचार और एस.एन.डी.पी योगम् से अन्य सामाजिक कार्यकर्त्ता भी प्रेरित हुए। अपने समाज के उन्नयन के लिए जनता को जागरूक करने और संगठित करने की अनिवार्यता पर वे सोच-विचार करने लगे । दलित कार्यकर्त्ता अय्यनकाली ने एस.एन.डी.पी योगम् से प्रेरित होकर सन् 1907 में दलित समाज की उन्नति के लिए साधुजनपरिपालन योगम् का गठन किया। गुरु के वचनों से प्रेरणा ग्रहण कर सहोदरन अय्यप्पन ने सन् 1917 में निम्न जाति के लोगों को संगठित कर मिश्रभेजनम् (सहभोज) आयोजित किया। सन् 1922 में महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और श्रीनारायणगुरु की मुलाकात हुई । गुरु के बारे में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि मैंने विश्व के कई स्थानों में दौरा की है । इसके दौरान मुझे अनेक संतों और महात्माओं से परिचित होने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है । लेकिन मुझे अभी तक कोई ऐसे व्यक्ति का दर्शन नहीं मिला जिन्हें केरल के श्रीनारायणगुरु से ज़्यादा आध्यात्मिक महत्व हो या फिर आध्यात्मिक उत्कर्ष में उनके समकक्ष हो । सन् 1925 में वैकम सत्याग्रह के सिलसिले में केरल आए गाँधीजी श्रीनारायणगुरु के विलक्षण व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर उनसे मिलने शिवगिरि में पहुँचे।

श्रीनारायणगुरु के साहित्यिक अवदान को हम नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते । गुरु के आध्यात्मिक विचार उनके द्वारा रचित 'आत्मोपदेशशतकम्' और 'दर्शनमाला' में स्पष्ट झलकते हैं। 'जातिनिर्णयम्' में उन्होंने जातीयता की निरर्थकता को लिपिबद्ध कर जातिविहीन धर्मविहीन समाज की परिकल्पना को साकार करने का प्रयास किया ।

अनुकम्पादशकम्, जीवकारुण्य पञ्चकम् आदि में उन्होंने करुणा के महत्व पर प्रकाश डाला। उनकी अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं दैवदशकम्,अद्वैतदीपिका,शिवशतकम् , कुंडलिनिप्पाट्टु , काली नाटकम् , आत्मविलासम् आदि ।

सन् 1928 सितंबर 20 को वर्कला के शिवगिरि में श्रीनारायणगुरु का देहान्त हुआ । सम्पूर्ण विश्व को मानवता के पैगाम देनेवाले हाशियेकृतों के पथप्रदर्शक श्रीनारायणगुरु की वाणियाँ समकालीन दौर में भी प्रासंगिक हैं । इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं ।

**सहायक ग्रन्थ सूची**

१. केरलत्तिन्टे सांस्कारिकचरित्रम् - पी .के .गोपाल कृष्णनन्
२.केरलाचरित्राशिल्पिकल् - ए . श्रीधरमेनोन्
३.नवोत्थान चरित्रत्तिले इतिहासड.ल् -सोमन नाट्टाश्शेरी
४.केरलीय नवोत्थानम् - डॉ . पी. एफ . गोपकुमार
५.नवोत्थानम् केरलत्तिल् - टी. वेणुगोपालन्
६.केरल नवोत्थानम् पुतुवायनकल् - Ed. डॉ .अजय शेखर डॉ. एस.आर चन्द्रमोहनन्

***सहायक आचार्या (संविदा)**
**हिन्दी विभाग**
**कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,**
**कोच्ची-22 , केरल**
**मोबाईल: 9947531488**
**ई-मेल:vjiviswambharan@gmail.com**

# प्रसाद का आरंभिक काव्य: विराट संभावना का उन्मेष

*डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय

महाकवि जयशंकर प्रसाद हिंदी के बहुआयामी साहित्यकार हैं।इनका जन्म 30 जनवरी 1890 को काशी के सुप्रतिष्ठ सुंघनी साहू परिवार में हुआ था।इन्होंने सातवीं कक्षा तक विद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत घर पर ही हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का गहन अध्ययन किया।आप भारतीय इतिहास, संस्कृति, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान , कला और साहित्य के निष्णात विद्वान माने जाते हैं।गोस्वामी तुलसीदास की तरह ही आप हिंदी के बहुश्रुत कवि और श्रेष्ठतम प्रतिभा के रूप में हमारे सामने आते हैं। आप बीसवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ प्नरतिभा सम्पन्न रचनाकार हैं जिन्होंने जातीय प्रश्नों को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत और अबाधित किया।आपने अपनी प्रतिभा से ने न केवल हिंदी में अनेक विधाओं का सूत्रपात किया अपितु उसे विश्वस्तरीय भी बनाया।अतः इनके संपूर्ण साहित्य का पुनर्पाठ वर्तमान समय की मांग है। आपके व्यक्तित्व से यह सीख मिलती है कि यदि हम अपने व्यक्तित्व को सुसंगठित एवं सक्रिय रखें तो कम आयु में ही उपलब्धियों के बड़े शिखर पार कर सकते हैं। आपने चित्राधार से कामायनी तक की यात्रा करके इसका अभूतपूर्व दृष्टांत प्रस्तुत किया है। आप जीवन और जगत के बृहत्तर संदर्भों के साथ-साथ मनुष्य की नियति एवं उसके अंतर्जगत के गहरे पारखी हैं। अतः आपका आरंभिक काव्य लेखन भी एक नये विश्लेषण की मांग करता है।

प्रसादजी के रचनात्मक जीवन का आरंभ काव्य-लेखन से ही हुआ । आपकी आरंभिक कविताएं ' चित्राधार' में संकलित हैं।आपने 'कलाधर 'उपनाम से ब्रजभाषा में काव्यारंभ किया।यद्यपि यहां रीतिकाल का पूर्ण रूप से अतिक्रमण नहीं हो सका है परन्तु नयी उद्भावनाओं का संकेत बड़े ही स्पष्ट तरीके से व्यक्त हुआ है। चित्राधार में 'वनमिलन','प्रेमराज्य' और ' अयोध्या का उद्धार' नामक तीन आख्यानक कविताएं संकलित हैं। वनमिलन में कालिदास के आभिज्ञान शाकुंतल की कथा को नए युगबोध के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। यहां प्रसाद का जिज्ञासु मन प्रकृति के अनंत रमणीय सौंदर्य के प्रति जिज्ञासा ही प्रकट नहीं करता अपितु वह प्रेम-सौंदर्य के साथ-साथ प्रकृति के वैविध्यपूर्ण चित्र भी उकेरता है। इसी तरह अयोध्या का उद्धार भी कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के सोलहवें सर्ग पर आधारित हैं जिसमें राम के सुपुत्र कुश द्वारा अयोध्या के पुनरुद्धार की कथा वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत की गयी है। इसकी तीसरी आख्यानक कविता ' प्रेम राज्य' प्रसाद की मौलिक सृष्टि है जिसका आधार इतिहास है।इतिहासकारों के अनुसार सन 1564 ई.में विजयनगर और अहमदाबाद के बीच टालीकोट का युद्ध हुआ था। इस काव्य का आरंभ युद्ध से किन्तु इसका समापन एक महान मानवीय संदेश में होता है।इसमें शिव के विराट स्वरूप का चित्रांकन हुआ है। कवि इस कविता में पाठक को उच्चतर भावभूमि पर ले जाता है । वह लौकिक धरातल पर अलौकिक आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। प्रसाद जी ने स्वयं लिखा है कि छंद की दृष्टि से इसमें रोला छंद है।

इसमें स्फुट कविताओं को 'पराग' और ' मकरन्द बिन्दु' के अंतर्गत रखा गया है जिनमें अधिकांश रचनाएं प्रकृति परक हैं। प्रसाद जी के भीतर प्रकृति के रहस्यों के प्रति जो जिज्ञासा भाव है वही उन्हें प्रकृति संसर्ग की ओर ले जाता

है। प्रसाद की ऋषिदृष्टि प्रकृति के संसर्ग से खुलती है। जब कवि दृष्टि अतिक्रमित होती है तब ऋषिदृष्टि का उन्मीलन होता है। यही दृष्टि प्रसादजी को उच्चतर भावभूमि और लम्बी यात्रा पर ले जाती है। इन कविताओं ने विराट संभावना का संकेत कर दिया है। इसमें प्रकृति के प्रति रागपरक रहस्य चेतना और अंतर्दृष्टि क्रमशः सूक्ष्मतर होती गयी है।कवि का नवीन भाव-बोध पूरी तरह खुलकर सामने आ गया है।

इनके द्वारा रचित 'प्रेम पथिक' पहले ब्रजभाषा के छंदगत अनुशासन में प्रकाशित हुआ किन्तु समय की मांग और जरूरत को ध्यान में रखकर प्रसाद जी ने उसे 1913 में दुबारा प्रकाशित करवाया।यह खड़ीबोली हिंदी के अतुकांत रूप में है।यह एक संभावनावान कवि की किशोर भावनाओं के अनुरूप प्रेम के उदात्त, भावनात्मक और सार्वभौम-शास्वत स्वरूप का निर्वचन है।किसी के प्रेम में योगी होकर प्रकृति के स्वच्छंद एवं अकृत्रिम परिवेश में रहने की आदिम आकांक्षा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है।इस मूल भावना को प्रेम, सौंदर्य एवं कल्पना के द्वारा व्यवस्थित रूपक प्रदान किया गया है जिससे यह हिंदी की पहली लंबी कविता भी बन गयी है।यह अपने रूपात्मक तंत्र में एक विराट कवि की संभावनाओं का निदर्शन करती है। इनकी काव्य-प्रतिभा की इन्हीं संभावनाओं पर विचार करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि," प्रसाद जी में ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढंग पर बहुत ही मनोरम विकास किया। " 1

प्रेम पथिक में प्रसादजी किशोर और चमेली के माध्यम से प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति के अनंत रमणीय सौंदर्य का जो रूपायन करते हैं वह हर युग के युवाओं के लिए रमणीय वस्तु है।पथिक अनंत की जिज्ञासा से प्रेरित होकर जब प्रदीर्घ यात्रा पर निकलता है तो वह प्रकृति की अनंत विभूति तथा जीवन साधना के विलक्षण रूप से परिचित होता है।कवि पथिक द्वारा तापसी के समक्ष अपनी अंतहीन यात्रा और प्रेम की व्यथा-कथा का वृत्तांत प्रस्तुत करवाता है ।चूंकि वह पुतली अथवा चमेली ही थी अतः वह किशोर को पहचान जाती है।वह भी अपनी करुण-कथा कह डालती है।फलतः पथिक भी उसे पहचान लेता है और दोनों के बाल्यकाल की स्मृतियां उन्हें उदात्त भावभूमि पर पहुंचा देती हैं।वे दोनों विश्व के प्रत्येक परमाणु में अपरिमित सौंदर्य के दर्शन करते हुए विश्वात्मा ही सुन्दरतम है - की प्रतिष्ठा करते हैं।उनके प्रेम में प्रेय( आनंद) के स्थान पर श्रेय ( लोकमंगल) का पक्ष प्रबल हो जाता है ।वे अपने प्रेम की मानवीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए उसे चराचर जगत अथवा विश्वप्रेम में रूपांतरित कर देते हैं।प्रेम के अत्यंत व्यापक और उदात्त रूप के चित्रण के कारण यह कविता आज वेलेंटाइन डे मनाने वाली पीढ़ी को भी प्रेरितऔर प्रभावित कर सकती है।

यह कविता अपने विश्वबोध, प्रकृति और कृषक जीवन के बहुस्तरीय एवं बहुरंगी चित्रों, उदात्त भावना, जीवन-संघर्ष, त्याग-तपस्या तथा मानवीय मूल्यों की अपूर्व सृष्टि के कारण हिंदी की एक अतिशय महत्वपूर्ण तथा कालजयी कृति है। इसे खंडकाव्य और लंबी कविता दोनों का गौरव प्राप्त है।लेकिन मैं इसे हिंदी की पहली लंबी कविता के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ।यह कविता न केवल भाव-बोध, वस्तुविन्यास, मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व के धरातल पर रीतिकालीन काव्यपरंपरा का अतिक्रमण करती है अपितु रचना-विधान, आत्मव्यंजना, भाषिक अनुप्रयोग , कल्पनात्मक छवियों तथा समुचित अलंकार योजना के कारण भी कामायनी जैसे महाकाव्य के स्रष्टा

की विराट प्रतिभा का स्फुरण भी बन जाती है।प्रसादजी की इस बहुचर्चित घोषणा को संपूर्णता में विश्वसनीयता प्रदान करते हुए यह कविता स्वयं ही ऐतिहासिक महत्व की अधिकारिणी बन जाती है---

" इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ।" 2

इन आरंभिक कविताओं में प्रसाद जी भक्ति से जीवनादर्श तथा प्रकृति से दार्शनिक चिंतन का विकास करते हैं।वे अपने को ब्रजभाषा से खड़ी बोली की ओर ले जाते हैं। कविता के कथ्य के साथ-साथ वे काव्यभाषा के प्रति भी निरंतर सतर्क और सचेष्ट रहे हैं।सन 1912 में प्रकाशित ' कानन कुसुम'में खड़ी बोली की कविताएं पहली बार प्रकाशित होती हैं। सर्वप्रथम 'चित्र' शीर्षक से 'इंदु' पत्रिका में उनकी खड़ी बोली की पहली कविता प्रकाशित हुई। प्रसाद जी अपने समय एवं समाज की बिखरी हुई शक्तियों के समन्वय द्वारा भारतीय मनुष्यता का चतुर्दिक विकास चाहते थे। वे अपने व्यक्तिगत जीवन में नियति की क्रूरता को झेलते हुए भी स्वयं को बिखरने नहीं देते और शक्ति के विद्युत्कणों के समन्वय द्वारा अपने जीवन दर्शन का विकास करते हैं। प्रसाद जी इस बात को लेकर लगातार चिंतित एवं उन्मथित थे कि अंग्रेज तथा पश्चिम भक्त इतिहासकार एक षडयंत्र के अंतर्गत भारतीय इतिहास को विकृत कर रहे थे। उनका ऐतिहासिक ज्ञान अद्भुत और अद्वितीय है। वे अपनी भेदक दृष्टि द्वारा भारतीय इतिहास का नया पाठ तैयार करते हैं। वे भारतीय इतिहास के गौरव चिह्नों का संधान करके उन्हें अपने लेखन का विषय बनाते हैं।इस दृष्टि से उनका पहला ऐतिहासिक काव्य ' महाराणा का महत्त्व' है। इस कविता में महाराणा प्रताप सिंह के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए राष्ट्रीय आकांक्षा की अभिव्यक्ति हुई है। महाराणा प्रताप देशभक्ति, राष्ट्रीय अस्मिता तथा हिंदू गौरव के चरम प्रतीकों में से एक हैं। प्रसाद अपनी इतिहास अन्वेषी दृष्टि के बल पर उनके संघर्ष और बलिदान को अमरत्व प्रदान करते हैं। वे महाराणा के शत्रु विदेशी आक्रांता के मुख से भी प्रताप का यशोगान करवाते हैं। वह महाराणा प्रताप की प्रशंसा करते हुए कहता है कि

" सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन में पला हुआ वह बीर है।"3

इस कविता में प्रकृति की मनोरम छवि का भी अंकन किया गया है। कवि ने लिखा है कि :- " विस्तृत तरु शाखाओं के ही बीच में

छोटी-सी सरिता थी, जल भी स्वच्छ था।
कल-कल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी
व्याकुल को आश्वासन -सा देती हुई।।" 4

इस कविता का विन्यास अत्यंत नाटकीय शैली में हुआ है। संपूर्ण कविता चार भागों में सुविन्यस्त है। कविता के आरंभ में राजकुमार अमरसिंह यवनों को उनकी बेगमों समेत बंदी बनाकर महाराणा प्रताप सिंह के समक्ष उपस्थित

करते हैं।महाराणा उन्हें मुक्त कर देते हैं।इसके बाद बेगम और खानखाना के मध्य वार्तालाप चित्रित हुआ है। बेगम अकबर के पास जाने के लिए कहती हैं।जब खानखाना अकबर को समस्त वृत्तांत सुनाते हैं तो वे आज्ञा देते हैं कि अब महाराणा पर आक्रमण न हो। इस तरह प्रसाद जी महाराणा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

इसमें कवि ने अमरसिंह के शौर्य एवम् युद्धकौशल का भी सुन्दर चित्रण किया है। यहां एक साथ महाराणा प्रताप तथा राजकुमार अमरसिंह के पराक्रम का निदर्शन परिलक्षित होता है।यह कविता देश की स्वाधीनता, सुरक्षा और अस्मिता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने की प्रेरणा देती है। कहना न होगा कि कवि ने स्वतंत्रता संग्राम के कठिन संघर्ष के उन दिनों में भारतीय जन मानस में राष्ट्रीय चेतना का अमर मंत्र फूंकने के लिए इस कविता का सृजन किया था। अतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचित यह कविता भले ही खंडकाव्य के ताने-बाने में बुनी गयी है परन्तु इसका रूपात्मक तंत्र लम्बी कविता का ही है। यह कविता ऐतिहासिक वस्तुयोजना, सुपरिणत रचना-विधान, सहज एवं स्वाभाविक भाषा तथा उदात्त शैली की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व की अधिकारिणी है। इसका पुनर्पाठ राष्ट्रीय स्वाभिमान की प्रतिष्ठा के लिए यह जरूरी है।

प्रसाद जी के 'कानन कुसुम' में चित्रकूट, भरत , शिल्प-सौंदर्य, कुरुक्षेत्र, वीर बालक, श्री कृष्ण जयंती आदि आख्यानक कविताओं का समावेश हुआ है।इन कविताओं की पृष्ठभूमि इतिहास और पुराण पर आधारित है परन्तु उसमें प्रसाद जी ने अपने नए दृष्टिकोण तथा भाव-बोध का प्रकटन किया है। चित्रकूट की कथा रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड से प्रेरित है। लेकिन प्रसाद जी यहाँ भी अपने आदर्श एवं मौलिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा करते हैं। आपने राम और सीता के प्रेम का अत्यंत परिष्कृत एवं छविमान चित्र प्रस्तुत किया है।राम के अंक में सीता नीले गगन में चंद्रमा की भांति सुशोभित होती हैं। राम जानकी के मुख मंडल की शोभा पर मोहित होकर पूछ बैठते हैं:-

" स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को,
नील मधुप को देख , वहीं उस कुंज कली ने
स्वयं आगमन किया कहा यह जनक लली ने।"5

इसी तरह कवि भरत आगमन को लेकर लक्ष्मण के रोष, राम-भरत मिलन तथा रजनी के अंतिम प्रहर के चित्रण में निहायत नवीन और अनछुए उपमानों का सन्निवेश करता है।

कवि ने आभिज्ञान शाकुंतल के सप्तक अंक के आधार पर 'भरत' शीर्षक से कविता लिखी है। हम सब जानते हैं कि इस देश का भरत के नाम पर ही भारतवर्ष नाम पड़ा है। वह भारतवर्ष का गौरव है। कवि देश-प्रेम की भावना से अनुप्राणित होकर इतिहास पुरुष भरत के गौरवशाली व्यक्तित्व का अंकन करता है। जिस तरह आभिज्ञान शाकुंतल का भरत शिशु सिंह के दांत गिनता है उसी तरह प्रसाद का भरत भी कहता है कि:-

" खोल, गोल मुख सिंह बाल , मैं देखकर,
गिन लूंगा तेरे दांतों को हैं भले
देखूं तो कैसे यह कुटिल कठोर हैं।-6

इसी क्रम में अगली कविता ' शिल्प सौंदर्य' शीर्षक से है। भरत की भांति यह भी अतुकांत छंद में विरचित है । कवि भारतवर्ष के अनंत रमणीय शिल्प सौष्ठव का निर्वचन करता है। वह एक सार्वभौम-शास्वत सत्य की प्रतिष्ठा करते हुए लिखता है कि धार्मिक कट्टरता कभी-कभी अनेक अनिष्ट कर जाती है। आतताई आलमगीर ने आर्य मंदिरों को खुदवाकर उनके शिल्प सौंदर्य को मटियामेट कर दिया था। फलतः मुगल साम्राज्य के बालू की दीवार भी ढह जाती है। कवि यह स्थापित करता है कि क्रूरता को वीरता नहीं माना जा सकता है। आक्रांताओं की धार्मिक कट्टरता ने अनेक सुन्दर ग्रंथों को नष्ट करने के साथ-साथ विज्ञान, शिल्प, कला, साहित्य और वास्तुकला का भी भयावह नुकसान किया है। बावजूद इसके भारत के ध्वंस शिल्प भी करुण वेश में भी अपने गौरव को छिपाए हुए हैं। ' कुरुक्षेत्र' में श्रीकृष्ण के जीवन चरित, गीता के उपदेश तथा महाभारत के युद्ध का चित्रांकन हुआ है। 'वीर बालक' कविता में भी धर्मांधता की निस्सारता बतलाई गई है। कवि सिक्ख बालक जोरावर सिंह तथा फतेह सिंह के स्वाभिमान तथा अस्मिता बोध का चित्रण करता है। कवि स्पष्ट करता है कि दोनों वीर बालक दीवार में चुने जाने के बावजूद इस्लाम स्वीकार नहीं करते। यह अपनी आन-बान और शान पर मर मिटने का अभूतपूर्व दृष्टांत है। इसमें भी अतुकांत छंद के साथ-साथ अद्भुत उपमानों का प्रयोग हुआ है। संक्षेप में , प्रसाद की आरंभिक कविताएं इस बात का प्रमाण हैं कि एक विराट प्रतिभा का उन्मेष हैं जो परवर्ती अप्रतिम रचनाओं के कारण प्रायः उपेक्षित रही हैं। ये कविताएं प्रेम और सौंदर्य के साथ-साथ प्रकृति-पर्यावरण तथा भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं दर्शन के प्रति कवि के अनुराग की विकास कथा भी हैं। इन कविताओं से यह भी सिद्ध होता है कि प्रसाद ही हिंदी में लंबी कविताओं का सूत्रपात करते हैं।

**संदर्भ- सूची**

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ-539
2. प्रेम पथिक, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-28
3. महाराणा का महत्व, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-14
4. वही. पृष्ठ-15
5. कानन कुसुम, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-103
6. वही, पृष्ठ-105

*** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,**
**हिंदी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय**
**मुंबई 400098**

# 'महादेवी वर्मा की कविताओं में चित्रित प्रेम-भाव'

*अनुज कुमार

महादेवी वर्मा छायावाद की महत्वपूर्ण कवयित्री हैं। अनुभूति की सूक्ष्मता का चित्रण उनकी कविताओं में मिलता है। जो कि उनके गंभीर चिंतन का नतीजा है। प्रेम भाव उनके काव्य का मूल स्वर है। उन्होंने इसी भाव को आधार बनाकर अपने काव्य का सृजन किया है। प्रेमानुभूति की सुंदर व्यंजना उनके काव्य की विशिष्टता है। जिससे मनुष्य का हृदय द्रवित होकर संवेदनशील हो उठता है। उनके भीतर अपने अज्ञात और असीम प्रियतम के प्रति जो प्रेम भाव है वह वेदना युक्त है और इस वेदना का तादात्म्य वे प्रकृति से बिठाती हैं। जिससे उनका संपूर्ण व्यक्तित्व प्रकृति में घुलमिल जाता है।

महादेवी का काव्य उनकी मनोदशा का ऐसा दर्पण है जिसमें उनकी प्रेमानुभूति और उसमें निहित वेदना के दर्शन होते हैं और उनकी भाव-भंगिमाओं का रूपांकन प्रकृति के रूप में होता है। अत: उनकी प्रमानुभूति की व्यंजना का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। उन्होंने दुख को स्वीकार किया है- "मुझे दु:ख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीम के बंधन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रंदन है।"(1)

'यामा' महादेवी वर्मा के मुक्तक और गीतों के संग्रह का ऐसा गुलदस्ता है जिसमें रागात्मक वृत्ति की खुशबू और जीवन के सत्य की अनुभूति है। महादेवी के लिए "सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है।"(2)

महादेवी वर्मा के चिंतन और काव्य पर बोद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने बोद्ध दर्शन को अपनी अनुभूति का विषय बनाकर काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया। जिसके चलते दार्शनिक क्षेत्र की निरसता का भाव सरसता में परिणित हो गया है। उनकी कविता में भाव की प्रमुखता रही है। इसलिए उन्होंने बोद्ध दर्शन के केवल उसी पक्ष को आत्मसात किया है जो उनकी भावना में समाहित हो पाया है। बोद्ध दर्शन में दुखवाद है। जिसमें दुख से सम्बंधित विचारों को प्रस्तुत किया गया है। मानव के जीवन में सुख क्षणिक होता है और दुख चिरस्थाई होता है। इसलिए महादेवी दुख के स्वीकार की मांग करती हैं। उन्हें पीड़ा में आनंद की अनुभूति होती है।

महादेवी के यहाँ जो दुखवाद है उसमें समाज के कल्याण की भावना निहित है। दुख केवल उनके व्यक्तिगत जीवन तक सीमित है किन्तु उस दुख की परिणति सामाजिक जीवन के प्रति आस्था में है। "उन्हें 'अमरों के लोक' की कामना नहीं है, वे तो 'मिटने के अधिकार' को ही बनाए रखना चाहती हैं।"(3)

उनके काव्य में अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रणय-निवेदन मिलता है किन्तु उनके इस प्रणय में पीड़ा और व्यथा का समावेश है। प्रणय में विरह की पीड़ा मानव जीवन का ऐसा सच है जिससे सब गुजरते हैं। किन्तु महादेवी इस पीड़ा का बनाए रखना चाहती हैं और अपने प्रियतम से मिलन की इच्छा भी नहीं करतीं क्योंकि वे अपने व्यक्तित्व का नाश नहीं करना चाहतीं। मिलन में स्वयं का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। मिलन के बाद जिज्ञासा शांत हो जाती है। सत्य को पाने से अधिक महत्वपूर्ण है उसको पाने का संघर्ष क्योंकि यह संघर्ष ही हमारे अनुभव के दायरे को व्यापक फलक देता है।

"मिलन का मत नाम लो,
मैं विरह में चिर हूँ।"(4)

इस प्रकार महादेवी के यहां जो प्रेमानुभूति है। वह अलौकिक जगत से होते हुए लौकिक जगत में अंतर्भूत होती हुई नजर आती है। वे संसार को और अधिक संवेदनशील बनाना चाहती हैं। जहां दुख की स्वाभाकिता अनिवार्य है क्योंकि दुख मनुष्य के हृदय को करुणामय बनाता है। करूणा का अपना महत्व है। भवभूति तो करुणा को सबसे महत्वपूर्ण रस मानते हैं।

महादेवी अपने प्रियतम को याद करते हुए रहस्यवाद का सहारा लेती हैं। यह संकोच नारी जीवन का सत्य है। जिसमें उसे प्रेम करने की आजादी नहीं है। पितृसत्ता द्वारा निर्मित रूढिवादी नैतिकता नारी को समाज में प्रेम करने की अनुमति नहीं देती। जिसके कारण महादेवी अपने प्रेम को अज्ञात और असीम के रूप में चित्रित कर उससे मिलन की बात करती हैं-

"जब असीम से हो जाएगा
मेरी लघु सीमा का मेल।"(5)

मध्यकालीन कवयित्री मीरा को भी यह आजादी नहीं थी। इसलिए उन्होंने कृष्ण को अपने जीवन का आधार बनाया। वहीं महादेवी ने अपने प्रियतम को निराकार रूप में चित्रित कर अपने प्रेम को एक आवरण दिया। यह नारी जीवन की सीमाएं हैं जिसके चलते वे अपनी भावनाओं को खुलकर अभिव्यक्त नहीं कर पातीं। सुमित्रानंदन पंत के अनुसार- "उन्होंने निराकार के ही बोध को प्रधानतया भावात्मक दृष्टि की सूक्ष्म संवेदना तथा सुख-दुख के सौंदर्य की रंगीनी के माध्यम से गीतिमय मार्मिक अभिव्यक्ति दी।"(6)

महादेवी के यहां नारी मन का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन मिलता है। नारी जहां वियोग में आंसू बहाती है वहीं संयोग के समय उसके मन में संकोच होता है।

"काटूँ वियोग पल रोते,
संयोग समय छिप जाऊं।"(7)

महादेवी अज्ञात प्रियतम की ओर उन्मुख हैं। किंतु यह अज्ञात प्रियतम कोई परमात्मा का प्रतीक नहीं है अपितु वह प्रेम रूपी मूल्य है। उन्होंने प्रेम की महत्ता को महसूस किया है। प्रेम भाव के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हैं। और इस प्रेम में पीड़ा है क्योंकि सामाजिक नैतिकता प्रेम को नकार कर उसे बंधनों में बांधने का प्रयास करती है किंतु प्रेम तो स्वच्छंद होता है।

"मैं अनंत पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें,
उनको कभी न धो पाएँगी
अपने आँसू से रातें!"(8)

प्रेम भाव को बाधित करने वाले बंधनों को तोड़ना उनके काव्य का मुख्य स्वर रहा है किंतु उन्होंने प्रेम भावना को अंतर्मुखी अभिव्यक्ति प्रदान की है। महादेवी प्रेम भाव की अंतर्मुखी अभिव्यक्ति कर उसे शरीर की संकीर्णता से ऊपर उठाना चाहती हैं। प्रेम भाव को शरीर तक सीमित करने की प्रवृत्ति स्त्री विमर्श में नजर आती है। किंतु महादेवी इस भावना को व्यक्ति तक सीमित नहीं रखना चाहती अपितु वे इसे सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहती हैं जिससे इस आंतरिक भावना को बहिर्मुखी बनाया जा सके और प्रेम भावना को सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हो सके। वे स्वयं को उस बादल के रूप में चित्रित करती हैं जो इस संसार को वर्षा के रूप में शीतलता प्रदान कर सुख देता है-

"मैं नीर भरी दुख की बदली!"(9)

रागात्मक वृत्ति मनुष्य के हृदय का भाव क्षेत्र है और बुद्धि वृत्ति मनुष्य के ज्ञान का, रागात्मक वृत्ति अनुभूति का विषय है और बुद्धि विचार का। रागात्मक वृत्ति मनुष्य के हृदय को संवेदनशील बनाती है। महादेवी ने अनुभूति पक्ष को अधिक महत्व देते हुए कहा है कि-"अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है, उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वंय जलने की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।"(10)

बुद्धि तत्व में स्थूलता और अनुभूति में गहराई होती है। बुद्धि जहां मनुष्य को संचालित करने हेतु नियमों का निर्माण करती है वहीं प्रेम की अनुभूति अर्थात् रागात्मक वृत्ति उन नियमों को तोड़ने का प्रयास करती है। महादेवी के काव्य में यह स्वर अति तीव्रता से सुनाई देता है। वे निडर होकर कहती हैं-

"बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!"(11)

अतृप्त प्रेम की पीड़ा और उस पीड़ा में आनंद की अनुभूति करती हुई महादेवी अपने प्रियतम से मिलने की भी इच्छा नहीं करतीं

"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।"(12)

रामचरितमानस में जहां प्रेम भाव सामाजिक नैतिकता के घाटो में बंधा नजर आता है वहीं महाभारत में कृष्ण और राधा का प्रेम इन नैतिकता के घाटों को तोड़कर प्रेमानुभूति को उसकी स्वाभाकिता में स्वीकार करता है। महादेवी ने अपने काव्य में प्रेम-भाव पर परपंरागत नैतिकता के बंधनों को खोलने के लिए और उसके महत्व को उद्घाटित करने के लिए ऐसे काव्य का सृजन किया जहां प्रेम की निश्छल धारा पूरे वेग से बहती है। उन्होंने मीरा की भांति अपने प्रियतम का नाम नहीं बताया अपितु उसे अज्ञात एवं निराकार रूप में स्वीकार किया। क्योंकि महादेवी जानती थीं कि प्रियतम का साकार रूप उसमें गुण दोष का आरोपण करने लगता है जिससे उसकी सीमाएं बन जाती हैं। प्रियतम को अज्ञात रूप में स्वीकारना महादेवी जी के काव्य को व्यापकता प्रदान करता है। क्योंकि साकार रूप की अपनी सीमाएं होती हैं। व्यक्ति को जब प्रेम होता है तो उसके हृदय में ऐसी हलचले होती है जिसे वह समझ नही पाता। महादेवी के लिए यह जिज्ञासा का विषय है-

"कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित?

कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित?"(13)

महादेवी ने प्रेम भाव में व्याप्त दुख की रेखाओं को बोद्ध दर्शन के दुखवाद से ग्रहण कर उसे अनुभूति के रंगों से सजाया है। जो कि भावजगत के ऐसे सौंदर्य का सृजन करता है जिसमें जीवन स्पंदित होता है। जहां जीवन के प्रति दृढ़ आस्था है-

"वे मुस्काते फूल, नहीं-
जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप, नहीं
जिनको भाता है बुझ जाना।"(14)

प्रेम, मानव के हृदय का सुंदरतम भाव है। जिसका वास हृदय में होता है। प्रेममय हृदय किसी पारस से कम नहीं होता। और जब ऐसा हृदय बुद्धि को संचालित कर अनुभूति को कविता में ढ़ालता है तो वह सजीव हो उठती है। जिससे प्रेम की ऐसी धारा फूटती है जिसमें मानव हृदय के विकार इर्ष्या, द्वेष घृणा सब समाप्त हो जाता है और सिर्फ निश्छल हृदय बचता है जहां मनुष्यता के शिशु की भांति क्रीड़ा करती हुई नजर आती है। कविताओं में रागात्मक वृत्ति के प्रति उनकी अनुभूतियों में वेदना मिश्रित जिज्ञासा के दर्शन भी होते हैं। इस संदर्भ में महादेवी की प्रथम कृति निहार को देखा जा सकता है। निहार शब्द जहां प्रतीक रूप में आया है। यह प्रतीक प्रभात के क्षणों में उत्पन्न वह प्रकाश है जिसकी अनुभूति में अस्पर्श की वेदना छुपी है।

"घायल मन लेकर सो जाती
मेघों में तारों की प्यास
यह जीवन का ज्वार शून्य
करता है बढ़ कर उपहास।"(15)

महादेवी का प्रेम भाव मधुमय होते हुए भी अवसाद में डूबा हूआ है। विरह में पीड़ा होती है किंतु उस पीड़ा में आनंद की अनुभूति करना बोद्ध दर्शन के दुखवाद का प्रभाव ही है जहां दुख के स्वीकार की बात कही गई है। प्रेम भाव अमूर्त होता है किंतु हृदय में जब इसका समावेश होता है तो इस अमूर्त भाव की मूर्त मुस्कान महादेवी को एक मधुमय पीड़ा में बोर देती है-

"बिछाती थी सपनों के जाल
तुम्हारी वह करूणा की कोर
गई वह अधरों की मुस्कान
मुझे मधुमय पीड़ा में बोर।"(16)

रागात्मक वृत्ति के रूप में जहां इस प्रकृति ने मनुष्य के भीतर कोमल भावनाओं को जन्म दिया है। वहीं इन कोमल भावनाओं को कुचलने के लिए मनुष्यों द्वारा स्वरचित विधानों ने इस भाव में पीड़ा को भर दिया है। इन्हीं

बंधनों से मुक्त होकर महादेवी रागात्मक वृत्ति से अपने हृदय को रमा लेना चाहती हैं। अपने प्रिय के प्रति वह पूर्ण रूप से समर्पित हैं। किंतु कभी कभी उनकी वेदना अत्यधिक तीव्र हो जाती है-

"नहीं अब गाया जाता देव!
थकी अंगुली हैं ढीले तार,
विश्व-वीणा में अपनी आज
मिला तो अस्फुट झंकार।"(17)

किंतु जब महादेवी को अपने प्रिय से स्वप्न में मिलने का आभास होता है तो वे इस मूक मिलन को सत्य मान लेती हैं। सत्य का साक्षात्कार उनकी अनुभूति से जन्मा है इसलिए वे इस मिलन को सपना न मानकर सत्य मानती हैं और उसका प्रमाण प्रकृति में खिले हुए फुलों के माध्यम से देती हुई कहती हैं-

"कैसे कहती हो सपना है,
अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आंसू उनके हास।"(18)

महादेवी प्रिय से मिलन की अपेक्षा उसकी प्रतीक्षा में अधिक सुख पाती हैं। विरह के कारण जो उनके जीवन में सूनापन आया है उसमें वे स्वयं को रानी के रूप में देखती हैं। यह सूनापन उनके द्वारा रचा गया ऐसा संसार है जहां अपनी पीड़ा से दिया जलाकर उसमें प्रकाश करती हैं। जलने में जहां पीड़ा है वहीं प्रकाश भी है-

"अपने इस सूनेपन की
मैं हूं रानी मतवाली
प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली।"(19)

प्रेम भाव की इस भूमि पर दुख की वह उज्जवल आभा विद्यमान है जहां संपूर्ण सृष्टि के सुख के लिए अपने व्यक्तिगत दुख से तादात्म्य है। प्रेम भाव का संदेश देना और उसकी महत्ता स्थापित करने की आकांक्षा ही महादेवी अपने प्रिय से मिलना नहीं चाहती।

"चिंता क्या है हे निर्मम
बुझ जाए दीपक मेरा
हो जाएगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अंधेरा।"(20)

दीपक का बुझना महादेवी द्वारा भौतिकवादी शरीर को छोड़ अपने असीम और अज्ञात प्रियतम में लीन हो जाना है।

'नीहार' में अज्ञात प्रियतम की जिज्ञासा है और उसे पाने की भावना भी व्यंजित होती है। महादेवी अपनी पीड़ा को अपने प्रियतम के साथ तादात्म्य कर देती हैं-

"पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढ़ंढा
तुममें ढूंढूगी पीड़ा।"(21)

इस प्रकार निहार में अज्ञात प्रियतम के प्रति जिज्ञासा से लिपटी हुई अनुभूति है और माध्यम है प्रकृति। प्रिय की प्राप्ति में आत्मसमर्पण की भावना निहित है।

"रश्मि
मैं सब कुछ तुमसे देखूं,
तुमको न देख पाऊं पर।"(22)

महादेवी को संपूर्ण सृष्टि का विस्तार अपने प्रियतम में दिखाई देता है किंतु वे अपने प्रियतम को नहीं देख पाती हैं। अपने प्रियतम के अनुसंधान के माध्यम से ही संपूर्ण सृष्टि के कण कण को जान लेना चाहती हैं।

"तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से,
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूं कण कण से।"(23)

हमारा समाज विविधताओं से परिपूर्ण है। उसे एकता का संदेश मात्र निराकार रूप में ही दिया जा सकता है। साकार रूप में विविधता पूर्ण समाज अपनी जाति, धर्म, क्षेत्रियता को खोजने लगता है। जिससे अन्य समाजों की उपेक्षा होती है। इसलिए महादेवी ने प्रेम भाव के महत्व और उसकी उपयोगिता का संदेश देने हेतु अज्ञात सत्ता का सहारा लिया है। जिससे जाति और  धर्म से ऊपर उठकर मनुष्य की मूल प्रवृत्ति जो उसे मनुष्यता प्रदान करती है, से जुड़ सके। महादेवी के यहाँ प्रेम का चित्रण प्रकृति का माध्यम से हुआ है। प्रेम उनके लिए साध्य है और उस प्रेम को अभिव्यक्त करने हेतु प्रकृति माध्यम। प्रकृति सौंदर्य का पर्याय होती है। इस प्रकार "नीहार से लेकर दीपशिखा तक महादेवी की रचनाएं एक ही मनोदशा की विभिन्न वर्णी अभिव्यंजना हैं।"(24)

## संदर्भ-सूची

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी(चयन एंव संपादन), साहित्य अकादेमी, प्रथम संस्करण 1998, पृ. 7
2. डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, महादेवी : नया मूल्यांकन, भारतेन्दु भवन लोऊर,प्रथम संस्करण 1991,पृ. 44
3. डॉ. नगेन्द्र,डॉ हरदयाल(संपादक),हिन्दी साहित्य का इतिहस, मयूर पपेरबेक्स,पृ.538

4. वर्मा, महादेवी- यामा, लोकभारती प्रकाशन, तीसरा संस्करण:2014, पृ.91
5. वही, पृ.3
6. महादेवी चिंतन व कला, संपादक -इंद्रनाथ मदान, राधाकृष्ण प्रकाशन तृतीय संस्करण 1973,पृ.28
7. वर्मा, महादेवी- यामा, लोकभारती प्रकाशन, तीसरा संस्करण:2014, पृ.91, पृ 77
8. 8.वही, पृ. 3
9. वही, पृ. 93
10. महादेवी चिंतन व कला, संपादक -इंद्रनाथ मदान, राधाकृष्ण प्रकाशन तृतीय संस्करण 1973,पृ.21
11. वर्मा, महादेवी- यामा, लोकभारती प्रकाशन, तीसरा संस्करण:2014, पृ.91, पृ. 63
12. वही, पृ. 90
13. वही, पृ.59
14. वही,पृ. 6
15. वही,पृ. 7
16. वही, पृ. 1
17. वही, पृ.2
18. वही, पृ.3
19. वही, पृ.10
20. वही, पृ.10
21. वही, पृ.32
22. वही, पृ.76
23. वही, पृ.77
24. मिश्र, डॉ.राजेंद्र, महादेवी की काव्य चेतना, तक्षशिला प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1976,पृ.9

---

***शोधार्थी**
**हिन्दी विभाग**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**
**फोन नो.-999930455**
**ई-मेल-anujk401@gmail.com**

# श्रृंखला की कड़ियाँ में निहित स्त्री-चेतना

***डॉ. चैताली सिन्हा**

हिन्दी नवजागरण की महत्वपूर्ण लेखिका, कवयित्री, समाज सेविका, सशक्त वक्ता, संपादिका, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक कृतियों से मानवीय दृष्टिकोण को प्रज्वलित करनेवाली चित्रकार महादेवी वर्मा की यह पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' आधुनिक स्त्री-अस्मिता को अभिव्यक्त करने में मील का पत्थर सिद्ध हुई है। विरह और वेदना की रहस्यमयी कविताएँ लिखने वाली महादेवी ने गद्य का इतना सुंदर रूप साहित्य जगत में रखा, जिसे सदियों तक पढ़ा और गुना जाएगा। स्त्री-समाज के लिए अपनी चिंता व्यक्त कर महादेवी वर्मा एक प्रकार से पुरुष वर्चस्ववादी समाज को चुनौती भी देती हैं।

स्त्री स्वर को अभिव्यक्ति देने में उनके द्वारा संपादित 'चाँद' पत्रिका एक क्रांतिकारी पत्रिका मानी जाती है। प्रो. गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार- " 'स्त्री धर्म' और 'चाँद' सरीखी पत्रिकाओं में स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों को भागीदारी के लिए प्रेरित किया गया और 'चाँद' में तो स्त्री को बौद्धिक चेतना संपन्न व्यक्ति मानकर पुरुषों के समकक्ष रखकर देखने की वकालत भी की गयी।"[1] 'चाँद' पत्रिका में स्त्री-समस्या पर आधारित अंकों को भी समय-समय पर निकाला जाता था। 'चाँद' (1923) मासिक पत्रिका का 'मारवाणी' अंक अपने समय में बहुत लोकप्रिय रहा था। स्त्री-जीवन की समस्याएं इसके केंद्र में रहती थीं। 'चाँद' पत्रिका साहित्यिक होते हुए भी समाज-सुधार के विषयों को तटस्थता के साथ रखने में सफल रही थी। इसका प्रमाण हमें 'फाँसी' नामक अंक में मिलता है। बतौर गरिमा श्रीवास्तव "'चाँद' पत्रिका सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास कर रही थी।"[2] हालाँकि औपनिवेशिक भारत में प्रकाशित होनेवाली इन स्त्री केंद्रित पत्रिकाओं में "उच्च एवं मध्यवर्ग की स्त्रियों की भागीदारी ही अधिक थी। कहीं भी ये पत्रिकाएं हाशिये की स्त्रियों के अधिकारों और उनकी अन्तश्चेतना के विस्तार की चर्चा करती नहीं दीखतीं।"[3] देखा जाए तो हाशिये की स्त्रियों के अधिकारों का विस्तार आज भी उस रूप नहीं हो पा रहा है, जिस रूप में होना चाहिए।

परंतु जहाँ तक महादेवी की स्त्री-चेतना की बात है, तो महादेवी वर्मा ने भारतीय समाज में स्त्री-अस्मिता के प्रश्न सीमोन द बउआर से भी बहुत पहले सन् 1942 में ही 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के माध्यम से उठाये थे। सीमोन की रचना 'The Second Sex' (अनु. 'स्त्री उपेक्षिता', प्रभा खेतान) सन् 1949ई. में प्रकाशित हुई और महादेवी वर्मा ने सन् 1942ई. में ही स्त्री-चिंतन पर आधारित महत्वपूर्ण पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' को लिखने का बीड़ा उठाया था। यह पुस्तक एक प्रकार से स्त्री-अधिकारों का दस्तावेज़ है। इसका प्रमाण महादेवी वर्मा के इस कथन से ही मिलने लगता है, जब वह कहती हैं कि : "भारतीय नारी भी जिस दिन अपने संपूर्ण प्राणप्रवेग से जाग सके उस

दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं। उसके अधिकारों के संबंध में यह सत्य है कि वे भिक्षावृत्ति से न मिले हैं, न मिलेंगे, क्योंकि उनकी स्थिति आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है।"[4]

जिस समय और समाज में महादेवी वर्मा यह बात कह रही थीं, वह समय स्त्रियों के हक़ की बात करने के अनुकूल तो कदापि नहीं था। ऐसे में उन्हें कितनी चुनौतियों और अपमान का सामना करना पड़ा होगा; इसका अनुमान वर्तमान समय में लगाना कठिन है।

महादेवी वर्मा ने स्वयं अपने जीवन में भी उन्हीं सिद्धांतों एवं विचारों का अनुपालन किया, जो उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उनमें निहित यह शक्ति कहीं-न-कहीं उनके अपने जीवनानुभवों का ही परिणाम कहा जाना चाहिए।

छायावाद के प्रमुख शीर्ष चार कवियों में एक नाम महादेवी वर्मा का होना भी उनके नारी सशक्तिकरण की छवि को प्रस्तुत करता है। हालाँकि यह बात अलग है कि मध्यकाल की भक्त कवयित्री मीरा की ही तरह उन्हें भी इस क्रम में सबसे निचले पायदान पर रखा गया। इसे एक साहित्यिक षड्यंत्र माना जाना चाहिए, विशेषकर स्त्री रचनाकारों के प्रति। परंतु फ़िर भी महादेवी वर्मा की एक विशिष्ट छवि बन चुकी थी। बतौर अनामिका "महादेवी वर्मा छायावादी कविता की इकलौती बेटी हैं, सात भाइयों वाली चम्पा की तरह अकेली, गंभीर और मातृमना।"[5]

छायावाद एवं रहस्यवाद की काव्यधारा से निकलकर महादेवी वर्मा उस समय यथार्थ के धरातल पर उतरती हैं, जब वह 'श्रृंखला की कड़ियाँ' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक हिन्दी जगत में लेकर आती हैं। यह केवल एक पुस्तक नहीं है, वरन् स्त्री-अधिकारों के लिए लिखे गये दस्तावेज़ हैं। जिनके भीतर प्रवेश करते ही श्रृंखला की ये एक-एक कड़ियाँ टूटती नज़र आती हैं। पितृसत्तात्मक समाज की बेड़ियों में जकड़ी हुई स्त्रियों का जीवन क्योंकर मुक्त हों; इसके अनेक उपाय महादेवी वर्मा इस पुस्तक में सुझाती हैं। जैसे कि स्त्रियों का उच्च शिक्षित होना इत्यादि। सन् 1942 ई. में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' जैसी पुस्तक की रचना करना किसी दुस्साहस से कम नहीं रहा होगा और महादेवी वर्मा उस समय यह दुस्साहस करती हैं। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता होने के अतिरिक्त महादेवी वर्मा का परिचय राजनीति के गलियारों से भी रहा है। एक सशक्त वक्ता और स्त्री जाति की पुरोधा के रूप में महादेवी वर्मा की जो पहचान और योगदान है, वह उन्नीसवीं सदी में शायद ही किसी और स्त्री रचनाकार की रही होगी। वैसे भी इतिहास में उन्नीसवीं सदी का दौर कई कारणों से बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस सदी में कई स्त्री-आंदोलन हुए।

राधा कुमार के अनुसार "उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा, क्योंकि इस सदी में सारी दुनिया में उनकी अच्छाई-बुराई, प्रकृति, क्षमताएं एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस का विषय थे। यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति के

दौरान और उसके बाद भी स्त्री जागरूकता का विस्तार होना शुरू हुआ और शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के बुद्धिजीवियों ने नारीवादी विचारों को अभिव्यक्ति दी।"[6]

हालाँकि भारत में नारी-शक्ति एवं उनकी क्षमताओं की पहचान देखा जाए, तो यहाँ यह पश्चिम से बहुत पहले ही हो चुकी थी। यहाँ तक कि स्त्री-विमर्श की परंपरा भी हमारे यहाँ पश्चिम से पहले ही दिखलाई पड़ती है। इस संदर्भ में 'थेरी' गाथाओं को देख सकते हैं; जहाँ सर्वप्रथम स्त्री-अस्मिता और स्त्री-विमर्श के प्रमाण मिलते हैं। जिनकी संख्या 500 से अधिक हैं। इन गाथाओं में सैकड़ों थेरियों के उद्गार मिलते हैं। इतना ही नहीं इन गाथाओं में ई.पू. छठी शताब्दी की कविताओं का एक ऐतिहासिक रूप भी हम देख सकते हैं। इन थेरी गाथाओं में भिक्षुणियों का अपना आत्म है, जिसे उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से प्रकट किया है। इस संदर्भ में सुमंगलमाता नामक भिक्षुणी का यह उद्गार देख सकते हैं। उदाहरणार्थ :

"सुमुत्तिका सुमुत्तिका, साधुमुत्तिकाम्हि मुसलस्स।

अहिरिको मे छत्तकं वा पि, उक्खलिका मे देडडुभं वा ति॥1(23)"

अर्थात् "अहो ! मैं मुक्त नारी ! मेरी मुक्ति कितनी धन्य है ! पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हुई ! मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे (खाना पकाने के) बर्तन ! जिनके बीच में मैं मैली-कुचैली बैठती थी, और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था॥1(23)"[7]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण भारतीय साहित्य एवं समाज में स्त्रियों की दशा और दिशा; दोनों पर प्रकाश डालता है। इस कथन से स्त्री का अतीत और उसका भविष्य दोनों का पता मिलता है। इतिहास के नए पन्ने खुलते हैं।

महादेवी वर्मा की पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' इसी इतिहास से हमारा परिचय कराती हैं; जब वह कहती हैं कि "प्राचीन आर्य नारी के सहधर्मचारिणी तथा सहभागिनी के रूप में कहीं भी पुरुष का अंधानुसरण या अपने आपको छाया बना लेने का आभास नहीं मिलता।"[8]

महादेवी वर्मा के उक्त कथन से प्राचीन काल में स्त्रियों की सम्मानीय स्थिति का परिचय मिलता है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि वैदिक काल में स्त्रियों का बहुत अधिक सम्मान था। उन्हें प्रत्येक शुभ कार्य में आमंत्रित किया जाता था, यहाँ तक कि बिना उनके प्रवेश के कोई भी शुभ कार्य आरंभ नहीं की जाती थी। परंतु उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की दशा में उस समय परिवर्तन आने लगा जब शासन् एवं सत्ता की बागडोर पुरुषों के हाथों में आने लगी। प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष वर्चस्व क़ायम होते ही स्त्रियों के सम्मान में भारी गिरावट आयी। अब गृहस्थ जीवन के निर्णय लेने से

लेकर गृहस्थ के बाहर के भी सभी निर्णय पुरुष ही लेने लगे थे। जिससे स्त्री की स्थिति न केवल दोयम दर्जे की हो गयी वरन् वह दोहरे शोषण की भी शिकार हुई।

इस संदर्भ में महादेवी का निम्नलिखित कथन बहुत महत्वपूर्ण लगता है; जब वह कहती हैं कि: "स्त्री को अपने अस्तित्व को पुरुष की छाया बना देना चाहिए, अपने व्यक्तित्व को उसमें समाहित कर देना चाहिए, इस विचार का पहले कब आरंभ हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि यह किसी आपत्तिमूलक विषवृक्ष का ही विषमय फल रहा होगा।"[9] स्पष्ट है कि यह 'विष-वृक्ष' वह पितृसत्तात्मक समाज है जिसकी ओर महादेवी वर्मा संकेत करती हैं। यानी स्त्रियों को महापुरुषों एवं पुरुषों की छाया बनना चाहिए, पुरुष के हर उचित-अनुचित कार्य में स्त्री को उसकी संगिनी बनकर साथ खड़े रहना चाहिए; यह सीख हमें हमारा समाज आरंभ से ही देता आया है। जबकि अकेली स्त्री भी पुरुष के सहयोग के बिना, उसकी छाया बने बिना अपने जीवन-कर्तव्य को बखूबी निभा सकती है और निभाती है। इसका प्रमाण हमें यशोधरा के संदर्भ में भी मिलता है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं – "महापुरुषों की छाया में रहनेवाले कितने ही सुंदर व्यक्तित्व कांति-हीन होकर अस्तित्व खो चुके हैं, परंतु उपेक्षिता यशोधरा आज भी स्वयं जीकर बुद्ध के विरागमय शुष्क जीवन को सरस बनाती रहती है।"[10]

उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से महादेवी वर्मा ने केवल यशोधरा के महत्त्व को ही नहीं दर्शाया है, अपितु संपूर्ण स्त्री जाति के स्वाभिमानी और स्वावलंबी चरित्र को उकेरने की चेष्टा की है। स्त्री-पुरुष का सामंजस्य एकहरी न होकर दोहरी होनी चाहिए अर्थात् गृहस्थ जीवन से लेकर प्रेम प्रसंग में भी दोनों में समानता का भाव स्थापित होना आवश्यक है। इस बात का उल्लेख करते हुए लियो तोलस्तोय ने 'स्त्री और पुरुष' नामक पुस्तक में लिखा है कि – "स्त्री और पुरुष का वह मेल अच्छा है जिसका उद्देश्य परमात्मा की और मनुष्य जाति की सेवा है।"[11]

परंतु यहाँ तो पति भी पुरुष और परमात्मा भी पुरुष है। ऐसे में मेल कैसे समानता का हो ! जबकि "स्त्री का मानसिक विकास पुरुषों के मानसिक विकास से भिन्न परंतु अधिक द्रुत, स्वभाव अधिक कोमल और प्रेम-घृणादिभाव अधिक तीव्र तथा स्थायी होते हैं। इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास पाकर समाज के उन अभावों की पूर्ति करता रहता है जिनकी पूर्ति पुरुष-स्वभाव द्वारा संभव नहीं। इन दोनों प्रकृतियों में उतना ही अंतर है जितना विद्युत और झड़ी में।"[12]

स्त्री-पुरुष की प्रकृति में जिस अंतर की बात महादेवी वर्मा करती हैं, यह बात हमें सीमोन द बउआर की पुस्तक 'स्त्री-उपेक्षिता' में भी मिलती है। सीमोन ने इस पुस्तक में स्त्री-पुरुष से संबंधित उन सभी विषयों को रेखांकित किया है, जो तत्कालीन समय और समाज में प्रचलित था। यहाँ तक कि स्त्री के प्रति अलग-अलग समुदाय एवं धर्मों में जो मान्यताएं थीं, उनका भी बहुत प्रामाणिक विश्लेषण किया है। सीमोन इस पुस्तक में स्त्री-संबंधी सभी कानूनों की

पड़ताल करती हैं। वह लिखती हैं कि किस प्रकार सामंती व्यस्था ख़त्म हो जाने के बाद भी जो क़ानून बने उसका उद्देश्य था कि स्त्री को पुरुष के समान अधिकार न मिल पाये और वह सभी नागरिक अधिकारों से वंचित रहे। इतना ही नहीं यदि स्त्री अविवाहित है, तो पिता के संरक्षण में रहे या फ़िर उसे धार्मिक मठों में भेज दिया जाए और यदि विवाहित है, तो वह अपनी संपत्ति और संतान के साथ पूरी तरह से पति के अधीन रहे। सीमोन द बउआर के अनुसार संत थॉमस अपनी परंपरा के प्रति बहुत ईमानदार थे; जिस कारण उन्होंने कहा है कि – "यह औरत की नियति है कि वह पुरुष की अधीनता में रहे, इसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसको प्रभु से कोई सत्ता नहीं मिली।"[13] इसी संदर्भ में एक अन्य स्थान पर सीमोन ने संत पॉल के मत को उजागर किया है कि संत पॉल ने स्त्री से आत्म-विलोपन और विवेकवान होने की अपेक्षा की। उन्होंने कहा कि – " पुरुष औरत के लिये नहीं बना है, औरत बनी है पुरुष के लिये। जैसे चर्च के स्वामी यीशू हैं, वैसे ही स्त्री का स्वामी पुरुष है।"[14]

उपर्युक्त कथन से स्त्री के अस्तित्व को सीधे-सीधे नकारने का बोध होता है। अर्थात् स्त्री की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता, उसकी अपनी कोई पहचान (अस्मिता) है ही नहीं। उसकी पहचान बस इतनी है कि वह किसी की पुत्री है, किसी की माता है और किसी की पत्नी है ! उपर्युक्त विचारकों के मतों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि स्त्री को पराधीन बनाये रखने की परंपरा केवल भारतीय समाज में नहीं रही है, वरन् रोमन समाज से लेकर ईसाई धर्म में भी रही है। स्त्री को शैतान का दरवाज़ा, शैतान की खाला कहने से लेकर नरक का द्वार तक माना गया है। इस संदर्भ में टर्टयूलियन लिखते हैं कि – "औरत तुम शैतान का दरवाज़ा हो। जहाँ शैतान सीधा आक्रमण करने से हिचकता है, वहां वह औरत का सहारा लेकर पुरुष को मिट्टी में मिला देता है। यह तो औरत की गलती है, जिससे प्रभु के पुत्र को मरना पड़ा। तुम औरतों को हमेशा शोक-संतप्त रहना होगा।"[15]

टर्टयूलियन का यह कथन संपूर्ण स्त्री-जाति का, स्त्री-समाज का अपमान है। स्त्री की छवि को यहाँ जिस रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है; वह सामंती समाज और संकुचित मानसिकता का ही परिणाम है, किसी आधुनिक विचारधारा को मानने वालों का नहीं। ऐसी मानसिकता के साथ स्त्री की दुर्गति होना तय है।

इसीलिए महादेवी वर्मा लिखती हैं कि – "वे (स्त्रियाँ) शून्य के समान पुरुष की इकाई के साथ सबकुछ हैं, परंतु उससे रहित कुछ नहीं। उनके जीवन के कितने अभिशाप उसी बंधन से उत्पन्न हुए हैं, इसे कौन नहीं जानता !"[16] इससे भी आगे महादेवी वर्मा ने स्त्रियों की दुर्दशा का कारण स्त्रियों को चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दिए जाने को माना है। वह कहती हैं कि – "पुरुष ने उसे गृह में प्रतिष्ठित कर वनवासिनी की जड़ता सिखाने का जो प्रयत्न किया है उसकी साधना के लिए वन ही उपयुक्त होगा।"[17]

यद्यपि इसीलिए महादेवी वर्मा ने स्त्रियों के लिए शिक्षित होना आवश्यक माना है। स्त्रियों को उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पकड़ बनाने की आवश्यकता है। महादेवी वर्मा उस शिक्षा व्यवस्था की भी आलोचना करतीं हैं, जिनमें स्त्रियों को केवल अक्षर ज्ञान और गृह विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों को कौन से गृह काज आने चाहिए, शिशुओं का कैसे पालन-पोषण किया जाना चाहिए, पति की सेवा और घर में उनका स्थान क्या होना चाहिए इत्यादि, स्त्रियों की शिक्षा का दायरा इन बातों तक ही सीमित रहा था। वह इस बात से अपनी असहमति जताते हुए लिखती हैं कि - "हमारे यहाँ विद्यार्थिनियां प्राथमिक शिक्षा के उपरांत ही अध्ययन का अंत कर देती हैं, कुछ माध्यमिक के उपरान्त। जिन्हें प्राथमिक शिक्षा देने का हम गर्व करते हैं, ऐसे शिक्षकों-द्वारा शिक्षा मिलती है जो उन्हें जीवन के उपयोगी सिद्धांतों से भी अनभिज्ञ रहने देते हैं।"[18]

महादेवी वर्मा यहीं नहीं ठहरतीं बल्कि इससे भी आगे वह उन शिक्षाविदों पर भी प्रश्न-चिन्ह लगाती हैं, जो स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाना न सिखाते हों। उन्हें अपने भविष्य को सुखी कैसे बनाया जाए इस बात का ज्ञान न देते हों ! जबकि शिक्षित होकर ही स्त्रियों का भविष्य बेहतर हो सकता है। महादेवी वर्मा लिखती हैं – "जीने के लिए ही शिक्षा की आवश्यकता है, परंतु जो व्यक्ति जीना ही नहीं जानता उससे न संसार को कुछ लाभ हो सकता है और न वह शिक्षा का कोई सदुपयोग ही कर पाता है।"[19]

स्पष्ट है कि महादेवी वर्मा यहाँ उन शिक्षकों से भी अपनी असहमति दर्ज़ कराती हैं, जो न तो सही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं और न ही स्वयं पढ़ना-लिखना चाहते हैं। महादेवी के अनुसार पढ़ी-लिखी महिलाओं की संख्या बहुत कम है और जो हैं भी, उनमें भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षिताएं बहुत कम हैं।

वैसे देखा जाए तो स्त्रियों की स्थिति वैदिक काल में अधिक मज़बूत एवं सम्मानजनक रही है। इस काल में पितृसत्ता नहीं बल्कि मातृसत्ता थी। स्त्रियों का समाज में हर कहीं मान-सम्मान था। प्रत्येक शुभ कार्य में स्त्री का प्रवेश अनिवार्य माना जाता था। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं- "उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही, उसके जीवनचर्या संबंधी नियम भी अधिक कठोर नहीं बनाये जा सके। वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती थी, कुंती होकर भी मातृत्व की गरिमा से गुरु रह सकती थी और द्रौपदी होकर भी पतिव्रता के आसन् से नहीं हटाई जा सकती थी।"[20]

परंतु उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की दशा धीरे-धीरे दयनीय होती गयी। समाज में उनकी प्रतिष्ठा में भी धीरे-धीरे कमी आने लगी। उनके अधिकार भी उनसे एक-एक करके छीना जाने लगा। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण जैसे ही स्त्री की सामाजिक उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा घटने लगी वैसे ही पुरुष, व्यक्तिगत अधिकार भावना से उसे घेरता गया। इस प्रसंग में महादेवी वर्मा लिखती हैं कि – "अंत में यह स्थिति ऐसी पराकाष्ठ को पहुँच गई जहाँ

वक्तिगत अधिकार-भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्त्व को अपनी छाया से ढक लिया। एक बार पुरुष के अधिकार की परिधि में पैर रख देने के पश्चात् जीवन में तो क्या, मृत्यु में भी वह स्वतंत्र नहीं।"[21]

महादेवी की यह चिंता वास्तव में संपूर्ण स्त्री-जाति की चिंता है। केवल महादेवी वर्मा ही नहीं मध्यकाल में गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्त्रियों की पराधीनता को लेकर चिंता व्यक्त की है – *कत विधि सृजि नारी जग माही, पराधीन सपनेहु सुख नाही*।

दरअसल महादेवी वर्मा स्त्रियों की दयनीय अवस्था के लिए विवाह संस्था और रीति-रिवाजों को भी एक हद तक दोषी मानती हैं। उनका प्रश्न है कि हमारे समाज में स्त्रियाँ भी कबतक केवल एक रमणी अथवा भार्या बनकर स्वयं को संतुष्ट रख सकेंगी। महादेवी लिखती हैं – "विवाह मनुष्य जाति की असभ्यता की भी सबसे प्राचीन प्रथा है और सभ्यता की भी। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का सजीव चिन्ह देखना हो तो विवाह के समय गुलाब-सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पांच वर्ष बाद देखिये। उस समय कौन-सी रुला देनेवाली करुणा न मिलेगी !"[22]

उपर्युक्त कथन को महादेवी वर्मा की क्रांतिकारी विचारधाराओं एवं उनके अनुभवों का ही हिस्सा कहा जाना चाहिए। सामाजिक कार्यकर्ता एवं राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रहने के कारण उनके जीवनानुभवों का दायरा भी बहुत विस्तृत रहा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। महादेवी वर्मा का वैवाहिक जीवन भी सफल नहीं हो पाया था। स्वयं के जीवन के इस कड़वे अनुभव ने भी महादेवी वर्मा को बहुत कुछ अलग सोचने पर अवश्य विवश किया होगा। वह स्वयं के वैवाहिक जीवन के बारे में कहती हैं कि – '*अविवाहित वैवाहिक जीवन है।*' (संदर्भित कथन डी.डी.आर्काइव्स की चर्चा से।)

महादेवी वर्मा के संबंध में यह कहा जाता है कि उन्हें भी अपने पति से उपेक्षा मिली। जिसके उपरांत वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुई परंतु बौद्ध धर्म से भी शीघ्र ही उनका मोहभंग हो गया था। अनामिका जी के अनुसार- "उनके (महादेवी) निजी जीवन के बारे में तो बस अटकलें ही लगायी जाती रही हैं। पर सार्वजनिक जीवन में उनके जग ज़ाहिर मनचीते पुरुष हैं : बुद्ध और गाँधी, जो कहीं से भी 'मैचो' अतिपुरुष नहीं।"[23] हालांकि एक अटकल तो यह भी लगायी जाती हैं कि महादेवी का बौद्ध धर्म से भी मोहभंग हो चुका था ! क्योंकि बौद्ध धर्म में भी स्त्री से परहेज़ किये जाने की बात कही गयी है। इसमें भी स्त्री को पुरुष के विकास मार्ग में बाधक माना गया है। उदाहरण के रूप में हम यशोधरा की निम्नांकित पंक्तियाँ देख सकते हैं, जिसे मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा से कहलवाया है कि – *सखि ! यदि वे मुझसे कहकर जाते, कहते तो क्या पथ बाधा ही पाते !*

इसका दूसरा प्रमाण हमें जातक कथाओं में भी मिलता है, जिसमें भिन्न-भिन्न कथाओं के माध्यम से स्त्री-पुरुष के संबंधों एवं उसके लाभ-हानि को बताने की चेष्टा की गई है। जातक कथाओं में एक कथा का शीर्षक है – 'स्त्री का

आकर्षण।' इस कथा में एक राजा, एक नटी, एक तपस्वी एवं एक राजकुमार की कहानी है। इसमें एक वर्णन आता है जब वह तपस्वी नटी के प्रति आकर्षित होकर अपना नियंत्रण खोने लगता है। परंतु उसी समय राजकुमार वहां आ जाता है और उसे आता देख तपस्वी भाग खड़ा होता है परंतु उसकी सिद्धि नष्ट होने के कारण वह समुद्र में गिर जाता है जिसे बाद में राजकुमार बचा लेता है। उस समय राजकुमार (जिसे स्त्रियों का सान्निध्य पसंद नहीं था।) तपस्वी को जो उपदेश देता है वह समझने योग्य है – " औरत पुरुषों को ठगनेवाली महामाया होती हैं। औरत ब्रह्मचर्य को भी डिगा देती हैं। उसके सारे जन्म का पुण्य नष्ट कर देती हैं। यह पुरुषों से संबंध बना उसके पुरुषत्व को ठीक उसी प्रकार जला डालती हैं जैसे अग्नि अपने जलनेवाले स्थान को जला देती है।"[24] इस कथा के माध्यम से कथाकार ने यहाँ स्त्री का कामुक और छली रूप दिखाने की चेष्टा की है। यानी केवल रोमन समाज एवं ईसाई धर्म में ही स्त्रियों को नरक का द्वार नहीं कहा गया वरन् भारतीय प्राचीन काल से लेकर बौद्ध धर्म तक में भी स्त्रियों को माया और ठगिनी के रूप में चित्रित किया गया है। इसके प्रमाण हमें कबीर की वाणी में भी मिलने लगता है ; जब वह कहते हैं कि – *माया महा ठगिनी हम जानी।* कबीरदास तो इससे भी आगे कहते हैं कि – *नारी तन की झाईं परत, अँधा होत भुजंग।* कबीर के ये कथन स्त्री विरोधी कथन हैं। हालांकि कोई अपने तर्क में यह कह सकता है कि कबीर ने यह उक्ति परकीया नारी के लिए कहा है। दूसरे, उक्त कथन में माया का अर्थ धन से है। परंतु पहला अर्थ तो नारी से ही है न ! नारी चाहे स्वकीया हो अथवा परकीया; नारी के परकीया स्थिति के लिए भी क्या हमारा समाज उत्तरदायी नहीं है ! समस्या यह है कि हमारे समाज के पुरुष को आदिकाल से ही बहुत सभ्य और संयमी स्थापित करने एवं स्त्री को चरित्रहीन, ठगिनी और नरक का द्वार सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। चाहे कोई भी धर्मग्रंथ उठाकर देख लिया जाए। अब कुछ लोगों का तर्क हो सकता है कि तुलसीदास ने सीता का चरित्र कितना सम्मानजनक दिखाया है, परंतु तुलसीदास स्वयं स्त्री की स्वतंत्रता से डर जाते हैं – *जिमि स्वतंत्र होहिं, बिगरहिं नारी।* यानि एक तरफ़ तो आपको स्त्री की पराधीनता से दुःख होता है वहीं दूसरी तरफ़ आपको स्त्री के स्वतंत्र हो जाने से डर लगता है। हालांकि इस कथन का विश्लेषण किया जाना चाहिए कि तुलसीदास को स्त्री के स्वतंत्र हो जाने पर उनके बिगड़ने का जो भय है, वह कौन-सा भय है और उनकी दृष्टि में यह बिगड़ना भी किस प्रकार का बिगड़ना है। मध्यकाल के महान कवि तुलसीदास यदि यह बात कहते हैं, तो अवश्य उसकी पड़ताल की जानी चाहिए।

परंतु कुल मिलाकर निष्कर्ष यही निकलता है कि आदिम युग से लेकर रीतिकाल तक और उसके बाद आधुनिक काल तक भी स्त्री को दोयम दर्जे का समझा जाता था और वर्तमान में भी स्थितियां बहुत अच्छी नहीं समझी जायेगी। अभी भी स्त्री को समानता का वह अधिकार नहीं मिल पाया है, जिसकी वकालत हमारा संविधान करता है। स्त्रियों को कहने के लिए भले ही आरक्षण मिल गया है परंतु घर में और कार्य क्षेत्र में आज भी उसकी स्थिति चिंताजनक है।

"सन् 1956 में लागू 'हिन्दू कोड बिल' तथा भारतीय संविधान की धारा 15 तथा 16 ने हालांकि क़ानूनी एवं संवैधानिक तौर पर भारतीय स्त्री के मानवीय एवं मौलिक अधिकारों की रक्षा का दायित्व लिया है।"[25] परंतु वस्तुस्थिति क्या है; इससे कोई अनभिज्ञ नहीं। आज भी स्त्री मात्र एक 'ऑब्जेक्ट' समझी जाती है। अच्छी बात यह है कि अब स्त्रियाँ अपनी बातों को खुलकर कहने का साहस करने लगीं है। हालाँकि इसकी संख्या अभी भी कम है जो अपनी बात को निडर होकर कह सकें। जो स्त्रियाँ बेबाक होकर अपनी बातें कहती हैं अथवा अधिक प्रगतिशील एवं मुखर होती हैं ऐसी स्त्रियों से पुरुष समाज डरता है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त स्त्रियों के प्रति समाज की जो धारणा है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं – "आधुनिक शिक्षाप्राप्त स्त्रियाँ अच्छी गृहिणियां नहीं बन सकतीं ; यह प्रचलित धारणा पुरुष के दृष्टिबिन्दु से देखकर ही बनाई गई है, स्त्री की कठिनाई को नहीं।"[26]

उपर्युक्त कथन आज भी प्रासंगिक है। आज भी अमूमन लोगों की यही धारणा है कि अधिक पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन संभालने में असफल होती हैं। परंतु अनेक ऐसे उदाहरण हमारे समाज में देखने को मिल जायेंगे, जहाँ यह धारणा खंडित होती है। एक शोध में इस बात की पुष्टि की गई है कि एक स्त्री एक साथ कई कार्य कर सकती हैं, क्योंकि उनका मस्तिष्क 'मल्टी डायमेंशनल' होता है। स्त्रियाँ घर एवं दफ़्तर हर कहीं अपना संतुलन कायम करने में सफल हुई हैं। ऐसे में स्त्री का दायित्व पुरुष से कई गुना अधिक समझा जाना चाहिए। जहाँ तक महादेवी वर्मा की भाषा शैली की बात है तो उनमें हिन्दी खड़ी बोली के अतिरिक्त देशज शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। कहीं–कहीं संस्कृत के श्लोकों का प्रयोग मिलता है। बहुमुखी प्रतिभा की धनी महादेवी वर्मा न केवल एक सशक्त स्त्री रचनाकार हैं वरन् स्त्री अधिकारों पर मुख्यधारा में आकर बात करने वाली स्त्रियों की पुरखिन भी हैं। महादेवी आधुनिक स्त्री समाज की आदर्श हैं। उनके अमूल्य योगदान के लिए हिन्दी साहित्य जगत उनका सदैव ऋणी रहेगा।

"वह पवित्र देव-मंदिर की अधिष्ठात्री देवी भी बन चुकी है

और अपने गृह के मलिन कोने की बंदिनी भी।"[27]

## संदर्भ-ग्रंथ-सूची

1) samalochan.blogspot.com/2020/11/blog-post_2.html (गरिमा श्रीवास्तव, 'स्त्री-दर्पण : नवजागरण और स्त्री-पत्रकारिता')।
2) वही
3) वही
4) महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008 ; पृष्ठ. (अपनी बात) 9.

5) अनामिका (2013), 'महादेवी की मीरां : मनचीते पुरुष की खोज', प्रतिमान, वर्ष-1, खण्ड-1, अंक-1, (जनवरी-जून), पृष्ठ. 131
6) वाचस्पति पाठक, 'प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएं', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद – 211001, तेइसवां संस्करण : 2015 ; पृष्ठ. 183.
7) राधा कुमार, 'स्त्री संघर्ष का इतिहास : 1800 – 1990', वाणी प्रकाशन 4695, 21ए, दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002, आवृत्ति : 2014 ; पृष्ठ. 23
8) . भरत सिंह उपाध्याय, 'थेरीगाथा', रामनिवास गौतम (संपादक), गौतम बुक सेन्टर, चन्दन सदन, सी-263 ए, गली नं. – 9, हरदेवपुरी, शाहदरा, दिल्ली – 110093, प्रथम संस्करण : 2010 ; पृष्ठ. 16
9) महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008 ; पृष्ठ. 12.
10) वही, पृष्ठ. 13
11) वही, पृष्ठ. 12
12) लियो तोलस्तोय, 'स्त्री और पुरुष', मेपल प्रेस प्रा.लिम., ए-63, सेक्टर - 58, नॉएडा, (उ.प्र.)-201301, स्क्रिप्ट एडिशन : 2014 ; पृष्ठ. 103
13) महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008 ; पृष्ठ. 11
14) सीमोन द बउआर, 'स्त्री-उपेक्षिता', (अनु.) प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण : 1998 ; पृष्ठ. 60
15) वही, पृष्ठ. 60
16) वही
17) महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008 ; पृष्ठ. 94
18) वही, पृष्ठ. 95
19) महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008. पृष्ठ. 98
20) वही, पृष्ठ. 99
21) वही, पृष्ठ. 119
22) वही, पृष्ठ. 119
23) वही पृष्ठ. 72
24) अनामिका (2013), 'महादेवी की मीरां : मनचीते पुरुष की खोज', प्रतिमान, वर्ष-1, खण्ड-1, अंक-1, (जनवरी-जून), पृष्ठ. 127
25) भदंत आनंद कौशल्यायन, 'जातक कथाएं', (संपा.) एस.एस.गौतम, गौतम बुक सेंटर, 1/4446, रामनगर एक्सटेंशन, गली नं. 4, डॉ. आम्बेडकर गेट, मंडोली रोड, शाहदरा, दिल्ली – 110032, प्रथम संस्करण : 2015 ; पृष्ठ. 143
26) रोहिणी अग्रवाल, 'समकालीन कथा साहित्य : सरहदें और सरोकार', आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड , एस.सी.एफ़. 267, सेक्टर – 16, पंचकूला – 134113 (हरियाणा), द्वितीय संस्करण : 2012 ; पृष्ठ.136

27) महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंज़िल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण : 2008. पृष्ठ. 58

28) वही, पृष्ठ. 11

---

***(पीएचडी, हिन्दी)**
**भारतीय भाषा केंद्र (jnu)**
**(chaitalisinha4u@gmail.com)**

## 'अवाक' : कैलाश मानसरोवर की अंतर्यात्रा का वृतांत

**स्वाति चौधरी***

### सारांश

*गगन गिल का 'अवाक्' विश्व की कठिनतम यात्राओं में मानी जाने वाली कैलाश मानसरोवर की यात्रा का एक महत्वपूर्ण यात्रा वृत्तांत है। जिसमें कैलास मानसरोवर का अनुपम सौन्दर्य, पहाड़, सपाट मैदान, ऊँची-नीची पगडंडियाँ, झीलें, तिब्बतियों की संस्कृति, बौद्ध धर्म के प्रति आस्था, दलाईलामा के प्रति निष्ठा जैसी संपूर्णता को एकाकार करके प्रस्तुत किया गया है। इसमें लेखिका ने कैलाश-मानसरोवर की यात्रा की अलौकिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। जिससे यह मात्र बाह्य यात्रा को ही प्रस्तुत न करके अंतरयात्रा को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला एक महत्वपूर्ण वृतांत है।*

**बीज शब्द** – *अवाक्, यात्रा, यात्रा साहित्य, अंतर्यात्रा, कैलास, दर्शन, प्रकृति, सौन्दर्य*

### भूमिका

यात्रा करना एक साहसिक कार्य माना जाता है। जिसके कारण उसके लिए हमेशा पुरुषों को ही प्राथमिकता दी जाती है। आम तौर पर ये होता है कि स्त्रियाँ घर पर रहे और घर का काम करें बाहर के काम पुरुष ही भली-भाँति कर सकता है। लेकिन इस रूढ़िवादी सोच को स्त्रियाँ हमेशा से तोड़ने का प्रयास करती रही है। वे एक चारदीवारी में बंधकर नहीं रह सकती। उनको भी बाहर निकलना है और इन जंजीरों को तोड़ते हुए सरहदों को पार करना है। इसी स्वछंदता की तलाश में अनेक स्त्रियों ने यात्राएं की है और उन्हें लिखा भी है। जिससे आज हिन्दी में बड़े पैमाने पर स्त्रियों द्वारा भी यात्रा साहित्य लिखा जा रहा है। जिसमें प्रमुख है – कृष्णा सोबती का 'बुद्ध का कमंडल', नासिरा शर्मा 'जहाँ फव्वारे लहू रोते हैं', गगन गिल का 'अवाक' : कैलाश मानसरोवर एक अंतर्यात्रा, रमणिका गुप्ता का 'लहरों की लय', अनुराधा बेनीवाल का 'आजादी मेंरा ब्रांड' आदि। इस कड़ी में गगन गिल का 'अवाक्- कैलास मानसरोवर एक अंतर्यात्रा' एक महत्वपूर्ण यात्रा वृतांत है। जिसमें दुर्गम यात्राओं में से एक कैलास मानसरोवर की यात्रा को प्रस्तुत किया गया है। यात्राओं के संबंध में स्त्री के संबंध में रमणिका गुप्ता लिखती है कि "मैं महसूस करती हूँ- स्त्री के लिए यात्राओं का मतलब वही नहीं होता, जो किसी पुरुष के लिए होता है। स्त्री के लिए घर यथास्थितिवाद का प्रतीक है और जब वह घर की दहलीज लांघती है तो मुक्ति की दिशा में उसकी वह पहली यात्रा होती है। यात्राएं स्त्री को यथास्थितिवाद की रूढ़ि से बाहर निकालती हैं, जीवन में बेहतरी की उम्मीद जगाती हैं, यह

मैंने अपने अनुभव से जाना है।"[1] घर की दहलीज को लांघ कर गगन गिल ने जो दुर्गम यात्रा की है उन्हीं अनुभवों का वृतांत 'अवाक' में प्रस्तुत किया गया है।

सबसे पहले यात्रा शब्द को अगर देखा जाए तो 'यात्रा' एक स्त्रीलिंग शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत की 'या' धातु के साथ 'ष्ट्रन' प्रत्यय के योग से हुई है। (या+ ष्ट्रन) जिसका अर्थ है जाना। यात्रा को अरबी भाषा में 'सफ़र' कहा जाता है और इसे विभिन्न उद्देश्यों, स्वरूप, कार्य व्यापार आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। भ्रमण, घुमक्कड़ी, यायावरी, चलवासी, खानाबदोशी, आना-जाना, घूमना, भटकना, आवारागर्दी करना, तीर्थाटन, मेला, फेरी आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग इसके लिए किया जाता है। गमन, प्रस्थान आदि अर्थों में भी इस शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार देखा जाए तो सामान्यत: 'यात्रा' शब्द का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना।

इसी तरह यात्रा-साहित्य को अगर देखा जाए तो कहा जा सकता है कि यात्रा के दौरान जो भी बाह्य और आंतरिक विचार मन में आते हैं वे मानस-पटल पर अंकित हो जाते हैं और इन्हीं मानस-पटल के विचारों को जब लिपिबद्ध किया जाता है तो वहीं से यात्रा साहित्य का जन्म होता है। कोई भी व्यक्ति अपनी यात्रानुभूतियों को जब कलात्मक रूप देकर संवेदना के साथ प्रस्तुत करता है तो उसे यात्रा-साहित्य कहा जाता है। यात्रा-वृतांत केवल देखे गए स्थानों का विवरण मात्र नहीं है अपितु इसमें यात्रा के दौरान देखे गए स्थानों, स्थलों, भवनों, भोगी हुई घटनाओं एवं उससे सम्बन्धित अनुभूतियों को कल्पना एवं भाव-प्रवणता के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

2008 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित गगन गिल का 'अवाक्' विश्व की कठिनतम यात्राओं में मानी जाने वाली कैलाश मानसरोवर की यात्रा का एक महत्वपूर्ण यात्रा वृत्तांत है। अवाक् अर्थात् जिसे सन्न, स्तब्ध, हतोत्तर, उत्तरहीन ब्रह्म, अंतराकाश, अव्यक्त, अशब्द, परम तत्त्व, शाश्वत मौन, निमुहाँ, गूँगा, शांत व प्रदक्षिणाशील आदि शब्दों से जाना जा सकता है। इसी अवाक् की अलौकिक अनुभूतियों को शब्दबद्ध करने का प्रयास इस यात्रा वृतांत में किया गया है। जिसमें तिथि और समय के फेर को प्रस्तुत न करके उन साधारण-सी घटनाओं का उल्लेख किया गया है जोकि साधारण होने के बावजूद साधारणता में भी असाधारणता को समेटे हुए है। अपने पति निर्मल की आखिरी इच्छा को पूरी करने के विशेष प्रयोजन से की जाने वाली इस यात्रा के लिए लेखिका किसी भी तरह से कैलाश जाना चाहती है। कंधे के दर्द से बेहाल और शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद पति की आखिरी कमीज,

[1] रामणिका गुप्ता, 'लहरों की लय'(2015), नेहा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 07

दारजी की दास्तार, माँ की चुन्नी, कन्नू की कॉपी का पृष्ठ और रिनपोछे की अंगुली का नाखून जैसी वस्तुएं वही माँ के चरणों में छोड़कर आना चाहती है। अनेक कठिनाईयों के बावजूद इस दुर्दह और कठिन तीर्थयात्रा के लिए जा कर वह निर्मल के प्रति अपने समर्पण व आस्था को दिखाती है। लेखिका ने निर्मल के जीते-जी यह तीर्थयात्रा करने करने का वादा किया था और इसी वादे को पूरा करती हुई यूनानी सहेली वैल्ली, जिस समय निर्मल अस्पताल में बिस्तर पर पड़े थे। तो यह तीर्थयात्रा करके मानसरोवर में खड़े होकर उन्हें पुण्य प्रदान कर रही है। “जब वह अस्पताल में बिस्तर पर पड़े थे, वैल्ली मानसरोवर के जल में खड़े हो कर निर्मल का नाम ले-लेकर देवताओं को पुकार रही थी। अस्पताल में ही मैंने उन्हें मानसरोवर से लाया जल पिलाया था, उन्होंने कैलास-मानसरोवर की तस्वीरों का दर्शन किया था।

- तुम ठीक हो जाओगे, तो मैं खुद जाऊँगी, तुम्हारी परिक्रमा करने...”[2] इसी वादे को निभाती हुई लेखिका निर्मल के निधन के बाद उनके शरीर का पहना हुआ अंतिम वस्त्र कैलाश में देवी को समर्पित करने व निर्मल को पूर्ण मोक्ष प्रदान करने के लिए इस तीर्थयात्रा की शुरुआत करती है। यह यात्रा आस्था व निष्ठा को किनारे कर निर्मल, मानसिक शांति के लिए की गई अंतर्यात्रा है। जीवन-मरण की अनवरत प्रक्रिया को शाश्वत सत्य मानते हुए लेखिका निर्मल द्वारा ‘अंधेरे में बुद्ध’ के लिए अनुवाद किये गए मोरिस ब्लांशों को बार-बार दोहराती है “जो भी ईश्वर को देखता है, मर जाता है, मरना एक ढंग है ईश्वर को देखने का...”[3] निर्मल ने इस ईश्वर को देखा होगा या नहीं; बताया नहीं जा सकता और जो प्रार्थनाएं लेखिका करती है वो भी पता नहीं वहाँ पहुँचती है या नहीं पहुँचती है। यहाँ से उसे जाना नहीं जा सकता। इसी को जानने के लिए लेखिका को कैलाश जाना है “दूर कैलाश-हिमालय की घाटियों में, मुझे लगता है, डॉक्टर नहीं, महादेव जी मुझे खींच रहे हैं, कि मैं मनुष्य नहीं, कोई पतंग हूँ, जो उड़ना चाहती है... बस एक झटका और, कि मैं आसमान में होऊँगी।”[4]

यह यात्रा वृतांत गगन गिल की कैलाश-मानसरोवर की यात्रा की अलौकिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जिससे यह मात्र बाह्य यात्रा को ही प्रस्तुत नहीं करता है बल्कि अंतरयात्रा को भी अभिव्यक्त करता है। कैलाश को अगर देखा जाए तो कैलाश किसी धर्म, अनुष्ठान से दूर तीर्थयात्रियों का एक अनौपचारिक संप्रदाय है जिसका भारत से बहुत पुराना संबंध रहा है। लगभग पाँच हजार वर्षों से भारत और तिब्बत के अच्छे संबंध व

[2] गगन गिल, ‘अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा’ पृ. 14
[3] वही, पृ. 19
[4] वही, पृ. 21

धार्मिक घनिष्ठता होने के कारण भारतीय हिंदुओं को तिब्बत जाने व तिब्बती बौद्धों के लिए भी भारत में तीर्थयात्रा को लेकर बिना किसी वैमनस्य के तीर्थयात्राएं होती रही है लेकिन 1959 में तिब्बत को अधिगृहीत करने के बाद लगभग 22 वर्षों तक इस यात्रा की अनुमति नहीं दी गई। फिर 1981 में भारत-चीन कटूता कम होने के बाद दोनों देशों के बीच समझौता करके करीब 500 यात्रियों को भारत से सीधे पश्चिमी तिब्बत में प्रवेश कराके इस यात्रा को करने की अनुमति प्रदान की गई। लगभग तीस दिन में सम्पन्न होने वाली इस यात्रा का मार्ग अत्यंत दुर्गम व पहाड़ों के स्खलन से भरा हुआ है लेखिका लिखती भी है कि "यह यात्रा औसतन 15,000 फीट से 18,500 फीट की ऊँचाई पर जीवित रहने की चुनौती ही नहीं है, इतनी ऊँचाई पर एक मनुष्य के अंतरतम में क्या विभीषिका होती है, उससे बच आने की कसौटी भी है। इस यात्रा का मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक परीक्षण शारीरिक यातना से कुछ भी कम नहीं।"[5]

कैलाश जाना अर्थात देव-पर्वत कैलाश अर्थात आदिम-स्मृति में जाना है। कैलाश के दर्शन पुण्यकारी है और इसका स्थान और कोई नहीं ले सकता। "कैलाश-मानसरोवर इस महाद्वीप की सामूहिक जातीय को जिस तरह झंकृत करता है, कोई दूसरा शब्द नहीं, कोई दूसरा स्थान नहीं।"[6] वेदों के रुद्र, पुराणों के शिव, आदिवासियों के भैरव, भोले शंकर कभी शिकारी, कभी वैरागी, कभी नटराज, कभी तांडव तालित, सृष्टि को नियमों में बांधकर नियमों का विध्वंस करने वाले शिव सदाशिव है।

हर यात्रा में बाह्य के साथ-साथ आंतरिक चेतना की अनुभूतियाँ को महसूस करने का अवसर मिलता है। इस अंतर्यात्रा में भी अनेक व्यक्ति आते-जाते रहते हैं। जिससे एक तरफ उनकी छवियों, उक्तियों, संवाद, भंगिमाओं, क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया गया है तो दूसरी तरफ धर्म, दर्शन, विवेक व आस्था को अभिव्यक्त किया गया है। यह मन की पीड़ा को शांति प्रदान करने के लिए की गई तीर्थयात्रा है इसी तीर्थयात्रा के लिए लामा अंगारिका गोविंदा का कथन उद्धत करते हुए लेखिका कहती हैं कि "तीर्थयात्रा केवल बाहर की दुनिया से आरंभ नहीं होती, उसकी वास्तविक लय हमेशा भीतर से शुरू होती है, एक अदृश्य भीतरी बिन्दु से.."[7]

[5] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा'' पृ. 217
[6] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. 211
[7] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. 43

इस यात्रा में लेखिका की रिश्तेदार दंपति के साथ-साथ अनेक अजनबी लोगों से मुलाकात होती है साथ ही पड़ोसी देश चीन, नेपाल व तिब्बत में गाईडों, ड्राईवरों, घोड़ा चालकों से मिलती है। जिनसे सभी से लेखिका का अपनापन है लेकिन फिर भी वह अपने मन की यादों में लिपटी, स्वास्थ्य से जूझते हुए अरुचनीय पीड़ा को सहते हुए अनेक सदस्यों के बीच भी अपने अंतरद्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाती है। इसीलिए यात्रा से ज्यादा अंतर्यात्रा को अभिव्यक्त करने वाला यह यात्रावृतांत अन्य यात्रा वृत्तांतों से बिल्कुल अलग है। यह एक आध्यात्मिक यात्रा है जिसमें विश्वास, मिथक व भौगोलिक समस्याओं को अभिव्यक्त किया गया है। यह यात्रा बाहर की नहीं है बल्कि उसके अंदर के अनजान कोनों तक ले जाने वाली यात्रा है। जिससे इसमें बाह्य चित्रण से अधिक दार्शनिकता का पुट आ गया है। मानसरोवर पहुँचकर लेखिका देखती है कि मानसरोवर उजाड़ पड़ा हुआ है उस पर सिर्फ एक झीना-सा धुंध का परदा पड़ा है। वहाँ की दिव्यता को प्रस्तुत करते हुए लेखिका कहती है कि "कैसी है यह जगह ? कुछ ही दिनों में इसने एक-एक करके सारे कवच उतरवा लिए - ज्ञान के, आस्था और शंका के।

अवाक्? क्या यह सही शब्द है, उसे कहने को, जो इस समय हो रहा है हमारे साथ?

बूँद-बूँद टपकता सन्नाटा

बाहर सृष्टि में झर रहा है कि कहीं भीतर?"[8]

हर जगह यह दार्शनिक रोमांच दिखाई देता है। गहरे दृष्टा भावों को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है भीतर ही भीतर उठने वाले अलक्षित, चेतन सूक्ष्म भावों को बहुत ही आत्मीय ढंग के साथ अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए लेखिका एक अन्य लोक की यात्रा करने लग जाती है। इसी आंतरिकता के भूगोल को प्रस्तुत करते हुए इस यात्रा वृतांत के संबंध में अशोक वाजपेयी कहते हैं कि "कवयित्री गगन गिल का यह अंतर्यात्रा-वृतांत हिन्दी का एक अनोखा दस्तावेज है जिसमें वृत्तांत का ठोसपन, कथा का प्रवाह और कविता की सघन आत्मीयता सब एक साथ है। उसमें स्मृतियों, संस्कारों, अंतध्वनियों, जीवन की लयों आदि सबका एक वृंदवादन लगातार सुनाई देता है। कुछ इस तरह का भाव कि सब कुछ एक-दूसरे से जुड़ा है, प्रतिकृत और झंकृत है।"[9]

---

[8] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. 200
[9] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. फ्लैप पेज

ये यात्रावृतांत अपने साथ पाठक को भी साथ लेकर चलता है प्रकृति, मनुष्य, हिमालय, झीलें, नदियाँ, जल, वायु सब एक निरंतर प्रवाह में आकस्मिक, अप्रत्याशित व रहस्यमय रूप से चलते रहते है। अंतर्यात्रा के साथ-साथ लेखिका अपने बाह्य परिवेश के प्रति भी काफी जागरूक है। आस्था को साथ लेकर भी वह तथ्यों को प्रस्तुत करती है। ऊपर काफी ऊँचाई पर होने के कारण ऑक्सीजन की कमी, साधनों की कमी व डॉक्टरों की सुविधा नहीं होने के कारण अनेक व्यक्तियों की रास्ते में ही मृत्यु हो जाती है। इसी तरह वहाँ जाने वाले तीर्थयात्री, पर्वतारोही व बौद्धभिक्षु रास्ते में जाते समय कचरा फेंक देते है जिससे उनके द्वारा फैंके गए सामान व बोतलों से यहाँ अत्यंत गंदगी फैल गई है। जिसके लिए आस्था और ग्लोबल वार्मिंग जैसे संवेदनशील मुद्दों को लेकर लेखिका प्रश्न खड़ा करती है। वह कहती है कि "एक नहीं, दो नहीं, तीन-चार जगह हम रुकते हैं, जहाँ से भी जल भरते हैं, साफ नहीं, कुछ तो तैर रहा है, इसे फेंक दें कहीं तो साफ मिलेगा।"[10] लेकिन वही मटमैला पानी ही लेकर संतोष करना पड़ता है और कहती है कि खैर मैला हुआ तो क्या हुआ मानसरोवर का तो है पीयेंगे नहीं तो पूजा-स्थल में ही रख देंगे। लेकिन जो पानी पीने योग्य नहीं वह पूजा योग्य कैसे हो सकता है। इसी चिंता को अभिव्यक्त करते हुए एक और प्रश्न आस्था को लेकर करते हुए वह कहती है कि "विडंबना - क्या इसे हम हमारी सभ्यता की विडंबना कह सकते हैं ? जो पीने योग्य नहीं, वह पूजा योग्य फिर भी है"[11]

इस पुस्तक का सबसे आकर्षक भाग है बीच-बीच में आने वाले उद्धरण। हर जगह धार्मिक ग्रंथों, महाशिवपुराण, स्कन्ध पुराण, ऋग्वेद व विचारकों की पंक्तियों जैसे बादलेयर, अक्का महादेवी व मिलारेपा संत कवि की कविताएं को उद्धत करके इसे विशिष्ठ बनाया गया है। लेखिका कहती भी है कि "अक्का महादेवी के वचन मेरे साथ लगभग पूरी यात्रा करते रहे, महाभारत की उक्तियाँ भी, बादलेयर और ओडेन की कविताएं भी। जो मन यात्रा करने गया था, वह सभ्यता, शिक्षा-दीक्षा, पूर्वजों के लेखन-कथन से सींचा मन था। उसमें उतनी तरह की खाद-मिट्टी न होती न तो 'अवाक्' भी न होती। "[12]

हर यात्रा साहित्यकार की अपनी एक विशिष्ठ शैली होती है जिसका रूप परिवर्तित होता रहता है, कभी निबंधात्मक, कभी कथात्मक तो कभी आलोचनात्मक। भाषा के स्तर पर अगर देखा जाए तो कैलाश अनुभव की अभिव्यक्ति विशिष्ठ ढंग से की गई है। लेखिका के कवयित्री होने का प्रभाव इस पुस्तक पर सीधा दिखाई दे रहा है।

[10] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. 115
[11] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. 116
[12] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. 212

जिसमें इसकी भाषा गद्य के साथ काव्यात्मक अधिक होती दिखाई देती है। जिससे गद्य, कविता और मौन मिलकर अभिव्यक्त हो रहे हैं। इसके अनूठे गद्य के बारे में अशोक वाजपेयी कहते हैं कि "यह अनूठा गद्य है जिसमें गद्य और कविता, वृत्तांत और चिंतन के पारंपरिक द्वैत झर गये हैं और जिसमें होने की, मनुष्य होने के रहस्य और विस्मय का निर्मल आलोक, अपनी कई मोहक रंगतों में आर-पार फैला हुआ है।"[13]

इस प्रकार देख सकते हैं कि इस पुस्तक में कैलास मानसरोवर का अनुपम सौन्दर्य, पहाड़, सपाट मैदान, ऊँची-नीची पगडंडियाँ, झीलें, तिब्बतियों की संस्कृति, बौद्ध धर्म के प्रति आस्था, दलाईलामा के प्रति निष्ठा जैसी संपूर्णता को एकाकार करके प्रस्तुत किया गया है।

**संदर्भ सूची :-**

1. रामणिका गुप्ता, 'लहरों की लय'(2015), नेहा प्रकाशन, दिल्ली
2. गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा'(2008), नई दिल्ली

***शोधार्थी, हिंदी विभाग**
**हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद**
**Swatichoudhary212@gmail.com**
**मो. 9461492924**

[13] गगन गिल, 'अवाक - कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा' पृ. फ्लैप पेज

# मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में जातिप्रथा और नारी सशक्तिकरण

**पुरबी कलिता***

भारतीय समाज में जातिप्रथा एवं छुआछूत का वीभत्स रुप पाया जाता था।वर्ण व्यवस्था हिन्दु समाज में व्याप्त हैं। यह आज से नहीं पूरातन काल से चली आ रही हैं। व्यक्तियों के साथ जाति व्यवस्था के आधार पर ही अछूत व्यवहार किया जाता है। ईसाई मिशनरियों का ध्यान 11 वी शताब्दी में इस ओर आकृष्ट हुआ था। सन 1911 की जनगणना के लिए जारी गेट सर्कुलर में अछूतों और जन जातियों के लिए अलग तालिकाएँ बनाने का निदेश दिया गया था क्योंकि हिन्दू उन्हें हिन्दु नहीं मानते और उनका स्पर्श भी नहीं करते इसलिए वे हिन्दू नहीं है। "सन्1924 में इलाहाबाद में हिन्दू महासभा के विशेष अधिवेशन में अछूतों की इस मांग पर चर्चा हुई कि उन्हें स्कूलों और मन्दिरों में जाने और सार्वजनिक कुओं का इस्तेमाल करने की इजाजत दी जानी चाहिए।"1

सन् 1931 को लंदन की गोलमेज कॉफेंस में डॉ. भीमराव अम्बेदकर की उलझना पड़ा। साल भर बाद अनशन के जरिए वे अंग्रेजों को कम्यूनल अर्वाड लागू करने से रोके पाये। जिसके फलस्वरुप गाँधी जी और डॉ. अम्बेडकर में 'पूना पैक्त' नाम से एक समझौता हुआ।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में जाति प्रथा और छूआछूत का विरोध प्रभावपूर्ण ढंग से हुआ है।हिन्दी कथा साहित्य में मैत्रेयी पुष्पा का प्रवेश बीसंवी सदी के उत्तर्राद्ध में होता है।मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी रचनाओं में बुन्देलखंड के ग्रामीन अंचल के जन जीवन का बड़ी मार्मिकता के साथ वर्णन किया है।आंचलिक पृष्ठभूमि उनकी रचनाओं का सर्वाधिक अनिवार्य अंग है।मात्र पन्द्रह वर्षों में हिन्दी कथा साहित्य में अपना स्थान बनाने वाली मैत्रेयी पुष्पा का मूल विषय ---"नारी सशक्तिकरण" है।नारी ने जब अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया तो उसे नारी सशक्तिकरण का नाम दिया गया।"नारी शक्ति का अर्थ स्त्रियों का आत्म-निर्णय और इसका अर्थ है कि पितृसत्तावादी समाज का कूड़ा-कबाड़ा बुहारकर बाहर फेंकना। "2

इसी संघर्ष के परिणाम स्वरुप आज की नारी पुरुष से पीछे नहीं बल्कि पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में नारी सशक्तिकरण जातिप्रथा एवं छुआछूत के संदर्भ में पाया जाता है।मैत्रेयी के उपन्यास 'इदन्नमम', 'अगनपाखी', 'अल्मा कबूतरी' और 'चाक' में भी समाज में व्याप्त जाति प्रथा एंव छूआछूत का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।उनकी नारी पात्र सशक्त विद्रोह करतें हैं। चाक उपन्यास की कथाभूमि केवल स्त्री जगत नहीं बल्कि अतरपुर गाँव की वे तमाम रुढ़िप्रथा,परंपराएँ, समाज की तथाकथित नारी संहिताएँ भी हैं।सारंग सवर्ण जाति की साहसी महिला है ,वह गाँव के विद्यालय के कुम्हार जाति के शिक्षक श्रीधर के चट्टा पर्व के अवसर पर पैर छू लेती है तथा "सारगं श्रीधर के पाँवों पर झुक गयी और चरण छू लिये अपना पल्ला डालकर।" 3

गाँव में इस तरह की घटना पहली बार होती है कि सवर्ण जाति की महिला किसी निम्न जाति के पुरुष के पैर छूये।लौगसिरी बीबी कहती है- "क्यों री ;उस मास्तर ने लत्ता उजले पहन लिये,तब वह क्या ब्राह्मन हो गया ?दादू कितने गुनी है,पर बैठते हैं धरती पर। नेंकसे मास्तर देखा था ? क्या कहता था ? जौ बड़ा है तो क्या जौ की जाति बड़ी ही जाएगी ?"4

इस बात पर सारगं विचलित नहीं होती।अपने किये पर उसे कोई दूख नहीं है।वह पढ़ी लिखी,समझदार और संवेदनशील भी है ,वह अपना पक्ष सशक्त रुप से रखती हुई कहती है—"आजकल जाति बिरादरी ; तुम भी बीबी पुराने समय की बात...........।"5

इस उपन्यास में और एक नारी पात्र गुलकन्दी नामक नाई जाति की युवती बिसुनदेवा खटीक के साथ भागकर मंदिर में विवाह करती है, इससे पूरे गाँव में खलबली मच जाती है।इस बात पर गाँव की लौंगसिरी बीबी कहती है, "मान ले रे कि गुलकन्दी आ गई,क्या करेगा फिर ?जो हो गया वह लौटनेवाला है ? पंचायत क्या गुलकन्दी को कुँआरी कन्या बनाकर तुम को सौंप देगी,और तुम मनमानी ब्याह कर लोग उसका ?"6

इस बात पर गुस्सा होकर गुलकन्दी का भाई,उसकी माँ हरप्यारी व बिसुनदेवा और गुलकंदी को होली पर योजना बनाकर हत्या कर देते हैं। उस समय गाँव की सभी औरते जाकर पुलिस के सामने इक्टठी होती हैं जबकि पुरुष घरों में छुप जाते हैं।यही नारी सशक्तिकरण का सशक्त रुप है।चाक उपन्यास में पुरुषों की उपेक्षा स्त्रियाँ जातिप्रथा और छूआछूत का विरोध करती दिखाई देते हैं। गाँव की सभी स्त्रियाँ संगठित होकर प्रधान पद की उम्मीदवार सारगं के पक्ष में चुनाव प्रचार करती हैं।सारंग के चरित्र को देखकर महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ मन-मस्तिष्क में गूंजने लगते हैं---"भारतीय नारी भी जिस दिन अपने संपूर्ण प्राण वेग में जाग सके उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं।उसके अधिकार न भिक्षावृत्ति से मिले हैं न मिलेंगे क्योंकि वे उसकी आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है।समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है।"7

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास समाज से उपेक्षित कबूतरा जनजाति को लेकर लिखा गया है।इस उपन्यास में कदमबाई नामक कबूतरी मंसाराम के अवैध पुत्र राणा को जन्म देती है। कदमबाई गाँव की पाठशाला में राणा को बस्ता लेकर पढ़ने भेजती है।लेकिन स्कूल में मास्तर और कज्जा लोगों के बच्चे राणा को कबीला जाति के कारण उससे भेदभाव करते हैं और एक दिन मंसाराम की पत्नी ईर्षा और डाह के कारण राणा के ऊपर कुत्ता छुड़वा देती है। जो राणा को काटकर घायल कर देता है।यहाँ मंसाराम राणा के लिये कुत्ता काटे का इंजेक्शन न भेजने से परेशान थे।"राणा चला गया मंसाराम के हाथों के तोते उड़ गये।जिस सच को दुनिया के सामने झुठलाए हुए थे वह रह-रहकर शूल की तरह कौंचने लगा।जाने वाले बेटे का दर्द,कबूतरा और कज्जा दोंनो से सजा पाने वाले राणा की मजबूरी ,कदमबाई की आँखों में जमा थी।वे जोर देकर बोले राणा को रोक लो।कहीं नहीं जायेगा।"8

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में सभ्य समाज के नेतागण एंव पुलिस वाले भूरी,कदमबाई,अल्मा ही नहीं अपितु बस्तियों की सभी स्त्रियों का खूब यौन शोषण करतें हैं। कबूतरा लोगों से इतनी नफरत की जाती है कि उन्हें नल भी

छुना मना है---"मास्तर जी ने कह दिया तू नल नहीं छुएगा।नल के आसपास भी देख लिय़ा तो.....याद रखना यहाँ सिपाही आते हैं। पकड़वा दूँगा।"9

कदमबाई इस प्रकार के व्यवहार पर गाँव को खूब गाली गलौज करती है। इससे समाज में व्याप्त जाति प्रथा एंव छूआछूत के विरुद्ध सशक्त रुप प्रदर्शित होता है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अगनपाखी' की स्त्री चरित्र भूवन अपने गाँव की मेहतरानी (भंगीजात) के घर जाकर रोटी सब्जी लाकर खाती है। इस बात को लेकर उसकी माँ उसकी पिटाई करती है।भूवन की बहन का लड़का भूवन के माँ से कहता है----"गंगा सों नानी,मैंने एक कौर भी नहीं खाया।भूवन भले ही जिद पर अड़ी रही और कहने लगी –यह खाना हमारे तुम्हारे ही घरों का हैं।मैतरानी को कहाँ फुरसत कि रसोई करे ,दिन भर हमारे द्वार झाड़ती फिरती है,गू मूत उठाती है।"10

भूवन एक मेहतर के घर का खाना बुरा नहीं मानती क्योंकि वह आधुनिक नारी का प्रतीक है। उसका मानना है कि ---"बामन वह होता है जो गंदगी दूर करे।"11

मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में वर्णित नारी पात्र समाज में जाति प्रथा और छूआछूत का विरोध ही नहीं करती अपितु वह समाज से भी टकराने की हिम्मत करती है।

'इदन्नमम' उपन्यास में भी जातिप्रथा और छूआछूत का वर्णन है। यहाँ क्रेशर पर काम करने वाली भील जनजाति के लोग किस प्रकार छूआछूत और जातिप्रथा के कारण अत्याचार व शोषण सहने को मजबूर है। मंदाकिनी से अवधा कहती है----"जिजी,हम भील की जात,शिकार के धनी माने जाते थे। ब्याह-बरात में बड़ी रौनक लगती थी हम औरों के यहाँ। सिरकार ने जंगलन से काढ़ के कुत्ता की दर के कर दए।अहादुरी-बहादुरी सब धर दी एक कनाएँ।अब तो महनत-मसक्कत के बाद भी भूखे के भूखे।"12

इस उपन्यास में भील जनजाति के लोगों की दशा एंव उनकी स्त्रियों के शारीरिक शोषण का वर्णन मिलता है।इस उपन्यास की मुख्य पात्र मंदाकिनी भील जनजाति के लिए उन्हें संगठित करना चाहती है और उन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित करती है उस जनजाति की महिला विद्रोह करती है।क्रेशर के मालिक अभिलाख सिंह को घेरकर मारती –पीटती हैं।उसे गाँव छोड़ने को मजबूर कर देती हैं।इस उपन्यास में जातिप्रथा एंव छूआछूत के खिलाफ महिलायें सशक्त विद्रोह करती हैं।

मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य की स्त्री चरित्र में सामाजिक सचेतनता विद्यमान हैं।उनकी नारी पात्र नारी सशक्तिकरण के प्रति सचेत होने के कारण अपने अधिकारों के प्रति सजग है एवं सामाजिक रुढ़ियों से जूझ रहे हैं।मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में समाज में जाति प्रथा और छूआछूत दूर करने में नारी की मुख्य भूमिका है। मैत्रेयी की नारी पात्र छूआछूत का विरोध ही नही करती अपितु वह समाज से भी टकराने की हिम्मत करती है।'इदन्नमम' की मंदा,भील जनजाति की महिलाएँ, 'चाक' की सारंग,गुलकंदी, 'अगनपाखी' की भूवन, 'अल्मा

कबूतरी' की कदमबाई या अल्मा हो वे सभी छूआछूत और जाति प्रथा समाप्त करने की दिशा में सार्थक प्रयास करते हैं।

**संदर्भ ग्रंथ सूची**

1.अजय कुमार दुबे,अछूतानंद से अंबेदकर, पृःसः9
2. 'विद्रोही नारी',अनुवादःमधु.बी.जोशी,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,संस्करण,पृःसः113
3.मैत्रेयी पुष्पा, 'चाक', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण1997,पृःसः131
4.मैत्रेयी पुष्पा, 'चाक', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण1997,पृःसः132
5.मैत्रेयी पुष्पा, 'चाक', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण1997,पृःसः132
6.मैत्रेयी पुष्पा, 'चाक', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण1997,पृःसः297
7.डॉ.सुरेश कुमार जैन, 'उत्तरशती का हिन्दी साहित्य',पृःसः85
8.मैत्रेयी पुष्पा, 'अल्मा कबूतरी', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण 2000,पृःसः112
9. मैत्रेयी पुष्पा, 'अल्मा कबूतरी', राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण 2000,पृःसः82
10. मैत्रेयी पुष्पा, 'अगनपाखी',वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण2001,पृःसः30
11. मैत्रेयी पुष्पा, 'अगनपाखी', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण2001,पृःसः33
12. मैत्रेयी पुष्पा, 'इदन्नमम',किताबघर प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण1999,पृःसः268

**सहायक ग्रंथ**

1.कुमार डॉ.आलोक , 'मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में नारी चेतना' ,सारस्वत प्रकाशन,संस्करण 2017
2.गुंडप्पा डॉ.शिवशेट्टे गोविन्द , 'मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री जीवन संघर्ष' ,विकास प्रकाशन,संस्करण 2016
3.डॉ. भारती , 'मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में नारी' ,आराधना ब्रदर्स, संस्करण 2014
4.गोयल डॉ. कंचन , 'मैत्रेयी पुष्पा का नारी सशक्तीकरण' ,अनंग प्रकाशन ,संस्करण 2013
5.कुछ पत्रिकाएँ

---

***शोधार्थी,हिन्दी विभाग**
**आसाम विश्वविद्यालय,सिलसर**
**फोन न.8638247885**

# कुंवर नारायण का काल बोध

**संतोष कुमार***

**शोध सारांश :** *काल बोध की परिकल्पना का मानवीय अस्तित्व पर बहुत गहरा प्रभाव होता है। अलग-अलग सभ्यताओं में काल की परिकल्पना अलग-अलग रही है। कुंवर नारायण की कविता में चक्रीय और रेखीय काल बोध का प्रभाव परिलक्षित होता है। दोनों काल बोधों के सह अस्तित्व और उनके आपसी संवाद से उनकी कविता में अशरीरी अमरता और ऐहिक अध्यात्म की उद्भावना होती है। अशरीरी अमरता और ऐहिक अध्यात्म की परिकल्पनाएँ एक तरफ तो मानवीय अस्तित्व को संकुचित करने वाली उपभोक्तावादी प्रवृति का गहरा विरोध करती हैं और दूसरी तरफ भारतीय चिंतन परंपरा की नयी व्याख्या करने का प्रयास करती हैं। आधुनिक सन्दर्भ में भारतीय चिंतन परंपरा की व्याख्या करने से भारतीय आधुनिकता के विकास का नया अध्याय उद्घाटित होता है।*

**बीज शब्द :** *चक्रीय काल बोध, रेखीय काल बोध, इतिहास बोध, परंपरा, अन्तारम्भ, सनातनता, भारतीय आधुनिकता, ऐहिक अध्यात्म, मृत्यु बोध, अमरत्व*

## आमुख :

***"काल अस्तित्व की मूल भित्ति है"[1]***

अस्तित्ववादी दार्शनिक हाइदेगर का यह कथन मानवीय अस्तित्व को समझने के लिए काल के महत्त्व को रेखांकित करता है। चिंतन और दर्शन के क्षेत्र में काल की अनेक संकल्पनाएँ विद्यमान रही हैं। काल की विभिन्न संकल्पनाओं में मानवीय अस्तित्व के प्रति अलग-अलग धारणाएं रही हैं। काल बोध का हमारी जीवन दृष्टि और हमारी विश्व दृष्टि पर गहरा प्रभाव होता है। काल के विभिन्न आयामों में मानवीय अनुभव भिन्न –भिन्न होते हैं। मानवीय नियति की धारणा भी काल बोध की संकल्पना से बहुत गहराई से प्रभावित होती है। इसीलिए काल या समय मानवीय अस्तित्व और मानवीय नियति में रूचि रखने वाले और उसके बारे में चिंतन करने वाले दार्शनिकों ,वैज्ञानिकों, साहित्यकारों और इतिहासकारों के लिए आकर्षण का केंद्र रहा है -- इसके लिए आइंस्टीन और स्टीवन हॉकिंग जैसे वैज्ञानिकों, अस्तित्ववादी और मनोविश्लेषणवादी दार्शनिकों और प्रूस्त, जेम्स ज्वायेस और लारेंस स्टर्न जैसे साहित्यकारों का उदहारण दिया जा सकता है[2]। प्राचीन भारतीय वांग्मय भी काल के प्रौढ़ चिंतन का साक्षी रहा है – उपनिषद, शैव दर्शन, योग दर्शन, बौद्ध और जैन दर्शन के अनेकानेक ग्रंथों में काल चिंतन का विस्तृत निरूपण हुआ है[3]। आधुनिक युग में भी इतिहासकारों[4] और राजनीतिकर्मियों[5] ने काल की विभिन्न संकल्पनाओं पर विचार किया है। हिंदी के कुछ साहित्यकारों ने काल और काल के निरूपण के बारे में चिंतन किया है जिसका प्रमाण उनके आलोचनात्मक व् रचनात्मक साहित्य में बिखरा पड़ा है – अज्ञेय इसके ज्वलंत

---

[1] सचिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय (1978) : 69
[2] कुमार विमल (2015)
[3] कुमार विमल (2015) और आनंद के कुमारस्वामी (2014)
[4] रोमिला थापर (2018)
[5] राम मनोहर लोहिया (1998)

उदहारण हैं[6]। चिंतन प्रधान साहित्य के अलावे आधुनिक कविता भी इस काल चिंतन की साक्षी रही है। नयी कविता के कुछ कवियों ने भी काल के बारे में अपनी कविता में विचार किया है। कुंवर नारायण भी उन्ही चंद कवियों में शामिल हैं जिनकी कविता में काल बोध सम्बन्धी चिंतन के अनेक सूत्र विद्यमान हैं। इस आलेख में कुंवर नारायण की कविता में मौजूद काल चिंतन के विविध आयामों और उसके प्रभावों पर विचार किया गया है। भारतीय और पश्चिमी काल बोधों के आपसी संवाद, काल बोध के परिप्रेक्ष्य में मृत्यु और अध्यात्म जैसे मानवीय अस्तित्व के चरम प्रश्नों पर विचार और प्रतिसमय जैसी काल की नवीन कोटि की मौलिक उद्भावना कुंवरजी को एक समर्थ काल-चिन्तक कवि के रूप में सामने लाते हैं।

काल बोध की भिन्नता के कारण ही विभिन्न सभ्यताओं में मानवीय नियति की धारणा के बारे में अलग-अलग संकल्पनाएं रही हैं। भारतीय परंपरा में काल बोध की संकल्पना चक्रीय रही है। भारत में समय की गति को चक्राकार या सर्पिलाकार माना गया है – पृथ्वी की गति की तरह काल की भी दो गतियाँ होती हैं। वह चक्राकार भी घूमता है और साथ-साथ आगे भी बढ़ते जाता है। हमारी परंपरा में सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की संकल्पना चक्रीय रही है और यह भी काल की गति को दर्शाता है। सतयुग से शुरू करके कलियुग की समाप्ति तक का चक्र चलता है। एक चक्र पूरा होने पर एक कल्प पूरा होता है और पुनः दूसरे कल्प की शुरुआत होती है जो पुनः सतयुग से प्रारंभ होता है और कलियुग तक जाता है। इसी तरह यह काल चक्र चलता रहता है। चक्रीय गति के कारण काल के आरम्भ और अंत का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इस संकल्पना में काल का प्रारंभ हमेशा वर्तमान से होता है और उसकी गति दोनों तरफ होती है – आगे की ओर भी तथा पीछे की ओर भी अर्थात अतीत की ओर भी और भविष्य की ओर भी। वर्तमान से प्रारंभ होने और अतीत तथा भविष्य दोनों तरफ संचरित होने की सम्भावना के कारण ही इस काल का प्रत्यावर्तन संभव है। स्मृति के सहारे भूत को तथा आकांक्षा के सहारे भविष्य को भी वर्तमान में लाया जा सकता है। कुंवर नारायण की कविता पर इस काल बोध का गहरा असर दिखाई देता है --

जिस युग को चाहता
आज की तरह जीवित कर लेता हूँ ,
जिसे नहीं चाहता अचेत पड़ा रहने देता हूँ।[7]

अथवा

यह मेरा वर्तमान है जो हजारों वर्षो बाद आया है
और मेरे हजारों वर्षों बाद तक रह सकता है
कभी प्राचीन
कभी प्रागैतिहासिक ।।।कभी मध्यकालीन ।

[6] सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय (1978)

[7] कुंवर नारायण (2015) : 30

सादर सविनय आमंत्रित करता हूँ
तथागत को उनके युग से
अपने युग में।[8]

उपरोक्त उद्धरण में कुंवरजी के अंतिम प्रबंध काव्य 'कुमारजीव' का काव्य नायक कुमारजीव भूत को वर्तमान में संभव करता है। उसका यह कहना कि "यह मेरा वर्तमान है जो हजारों वर्षों बाद आया है" – महज काव्योक्ति नहीं है, इसके पीछे एक सुचिंतित काल बोध है। इस कविता में अतीत से वर्तमान में काल का यह प्रत्यावर्तन चक्रीय काल बोध का प्रतिफलन है। समय की गति क्रमातित या अप्रत्यावर्तनिय नहीं है। उसका विकास एक ही दिशा में नहीं हो रहा है। यहाँ कवि काल के एक भिन्न आयाम की बात कर रहा है। विगत को वर्तमान में लाना और वर्तमान को प्राचीन, मध्यकालीन तथा प्रागैतिहासिक के रूप में कल्पित करना तभी संभव हो पाएगा जब कवि चक्रीय काल की संकल्पना के अनुरूप काल के प्रत्यावर्तन को स्वीकार करे। इसीलिए कवि के लिए यह संभव हो पा रहा है कि वह अतीत से काल का पुनरावर्तन करके तथागत को अपने वर्तमान में आमंत्रित कर सके। भूत, वर्तमान और भविष्य के फर्क को अस्वीकार करके काल को वर्तमान की तरह जीने की चाहत तभी संभव हो सकती है जब काल की चक्रीय गति की संकल्पना को स्वीकार किया जाय और वर्तमान के क्षण को प्राथमिक माना जाय। अतीत को विगत न समझ कर उसे वर्तमान में धारण करने, उसे वर्तमान के साथ संयोजित करने की प्रवृति को कुछ साहित्यकारों ने भारतीय सभ्यता व् संस्कृति की विशेषता के रूप में परिलक्षित किया है। निर्मल वर्मा इसका वर्णन करते हुए कहते हैं – "भारतीय सभ्यता की यह अद्भुत विशेषता रही है – जो उसके जीवंत होने की मर्यादा है – कि वह 'अतीत' को व्यतीत न मानकर उसे समकालीन भारतीय जीवन की ऐसी प्रतीक-व्यवस्था में संयोजित कर पायी है, जो आज भी उतनी ही अर्थवान और संस्कार संपन्न है, जितनी पहले कभी थी। यूरोप की इतिहास-चेतना वर्तमान और अतीत में जो सीधा-सीधा भेद करती है वह भारतीय सभ्यता के परंपरा बोध में एकदम बेमानी और अनावश्यक हो जाता है"[9]।

चक्रीय काल बोध की संकल्पना में आदि और अंत के विन्दु की पहचान नहीं है। इस काल बोध में काल के आरंभ और अंत को निर्धारित नहीं किया जा सकता है जबकि रेखीय काल को किसी-न-किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर परिकल्पित किया गया है। रेखीय काल की शुरुआत हमेशा इतिहास की घटना से ही होती है। जैसे ईशा के जन्म के समय से ईसवी सन की शुरुआत या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा शक विजय के उपलक्ष्य में विक्रमी संवत की शुरुआत। जिसका शुरुआत होगा उसका अंत भी होगा लेकिन काल की चक्रीय संकल्पना में आदि –अंत का नहीं सनातनता या निरंतरता का महत्व है। इसीलिए भारतीय चिंतन परंपरा में काल सीमित नहीं है बल्कि ब्रह्म की तरह सनातन और अखंड है। कुमारजीव सोचता है---

मैं तथागत के साथ हजारों साल लम्बी
एक महायात्रा पर निकला हूँ
हमें सदियाँ पार करनी है साथ साथ

---

[8] वही : 30

[9] निर्मल वर्मा (2001) : 15

हमारे रास्ते में पड़ेंगे
न जाने कितने संसार और कितने वीरान[10]

कुमारजीव का तथागत के साथ हजारों वर्षों की लम्बी यात्रा पर निकलना और सदियों तक साथ-साथ रहने का संकल्प व्यक्त करना बुद्ध के विचार की निरंतरता और सनातनता की ही अभिव्यक्ति है। रेखीय काल बोध से संपन्न चेतना शुरुआत और अंत की बात करेगी, कुमारजीव की तरह सिर्फ निरंतरता की नहीं। सनातन होने के कारण इस काल को विभाजित भी नहीं किया जा सकता है। अर्थात इस चक्रीय समयबोध को इतिहास की तरह हम विभाजित नहीं कर सकते हैं। विभाजित न होने के कारण ही यह काल अखंड है। अखंडता और सनातनता इस काल बोध के प्रमुख लक्षण हैं। कुंवर जी की कविता चक्रीय काल की इस विशेषता का एहतराम करती है ---

हम दिखाई देते रहेंगे विचरते
काल के अखंड में –
कभी एक तारे की तरह
कभी एक सूर्य की तरह।[11]

चक्रीय कालबोध की संकल्पना से संचालित होने के कारण कुमारजीव को भरोसा है वह और तथागत काल के अखंड में तारे और सूर्य की तरह हमेशा विद्यमान रहेंगे। यहाँ उपमान के रूप में तारे और सूर्य का प्रयोग भी अनायास नहीं है। तारे और सूर्य भी सनातन और नियत हैं। उनका भी अंत नहीं होता है। इस कविता में कुंवर नारायण इसी सनातनता और निरंतरता को संप्रेषित करने के लिए उनका प्रयोग उपमान के रूप में कर रहे हैं। स्पष्ट करना अनावश्यक है कि इन उपमानों के चुनाव के पीछे चक्रीय काल बोध की संकल्पना का गहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। काल की सनातनता की संकल्पना का बहुत गहरा प्रभाव कुंवरजी की मृत्यु सम्बन्धी कविताओं पर दिखाई पड़ता है। वैसे तो यही अंतिम सत्य है कि मनुष्य का जीवन नश्वर है। लेकिन यह भी सत्य ही है कि उसके चिंतन और संकल्पना में अमरत्व की आकांक्षा भी सदियों से विद्यमान रही है। एक कवि व् चिन्तक के रूप में कुंवरजी भी इसके अपवाद नहीं हैं। अपने प्रसिद्ध प्रबंध काव्य 'आत्मजयी' में मृत्यु चिंतन करते हुए कुंवरजी अंततः मानव जीवन की अमरता और सनातनता पर ही जोर देते हैं। मृत्यु चिंतन सम्बन्धी उनके इस निष्कर्ष पर काल बोध सम्बन्धी भारतीय चिंतन प्रणाली का प्रभाव स्पस्ट रूप से दिखाई देता है। चक्रीय काल की संकल्पना में निहित सनातनता का प्रतिफलन जीवन की निरंतरता के रूप में व्यक्त होता है। भारतीय चिंतन प्रणाली मृत्यु पर विचार करते समय भी जीवन को ही समृद्ध करना चाहती है क्योंकि वह जानती है की मृत्यु जीवन का अंत नहीं है बल्कि जीवन की पूर्णता है और दूसरे जीवन की शुरुआत भी। 'आत्मजयी' में यम (जो स्वयं ही मृत्यु और संहार का पर्याय है) नचिकेता को अपना परिचय देते हुए कहता है कि ---

लेकिन मैं केवल घात नहीं ;
वह तो जीवन ही से पैदा

[10] वही : 25
11वही : 26

कोई जीवन -नाशक विकार !
प्रत्येक पुराने पर विराम

मैं प्रारंभिक रचना-क्रम भी[12] ।।।

यानी मृत्यु तो जीवन से ही पैदा होती है और यदि एक ओर वह पुराने जीवन पर पूर्ण विराम है तो दूसरी ओर नए जीवन का प्रारंभ भी। इसीलिए यम कहता है कि वह सिर्फ घात ही नहीं है बल्कि नयी रचना का प्रारंभ भी है। अर्थात जो अंत है वही आरम्भ भी –- कवि–कलाविद अशोक वाजपेयी के शब्दों में 'अन्तारम्भ'। मृत्यु जीवन का अंत ही नहीं है बल्कि एक नए जीवन का प्रारंभ भी है, अतः इस मृत्यु से भारतीय जीवन दृष्टि भयभीत नहीं होती है—

उस वक्त आना ऐसे की लगे
किसी ने द्वार खटखटाया
कोई न हो
पर लगे की कोई आया
इतना आत्मीय
इतना अशरीर
जैसे हवा का एक झोंका
और मुझमे समा कर निकाल जाना
जैसे निकाल गयी
एक पूरी उम्र[13]

कवि इस कविता में मृत्यु से संवाद कर रहा है। इस संवाद में निहित आत्मीयता, निडरता और प्रशांति यह बता रही है की कवि मृत्यु से उतना ही स्वाभाविक संवाद कर रहा है जितना किसी आत्मीय मित्र से करता होगा। वह मृत्यु से विल्कुल भी भयभीत नहीं है। याद आते हैं अशोक वाजपेयी, मृत्यु को लेकर बिलकुल यही दृष्टिकोण उनकी कविता में भी दिखाई देता है –

निछान प्रतीक्षा का समय
प्रार्थना के बाद यति का समय
सांकल खोलने
कीचड़ -सने जूते उतारने
छाता और लाठी कोने में धरने
गुनगुनाने
यात्रा पर निकलने का
समय ।
अंत का समय

12 कुंवर नारायण (2009) : 86
13 कुंवर नारायण (2014) : 61

आरम्भ का समय[14]।

मृत्यु को लेकर अशोकजी भी भयभीत नहीं हैं। बल्कि वे तो उस मृत्यु की भी प्रतीक्षा करते हैं। वे भी कीचड़ सने जूते उतारकर, छाता और लाठी को कोने में रख कर अर्थात जीवन के कार्य व्यापार को पूर्ण करके पूरे सुकून और इत्मीनान के साथ मृत्यु की यात्रा पर गुनगुनाते हुए निकलना चाहते हैं। मृत्यु को लेकर दोनों कवियों के दृष्टिकोण में समानता कोई अचरज पैदा नहीं करती है क्योंकि दोनों एक ही सांस्कृतिक और दार्शनिक विरासत के उतराधिकारी हैं और दोनों इतने सयाने हैं कि अपनी विरासत को सहेजने और संवारने को अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। भारतीय जीवन दृष्टि कुंवरजी की तरह अशोक वाजपेयी को भी सिखा रही है की जो अंत का समय है वही आरम्भ का भी समय है। एक जीवन के अंत बाद दूसरा जीवन भी संभव है। अतः ध्यान उस पर नहीं देना है जो सिर्फ भौतिक और नश्वर है बल्कि ध्यान वहाँ देना है जो नश्वरता के बाद भी बच जाता है, जो जीवन को निरंतर करता है। इसीलिए इस जीवन दृष्टि में मानवीय नियति के प्रति हताशा और निराशा के भाव संभव नहीं है। शायद यही कारण है की भारतीय चिंतन प्रणाली में मृत्यु से भयभीत करने वाली, जीवन के प्रति हताशा और निराशा पैदा करने वाली अस्तित्ववाद जैसी वैचारिक सरणियों का विकास नहीं हुआ क्योंकि भारतीय काल बोध में निहित शाश्वतता की संकल्पना मनुष्य को सुरक्षा, सहारा और जीवन के प्रति निष्ठा का बोध कराता है। कुंवरजी भी अपनी कविता में मृत्यु चिंतन के समय में जीवन से विमुख नहीं होते हैं बल्कि मृत्यु को पराजित करके जीवन को असाधारण निधि प्रदान करने का प्रस्ताव करते हैं। वे स्वयं कहते हैं – "मृत्यु को सोचने का यही परिणाम नहीं की आदमी उसके सामने घुटने टेक दे हताश होकर बैठा रहे। वह ऐसा कुछ करना चाह सकता है जिसे मृत्यु कभी, या आसानी से, नष्ट न कर सके। मृत्यु का सामना करना, उस पर विजयी होने की कामना भी बिलकुल स्वाभाविक है। मृत्यु से बड़ा होने के प्रयत्न में वह जीवन ही से बड़ा हो जा सकता है"[15]। कुँवरजी के इस प्रस्ताव पर चक्रीय काल बोध और भारतीय चिंतन परंपरा का बहुत गहरा प्रभाव है।

कुंवर नारायण परम्परावादी नहीं हैं। सनातनता और शाश्वतता पर जोर देने का अर्थ आत्मा की अमरता को ध्वनित करना नहीं है। नए जीवन की आकांक्षा का अर्थ भी पुनर्जन्म की इच्छा नहीं है। ऐसी मध्यकालीन इच्छाएं और विश्वास आधुनिकता के परिसर में संभव भी नहीं हैं। लेकिन नए सन्दर्भों में अपनी परंपरा की व्याख्या करना तो आधुनिकता का लक्षण माना ही जाता है। कुंवरजी मिथकों में नया अर्थ भरना और परंपरा की नयी व्याख्या करना जानते हैं और इसीलिए वे नयी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। कवि के लिए जीवन की निरंतरता और सनातनता तो एक ही जीवन में संभव करना है। जीवन के रहस्य का उद्घाटन करते हुए 'आत्मजयी' में यम नचिकेता को उपदेश देते हुए कहता है –

तुझसे प्रमाणित यह जीवन
तेरे न होने पर भी होगा।
तेरी आवश्यकताओं से अर्थित –
तेरे संयोग से अनुप्राणित –
तेरी वाणी से उच्चारित –

14 अशोक वाजपेयी (1992) : 61

15 कुंवर नारायण (2009) : सात

तेरे कर्मों से चरितार्थ[16] --

यम कहता है कि तुम्हारा यह जीवन तुम्हारे मरने के बाद भी संभव होगा और यह तुम्हीं से प्रमाणित होगा अर्थात जिसे तुम अपनी वाणी से उच्चारित करोगे, जिसे तुम अपनी आवश्यकताओं से अर्थित करोगे, जो तुम्हारे संयोग से अनुप्राणित होगा और जिसे तुम अपने कर्म से चरितार्थ करोगे वही तुम्हारे बाद भी बचा रहेगा। तुम्हारे बाद भी जो बचा रहेगा उसको हजारों वर्ष बाद भी नए विश्व बोध और वस्तुगत आभास अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप नए अर्थ देते रहेंगे और इस तरह बार-बार तुम्हारा पुनर्जन्म होते रहेगा। लेकिन पुनर्जन्म और अमरता का यह वरदान सहज ही सबको उपलब्ध नहीं हो सकता है। इस अमरता का अधिकारी होने के लिए अर्हता अर्जित करनी पड़ती है। यम और नचिकेता के संवाद के माध्यम से कुंवरजी इस अर्हता को अर्जित करने का तरीका भी अपने पाठकों को बतलाते हैं –

लेकिन तू आत्मा की
एक ऐसी स्वायतता बना
जिसमें जीवन को
वस्तुओं के शासन से मुक्त जी सके।
जहाँ अपनी इच्छाओं के अंतर्विरोधों से
समाप्त होकर नहीं – उन्हें समाप्त करके
जीवन को कोई संतुष्ट अर्थ दे सके।
मरने से पूर्व
उऋण हो सके
उन सबसे जिनकी अपेक्षा

तू जीता या मरता है![17]

यम के माध्यम से कुंवर जी बतलाते हैं कि जीवन की अमरता और सनातनता को पाने तथा बार-बार होने वाले पुनर्जन्म को उपलब्ध करने की एकमात्र शर्त यही है कि अपने जीवन को वस्तुओं के शासन से मुक्त कर सकें। जीवन को सुखमय बनाने वाले वस्तुओं की तलाश में ही अपने जीवन को नष्ट न कर दें। हमारा जीवन हमारी इच्छाओं का ही गुलाम बन कर न रह जाए। सुख की आकांक्षा हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता है। सुख पाने की इच्छा और सुख देने वाली वस्तुओं के शासन को समाप्त करके ही जीवन में सार्थकता की तलाश संभव है। सार्थकता की यह तलाश आत्मचेतना को पहचान कर ही संभव है –

नचिकेता, तू केवल

इन्द्रियों की अपेक्षा ही उदास है।

उस अव्यक्त आत्म-चेतना को पहचान

सचिदानंद रूप

[16] कुंवर नारायण (2009) : 102

[17] वही : 103

जो शुद्ध ज्ञान है : तुझसे दूर नहीं

तेरे ही आस-पास है[18]।

कुंवर जी यम के माध्यम से कहते हैं कि जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाली ज्ञान रूपी आत्म चेतना कही दूर और किसी परलोक में नहीं है। वह तो हमारे आस-पास ही है लेकिन फिर भी उसकी तलाश आसान नहीं है। वह बहुत ही कठिन जिम्मेदारी है और उसकी तलाश में श्रम, साधना, अनिश्चय, चिंतन, मनन, खोज और एकाकीपन जैसी कष्टसाध्य आवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। उसमें जोखिम बहुत है। समूचा जीवन दांव पर लगाना पड़ता है और कई बार तो उसकी खोज करने वाला उसमें ही खो जाता है। लेकिन इन तमाम कठिनाईयों के बावजूद जीवन में सार्थकता की तलाश संभव है। वह कोई परलौकिक वस्तु नहीं है बल्कि वह तो हमारे परिवेश में ही है और हमारे वचन और कर्म से ही निर्मित होती है। जीवन में सार्थकता अपने कर्म से ही हासिल की जा सकती है। इसके लिए धीरज के साथ लगातार कष्ट सहने की क्षमता और कर्म के प्रति निरंतर लगनशीलता की आवश्यकता होती है। आधुनिक समय में अमरता अपने जीवन को नया अर्थ देने से ही संभव है। जीवन का नया अर्थ हमारी आत्मचेतना के अनुरूप ही होगा। लेखकीय चेतना वाले व्यक्ति के जीवन में नयी अर्थवत्ता या सार्थकता सतत साधना, जिज्ञासा, चिंतन, मनन और खोज से ही संभव होगी। जीवन को अमर करने की यह नयी युक्ति परंपरा की आधुनिक व्याख्या से संभव हुई है। इस कविता में कुंवरजी परंपरा की नयी और आधुनिक व्याख्या करते है। जीवन में अमरता के लिए किसी धार्मिक कर्मकांड अथवा ईश्वरीय अनुग्रह की जरुरत नहीं है – कुंवरजी का आधुनिक मानस अमरता के पारंपरिक आशय में आधुनिक अर्थ भरने का सफल प्रयास करता है। वे दूसरे कवियों की तरह आधुनिकता की झोंक में परंपरा को नकारते नहीं हैं बल्कि उसकी नयी व्याख्या करते हैं और इस तरह भारतीय आधुनिकता के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। बहरहाल ! उनकी कविता में अनश्वरता की कामना और स्थूल जीवन व् भौतिक सुख की अराधना के बजाए विचार और कर्म को सार्थक समझने और उसे ही महत्त्व देने की चेतना विद्यमान है। आगे चल कर यही चेतना उनकी कविता में ऐहिक अध्यात्म की प्रस्तावना के रूप में प्रतिफलित होती है जिस पर इस लेख में आगे विचार किया जायेगा।

यहाँ से देखें तो काल की सनातनता, अखंडता, प्रत्यावर्तन और उसकी चक्रीय गति का स्वीकार इतिहास की धारणा से भिन्न है। इतिहास भी काल की ही चेतना का एक आयाम है। इतिहास जिसका भूत में एक आरम्भ विन्दु है, इतिहास जो की रेखीय गति में होता है, इतिहास जो भूत से प्रारंभ होता है और वर्तमान से होते हुए भविष्य की ओर जाता है, इतिहास जिसमें समय का प्रत्यावर्तन नहीं होता, इतिहास जो अखंड नहीं होता है -- उसे समझने के लिए अपने पदार्थ बोध की तरह हम उसे अनेक खण्डों में विभाजित कर देते हैं। इतिहास की यह धारणा रेखीय काल बोध की संकल्पना का परिणाम है। यूरोपीय उपनिवेशवाद के प्रभाव व् दबाव में रेखीय कालबोध की संकल्पना ने भारतीय चेतना को आविष्ट कर लिया। हम भारतीयों ने राजनीतिक और आर्थिक गुलामी के साथ-साथ अंग्रेजों की बौद्धिक व् मानसिक गुलामी भी स्वीकार कर ली। उपनिवेशीकरण का औचित्य प्रतिपादन करने वाली और भारतीयों को तथाकथित रूप से सभ्य बनाने की दावा करने वाली यूरोपीय बौद्धिक-सांस्कृतिक परियोजना (civilising mission) को अपनी नासमझी में स्वीकार कर लेने का परिणाम यह हुआ कि भारत का नया-नया उभर रहा अंग्रेजी-शिक्षित-मध्यवर्ग अंग्रेजी

[18] वही : 101

सभ्यता की नक़ल को ही अपना विकास समझने लगा। रंग रूप से भारतीय होते हुए भी अपनी सोच-समझ-संवेदना-संस्कृति और आचरण में अंग्रेजों की नक़ल करना ही सभ्य होने व् कहलाने का निकष बन गया। भारतीयों की काल बोध सम्बन्धी परिकल्पना भी अंग्रेजों की इस बहुप्रचारित मैकालीय परियोजना का शिकार हो गयी। परिणामतः हमारा जीवन भी इस एक रेखीय काल बोध की संकल्पना से ही संचालित होने लगा। हालाँकि इस काल विमर्श में एक और पहलू पर ध्यान देने की जरुरत है। प्राचीन भारतीय इतिहास की विदुषी रोमिला थापर ने इस धारणा का खंडन किया है भारतीय काल चेतना सिर्फ चक्रीय रही है और रेखीय काल की चेतना और इतिहास बोध यूरोपीय पैदाइश है। उनकी स्थापना है की भारत में चक्रीय और रेखीय दोनों काल बोधों का सहस्तित्व रहा है। धर्मचिन्तन और परलोकविद्या पर चक्रीय काल की संकल्पना का असर रहा है जबकि राज प्राधिकार और राज्य के तंत्र से जुडी व्यवस्थाओं में वंशावलियों, चरितों और इतिवृत्तों के रूप में रेखीय काल की संकल्पना को महत्व मिला है[19]। अपनी इस स्थापना में रोमिला थापर भी स्वीकार करती हैं कि भारत में परलोकविद्या और धर्मचिन्तन पर चक्रीय काल बोध का प्रभाव रहा है। ध्याताब्य है कि इस परलोक विद्या और धर्म चिंतन से भारतीय दार्शनिक चिंतन का बहुत गहरा सम्बन्ध है और इसका गहरा असर हमारी संस्कृति और साहित्य के साथ-साथ हमारे लौकिक व्यवहार पर भी दृष्टिगत होता है। इस बात को तो रोमिला थापर भी नकार नहीं सकती हैं कि आज चिंतन, साहित्य और संस्कृति पर चक्रीय काल बोध का असर बहुत क्षीण किस्म का है और संस्कृति के सारे आयाम धीरे-धीरे रेखीय काल चिंतन और उसके प्रतिफलनों तक ही महदूद होते जा रहे हैं तो इसका सबसे बड़ा कारण हमारी चेतना में औपनिवेशिकता का पैठा हुआ वर्चस्व है जो हमें यूरोप की नक़ल करने को बाध्य करते रहता है। औपनिवेशिक प्रभाव और दबाव में इस रेखीय कालजनित इतिहास प्रवेश ने हमारे मानस से चक्रीय कालबोध को प्रतिस्थापित कर दिया। परिणामतः हमने चक्रीय कालबोध के सारे फलितार्थों को मध्यकालीन और पारलौकिक समझ कर उनसे किनारा कर लिया। चक्रीय कालबोध के दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रतिफलन से भी हम दूर होते गए। भारतीय चिंतन और यूरोपीय चिंतन के इस तनाव की ओर कुछ चिंतकों ने ध्यान दिलाया है। अज्ञेय इस विडम्बना की ओर संकेत करते हुए कहते हैं –"आवर्ती काल की परिकल्पना पश्चिम के लिए अत्यंत कठिन रही है। नृतत्व के क्षेत्र में वह स्वीकार करता है की सभी प्राचीन संस्कृतियों में आवर्तन और पुनरारंभ के मिथक पाए जाते हैं और प्राचीन अथवा आदिम जातियों की कलाओं को प्रभावित भी करते हैं। पर यह मानने में उसे हिचक होती है की यह परिकल्पना उसके लिए न ऐसी पराई है, न ऐसी दुर्बोध; बल्कि इस मिथक का संस्कार उसकी चेतना में इतना गहरा पैठा है की इस के प्रतीक आज भी उस के दैनंदिन जीवन के अभिन्न अंग हैं। यह ठीक है की ऐतिहासिक काल के बोझ के नीचे बहुत अधिक दबे होने के कारण यह प्राचीनतर स्मृति उसके चेतन मन में कुछ धुंधली पड़ गयी है; फलतः कुछ 'अन्धविश्वास' उस के चिंतन में अस्वीकार होकर व्यवहार में प्रभावी बने रह सकते हैं"[20]। रेखांकित करना होगा कि यूरोप के प्रभाव और दबाव में विकसित हुई आधुनिकता ने भारतीय मानस को उसके सहज उत्तराधिकार से वंचित कर दिया। हमने अपनी परंपरा के सत्व को भी पुराना और अन्धविश्वास समझ कर अपने शासकों के अनुसरण में त्याग दिया। कुंवरजी की कविता उस उत्तराधिकार को पुनः हासिल करने के दायित्व से संचालित होती है। इसीलिए वह चक्रीय काल बोध को महत्व देती है। लेकिन कुंवरजी सयाने कवि हैं वे एक रेखीय काल बोध को पूरी तरह नकारते नहीं हैं क्योंकि अब ऐसा करना संभव ही नहीं है। हमारा आज का जीवन इस एक रेखीय काल बोध से ही संचालित होता है और हम चाह कर

[19] रोमिला थापर (2018)

[20] अज्ञेय (2011) : 228

भी अब उसके बोध व् फलितार्थों से बच नहीं सकते हैं। अतः कुंवर नारायण की कविता रेखीय और चक्रीय दोनों काल बोधों के सह अस्तित्व को अपने दमन में जगह देती है, ठीक अशोक वाजपेयी की कविता की तरह[21] (देखें, अंत के बाद 1 और अंत के बाद 2 शीर्षक कविताएँ)। तीसरा सप्तक में संकलित कुंवरजी की कविता का एक उदहारण देखें ---

काल की समस्त मांग
बूढी दुनिया अपंग
आदि से अंत तक ,
अंत से अनंत तक
देखा पर्यंत तक
मौन हो बोलकर
जीवन के परतों की
कई तहें खोलकर ।।।
पहलदार सत्यों का छाया–तन इकहरा था ,
जीवन का मूलमंत्र सपनों पर ठहरा था[22]

इन पंक्तियों में कवि दुनिया को सिर्फ आदि से अंत तक ही नहीं बल्कि अंत से अनंत तक भी देखता है। आदि से अंत तो रेखीय काल बोध का काव्य प्रतिफलन है जबकी अंत से अनंत तक का आशय चक्रीय काल बोध का काव्य प्रतिफलन है। यानी कवि दोनों काल बोधों के सहअस्तित्व को मंजूर करता है। काल की रेखीय गति और उसके प्रत्यावर्तन का प्रयोग कुंवरजी अपनी कविता में खूब करते हैं। ऊपर-ऊपर तो वे अपनी कविता में इतिहास और काल के प्रत्यावर्तन की इस युक्ति से खेलते नजर आते हैं लेकिन गहरे स्तर पर वर्तमान की विडम्बना को प्रकट करते हैं –

कहाँ है मगहर ?
उत्तर प्रदेश में छोटा–सा गाँव
न जाने किस समय में
ठहरी हुयी जरा–सी जगह में
कुटिया डाल, करते अज्ञातवास
जीते एक निर्वासित जीवन
आजकल कबीरदास

* * *

आजकल कम ही लौटते हैं वे
अपने मध्यकाल में ,
रहते हैं त्रिकाल में ।

[21] वाजपेयी (2002), अंत के बाद 1 और अंत के बाद 2
[22] कुंवर नारायण (2009) : 159

एक दिन दिख गए मुझको
फिलहाल में[23]

कबीर के माध्यम से कवि हमारे आज के समय की विडम्बना को तो प्रकट करता ही है लेकिन इस विडम्बना को कविता के द्वारा सामने लाने के लिए वह काल के प्रत्यावर्तन का सहारा लेता है। कुंवरजी के कबीर मध्यकाल से त्रिकाल और त्रिकाल से फिलहाल (वर्तमान) तक की यात्रा करते हैं। मध्यकाल इतिहास से आया है जबकी त्रिकाल मिथक से। इस त्रिकाल वाले मिथक का गहरा सम्बन्ध चक्रीय काल बोध से है। कुँवरजी स्वयं इस त्रिकाल की व्याख्या करते हैं – "और ये समय में आगे लाँघ जाने वाली बात भी चक्कर में डालने वाली है। मानो तत्काल में कोई जीता ही नहीं – सब त्रिकाल में जीते हैं। क्या था यह विचित्र कालबोध, यह संज्ञान, जिसमें सब हो रहा, वही सब पहले भी हो चुका, और आगे भी वही कुछ होगा। यानी समय भी दुनिया की तरह गोल ! कभी भी कहीं से किसी तरफ चलो घूम फिर कर वहीँ पहुंचोगे जहाँ थे, जहाँ हो और जहाँ होगे"[24]। यह त्रिकाल वही है जो कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर कुरुक्षेत्र में दिखलाया था। अर्जुन भूत और भविष्य को वर्तमान के क्षण से एक साथ देखता है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों को एक साथ, एक ही क्षण से संपृक्त करके द्रष्टा की तरह देखने पर अर्जुन को अहसास होता है कि कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र भी मूलतः एक ही है, अलग-अलग नहीं। उपरोक्त उद्धरण में भी मिथकीय काल और ऐतिहासिक काल दोनों फिलहाल से संपृक्त हैं। मिथक और इतिहास के संयोजन से कुंवरजी की कविता का काल बोध निर्मित होता है। मिथकों से कुंवरजी का लगाव भी अनायास नहीं है। मिथकों में भी आवर्ती काल की तरह पुनरावर्तन की शक्ति होती है। वे हमारे समय से चले जाते हैं लेकिन हमेशा के लिए नहीं। वे पुनः लौटते हैं एक नयी शक्ति लेकर, सर्जना और ध्वंस की नयी सम्भावना लेकर। यानी जो मिथक में है वह आवर्ती काल की तरह ही सनातन है, उसका अंत नहीं हो सकता – राम और कृष्ण की तरह या हेराक्लिज और ओडीसियस की तरह – वे बार –बार लौटते है नयी अर्थवत्ता के साथ। कुंवरजी की कविता में भी मिथक बार-बार लौटते हैं और हर बार सर्जना की नयी शक्ति के साथ। उनकी अन्य कविताओं को छोड़ भी दें तो भी उनकी तीनों लम्बी कवितायेँ उनकी काव्य चेतना में अन्तस्थ मिथक और इतिहास के संयोजन के ही परिणाम हैं। आत्मजयी और वाजश्रवा के बहाने मिथक आधारित हैं जबकी कुमारजीव इतिहास आधारित – आवर्ती काल चेतना और इतिहास चेतना के संयोजन और सह अस्तित्व की गवाही देते हुए और इस तरह भारतीय आधुनिकता की राह को प्रशस्त करते हुए। अपने अंतिम काव्य संग्रह कुमारजीव में भी कुंवरजी काल के दोनों आयामों (आवर्ती और रेखीय) के बीच में मानवीय अस्तित्व की परिकल्पना करते हैं। वे कहते हैं ---

समय विभाजित नहीं, पदार्थ की तरह
न जुड़ा न पृथक, पदार्थ की तरह ।
छोटे-छोटे खण्डों में हम उसे विभाजित कर लेते हैं
अपने पदार्थ बोध की तरह[25]।

यानि मानवीय कल्पना में काल का एक आयाम तो वह है जिसमें काल का बोध सनातन है और अखंड है। वह शाश्वत काल है जिसके साथ हमारी ऐसी परिकल्पनाएँ जुडी हुई हैं जो भौतिकता की सीमा का अतिक्रमण करती हैं। जबकि दूसरी तरफ काल का वह आयाम भी हमारे अस्तित्व को घेरे ही हुए है जो मानवीय चेतना में आधुनिकता

[23] कुंवर नारायण (2014) : 15
[24] कुंवर नारायण (2013) : 57
[25] कुंवर नारायण (2015) : 29

और विज्ञान के विकास के फलस्वरूप अपना जगह बना पाए। काल के इस आयाम पर हमने अपने पदार्थ बोध को आरोपित कर दिया है। इसीलिए हम उसे पदार्थ की तरह ही विभाजित कर लेते हैं, पदार्थ की तरह ही हम उसकी गणना और मापन करने लगे हैं, पदार्थ की तरह ही वह हमारे लिए कीमती वस्तु हो गया है, पदार्थ की तरह ही हम उसका हिसाब रखने लगे हैं और पदार्थ की तरह ही हम उसका विपणन (मैंनआवर्स) करने लगे हैं। काल के इस ऐतिहासिक आयाम में सिमटते जाने का परिणाम यहाँ तक हुआ कि काल को हमने एक पण्य वस्तु बना दिया है। सिर्फ काल ही को नहीं बल्कि मनुष्य को भी। इसने आधुनिक मनुष्य के अध्यात्म बोध को क्षरित किया है। काल बोध के इस संकुचन के साथ ही मानवीय अनुभव और उसके अभ्यंतर की समृद्धि का संकुचन भी हुआ – वह यंत्र और पण्य वस्तु के रूप में निरंतर बौना होते जाने को अभिसप्त हो गया। बौनेपन के इस दुश्चक्र से मनुष्य को निकालने का प्रयत्न हमारी आज की कविता करती है। कुंवरजी मानवीय अस्तित्व को काल के भिन्न-भिन्न आयामों में रख कर हमारे अनुभव और आभ्यांतर को पुनः समृद्ध करना चाहते हैं। उनकी कविता हमें आगाह करती है कि हमारे जीवन का इहलौकिक ऐतिहासिक काल से घिरा हुआ है और उसके बाहर का वृहत्तर जीवन काल के शाश्वत आयाम से घिरा हुआ है। मानवीय अस्तित्व को काल के इन दोनों आयामों के बीच परिकल्पित करके कुंवरजी एक स्तर पर तो मानवीय अनुभव और आभ्यंतर को समृद्ध करते हैं, दूसरे स्तर पर वे मानवीय अस्तित्व के यांत्रिकरण और विपणन के विरुद्ध कारगर हस्तक्षेप करते हैं और तीसरे स्तर पर मानवीय नियति जैसे प्रश्नों पर चिंतन करके अपनी कविता को दार्शनिक ऊंचाई प्रदान करते हैं – ऐसा करते हुए कुंवर नारायण आधुनिक हिंदी कविता के एक महत्वपूर्ण और मेजर कवि के रूप में सामने आते हैं।

कुंवर जी की कविता में सिर्फ कालबोध के दोनों आयामों का सहअस्तित्व ही नहीं है अपितु वे दोनों आयामों के सह अस्तित्व और संवाद से अपनी कविता में एक तीसरी स्थिति की संकल्पना भी करते हैं। यह संकल्पना है इहलौकिक जीवन में ही अमरत्व की आकांक्षा की। यूं तो अमरत्व या सनातनता की धारणा का सम्बन्ध चक्रीय कालबोध और पारलौकिकता से है। लेकिन एक रेखीय काल बोध और तार्किकता जनित आधुनिकता ने मानवीय अस्तित्व को इह्लौकिकता तक ही सीमित कर दिया है। पारलौकिकता की बात अब मध्यकालीनता की परिचायक है। अतः दोनों काल बोधों का संवाद, जो भारतीय आधुनिकता की शर्त भी है, इहलौकिक जीवन में ही अमरत्व की धारणा को संभव करता है ---

मैं अपनी कृतियों में निबद्ध
अपना वह प्रति–समय भी हूँ
जिसमें मैं जीवित रहूँगा
अपने बाद भी–तथागत के साथ –
जैसे जीवित हैं तथागत
अपने बाद भी अपने रचे
उस परवर्ती उप–समय में
आज भी मेरे साथ ![26]

प्रतिसमय या उपसमय की यह अवधारणा कवि की मौलिक परिकल्पना है और यह न सिर्फ भौतिक है और न ही सिर्फ पारलौकिक। इसमे भौतिक समय के उपरांत भी जीवित रहने की सम्भावना बची रहती है क्योंकि

[26] वही : 29

साहित्य और कलाएं हमें यह अवसर प्रदान करती हैं कि हम उनके माध्यम से अपनी अमरता की कामना को संभव कर सकें। यह अमरता अशरीरी ही होगी—विचारों और कलाओं के अमूर्तन में निरंतर मौजूद रहेगी। रेखांकित करना होगा की कुंवरजी को यह जीवनदृष्टि भारतीय चिंतन परंपरा से मिली है। वे कहते हैं – "भारतीय समय बोध में इतिहास शब्द की अवधारणा भी ध्यान देने योग्य है ।एक संयुक्त शब्द जो संस्कृत के इति यानी ऐसा, ह यानी हुआ, आस यानी था, अर्थात 'ऐसा हुआ था' (इति +ह +आस) का बोध कराता है । 'स्मृति' और 'बखान' इसका मूल स्वभाव है : प्रमाणिकता, तारतम्य और सुनिश्चितता आदि गौण स्थान रखते प्रतीत होते हैं। न क्रमबद्ध इतिहास की कड़ियों को ज्यों का त्यों बचाए रखने की प्रवृति ही बहुत महत्त्व रखती है। ऐसा क्यों था? क्या प्राचीनों का इतिहासबोध अभी विकसित नहीं हुआ था? या उनकी जीवनदृष्टि ही ऐसी थी की जीवन के पार्थिव और नश्वर पक्ष की अपेक्षा उन्होंने उसके वैचारिक और आत्मिक पक्ष को ज्यादा महत्त्व दिया"[27]। भारतीय परंपरा में इस वैचारिक और चिंतन पक्ष का महत्त्व इतना अधिक रहा है की लेखकों और चिंतकों के व्यक्ति पक्ष को महत्त्व नहीं दिया गया। भरतमुनि और व्यास के नाम से लिखने वाले अनेक लेखकों का होना इसी ओर संकेत करता है। लेकिन आधुनिक जीवन व्यक्ति को महत्त्व देता है। अब विचार व्यक्तियों के माध्यम से ही संचरण करते हैं और विचार और चिंतन का पीढीगत संचरण भी विचारों और व्यक्तियों की अनश्वरता का ही संकेत करते हैं --- जैसे बुद्ध भौतिक रूप से न होने के बावजूद कुमारजीव और अपने किये-धरे में जीवित हैं, जैसे कुमारजीव भौतिक रूप से न होने के बावजूद अपनी कृतियों और कुंवर नारायण में जीवित हैं और जैसे कुंवर नारायण भौतिक रूप से न होने के बावजूद अपनी कृतियों और अपने पाठकों के दिलो-दिमाग में जीवित हैं। भौतिक जीवन की समाप्ति के बाद भी अपनी कृतियों और अपने पाठकों--प्रसंशकों के मन में जीवित रहना दरअसल कवि का उत्तरजीवन है और इसके लिए ईश्वर की जरुरत नहीं होती -

यहाँ से भी शुरू हो सकता है
एक उपरांत जीवन ---
पूर्णाहुति के बिल्कुल समीप
बची रह गयी
किंचित श्लोक--बराबर जगह में भी
पढ़ा सकता है
एक जीवन--सन्देश
की समय हमें कुछ भी
अपने साथ ले जाने की अनुमति नहीं देता,
पर अपने बाद
अमूल्य कुछ छोड़ जाने का
पूरा अवसर देता है[28]

।

जीवन के बाद भी कुछ अमूल्य छोड़ जाने की इच्छा दरअसल इस नश्वर संसार में अनश्वर बने रहने की कामना का ही दूसरा रूप है। अनश्वरता की यह कामना आध्यात्मिक कामना है। अलक्षित नहीं जाना चाहिए की

[27] कुंवर नारायण (2013) : 58
[28] कुंवर नारायण (2008) : 92

अनश्वरता की यह कामना भी ईश्वर, धर्म और पारलौकिकता के बगैर ही संभव हो रही है। कवि बिलकुल इहलौकिक होकर भी अध्यात्म को संभव कर रहा है और कहना न होगा कि यह भी भारतीय आधुनिकता की एक शर्त ही है -

बिल्कुल ऐहिक हो अध्यात्म
साधारण मिट्टी के बने खिलौने --
जीवन-शक्तियों के प्रतीक
तपश्चर्या नहीं
सम्पन्न दिनचर्या हो
जीवन की पूजा का अर्थ[29]।

कुँवर नारायण की तरह अशोक वाजपेयी भी अपनी कविता में ऐसे ही अध्यात्म की परिकल्पना करते हैं। उनका अध्यात्म भी धर्म, ईश्वर और परलौकिक आशयों से मुक्त है। ऐसा इहलौकिक अध्यात्म कला, कविता व् संस्कृति के माध्यम से अपने को सम्भव करता है --

इन सबको सहेज कर
कविता बनाता हूँ --
संसार की नश्वरता के विरुद्ध
अपनी लड़ाई में ,
शब्दों की अक्षरता से ,
एक मोरचा कुछ देर के लिए सही
जीत जाता हूँ[30]।

अशोकजी भी सांसारिक नश्वरता के विरुद्ध अनश्वरता की परिकल्पना काव्य की अमरता के माध्यम से ही करते हैं। उनकी आध्यात्मिकता भी ऐहिक ही है, शब्दों पर आधारित है। कुँवरजी के अध्यात्म की तरह ही अशोकजी की कविता का अध्यात्म भी ईश्वर और धर्म आधारित नहीं है बल्कि चिंतन और विचार आधारित है। दोनों शीर्षस्थ कवियों में भारतीय जीवन दृष्टि से अनुप्राणित कालबोध और अध्यात्म की यह समानता हमारे समय में भारतीय जीवन दृष्टि के पुनराविष्कार का प्रमाण है। कुंवरजी अपनी कविता में अध्यात्म को कालबोध से जोड़ कर और प्रतिसमय (उपसमय) की संकल्पना करके विशिष्ट बना देते हैं। ऐहिक अध्यात्म की यह कामना दरअसल भारतीय आधुनिकता में अंतस्थ यूरोपीय चिंतन और भारतीय चिंतन के संवाद का परिणाम है। ऐहिकता और भौतिकता पर जोर देना पश्चिमी चिंतन की विशेषता है जबकी पारलौकिकता और आध्यात्मिकता की चिंता में ऐहिकता और भौतिकता की उपेक्षा करना भारतीय चिंतन की। कुंवर जी की कविता में इन दोनों दृष्टियों के संवाद का परिणाम है ऐहिक अध्यात्म की उद्भावना। ऐसी कविताएँ उस सच्ची भारतीय जीवन दृष्टि की प्रतिनिधि हैं जो आत्मविश्वास के साथ पश्चिम से संवादरत है।

[29] वही :121
[30] अशोक वाजपेयी (1989) : 62

**निष्कर्ष :**

कुंवर नारायण की कविता का काल बोध चक्रीय और ऐतिहासिक (रेखीय) दोनों संकल्पनाओं के संवाद और सहअस्तित्व से निर्मित होता है। उनकी कविता में जहाँ एक तरफ आवर्ती काल बोध की अखंडता, शाश्वतता, सनातनता और प्रत्यावर्तन का स्वीकार है तो वहीँ दूसरी तरफ ऐतिहासिक काल की एकदिग्गामिता, कालक्रमता और पूर्वापरता का भी। काल के इन दोनों आयामों के बीच में मानवीय अस्तित्व को परिकल्पित करने से एक तरफ तो इतिहास की अंधी गली में मानव का भटकाव नहीं होता वहीँ दूसरी तरफ उसका भाव जगत भी इतिहास प्रदत कार्य-कारण श्रृंखला के संकुचन का अतिक्रमण करके अपने आभ्यंतर को समृद्ध रखता है – कि संसार सिर्फ कार्य कारण संबंधों कि श्रृंखला नहीं है, कि संसार को सिर्फ तर्क बुद्धि से ही नहीं जाना जा सकता है, कि मानवीय अनुभव तर्कातीत भी होते हैं और वह अनुभव भी बेहद महत्वपूर्ण होता है, कि मानव का जीवन सिर्फ भौतिकता तक ही सीमित नहीं है और जीवन के पराभौतिक आयाम मानव जीवन को समृद्ध करते हैं और इसलिय साहित्य और कलाएं भी सिर्फ भौतिकता तक सीमित नहीं रह सकती हैं। कुंवरजी की कवितायेँ हमें याद दिलाती हैं कि मानवीय नियति के प्रश्नों पर विचार करना राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबद्धता का विरोध करना नहीं है बल्कि मानवीय प्रतिबद्धता को एक वृहतर अर्थ प्रदान करना है और मानव जीवन के स्थूल प्रश्नों को वृहत्तर अर्थवत्ता प्रदान करना कविता का बुनियादी धर्म है। उनकी कविता का काल बोध हमें हमारे सच्चे भारतीय समय की पहचान कराता है जो आवर्ती और ऐतिहासिक काल के सहअस्तित्व से निर्मित होता है। कुंवरजी की कवितायेँ काल बोध के बहाने हमारे समकाल को भारतीय परंपरा से जोड़ने के गुरुत्तर दायित्व का निर्वाह करती हैं। 'उपसमय' या 'प्रतिसमय' की परिकल्पना काल के प्रति कुंवर नारायण के साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण को मौलिकता प्रदान करता है और ऐसा करते हुए उनकी कविता भारतीय आधुनिकता के विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ :**

1. अशोक वाजपेयी (1992), बहुरि अकेला, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. अशोक वाजपेयी (1989), तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. अशोक वाजपेयी (2002), कहीं नहीं वहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. आनंद के कुमारस्वामी (2014), टाइम एंड इटरनिटी, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली
5. कुंवर नारायण (2015), कुमारजीव, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
6. कुंवर नारायण (2009), आत्मजयी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
7. कुंवर नारायण (2014), इन दिनों, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8. कुंवर नारायण (2009), अज्ञेय (सं।), तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
9. कुंवर नारायण (2013), शब्द और देशकाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
10. कुंवर नारायण (2008), वाजश्रवा के बहाने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
11. कुमार विमल (2015), भूमिका, कुमार विमल (सं।), अज्ञेय गद्य रचना-संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली : 9-50
12. निर्मल वर्मा (2001), भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
13. राम मनोहर लोहिया (1998), इतिहास-चक्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

14. रोमिला थापर (2018), इतिहास, काल और आदिकालीन भारत, अंग्रेजी से अनुवाद : शुभनीत कौशिक, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली
15. सचिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय (2011), सर्जना और सन्दर्भ, नेशनल पेपर बैक, नई दिल्ली
16. सचिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय (1978), संवत्सर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

---

**शहीद भगत सिंह कॉलेज**
**santosh106@gmail।com**
**मो। 8851027457**

# बिक्रम सिंह की कहानियों समाजबोध के विविध आयाम

*वीरेन्दर

कोई-सी भी साहित्यिक विधा हमारे सामने संवाद के लिए होती है। इन साहित्यिक कृतियों के माध्यम से रचनाकार पाठकों के समक्ष समाज का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। यह लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में हिन्दी कहानी हिन्दी साहित्य की प्रमुख कथात्मक विधा रही है। अगर हम यह कहें की कहानियाँ अपने समकालीन समय की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक परिस्थितियों का सजग प्रवक्ता होती हैं तो गलत नहीं होगा। वे अनेक भूल-बिसरी हुई सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों सच्चाईयों और परम्पराओं को याद दिलाने में मददगार होती है।

आजकल हम हिन्दी कहानियों में अस्मिताओं का प्रचलन काफी देखते हैं। 1990 के बाद जो कहानी की धारा उभर कर आती है उससे अस्मितावादी राजनीतिक कहानियाँ दिखाई देना शुरू हो जाती हैं। ठीक इसी समय इन सब अस्मिताओं की परवाह न करते हुए बिक्रम सिंह अपनी कहानियाँ लिखते हैं। उनकी कहानियों में अस्मिता की लड़ाई नहीं है बल्कि आम व्यक्ति के जीवन संघर्ष की लड़ाई है 'मुकदमा', 'जालुआ', 'ब्रम्हपिशाच', 'नरक', 'दिव्य शम्बूक' आदि कहानियाँ इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। बिक्रम सिंह की 'जलुआ' कहानी रहस्यपूर्ण और रोमांचक हैं, जिसे उन्होंने बड़ी सुंदरता से बुना है। कहानीकार ने इस कहानी में जोखन बीघा गाँव की उन औरतों का दर्द बड़ी ही मार्मिकता से उकेरा है जिनके पति रोजी-रोटी के खातिर परदेश गए और कई बरस बीत जाने के पश्चात भी घर नहीं लौटें। इन स्त्रियों की आकांक्षाएँ घर की चार दीवारी में दम तोड़ती हुई नजर आती हैं जोकि मालती और युवक के बीच इन संवादों से स्पष्ट समझा जा सकता है-

"उसने कहा की – उस समय तो बड़ा जोश दिखा रहे थे, अब क्यों कांप रहे हो? अब कंपकंपी ही मेरे वश में कहा थी। कोशिश तो कर रहा था पर टाँगें फिर भी बेकाबू हुए जा रही थी।

-तो तुमने सोचा, भागने के लिए आई हूँ।

मैं क्या बोल सकता था।

उसका चेहरा गंभीर हो गया। जमीन की आँख गड़ाए उसने कहा- ध्यान से सुनो। ये मेरे सबसे सुंदर कपड़े हैं। मैंने वर्षों अपने मरद का इंतजार किया। वह कभी गाँव नहीं लौटा। मेरे जैसी कई औरतें है टोले में। जो बाहर गया वह लौटकर नहीं आया। गाँव में तुमने जो देखा ही है वहाँ केवल बूढ़े और बच्चे रहते हैं। तुम आए तो मैंने अपना शौक पूरा किया। तसल्ली हुई कि मैं भी औरत हूँ। अब ये कपड़े मेरे किसी काम के नहीं। इन्हें कहीं फेंक देना।"(बिक्रम सिंह, जलुआ, पृ. 25) इन बातचीत से मालती के दर्द को समझा जा सकता है कि वह अपने औरत होने कि तसल्ली जलुआ खेल से करती है। ये कहानी औरतों के अकेलेपन की मार्मिकता को उजागर करती है, जोकि शादी-शुदा होकर भी 'पद्मावत' के नागमती के भाँति अपने पतियों के आने का इंतेजर करने को मजबूर है।

बिक्रम सिंह की कहानियों का समाज दर्शन उनके परिवेश से ही आकार ग्रहण करता है। वे अपने समस्त बोध को और उसके मनोविज्ञान को बखूबी समझते हैं और जो मानसिक द्वन्द उनके व्यक्तित्व में होता है वह कहानियों के माध्यम से बाहर आती है। यह द्वन्द उन्हें हर प्रकार के शोषितों के प्रति सहानुभूति वाली मानसिकता देता है। कुछ इसी प्रकार की सहानुभूति कहानीकार को 'मुकदमा' कहानी के नायक मुकुंदी लाल से है। मुकुंदी लाल पर घर के पिछवाड़े गैर-कानूनी तरीके से हैडपम्प लगाना, हज़ार रुपये का गबन तथा उसकी दस-साला बच्ची के हत्या संबंधी संगीन आरोपों के बावजूद जज साहब जीवन प्रकाश उनकी तीनों आरोपों के पीछे सच्चाई को बड़े गौर से सुनते हैं। इस कहानी में न्याय-रक्षक के भ्रष्ट चरित्र का उद्घाटन करते हुए मुकुंदी लाल कहता है-"तो जनाब, मैं पूरी तरह बहक न जाऊँ, इस गबन वाली बात का खुलासा करना जरूरी है। इसका उत्तर है-प्रतिशोध। शांति-व्यवस्था कायम रखने वाले रक्षक इस तत्व के उपयोग में माहिर हैं। जब उन्हें मजबूरी में मुझे छोड़ना पड़ा तब वे मेरे पीछे पड़ गए। वे मेरे कार्यालय तक पहुँच गए। अधिकारियों से साँठ-गाँठ हुई और इस तरह मेरी फाइलों में गबन के बीज़ रोपे गए। ऐसे मंगलकारी कार्य हमारी पुलिस इतनी तन्मयता और लगन से करती है कि श्रवण कुमार भी अपने माता-पिता की क्या सेवा करने होंगे। इस तरह मुझे नौकरी से हटा दिया गया।"(बिक्रम सिंह, मुकदमा और अन्य कहानियाँ, पृ. 16) इस कहानी का रचनाकाल - 1992 का समय है। तब से लेकर आज तक कानून के रक्षकों में भ्रष्ट आचरण की कोई कमी नहीं आई है। पता-नहीं आज भी कितने निर्दोष मुकुंदी लाल इन जैसे भेड़ियों के शिकार बनते होंगे।

बिक्रम सिंह साहित्य और समाज के अनोखे रिश्ते को पहचानते हैं और समाज के सभी आयामों को बड़ी ईमानदारी से प्रस्तुत करते हैं। उनका व्यक्तित्व समाज के साथ जुड़ा हुआ है और अपने-अपने ढ़ंग से जूझता भी रहा है। वे कहानीकार की सामाजिक चेतना के लिए सामाजिक विकास को आवश्यक मानते हैं। सामाजिक विकास का लघुत्तम अनिवार्य घटक परिवार है इसलिए कहानीकार ने सामाजिक चेतना के लिए पारिवारिक जीवन की चेतना को बहुत ही जरूरी माना है। 'विमर्श में आचार्य' ऐसी ही एक कहानी है जिसमें पारिवारिक समस्या केंद्र में है। शोभना हिन्दू है और वह मुस्लिम युवक शमशेर से शादी करना चाहती है, वहीं शोभना के पिता डॉ. शर्मा एक अँग्रेजी के प्रोफेसर होते हुए भी दोनों की शादी का यह कहकर विरोध करते हैं-"साफ बात यह है की मैं इस शादी के खिलाफ हूँ और मैं यह हरगिज न होने दूँगा। इसका कारण यह नहीं कि वह मुसलमान है। इसका कारण शोभना का फ्युचर है। लोग इस शादी कि कभी इज्जत नहीं करेंगे। इसके बच्चे जीवन भर यह तय नहीं कर पायेंगे कि वे हिन्दी है या मुसलमान। उनकी शादियाँ रुक जाएंगी। तुम खुद उलझन में पड़ जाओगी और सोचती रहोगी कि ये शादी न होती तो कितना अच्छा होता। शोभना जीवन से खिलवाड़ नहीं करना चाहिए।"(बिक्रम सिंह, जलुआ, पृ. 36) समाज को शिक्षा देने वाले प्रगतिशील प्रोफेसर लोग ही जब ऐसी छोटी सोच रखते हैं तो भला समाज और व्यक्ति का पातन होना निश्चित ही है।

बिक्रम सिंह कि कहानियाँ मनुष्य, समाज और उसके व्यक्तिगता सामाजिक राजनीतिक सम्बन्धों की गहरी पड़ताल करती हैं। जो यह बताती है कि एक व्यक्ति का सामाजिक जीवन कितना बहुआयामी हो सकता है। उनकी कहानियों में विद्यमान आम-आदमी उनके समान ही रोता, गाता, चोट-खाता, खुश होता, पराजय के परिणामों को

झेलता और फिर नए मोर्चे पर जूझता दिखाई देता है। अमानवीयता के विरुद्ध तीखी आलोचना करने वाली उनकी कहानियाँ सामाजिक चेतना और सामाजिक चिंता से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। 'दिव्य शम्बूक' कहानी इसका उदाहरण है। जिसमें राम, शम्बूक का वध सिर्फ इसलिए कर देते हैं कि वह शूद्र योनि में जन्मा होकर तपस्या कर रहा होता है। शम्बूक न्याय और समतामूलक समाज स्थापित करने की इच्छा प्रकट करते हैं-(आप अपनी शंकाओं से मुक्त हो लें, क्योंकि मैं स्वर्ग पर विजय पाने की इच्छा नहीं रखता हूँ। मैं केवल उस श्रेष्ठ व्यवस्था को अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ जो श्रेष्ठतम है। जहां कोई दुख, क्लेश नहीं है, वह व्यवस्था कैसी होगी- मैं केवल उसे अनुभव करना चाहता हूँ ताकि धरा पर वैसा ही न्यायपूर्ण शासन स्थापित कर सकूँ। क्या मेरी इच्छा इसलिए अनुचित है कि मैं युवा हूँ।"(बिक्रम सिंह, अनकही कहानियाँ बाल्मीकीय रामायण पर आधारित, पृ. 154) आगे शम्बूक मरने से पहले राम पर दैवीय शक्तियों के दुरुपयोग का आरोप लगाते हुए कहता है कि उसके वध से यह सिलसिला नहीं रूक सकता। उसके वंशज धरती पर न्यायमूलक समाज की स्थापना करके ही रहेंगे-"अब नये युग का उदय होने वाला है। मेरे वंशज मेरी इच्छा को पूर्ण करने के लिए आने वाले है। यदि मैं चाहूँ तो अपने तप के प्रभाव से स्वयं को जीवित रख सकता हूँ, परंतु यह अप्राकृतिक कृत्य होगा। मैं प्राकृतिक सत्य का निरादर नहीं कर सकता। मैं अपनी शेष आयु अपने वंशजों को देता हूँ। उन्हीं में प्रकट होकर मैं लाखों वर्षों तक जीवन धारण करूंगा। इतना कहने के बाद शम्बूक की आवाज लड़खड़ाने लगी। आँखें मूँद गईं और आश्रम में निस्तब्धता छा गई।"( बिक्रम सिंह, अनकही कहानियाँ बाल्मीकीय रामायण पर आधारित, पृ. 156) स्पष्ट है की इनका आशावाद व्यक्ति को निरंतर संघर्षशील देखना चाहता है। कहानीकार का यथार्थ बोध अपने समय के साहित्यकारों के उस कथित यथार्थ से भिन्न है जिसमें बिना जूझे ही संघर्ष की भावना को ही संघर्ष कह दिया जाता है और भोगे हुए यथार्थ की गुहार लगाई जाती है। कहानीकार स्वयं समाजवादी विचारों से जुड़े रहे हैं यही वजह है कि इनकी कहानियाँ विचार के धरातल पर भविष्योंमुखी बन सकी है।

बिक्रम सिंह अपनी कहानियों में समाज के असहाय, दमित एवं उपेक्षित जनता के समर्थन में खड़े नजर आते हैं। उन्होंने शम्बूक, मुकुंदी लाल आदि जैसे साधारण लोगों के असाधारण दर्द को प्रकट किया है। इनकी कहानियों के दबे-कुचले पत्रों के माध्यम से व्यवस्था से मुठभेड़ करते नजर आते हैं। कहानीकार की यह मुठभेड़ अधिकारों से वंचित जनता के लिए है। वे दिखते हैं कि किस प्रकार लोकतन्त्र में तंत्र का वर्चस्व है और लोक मर रहा है। तंत्र पर सिर्फ अभिजन वर्ग का कब्जा है। इस लिहाज से देखें तो 'दूर देश का राजा' कहानी इन समस्याओं को बहुत ही सशक्त ढ़ंग से उठाती हैं। इस कहानी में राजा के गलत नई आर्थिक नीतियों के कारण आम गरीब जनता भुखमरी, गरीबी, बीमारी और बेरोजगारी का शिकार होने लगते हैं और अंत में अपनी जान से हाथ भी गँवा बेठते हैं- "इसके कुछ दिनों बाद ही एक नई बीमारी के फैल जाने की सूचना से सारे शहर में खलबली मच गई। यह बीमारी गरीबों की बस्ती में फैली थी। राजा ने विशिष्ट चिकित्सकों से बात की। उन्होंने राजा को आश्वस्त किया कि बीमारी मामूली किस्म की है और ज्यादा-से-ज्यादा यही हो सकता है की कुछ लोग जान गँवा बैठेंगे।............... राजा ने पूछा-अमीरों को तो कोई खतरा नहीं है? चिकित्सकों ने कहा- उन्हे कब किसी से खतरा रहा है। राजा ने पूछा- इस बीमारी का कारण क्या है? चिकित्सकों ने सादगी से जवाब दिया- एकदम मामूली कारण है। शरीर को

कुछ प्राकृतिक तत्वों की जरूरत रहती है और उनकी कमी हो जाने से शरीर कमजोर हो जाता है। राजा को यह जानकार तसल्ली मिली कि इस बीमारी के फैलने में सरकार का कोई दोष नहीं। लोगों को प्राकृतिक तत्वों का सेवन करना चाहिए।

गरीबों की बस्ती का बुरा हाल था। लोग धीरे-धीरे मर रहे थे। यह बीमारी कोई पाँच वर्ष पहले शुरू हुई थी, जब राजा ने कई नई नीतियों की घोषणा की थी। साग-सब्जी न खाने के कारण लोग क्रमिक रूप से बीमार होते चले गए। काम छूटता चला गया और हालात बाद से बदतर होते चले गए।"(बिक्रम सिंह, जलुआ, पृ. 102) पिछले दो-तीन दशकों में नवउदारवाद और सांप्रदायिक राजनीति के गठजोड़ ने लोकतान्त्रिक संस्थाओं को गहरा आघात पहुंचाया है। इसके चलते लोकतान्त्रिक चेतना विकृत होती जा रही है।

समाज में आम-आदमी जितना विवश राजनीतिक व्यवस्था में होता है उतना ही त्रासद स्थिति में वह अर्थव्यवस्था तंत्र में भी रहता है। कहानीकार के जीवनकाल के आरंभ से ही स्वतंत्र भारत की राजनीतिक व्यवस्था से मोहभंग का पर्व प्रारम्भ हो चुका था और भारत की नवउदरवादी आर्थिक नीतियों का समाजवादी खेल भी पूंजीवादी शोषण व्यवस्था को छुपा नहीं पा रहा था। व्यवस्था की मार मनुष्य को लाचार बना देती है। व्यवस्था का नियंत्रण चाहे स्वदेशी हो या परदेशी आम-आदमी दोनों ही स्थितियों में लाचार और बेबस रहता है। नवउदरवादी अर्थव्यवस्था में बहुत गहरे तक व्याप्त भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, और शोषण के कारण आधुनिक जीवन ही जटिल और कठिन हो गयी है। 'चाचा नामधारी' कहानी आधुनिक जीवन के आर्थिक तनावों में पागल होते लोगों की यातना का चित्रण किया गया है। इस आर्थिक तनावों से उपजा पागलपन लोगों के दिमाग पर इस कदर हावी है कि रिश्तों की विश्वसनीयता पर ही संदेह उठने लगा है। इस कहानी के आरंभ में बड़े भाई साहब का उदाहरण देख सकते हैं- "मगर शाम को देखा कि आज भी भाई साहब अंग्रेजी गालियां देते हुए घर में प्रवेश कर रहे हैं। मेरी हवा खिसक गई। भाभी सहारा दे रही है, पर आप जानते ही है कि अंग्रेज़ी शराब के प्रभाव से जन्मी गालियां अन्य विदेशी चीजों की तरह यहाँ भी सुपीरियर साबित हुई। भाभी की देशी झिड़कियां एकदम बेअसर जा रही थीं। दोनों कमरे में गये और मैं एकाग्रचित्त होकर अगले दृश्य के संवाद-श्रवण के लिए प्रतीक्षा करने लगा। एक क्षण बाद ही वीर रस और करुणा रस का संघर्ष मेरी श्रवणेंद्रियों तक पहुंचा।...........मगर जब अपने कमरे के दरवाजे पर भाई साहब की लाल-लाल आंखें दिखीं तब मेरी सासें ऊंची-नीची होने लगीं। लगा की अब शायद मोर्चा बादल गया है। भाई साहब ने एक जोरदार तमाचा जड़ दिया और मेरा ख्याल है कि किसी भारतीय विलन कि गलती से भी ऐसा तमाचा नहीं लगा होगा। मैं गिड़गिड़ाया कि आखिर मेरा जुर्म क्या है। नौकरी न मिली तो क्या हुआ, घर का सारा कामकाज तो करता ही हूँ। भाई साहब ने जो बयान किया उसे यथावत दोहराने की हिम्मत और प्रतिभा मुझमें नहीं है। क्योंकि हो सकता है कि आप उसे यूं का यूं सुनकर रिश्तों की विश्वसनीयता पर ही संदेह करने लगें।"(बिक्रम सिंह, ब्रम्हपिशाच, पृ. 29-30) इस आधुनिक जीवन में बहुत सारी जिम्मेदारियों और इन्हें पूरा करने के लिए एक आम-आदमी को जिन सुविधाओं की जरूरत होती है वह इस नई अर्थव्यवस्था में सिर्फ अभिजात वर्ग के पास ही है वहीं निम्नवर्ग और मध्यमवर्ग दोनों इस व्यवस्था में बेबस-से नजर आते है। चाचा नामधारी तो इस आर्थिक तनाव के कारण इस कदर पागल हो चुका है कि वह व्यक्ति अपने आपको बीसवीं शताब्दी का महान

व्यक्ति समझने लगा है लेकिन उसकी बुद्धि मक्खी और लौंग में अंतर करने में असमर्थ है-"हम खाने में जुट गये। तभी मेरी नजर चाचा नामधारी कि प्लेट की ओर गयी। उनकी सब्जी में एक काली-सी वस्तु पड़ी थी। मगर चाचा की बारीक नजर से वह बची न रह सकी। मैं निर्विकार भाव से खाने का अभिनय कर रहा था। किन्तु चाचा ने मुझे उंगली के संकेत से कहा- राजकुमार साहब, यह का चीज़ है? मुझे समाधान के लिए तर्कों की कल्पना करनी पड़ी। मैंने कहा- चाचा, ऐसा है कि आपने अभी कहा कि महापुरुष छोटी-छोटी बात पर ध्यान नहीं देते। अतः हम इस वस्तु के बारे में बेकार की चर्चा क्यों करें? वैसे आपकी जानकारी के लिए बता दूँ कि यह लौंग का टुकड़ा है और सब्जी को सुगंधित बनाने के लिए डाला गया है।" (बिक्रम सिंह, ब्रम्हपिशाच, पृ. 38) इस तरह दिमागी संतुलन बिगड़ जाने से उत्पन्न विडंबनात्मक परिस्थितियों को इस कहानी के माध्यम से प्रयोगात्मक रूप से प्रस्तुत किया है।

बिक्रम सिंह ने कई कहानियाँ शहरी और ग्रामीण स्त्रियों को केंद्र में रखकर लिखा है। जिनमें 'जलुआ', 'बंद किवाड़ों के पीछे', 'टॉस', 'नरक', 'ब्रह्मपिशाच' आदि कहानियाँ है। इन कहानियों में ग्रामीण और शहरी परिवार के नारी की जीवन की विडंबनाओं, असमर्थताओं एवं कुंठित आशा व निराशा आदि को बड़े रोमांचक तरीके से उसका चित्रण हुआ है। 'ब्रह्मपिशाच' कहानी पितृसत्तात्मक पुरुषप्रधान संरचना के ग्रामीण समाज में एक असहाय व अकेले बदहाली का जीवन जीने को मजबूर विधवा लक्ष्मीना की करुण कथा है जिसे ब्रह्मपिशाच कहा जाता है। लक्ष्मीना के यौवन पर रसूखदार व धनी बिसनाथ पांडे की बुरी नजर है। वह लक्ष्मीना को हर हाल में पाना चाहता है। इस कहानी की अन्य पात्र बूढ़ी विधवा सतकालो चाची है जिसका एकमात्र लक्ष्मीना से अच्छा व्यवहार बना हुआ है। पर उसकी जमीन बिसनाथ पांडे के यहाँ रेहन पर पड़ी है जिसको छुड़ाने के लिए वह स्वार्थवश लक्ष्मीना को पाने में बिसनाथ पांडे का साथ देती है। सतकालो चाची लक्ष्मीना को बिसनाथ पांडे के साथ चलने के लिए मानते हुए कहती है-"अभी तुम्हें बीस-तीस साल जीना है। इस टूटते हुए मकान में बीस-तीस साल काटना आसान नहीं है। अभी एक साल भी नहीं हुए और हालात क्या से क्या हो गई? कटोरा भर-भर के दूध पीयोगी।-चाची!!!- बिसनाथ पांडे ने पटना में एक मकान खरीदा है। यहाँ नहीं रहना है। वहाँ कोई गाँव का नहीं है। मेम बनकर रहोगी। तीन बजे ही एक बस जाती है। तैयार रहना, कल आ जाऊँगी।– लक्ष्मीना पसीने से तर-बतर हो चुकी थी। सतकालो बिसनाथ पांडे के घर की ओर चल पड़ी।" (बिक्रम सिंह, ब्रम्हपिशाच, पृ. 81) सतकालो चाची लक्ष्मीना के साथ विश्वासघात करती है। इस तरह अंत में लक्ष्मीना के जीवन में चुनौतीपूर्ण संकट के सिवा कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। इसलिए यह कहानी बड़ी ही मार्मिक और संवेदनशील बन पड़ी है।

कहानीकार की 'नरक' कहानी की नायिका इन्दु है, जिसे अपने पति अजीत से वैवाहिक संबंध को लेकर बड़ी उम्मीदे होती है, किन्तु अजीत किसी बड़ी-सी बीमारी से ग्रसित होता है। इसी वजह से वह इन्दु के साथ विवाह के पन्द्रहवे दिन भी यौन संबंध नहीं बना पाता है। नतीजा यह होता है कि इन्दु को यह विवाह ही नरक लागने लगता है-"सुबह अजीत खूब बन संवर कर आता है। इन्दु कि आँखें सूजी हुई हैं। अजीत खुश लग रहा है। वह पूछता है-हनीमून के लिए प्लान तैयार है। जगह तुम बताओ। - नहीं। कहीं नहीं जायेंगे। यहीं। ठीक तो है। उसकी आँखें थकी हैं। - नहीं भई, शादी के बाद कि तब तो परंपरा ही टूट जायेगी। जल्दी बताओ। वह उत्साह के साथ बोलता है। - मैंने सब कुछ देखा है। उसका जवाब रुखा है। - पूरा हिंदुस्तान का चप्पा-चप्पा देख लिया....फिर भी

कहीं चलने को तो कहो। वह दोहराता है। - मैंने कहा न हर जगह घूम आई हूँ। एक जगह बाकी थी वह भी यहाँ आकर देख ली। वह बिना रुके बोल देती है। - क्या बाकी था जो यहाँ आकर देख लिया। वह भी दृढ़ होकर बोलता है। - नरक। वह चुप हो जाती है। एक पल खामोशी रहती है। फिर अजीत के काँपते हाथों से मरा हुआ एक चांटा इन्दु के गल पर आकर बिखर जाता है।" एक पत्नी हमेशा अपने पति से यही आशा रखती है कि वह उसकी हर आकांक्षाओं को पूरा करेगा, हर परिस्थियों में उसका साथ दे और पति का भी यही दायित्व होता है कि वह अपनी पत्नी को हमेशा खुश रखें और इसके लिए एकसाथ वक्त गुजारना जरूरी होता है। लेकिन यह कहानी इसके ठीक विपरीत है और वैवाहिक जीवन नरक में तब्दील होकर रह जाता है।

वही 'टॉस' कहानी में रूबी महानगरीय समाज में रहने वाली एक ऐसी लड़की है जिसे सिर्फ पैसे वाले अमीर लड़के ही पसंद होते हैं इसलिए उसकी नजर में लड़के के स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग का बड़ा महत्व था- "रूबी की नजर में मिल्टन का उतना महत्व नहीं जितना एक लड़के के स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग का था। वह सबका मुआयना करने में लग गई। बाकी सब तो ऐरे-गैरे हैं। कॉलेज के बैंक में पैंतीस रुपये का एकाउंट खोल देते हैं और समझते हैं एकाउंट वाले हैं। रास्कल्स, को पाता ही नहीं मेरे पर्स में कितने एकाउंटों की रकम रोज पड़ी रहती है। एक शेखर है और दूसरा चावला, बाकी तो सब आउट ऑफ डेट। लेकिन शेखर, कोई खास लायक मुर्गा नहीं। माना कि उसके पास और जीन्स की पैंटें हैं लेकिन चावला को एक पैंट को दोबारा पहने नहीं देखा। शेखर कभी येजडी तो कभी स्कूटर पर आता है, ठीक है, पर चावला के पास तो फिएट है, हो सकता है कल को उसका बाप अम्बासडर मार्क-टू खरीद लें। नहीं चावला ठीक है और इंट्रेस्टिंग तो एक्सेस है। लेकिन मैं तो वालिया हूँ और वह चावला.....ओह नो...कास्ट बार....लाइन कट गई, और वह मिल्टन के लोक में पुनः वापस आ गई।"(बिक्रम सिंह, मुकदमा और अन्य कहानियाँ, पृ. 36-37) कहानीकार की यह कहानी 1982 में प्रकाशित हुई थी। क्योंकि इस कहानी में दिल्ली विश्वविद्यालय और यहां के जगहों का वर्णन हुआ है इससे यह साफ पता चलता है कि ये सारा कहानीकार के आँखों के सामने घटित सत्य है। क्योंकि कहानीकार स्वयं दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं। आज 21 वी शदीं में ऐसी मानसिकता रखने वाली रूबी हर जगह दिखाई देंगी जो सिर्फ पैसे वाले लड़को को ही प्यार करती है चाहे वह लड़का चरित्रहीन औए बेवफा ही क्यों न हो। इस तरह बिक्रम सिंह की कहानियों में हर तरह की स्त्री चरित्र को हम देख सकते हैं।

किसी भी रचना में अंतर्वस्तु अथवा रूपाकार को अलग-अलग करके देखा नहीं जा सकता है। दोनों का समाहित रूप ही रचना होती है। अंतर्वस्तु अमूर्त रूप में रचनकर के मन में होती है और वह अंतर्वस्तु रूपाकार ग्रहण कर लेने के पश्चात मूर्त रूप धारण करती है। कहानीकार के कहानियों में हमें विभिन्न कथानकों का वैविध्य देखने को मिलता है जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि सभी पक्षों को अपनी कहानियों में चित्रित किया है। इसके लिए इन्होंने एक सशक्त आम जन की भाषा का प्रयोग किया है। भाषा शैली ऐसी है की जिस भी कहानी को हम पढ़ना शुरू करते हैं तो अंत तक बिना रूके पढ़ते ही चले जाते है। इसे ही कहानीकार अपनी सफलता भी मानते हैं। जलुआ कहानी संग्रह की भूमिका में उन्होंनें कहा भी है- "जब हम कोई सधी हुई कहानी आरंभ करते हैं और पढ़ते ही चले जाते हैं तो इसका मतलब है कि आप उस मानवीय मामूलीपन की

गिरफ्त में आ गये हैं। कहानी की जान उसी में बसी होती है।"(बिक्रम सिंह, जलुआ, पृ. 8) कहानीकार को कथानक की बहुआयामिता को पाठकों के समक्ष एकआयामी रूप से प्रस्तुत करने के लिए अपने अनुभव तंत्र से पग-पग पर जूझना पड़ा है। इसलिए इनकी कहानियों में विश्वसनीयता और रचनात्मकता जीवंतता दिखाई देती है। कहानियों में प्रखर यथार्थ, कथा की सघन बुनावट आकर्षक कहन शैली इत्यादि हर दृष्टि से पाठकों को प्रभावित करती हैं।

**संदर्भ**


1. बिक्रम सिंह, जलुआ, अलुल्य पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2018
2. बिक्रम सिंह, मुकदमा और अन्य कहानियाँ, अन्यन प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2018
3. बिक्रम सिंह, अनकही कहानियाँ बाल्मीकीय रामायण पर आधारित, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2018
4. बिक्रम सिंह, ब्रह्मपिशाच, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2018



***शोधार्थी, पीएच.डी.(हिन्दी)**
**दिल्ली विश्वविद्यालय**
**मोबाइल नो. 9716529905**
**ई. मेल: virenderk806@gmail.com**

# शरद जोशी के स्तम्भों में प्रबुद्ध युगबोध का अवलोकन

**काजल कुमारी सिंह***

**सारांशः-**

*स्तम्भ समाचार पत्र में नियमित रूप से प्रकाशित होने वाले विशिष्ट खण्ड होते होते हैं। व्यंग्य विधा के विकास में शरद जोशी का योगदान सराहनीय है, वह अपने जानदार व्यंग्य लेखन के लिए जाने जाते हैं। शरद जी को न केवल एक सजग एवं महान साहित्यकार के रुप में ख्याति प्राप्त है बल्कि एक जागरुक एवं जिम्मेदार पत्रकार के रूप में में भी उन्हें लोकप्रियता हासिल है। शरद जोशी की स्व अर्जित अनुभूतियों की निर्वैयक्तित्व अभिव्यक्ति उनके व्यंग्य लेखन को विशिष्टता प्रदान करता है। शरद जोशी रोज घटने वाली घटनाओं पर अपने व्यंग्य की पैनी धार रोज चलाते रहे हैं। उनका स्तम्भ जीवन के यथार्थ एवं कड़वी सच्चाईयों को दिखाता है। सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश की लगभग समस्त दुर्बलताओं को शरद जोशी ने स्तम्भ लेखन द्वारा सामने लाने का प्रयास किया है। शरद जोशी के लेखन का विषय फैलाव इतना व्यापक है कि शायद ही कोई विषय उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से बच पाया हो। सामान्य जन आवाम से लेकर बहुराष्ट्रीय समस्याओं तक को उनकी रचनात्मक दृष्टि अपने भीतर समाहित करती है।*

**बीज शब्द** – *स्तम्भ, व्यंग्यकार शरद जोशी, युगबोध, प्रतिबद्धता*

---

पत्रकारिता में लिखे जाने वाले विविध लेखों में स्तम्भ लेखन की अपनी एक विशिष्ट महत्ता होती है। अंग्रेजी में स्तम्भ को कॉलम और स्तम्भ लेखक को कॉलमिस्ट कहा जाता है। स्तम्भ किसी भी अखबार में नियमित रूप से प्रकाशित होने वाला वह सामग्री है, जिसमें किसी संवेदनशील विषय पर गहराई से विचार व्यक्त किया जाता हो अर्थात् यह एक विचारात्मक लेखन है। कॉलमिस्ट आम तौर पर समसामयिक युग की राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय से जुड़ी समस्याओं पर अपना विचार व्यक्त करते हैं। लेखक के पास स्तम्भ लेखन के लिए विषय चुनाव से लेकर अपनी बात रखने की पूरी आजादी होती है। समाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, कविता, कहानी, खेल, फिल्म, चुटकुला आदि विषयों में से लेखक चाहे तो रोज किसी एक विषय या चाहे तो सभी विषयों पर स्तम्भ लिख सकता है। विशिष्ट शैली में लिखा गया स्तम्भ किसी भी अखबार की लोकप्रियता का प्रयोजन होता है।

हिंदी साहित्यकारों में सामाजिक और मानवीय जिम्मेदारियों के प्रति गहरी चेतना आरंभ से रही है। मध्यकाल के कबीर, तुलसी से लेकर आधुनिक युग के भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद में

इस चेतना का विपुल प्रवाह देखा जा सकता है। स्वातंत्रयोत्तर भारत की विकृत परिस्थितियों में इस जिम्मेदारी को आगे बढ़ाने का बीड़ा व्यंग्यकार शरद जोशी ने उठाया। शरद जोशी अपने समय में पत्रकारिता के दुनिया का अनूठे उदाहरण हैं। शरद जोशी के लेखन का ऐसा प्रभाव रहा है, कि उस समय केवल उनके स्तम्भ पढ़ने के लिए ही लोग अखबार खरीदना आरंभ कर दिये थे। जोशी जी के स्तम्भ लेखन में उनका स्वतंत्र, बेबाक एवं प्रबुद्ध वृति का स्पष्ट स्वरूप द्रष्टव्य होता है। उनके स्तम्भों को पढ़कर पाठक का मन-मस्तिष्क नई सोच के लिए, नया परिवर्तन हेतु मचल उठता है।

शरद जोशी ने 1953 में इंदौर के प्रसिद्ध दैनिक समाचार पत्र ‘नई दुनिया’ में ‘परिक्रमा’ नाम से स्तम्भ लेखन की शुरुआत किया। ‘नई दुनिया’ में प्रकाशित स्तम्भों का संग्रह ‘परिक्रमा’ नाम से 1957 में प्रकाशित हुआ। सन् 1960 के दशक में उन्होंने साप्ताहिक ‘धर्मयुग’ में ‘बैठे ठाले’ में स्तम्भ लिखना आरंभ किया। 1980 में वह ‘हिंदी एक्सप्रेस’ के संपादक भी बने, पर इस पत्रिका में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुआ। अप्रिल 1985 में शरद जोशी ने प्रसिद्ध दैनिक ‘नवभारत टाईम्स’ में ‘प्रतिदिन’ नाम से स्तम्भ लेखन शुरु किया, जिसमें वह मृत्यु पर्यंत तक लिखते रहे। ‘प्रतिदिन’ उस समय का सबसे प्रसिद्ध व्यंग्य कॉलम था। इस व्यंग्य कॉलम ने लोगो को इतना आकृष्ट किया, कि ‘टाईम्स ऑफ इंडिया’ ने इसके अंग्रेजी अनुवाद के लिए प्रयास किया। इस कॉलम के प्रति लोगो की उत्सुकता ‘नवभारत टाईम्स’ की लोकप्रियता को दर्शाता है।

दिन-प्रतिदिन घटित होने वाले तरह-तरह की घटनाओं पर शरद जोशी का व्यंग्याभिव्यक्ति बरबस ही फूट पड़ता था। उनकी पैनी दृष्टि राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय जगत की समस्त विषयों यथा राजनीति, समाज, साहित्य, पर्यावरण, संस्कृति, जनसंचार माध्यमों, आतंकवाद, घूसपैठियों, अखबारों, जातिवादी, भाषावाद, धर्मवाद, शिक्षा, कालाबाजारी, मंहगाई, चुनावी प्रक्रिया, प्रशासनिक व्यवस्था, आतंकवादी समस्या आदि पर रहती थी, जिसके अभिव्यक्ति का केंद्र ‘प्रतिदिन’ बना। प्रत्येक दिन के भोगे यथार्थ को शरद जोशी ‘प्रतिदिन’ स्तम्भ द्वारा आम आवाम तक पहुँचाते रहे। वह अपने जमाने के केंद्रीय मुद्दो से पूरे समाज को अवगत करते रहें, एवं उन्हें जागरुक एवं चेतनासंपन्न बनाने के लिए लगातार प्रतिबद्ध रहे। रमेश देव के अनुसार -“शरद जोशी संवेदनशील व्यंग्यकार थे। वे अकेला आदमी न जीकर, एक पूरा समाज जीते थे। व्यक्ति, समाज, धर्म, जाति, राजनीति व्यवस्था, घटनाएँ सबके सब उनके आंतरिक मर्म की अभिव्यक्ति बनते थे।”[1]

समाज की लगभग समस्त दुर्बलताओं के व्यापक स्वरूप का दर्शन शरद जोशी के स्तम्भ लेखन में मिलता है। किसी भी देश के समसामयिक परिवेश में जितना अधिक अंतर्विरोध और दुर्दम की संभावना होती है, वहां व्यंग्यकारों की पैनी धार की आवश्यकता उतना ही अधिक पड़ती है। शरद जोशी ने तत्कालीन युग की सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों, राजनीतिक कुचक्रों, जड़ होती संस्कृतियों पर करारा कटाक्ष किया है। डॉ. वागीश सारस्वत ने शरद जोशी के बारे में लिखा है –"व्यंग्यकार शरद जोशी तो स्वयं एक सजग पत्रकार थे। शरद जोशी सामाजिक सरोकारों से गहरे जुड़े थे, साथ ही वह राजनीतिक हथकंडो और राजनीतिक विडंबना के प्रति जागरुक थे। स्तम्भकार होने के कारण शरद जोशी का साविका दैनंदिन राजनीतिक गतिविधियों से पड़ता था।.... शरद जोशी सामाजिक प्रतिबद्धता और मानवीय मूल्यों के अटूट रिश्ते को रेखांकित करने के लिए राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य करते रहे।"[2] शरद जोशी का स्तम्भ अपने पाठकों को सामाजिक जागरुकता तथा राजनीतिक चेतना से रूबरू कराता है, तथा उनके अंदर मानवीय संवेदनशीलता को एक हद तक उत्तेजित करने का प्रयास करता है। इनकी रचनाएं संवेदनात्मक उद्वेलन के साथ-साथ लोगो को प्रबुद्ध भी करता है।

समाज के लगभग प्रत्येक हिस्से पर राजनीति एवं प्रशासनिक व्यवस्था की भ्रष्ट मनोवृत्ति तथा छल-कपट वाली नीति का कब्जा हो गया है। जिसका शिकार सामान्य जनमानस आसानी से होता रहा है। शरद जोशी के अनुसार भारत का नागरिक आज केवल आशाओं का पतवार थामें जीवन की नैया पर सवार है – "लूटपाट, हत्या, धमकियाँ, आतंक, भय, दंगे, चोरी, तस्करी, डकैती, बलात्कार, मारपीट, लाठी, गोली, गिरफ्तारी, जमानत, फायर होने आदि खबरों में, यह कितने सुकुन और हौसला देनेवाली बात है कि स्थिति नियंत्रण में है, मामले की सरगर्मी से जाँच हो रही है और कड़ा कदम उठने वाला है। सच कहा जाय तो आज भारतीय नागरिक, इन वाक्यांशों, इन जुमलों के सहारे ही साँस ले रहा है।"[3] जनता को मूर्ख बनाकर सत्ताधारी आसानी से अपने कुकृत्यों को अंजाम देते हैं। शरद जोशी अपने कॉलमो के जरिए उनके इस चाल का भंडाफोड़ करते रहे हैं।

शरद जोशी कुर्सीनामा व्यंग्य स्तम्भ में कुर्सी की उपयोगिता पर कटाक्ष करते हैं। नेताओं के लिए कुर्सी क्या महत्व रखता है का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है – "कुर्सियाँ सर्वत्र, सब कुछ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान। कुर्सियाँ रहस्य, कुर्सियाँ अभिव्यक्ति। कुर्सियाँ आदेश, कुर्सियाँ इतिहास, भविष्य वर्तमान। कुर्सी आत्मा उसपर जो बैठे सो परमात्मा। कुर्सी देवासन, सिंहासन, इंद्रासन, अभ्यासन। कुर्सी पर जो बैठे वह गुणवान, बुद्धिमान। वही न्यायधीश, वही परम पहलवान। कुर्सी ज्ञान, कुर्सी शक्ति। कुर्सी सपना, कुर्सी लक्ष्य, कुर्सी परमप्राप्ति, कुर्सी वरदान,

दीर्घ तपस्या, पूजा। कुर्सी तलवार, ढाल।। कुर्सी का अर्थ माल, वेतन, भत्ता, रिश्वत, कमीशन, कुर्सी जीवन का मिशन, भ्रष्टाचार का शाश्वत परमीशन।"[4] नेताओं का लक्ष्य होता है कुर्सी प्राप्त करना। कुर्सी पर आसिन होते ही वह स्वयं को सर्वशक्तिमान समझने लगता है। उनका काला, सादा हर कारनामा उसपर बैठते ही आरंभ हो जाता है। कुर्सी उनका वह वरदान है जिसे पाकर उनकी समस्त इच्छाएँ पूरी होने लगती है। सरकार का जनता के प्रति उदासीनता पर शरद जोशी सीधे-सीधे कटाक्ष करते हैं -"हमारी सरकार हमारी नियति की तटस्थ दर्शक है। बाढ़ हो, सूखा हो, वह क्या कर सकती है ? वह हमें सूचित करने के अतिरिक्त क्या कर सकती है। इतने डूबे, इतने मरे, इतनी बाढ़ आई, इतना सूखा पड़ा, मुख्यमंत्री यह कहते हैं आदि।"[5]

शरद जोशी तत्कालीन भारतीय ढूलमूल नीतियों के कारण उपजी महाभयावह समस्याएँ यथा जनसंख्या वृद्धि, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार का महाजाल, घूसखोरी, आतंकवाद एवं नक्सलवाद का बढ़ता प्रभाव, पानी-बिजली समस्या, बढ़ती मँहगाई का परस्पर उद्घाटन अपनी निबंधों में करते नजर आते हैं। भारत सरकार की कमियों तथा खोखली नीतियों को वह खंगालकर सरकार एवं जनता के समक्ष रखते हैं। भारत सरकार की आंतकवादी गतिविधियों के विरुद्ध तैयार की गई नीतियों का नगीं तस्वीर शरद जोशी ने आवाम के समक्ष रखा है। सरकार कार्यवाई के नाम पर केवल अपने नाकाम कोशिशों की चर्चा और बयानबाजी करता है। सद्भाव और शांति जैसे भारी भरकम शब्दों से अपने नाकामयाबी को छुपाता है – "वे पाकिस्तान से आतंकवादी की ट्रेनिंग लेकर लौट आते हैं। हम पाकिस्तान से सद्भाव चर्चा की सोचते रहते हैं। टक्कर बराबरी की है। वे काँटे चुभा रहे हैं, हम फूल उगाने की योजनाएँ बना रहे हैं। वे बैंक लूट रहे हैं, हम टैक्स बढ़ा रहे हैं। वे शस्त्रागार लूट रहे हैं, हम सरक्युलर निकाल रहे हैं। वे रक्तपात कर रहे हैं, हम गिरफ्तारियों के वारंट लिख रहे हैं। वे हमारी कब्र बनाने की जगह तलाश रहे हैं, हम राजधानी के सवाल पर चिंता में डूबे हैं। विदेश से उन्हें पूरी मदद मिल रही है, हम उन्हीं देशों से भले होने के प्रमाणपत्र बटोर रहे हैं। वे गोलियाँ चला रहे हैं, हम चिंतन कर रहे हैं। मुकाबला एकदम बराबरी का है।"[6] सरकार सत्ता में बने रहने के लिए इनके विरुद्ध कड़े कदम उठाने से कतराती है। अपनी सहूलियत के अनुसार ही सरकार राष्ट्रीय समस्याओं के खात्मा के लिए नीतियाँ तैयार करती है, परिणामस्वरुप स्वंय तो सत्ता में बने रह जाते हैं किन्तु समस्याएं दिन पर दिन भयावह रूप धारण करती जाती है, जिसका खामियाजा पूरा देश भोगता है।

देश के अंतर्निहित होने वाली गतिविधियों के लिए बनी जाँच- समिति, समझौते, शिखर वार्ताओं, घोषणाओं की कार्यवाही केवल कागजों तक ही सीमित रहती है। देश के नागरिक को गुमराह करने के लिए इन

योजनाओं पर करोड़ो रुपए खर्च किया जाता है, परंतु इनके कार्यों से समस्याओं का निराकरण न के बराबर होती है। जाँच-समिति अपनी लुटिया बचाने के लिए सत्य पर ही परदा डालकर अपराधियों को बचा लेता है। शरद जोशी जाँच-समिति के स्वार्थी और ढ़ोंगी प्रवृत्ति पर आघात करते हैं – "जांच के लिए बनी समिति एक ज्यामिति है, जो अपराध के अनिश्चित कोणों को जोड़कर जाल रच वही सिद्ध करती है, जो होना था। जाँच-समिति अपराध और न्याय के बीच दूरियाँ सुनिश्चित करने वाला एक समीकरण है जो अंततः एक्स का मूल्य जितना नहीं है, वह बताता है। जाँच समीति स्वार्थ की बही पर लगा चालाकी का अँगूठा है।"[7]

शरद जोशी जटिल भारतीय न्यायव्यवस्था एवं भ्रष्ट पूलिस व्यवस्था के तमाम विसंगतियों की कड़ी आलोचना करते हैं। इन व्यवस्थाओं के कुचक्रों से आम जनता घबराती है तथा इनसे दूर रहने का भरसक प्रयास करती है। यह विडंबना ही है कि जो व्यवस्था उनकी रक्षा के लिए बनाया गया हो, उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार से त्रस्त मानव जीवन उससे दूरी बनाने लगा है। पुलिस के गुंडागर्दी रवैया लोगो को उसपर से भरोसा कम करते जा रहा है। न्यायलयों में मुकदमा लम्बी अवधि तक गवाह, सबूत, तारीख, अपील, स्टे आर्डर, धारा, जमानत आदि के बीच फंसा रह जाता है। न्याय की मंजिल दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ती है। शरद जोशी ने 'मुकदमें जारी है' स्तम्भ में लिखा है – "यह तो भारतीय न्यायलयों का सौभाग्य है कि अधिसंख्य भारतवासी मानते हैं कि पुलिस में रपट लिखवाना स्वयं अपनी दुर्दशा कराना है और कोर्ट में जाना जिंदगी बर्बाद करना है। यदि उन्हें न्याय और पूलिस पर पूरा विश्वास होता तब सोचिए कि आज मुकदमों की संख्या कितनी होती? यह न होने पर दशा यह है कि जजों पर वकीलों की पीढ़ियाँ समाप्त हो रही हैं और मामले निपटे ही नहीं है।"[8]

धर्म किसी देश विशेष के लोगो की सभ्यता, आचरण एवं मूल्यों का प्रतीक होता है। आज धर्म का स्वरुप विकृत होने लगा है। अंधविश्वास के मायाजाल में लोगो को फंसाकर धर्म के ठेकेदार उन्हें लूटने में लगे हैं। पाखंडी अपनी स्वार्थ की पूर्ति हेतु धर्म की परिभाषा को बदलते रहे, जिससे इसमें विविध विसंगतियों का वास हो गया है। शरद जोशी धर्म के ठेकेदारो की कड़ी आलोचना करते हैं- "धर्म न हुआ, उद्योग और टेक्नोलॉजी हुई, जो बिना अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के पनप नहीं सकती। हमारे कुछ प्रतीक जैसे राम, ओम, हरेकृष्ण, रुद्राक्ष, शिवलिंग, तुलसी-माता, योग आदि का जैसी खपत संसार के समृद्ध बाजारों में है, वैसी आजकल भारत के धार्मिक नगरों में भी नहीं है। भारतीय मठाधीश तो आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी लखपति थे, पर इन दिनों मामला करोड़ों से ऊपर हैं।"[9] धर्म

के तथाकथित रखवाले धर्म के आड़ में सारे काले कारनामें को अंजाम दे रहे हैं। धर्म एक ऐसा व्यवसाय बन गया है जिससे आज करोड़ों कमाया जा रहा है, लोगो के धार्मिक आस्था से खिलवाड़ हो रहा है।

पत्रिकाओं और अखबारों में सामाजिक यथार्थ का तस्वीर अंकित रहता है। आजकल पत्रिकाओं में भी घटियापन व्याप्त हो गया है। अर्थ के लिए पत्रकार स्वार्थी होते जा रहे हैं। सत्य और ईमानदारी का प्रतीक अखबार, अब झूठ और फरेब का पुलिंदा बनते जा रहा है। ईमानदारी से सच्चाई जाहिर करने वालों को निम्न कोटि का पत्रकार घोषित कर उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है। रिश्वतखोर, चापलूस, चमचागिरी करने वाले, झूठा व्यक्तित्व रखने वाले, बढ़ा चढ़ाकर लिखने वाले को श्रेष्ठ पत्रकारों की सूचि में रखा जाता है। शरद जोशी पत्रकारिता के गिरते स्तर का पोल खोलते हैं – "जो मुझे बढ़ाचढ़ाकर छापता हो, वह सबसे अच्छा पत्रकार। फिर वह मेरी कमजोरियों और पोलों को नजरअंदाज़ कर जाता है। इसे कहते हैं तटस्थ पत्रकारिता। बताइए, ऐसे पत्रकारों के उज्जवल भविष्य की कामना कौन नहीं करेगा। मुख्यमंत्री करते हैं पूलिस कमिशनर करते हैं।"[10]

देश के भविष्य का निर्माण करने वाली शिक्षा संस्थान में व्याप्त कमजोरियों एवं दुर्बलताओं पर भी शरद जोशी की दृष्टि गयी है। तत्कालिक शिक्षा पद्धति का व्यापक लक्ष्य बालक के सर्वांगीन विकास पर केंद्रीत न होकर नौकरी प्राप्त तक संकुचित हो गया है। छात्र डिग्रियाँ हासिल कर ऊँची से ऊँची नौकरी हासिल करना चाहते हैं। व्यवहारिक ज्ञान को दरकिनार कर केवल तकनीकि का सीमित ज्ञान प्राप्त करना जरुरी समझते हैं। शिक्षा में तकनीकि ज्ञान के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक आदि दायित्वों के निर्धारण का ज्ञान भी आवश्यक है। शरद जोशी शिक्षा के संकुचित दृष्टिकोण के परिणाम पर चर्चा अपने स्तम्भ 'समाज कहीं हो तो' में किया है – "वह शिक्षा गलत है, जो छात्र को केवल जस-तस कैरियर बनाने के लिए उकसाती और तैयार करती है। वह शिक्षा, जो अनंत संभावनाओं की बजाय छात्र को केवल एक और एक ही जैसी नौकरी के योग्य बनाती है, वे निराशा के चरम क्षणों में आत्महत्या ही कर सकते हैं। उन्हें किशोरावस्था से सिखाया जाता है कि ऊँची नौकरी न मिली तो जीवन व्यर्थ है।"[11]

शरद जोशी अपने समय के जागरुक पत्रकारों में जाने जाते हैं। उनकी तीक्ष्ण नजर राष्ट्रीय मुद्दों के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर भी रहा है। उन्होंने अमेरिका, कनाडा, इस्राइल जैसे बड़े-बड़े देशों के दोमुहे चरित्र, दभीं व ढ़ोंगी प्रवृति का मुखौटा पूरी दुनिया के समक्ष उघाड़ कर रख दिया। पाकिस्तान की झूठ, फरेब और धर्म पर

आधारित राजनीति तथा आतंकवाद समर्थक नीति पर शरद जोशी ने खुलकर कटाक्ष किया है। अमेरिका पाकिस्तान को आतंकवादी तैयार करने में भरपूर मदद करता है ताकि वह अपना दबदबा भारत पर बनाए रहे। 'सद्भावना का मौसम' स्तम्भ में शरद जोशी पाकिस्तान और अमेरिका के संबधो पर खुलकर बरसते हैं – "मुझे तो वही अमरीका सहज स्वाभाविक लगता है, जो पाकिस्तान को जरुरत से ज्यादा, कहे बिना कहे, इस खुशफहमी में कि जब भी भारत पाकिस्तान की लड़ाई होगी, हमारे शस्त्रों के कारण पाकिस्तान जीत जाएगा। वर्षों से मैं ऐसे ही अमरीका को देखता रहा हूँ, जो भारत को अपमानित कर पीड़ित करने का कोई अवसर नहीं चुकता।"[12] पाकिस्तान फिर भी सबके सामने भारत के साथ अपनी शत्रुता को स्वीकारता रहा है, परंतु अमेरिका अपने पाखंडी आचरण एवं दोहरी भूमिका के साथ अपनी शक्ति और सामर्थ्य का धाक पूरे विश्व में जमाने का प्रयास करता रहा है- "अमरीका सारे खतरनाक शस्त्र तथा सेटाबेज के आइडिया इस अपेक्षा से बनाता है कि वे संसार के अन्य भागों में इस्तेमाल होंगे पर अमरिका शांति चाहता है।"[13] शांति की ओट लेकर अमेरिका पूरे विश्व पर अपनी प्रभूता कायम करना चाहता है। उसकी इस नीति का पर्दाफाश शरद जोशी अपने व्यंग्यात्मक अंदाज में करते हैं।

शरद जोशी भारत सरकार के खोखले विकास के दावों का माखौल उड़ाते हुए कहते हैं - "उपग्रह के चित्रों से क्या दिखेगा? कोई भूखा परिवार दिखेगा, प्यासे लोग दिखेंगे, बेरोजगारी दिखेगी कि लोग अपने घर की रेहरी पर हाथ धरे बैठे हैं। नहीं दिखेगी, पर उसमें फैल रही गंदगी दिखेंगे। समुद्र दिखेगा, पर वहाँ होता स्मगलिंग दिखेगा? सीमांत दिखेगा, पर लाए जा रहे शस्त्र दिखेंगे? उच्च संस्थाओं में झगड़ते स्वार्थ, थोथे आश्वासन, झूठे नारे दिखेंगे? असंतोष की शैलियाँ और बंद दिखेंगे।"[14] विकास से संबंधित दावें यथा उपग्रह को छोड़ना, मिसाइलें तैयार करना आदि पर शरद जोशी कटु आलोचना करते हैं। विकास का झूठा मॉडल तैयार कर सरकार अपने नागरिको को गुमराह करने की साजिश रच रही है। आज भी लोगो को दो वक्त की रोटी नसीब नहीं हो पा रही है।

कुलमिलाकर हम कह सकते हैं कि शरद जोशी सामाजिक संरचना के लिए सदैव प्रयासरत रहे, उनके स्तम्भ लेखन के विषयों की विविधता इसका परिचायक है। उनका लेखन विकृतियों एवं विश्रृंखलाओं का पर्दाफाश कर प्रहार करता है, साथ ही परिवर्तन के लिए दिशा निर्देश करता है। जीवन को देखने समझने की वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है। राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट कार्य-व्यापार से समाज की अवरूद्ध होती गति धारा, आवाम के विखरते सपने, प्रशासनिक विकृतियाँ, सरकारी संस्थानो की भ्रष्ट नीति तथा विकास के खोखले आश्वासन,

सार्वजनिक सेवाओं में व्याप्त कमियाँ, सुरक्षा एवं जाँच समितियों की विकृतियाँ, आतंकवादी गतिविधियों पर सरकार की ढुलमुल रवैये आदि का शरद जोशी ने अपनी जागरुक विवेकशीलता से जीवंत व्याख्या प्रस्तुत किया है। देश के भविष्य को सुदृढ़ता प्रदान करने वाली शिक्षा संस्थान से लेकर अर्थ लालसा के लिए भ्रष्ट होती पत्रकारिता पर भी उन्होंने निर्भीक होकर आक्रमण किया है। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों के दोहरे चरित्र को पूरे विश्व के समक्ष बेपर्दा किया है। जोशी जी के पास गहरी वैज्ञानिक और संवेदनात्मक समझ रही है। उनके लेखन की गति कभी अवरुद्ध नहीं हुई, समाज की समस्त नकारात्मक तथ्यों पर पूरे दम-खम से अपने व्यंग्यात्मक अंदाज में प्रहार करते रहे। उनके स्तम्भों में उनकी स्वस्थ विचारधारा की प्रतिबद्धता, समाज और राजनीति के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण एवं विकृतियों के प्रति व्यापक आक्रोश द्रष्टव्य है।

**संदर्भ ग्रंथ-**

1. देव रमेश, शरद जोशी, भारतीय समाज के निर्माता, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2004, पृ.सं.-23
2. सारस्वत डॉ. वगीश, व्यंग्यार्षि, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ.सं.-170
3. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-220
4. जोशी शरद, प्रतिदिन, दूसरा खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-39
5. जोशी शरद, प्रतिदिन, दूसरा खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-100
6. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-244
7. जोशी शरद, प्रतिदिन, दूसरा खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-165
8. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.- 78
9. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-194
10. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-80
11. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-216
12. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-376
13. जोशी शरद, प्रतिदिन, पहला खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-70
14. जोशी शरद, प्रतिदिन, दूसरा खंड, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2008 पृ.सं.-306

---

***पी.एच-डी शोधार्थी - विश्वभारती**
**(हिंदी विभाग)**
**शांतिनिकेतन, वीरभूम पश्चिम बंगाल**
**मो. +91-8961144425**
**Mail- kajalsingh2016@gmail.com**

# 'रिटायरमेंट नौकरी से जिंदगी से नहीं'

***स्मृति कुमारी सिंह**

**सारांश**

*'**Retirement**' सेवानिवृत्त शब्द का अंग्रेजी रूपांतरण है। सेवानिवृत्त का शाब्दिक अर्थ होता है- जिस संस्था में आप वर्षों तक अपनी महत्वपूर्ण सेवा प्रदान करते रहे, उस संस्था की सेवा से अब आप को मुक्त किया जा रहा है। इतने लंबे समय तक जो दिनचर्या बन गई हो, और जो हमारे जीवन का अहम हिस्सा बन गया हो। एक दिन उन सभी की समाप्ति का होना रिटायरमेंट कहलाता है। रिटायरमेंट को दूसरे शब्दों में इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि "रिटायरमेंट जीवन की एक लंबी यात्रा का एक मोड है, न कि जीवन का अंतिम पड़ाव।"*

*आज के आधुनिक परिवेश में, हमारे चारों तरफ नजर दौड़ाये, तो हम ऐसे कितने सेवानिवृत्त लोगों को पाएंगे, जो अपनी सेवानिवृत्ति का आनंद उठा रहे हैं? सेवानिवृत्त लोगो की बुरी स्थिति की समस्या समाज में बहुत तेजी के साथ बढ़ रही है। इसी सिलसिले में समकालीन महिला लेखिका उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी है।*

*'वापसी' कहानी के मुख्य पात्र गजाधर बाबू है । गजाधर बाबू अपनी रेलवे की नौकरी के कारण पैतीस वर्षो से अपने घर-परिवार से ज्यादातर दूर ही रहे । पर गजाधर बाबू उस हकीकत से अनजान थे, जहां वे परिवारवालों के लिए एक पैसा कमाने की मशीन थे । पर बहुत जल्द ही उनका सामना घरवालों की सच्चाई से हो जाती है । उनका घर के किसी भी मामले में बोलना घर के किसी भी सदस्य को पसंद नहीं था । घरवालों के इस परायेपन से गजाधर बाबू दुखी होकर दूसरी प्राइवेट नौकरी पर लौट जाने के लिए अपने साथ पत्नी को चलने को कहते हैं जिसपर पत्नी मना कर देती हैं । अंततः गजाधार बाबू अकेली ही अपनी जिंदगी के अगले सफर पर निकल पड़ते हैं ।*

*समकालीन दूसरी अन्य महिला लेखिका मधु कांकरिया की "उड़ान" कहानी एक ऐसे सेवानिवृत्त व्यक्ति 'समीर' की कहानी है। जिस पत्नी के साथ उन्होंने पूरी जिंदगी गुजारी, वही पत्नी और परिवार आज समीर के लिए समस्या बन गए हैं । जब तक समीर कमाते रहे, उनकी कीमत बनी रही । जैसे ही वे रिटायर होते हैं, घर पर बेटो का वर्चस्व स्थापित हो जाता है । अपमान की कुछ ऐसी ही कहानी समीर के मित्र के साथ भी हुई थी, जिसके बाद वे 'आदिवासी कल्याण आश्रम' से जुड़े और वे घर-परिवार त्यागकर रहने लगे ।*

*यही कारण है कि आज वृद्धाश्रमों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। हमारे देश में न जाने कितने समीर और गजाधर बाबू हैं, जो अपनों के ही ठुकराए हुए हैं। यह समझने की जरूरत है कि रिटायरमेंट नौकरी से हुई है, ना कि घरवालों से और ना ही उनसे जुड़े रिश्तों से। कल जब पूरी वेतन आती थी, तो वह घर के मुखिया। आज वेतन की जगह पेंशन ने ले ली तो वे घर की एक बेकार सी वस्तु। नौकरी संपूर्ण जीवन का एक हिस्सा होता है, न की संपूर्ण जीवन। अंततः रिटायरमेंट नौकरी से होती है, जिंदगी से नहीं।*

**बीज शब्द (Keywords)**

*रिटायरमेंट, सेवानिवृत्ति, मध्यवर्ग, पारिवारिक उपेक्षा, संवेदनहीनता, अवकाश, पारिवारिक हैसियत, अवमूल्यन, अवसाद एवम व्यर्थता बोध, अजनबीपन, परायापन, साहित्य समाज का दर्पण, उषा प्रियंवदा की कहानी वापसी, गजाधर बाबू (वापसी कहानी का मुख्य पात्र ), रेलवे की नौकरी, गजाधर बाबू का परिवार, अपमान, वापस दूसरी*

*नौकरी पर लौटना, मधु कांकरिया की कहानी उड़ान, समीर(उड़ान कहानी का मुख्य पात्र), परिवार से अपमानित, समीर का मित्र, आदिवासी कल्याण आश्रम ।*

## भूमिका

आज के मध्यम वर्गीय परिवार के लगभग सत्तर प्रतिशत लोग रिटायरमेंट के बाद अपने ही परिवारवालों से उपेक्षित एवं तिरस्कृत जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। इस भौतिकवादी संसार में जब नौकरी का दौर खत्म हो जाता है, वेतन की जगह पेंशन ले लेती है, तो उनकी जिंदगी तमाम नकारात्मकता से भर जाती है। स्वयं उनके ही अपनों एवं परिवारवालों के द्वारा जब तक वे मशीन की तरह आटा पीस कर देते रहे उनका महत्व परिवार में बना रहा। जैसे ही मशीन ने आटा पीसना बंद कर दिया उनके प्रति सम्मान ने उपेक्षा एवं अपमान का रूप ले लिया। सेवानिवृत्त व्यक्ति की उपेक्षा एवं अपमान हमारे समाज के नैतिकता पर एक सवालिया निशान है। यह समस्या आज के प्रबल यथार्थ का एक टुकड़ा है। यह अजीब दुखदायी सच है।

**'Retirement'** सेवानिवृत्त शब्द का अंग्रेजी रूपांतरण है। सेवानिवृत्त का शाब्दिक अर्थ होता है- जिस संस्था में आप वर्षों तक अपनी महत्वपूर्ण सेवा प्रदान करते रहे, उस संस्था की सेवा से अब आप को मुक्त किया जा रहा है।उस संस्था को आपने अपनी जिंदगी के काफी वर्ष दिए हैं। घर से कहीं ज्यादा वक्त, आप ने उस संस्था में बिताए हैं। ऐसे में स्वाभाविक ही है कि उस संस्था से, वहां की हर चीज से एक प्रेम, एक लगाव एवं अपनत्व का होना। इतने लंबे समय तक जो दिनचर्या बन गई हो, और जो हमारे जीवन का अहम हिस्सा बन गया हो। एक दिन उन सभी की समाप्ति का होना रिटायरमेंट कहलाता है। रिटायरमेंट को दूसरे शब्दों में इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि "रिटायरमेंट जीवन की एक लंबी यात्रा का एक मोड है, न कि जीवन का अंतिम पड़ाव।" सही अर्थों में अगर हम कहें तो अब तक के जीवन के अनुभव के आधार पर आगे की जिंदगी बिताने का सुनहरा अवसर है 'रिटायरमेंट'। इतने वर्षों में कार्यरत होते हुए आपने संस्था में तथा संस्था के बाहर संसार के अनेकानेक व्यक्तित्व वालों से आपका सरोकार होता है, जिन्होंने आपको दुनिया की हकीकत से रू-ब-रू करवाया है। उन तमाम सकारात्मक एवं नकारात्मक अनुभवो के आधार पर जीवन में आने वाले पलों को जीने का मौका देता है। कुदरत के इस शाश्वत सत्य को, ''जो आया है, उसको जाना ही होगा, यहां कुछ भी चिरस्थाई नहीं होता।'' फिर इस रिटायरमेंट को भी क्यों न सहर्ष स्वीकार कर जीवन में सकारात्मकता के साथ आगे बढ़ा जाए।

पर इन सब के विपरीत आज के आधुनिक परिवेश में, हमारे चारों तरफ नजर दौड़ाये, तो हम ऐसे कितने सेवानिवृत्त लोगों को पाएंगे, जो अपनी सेवानिवृत्ति का आनंद उठा रहे हैं? अगर मैं अपनी बात करूं तो लगभग सत्तर प्रतिशत ऐसे लोग हैं, जो अपने रिटायरमेंट के बाद संपूर्ण जीवन के सबसे दर्द और तकलीफ भरी जिंदगी जी रहे हैं। केवल तीस प्रतिशत ऐसे लोग हैं, जो रिटायरमेंट के बाद आनंद पूर्वक जी रहे हैं। सेवानिवृत्त लोगो की बुरी स्थिति की समस्या समाज में बहुत तेजी के साथ बढ़ रही है। अपने परिवार के द्वारा उपेक्षित किए जाने के कारण इन सेवानिवृत्त लोगों की स्थिति दयनीय हो जाती है। यहां तक की उनके जीवन साथी भी उनका साथ छोड़ देते हैं। उनके दु:ख, तकलीफ को जानने वाला, समझने वाला कोई नहीं होता। कल्पना नहीं की जा सकती कि उनके दिलो-दिमाग पर क्या कुछ गुजरता होगा, कि जिन घर परिवारवालों के सुख-सुविधा और आराम के लिए अपना संपूर्ण जीवन दाव पर लगा दिया, वही आज उनके लिए किसी काम के नहीं रह गए। जब उनकी वेतन रही, उनका उन घरवालों के लिए काफी महत्व रहा। जब तक वे कमा कर लाते थे, परिवारवालों के सरताज थे, पर आज

उनकी इज्जत कौरी भर नहीं रह गई। कल तक जो लोग उनके आदेशों को सर झुका कर मानते थे, आज वही लोग उनसे प्यार के दो मीठे बोल बोलने से कतराते हैं, इतना बड़ा परिवर्तन कैसे?

साहित्य समाज का दर्पण होता है, तत्कालीन समाज में विद्यमान समस्याएं, बुराइयां एवं अच्छाइयों को साहित्यकार अपनी साहित्य से समाज को को रू-ब-रू करवाता है अर्थात साहित्य समाज को आईना दिखाता है। इस संदर्भ में "भगवतशरण उपाध्याय" ने कहा है - "हम साहित्य को समाज का दर्पण मानकर साहित्य और समाज के अविच्छिन्न संबंध को ही स्वीकारते हैं। साहित्यकार अपने समाज का प्रतिनिधित्व करता है। जिस सामाजिक वातावरण में सर्वप्रथम नेत्रोन्मीलन करता है, उसी में उसका शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास होता है। जैसे-जैसे समाज बदलता गया, वैसे-वैसे साहित्य भी परिवर्तित होता रहा है।" 'साहित्य' समाज की उपज है, अतः इसका अध्यन समाज के परिपेक्ष्य में ही किया जाना चाहिए।'[1]

समाज में बढ़ती सेवानिवृत लोगो की उपेक्षित जीवन की समस्या पर अलग-अलग रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस समस्या एवं सेवानिवृत्ति के बाद की भावनाओं का सजीव चित्रण किया है। इसी सिलसिले में समकालीन महिला लेखिका उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी है।

उषा प्रियंवदा जी का जन्म २४ दिसंबर १९३० में कानपूर (उ. प्र.) में हुआ। इन्होने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. किया और यही से उन्होंने डी. फिल. की उपाधि प्राप्त की। उषा जी ने जहाँ एक ओर 'जिंदगी और गुलाब के फूल', 'कितना बड़ा झूठ', 'कोई एक दूसरा', 'मेरी प्रिये कहानियाँ' जैसी महत्वपूर्ण कहानी संग्रहों की रचना की, वही दूसरी ओर उन्होंने 'पचपन खम्भे लाल दीवारे' 'रुकोगी नहीं राधिका' शेष यात्रा, 'अंतवर्शी' अमर उपन्यासो की रचना की। हिंदी साहित्य जगत में उषा प्रियंवदा अपनी 'वापसी' कहानी से चर्चा में आयी। वापसी कहानी यथार्थवाद पर आधारित कहानी है। वापसी कहानी के मुख्य पात्र गजाधर बाबू के अकेलेपन को लेखिका उषा जी ने भावपूर्ण ढंग से सजीव चित्रण किया है। वापसी कहानी के सन्दर्भ में डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा है कि "वापसी निहायत निर्मम ढंग से यह दिखती है कि सेवानिवृत होकर मनुष्य अपने ही परिवार में किस तरह फालतू हो जाता है।"[2]

गजाधर बाबू अपनी रेलवे की नौकरी के कारण पैतीस वर्षो से अपने घर-परिवार से ज्यादातर दूर ही रहे। अपनी नौकरी के दौरान अपने अकेलेपन में उन्होंने रिटायर होने के बाद अपनी पत्नी, दो बेटे, बहू एवं बेटी के साथ खुशहाल जिंदगी के सपने सजाते थे। यही कारण है कि जब गजाधर बाबू रिटायर हुए, तो उन्हें रिटायर्ड होने और अपनी उस जगह को छोड़ते हुए इतना गम महसूस नहीं हुआ, कारण उनके अनुसार वे अपनों के बीच जा रहे थे। उन अपनों के पास जिनकी हर सुख-सुविधा और आराम को पूरा करने के लिए वे दिन रात मेहनत करते रहे। पर गजाधर बाबू उस हकीकत से अनजान थे, जहां परिवारवालों के लिए वे एक पैसा कमाने की मशीन थे। इस सच्चाई से कोसों दूर, हजारों मधुर सपनों के साथ गजाधर बाबू अपने घर आते हैं। पर बहुत जल्द ही उनका सामना घरवालों की सच्चाई से हो जाती है। पत्नी आकर कहती है-"अरे, आप अकेले बैठे हैं ? ये सब कहां गए? गजाधर बाबू के मन में फांस सी कसक उठी, "अपने-अपने काम में लग गए हैं- आखिर बच्चे ही हैं।"[3]

अपने ही घर में गजाधर बाबू को स्थाई जगह नहीं मिली। उनका घर के किसी भी मामले में बोलना घर के किसी भी सदस्य को पसंद नहीं था। ना तो पत्नी, बेटा, बेटी, बहू किसी को भी नहीं।

"बूढ़े आदमी है" अमर भुनभुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं? पत्नी ने बड़े व्यंग से कहा- और कुछ नहीं सूझा तो तुम्हारी बहू को ही चौके में भेज दिया …... गजाधर बाबू चुपचाप आंखें मूंदे लेटे रहे। [4]

घरवालों के इस परायेपन से गजाधर बाबू का मन बहुत ही आहत हुआ और उन्होंने यह निर्णय लिया कि वे वापस दूसरी प्राइवेट नौकरी पर लौट जायेंगे। इसी निर्णय के साथ उन्होंने अपनी पत्नी को जब अपने साथ चलने को कहा, तो उनकी पत्नी ने मना कर दिया। अंततः गजाधार बाबू अकेली ही अपनी जिंदगी के अगले सफर पर निकल पड़ते हैं। वही उनके परिवार वाले उनके वापस जाने से बहुत प्रसन्न होते हैं।

'वापसी' कहानी के मुख्य पात्र गजाधर बाबू की ही तरह 'उड़ान' कहानी के मुख्य पात्र समीर की कहानी है। 'उड़ान' कहानी की रचयिता समकालीन हिंदी साहित्य की दूसरी अन्य सशक्त महिला लेखिका "मधु कांकरिया" जी हैं।

मधु कांकरिया जी का जन्म २३ मार्च १९५७ कोलकत्ता (प. बंगाल) में हुआ। इन्होने कोलकत्ता विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम. ए. किया तथा बाद में कंप्यूटर में डिप्लोमा भी किया। इन्होने 'बीतते हुए', 'और अंत में ईशु', 'युद्ध और बुद्ध', 'जल कुम्भी' जैसी कहानी संग्रहों की रचना की है। साथ ही इन्होने 'खुले गगन के लाल सितारे', 'सलाम आखरी', 'पत्ताखोर', 'सेज पर संस्कृत', 'सूखते चिनार' जैसी महत्वपूर्ण उपन्यासो की रचना की है।[5]

मधु कांकरिया की "उड़ान" कहानी एक ऐसे सेवानिवृत्त व्यक्ति की कहानी है, जो अपनी ही पत्नी और परिवार की उपेक्षा के शिकार हुए हैं। 'उड़ान' कहानी कौटुम्बिक जीवन की समस्याओं को उजागर करती है। कहानी का आरंभ जिस प्रकार से होता है, वह मेरे आलेख के शीर्षक "रिटायरमेंट नौकरी से जिंदगी से नहीं" की गहराई को सार्थक करता है। जहां एक सेवानिवृत्त व्यक्ति के मनोदशा का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है-

"बीमार-बीमार- सा आसमान- जिसको एकटक देखता समीर। फांक -सा कटा चंद्रमा। रिस-रिसकर बहती कोई पीड़ा। बूंद-बूंद टपकती कोई उदासी-गहरी। आंखों की कौर से गिर-गिर पड़ती कोई गर्म बूंद और ऐसे में रह-रह कर गूंजती एक आवाज। कर्कश। धज्जियां उड़ाती। …...। दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे सभी ओर से कानों में कील-सा गड़ता वह स्वर्। नुकीला। धारदार। पत्नी का। पोर-पोर को झुलसती वह आवाज। तेजाबी।

यही है वह जिसके साथ जिंदगी के इतने वर्ष गुजारे? गृहस्थी की एक-एक ईट सजाई। इतनी रातें साथ-साथ गुजारी? बच्चे पैदा किए? इसी दिन के लिए? कहां छिपा था इतना मैला ! इतनी गंदगी !"[6]

जिस पत्नी के साथ उन्होंने पूरी जिंदगी गुजारी, वही पत्नी और परिवार आज समीर के लिए समस्या बन गए हैं। जब तक समीर कमाते रहे, उनकी कीमत बनी रही। जैसे ही वे रिटायर होते हैं, घर पर बेटो का वर्चस्व स्थापित हो जाता है। अब पत्नी उन्हें हमेशा उलाहना देती, बेटे-बहुओं के सामने भी अपमानित करती। बहू के सामने अपमानित होकर समीर मानो गड्ढे में गढ़ जाते। "पत्नी कहती है - "वह, ऐसी भी क्या बेसब्री है। मिलकर

चलना तो आता ही नहीं है तुम्हे------- दिन भर पलंग ही तो तोड़ना है -------- घड़ी भर इंतज़ार नहीं किया जाता -------- आज तुम एक चीज अलग लाये कल बच्चे दस चीज़ अलग लाएंगे तो कैसे चलेगा घर ? अपमान से सुलग उठा था वह। कान की लम्बे जलने लगी। उसी समय छोटी पुत्रवधु गुजारी थी उधर से। दुखी हो गया था मन, साफ देख लिया होगा उसने, पूज्य श्वसुर को लताड़ कहते हुए।"[7]

बेटों के भड़कीले टी.वी. कार्यक्रम के आगे उन्हें दिन भर का समाचार भी देखने नहीं मिलता। अखबार भी जब दोनों बेटे ऑफिस चले जाते, तब उन्हें मिलता। मन मारकर बाजार से जरूरी चीजें लाने के लिए समीर चले जाते और वापस आकर फिर से वही झुंझलाहट झेलना समीर की दिनचर्या बन गई थी। जब नौकरी में थे, तब सब व्यवस्थित था। सुबह उठते ही अखबार, चाय, नहा-धोकर आते ही नाश्ता तैयार मिलता था। "जब तक घर का मुखिया पति रहे, उसकी कमाई आती रही, उसकी आरती उतारी।..... उसको अपनी मुट्ठी में रखा और अब जब पति अवकाश प्राप्त हैं, पुत्रों का वर्चस्व बढ़ रहा है, घर में, तो जुट गई है पुत्रों के प्रशस्ति गाने में। जिस की कमाई उसका मान।"[8]

अपमान की कुछ ऐसी ही कहानी समीर के मित्र के साथ भी हुई थी, जिसके बाद वह मित्र 'आदिवासी कल्याण आश्रम' से जुड़ गए और वे उसी आश्रम में अपना घर-परिवार त्याग करके रहने लगे। उस मित्र ने समीर को वहीं से पत्र लिखा -''यदि जीवन कभी निराश करें... या अपनों से मोहभंग हो तो मेरे पास चले आना, यहां आकर कदाचित तुम भी उसी शांति को अनुभव करो, जिसे ईश्वर कहते हैं।"[9]

यही कारण है कि आज वृद्धाश्रमो की संख्या में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। ये बढ़ोतरी एक संकेत है कि हमारा समाज नैतिकता के मुकाम से कितना पिछड़ता जा रहा है। यह बढ़ोतरी हमारे समाज पर सवालिया निशान है। अपनों से दूर रहने को मजबूर, लाचार, बेबस ये वृद्ध सेवानिवृत्त लोग। क्या हम और आप इनकी वास्तविक तन्हाई और मनोदशा का सही अंदाजा लगा सकते हैं? नहीं कदापि नहीं। हम केवल और केवल अनुमान ही लगा सकते हैं।

हमारे देश में न जाने कितने समीर और गजाधर बाबू हैं, जो अपनों के ही ठुकराए हुए हैं। यह समझने की जरूरत है कि रिटायरमेंट नौकरी से हुई है, ना कि घरवालों से और ना ही उनसे जुड़े रिश्तों से। रिश्ते तो वही होते हैं, जो नौकरी में रहते हुए हुआ करते थे, पत्नी के लिए वही पति, बच्चों के लिए वही पिता। उस वक़्त भी वे परिवार के एक सदस्य थे और आज भी वे परिवार के एक सदस्य ही हैं। कल जब पूरी वेतन आती थी, तो वे घर के मुखिया। आज वेतन की जगह पेंशन ने ले ली तो वे घर की एक बेकार सी वस्तु। ऐसा क्यों? नौकरी संपूर्ण जीवन का एक हिस्सा होता है, न की संपूर्ण जीवन। जीवन की अगली मंजिल की तरफ आगे बढ़ना है, जिसमें एक मोड़ है रिटायरमेंट। अंततः रिटायरमेंट नौकरी से होती है, जिंदगी से नहीं।

**निष्कर्ष**

हमारे देश में समीर (उड़ान कहानी का मुख्य पात्र) एवं गजाधर बाबू (वापसी कहानी का मुख्य पात्र) की तरह लगभग सत्तर प्रतिशत लोग रिटायरमेंट के बाद अपने ही परिवारवालों की उपेक्षा एवं अपमान के शिकार होते हैं। यही कारण है कि आज वृद्धाश्रमों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है। यह लोगो को समझने की

जरूरत है कि नौकरी सम्पूर्ण जीवन नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण जीवन का एक हिस्सा है। जो रिश्ते नौकरी के दौरान होते हैं, पिता के लिए-वही पुत्र -पुत्री, पत्नी के लिए वही पति। वही रिश्ते रिटायरमेंट के बाद भी रहता है। पैसो के कारण रिश्ते नहीं बदलने चाहिए। रिटायरमेंट नौकरी से होती है जिंदगी से नहीं।

**संदर्भ**

1] डॉ विश्वम्भर दयाल गुप्ता - उपन्यास का समाज शास्त्र, श्री पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2] उषा प्रियंवदा, प्रकाशन वर्ष -2017, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ : भाग दो, वाणी प्रकाशन, हिंदी अध्ययन मंडल, मुंबई
3] उषा प्रियंवदा, प्रकाशन वर्ष -2017, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ : भाग दो, वाणी प्रकाशन, हिंदी अध्ययन मंडल, मुंबई
4] उषा प्रियंवदा, प्रकाशन वर्ष -2017, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ : भाग दो, वाणी प्रकाशन, हिंदी अध्ययन मंडल, मुंबई
5] डॉ शबाना हबीब, प्रकाशन वर्ष -2017, मधु कांकरिया के कथा - साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक संवेदना, अमन प्रकाशन, कानपुर
6] मधु कांकरिया, प्रकाशन वर्ष -2004, बीतते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
7] मधु कांकरिया, प्रकाशन वर्ष -2004, बीतते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8] मधु कांकरिया, प्रकाशन वर्ष -2004, बीतते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
9] मधु कांकरिया, प्रकाशन वर्ष -2004, बीतते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

***लेक्चरर ,**
**सोफिया कॉलेज, मुंबई,**
**8779574176,**
**ruby1711980@gmail.com,**

# स्वयं प्रकाश की कहानी कला

**गौरव भारती***

कहानी साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा है। आज हिंदी कहानी की यात्रा शताब्दी वर्ष से अधिक का हो चली है।वाचिक परंपरा से लिखित परंपरा की यह यात्रा न केवल कहानी की यात्रा है बल्कि इसे मनुष्य के चिंतन की विकास यात्रा के रूप में भी देखा जाना चाहिए। इस बीच हिंदी कहानी का कलेवर भी बदलता रहा है। हिंदी कहानी ने मानवीय और मानवेतर संवेदनाओं को शिद्दत के साथ व्यक्त किया है। शिल्प रचना-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कहानी के शिल्प पर विचार करते हुए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि कहानीकार ने कहानी गढ़ने में किस विधि का प्रयोग किया है। साहित्य मानवीय मनोभावों को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। किन्तु भाव, विचार अथवा चिंतन को केवल शब्दांकित कर देना भर साहित्य नहीं होता। साहित्यकार अपने भावों और विचारों को एक कलात्मक रूप प्रदान करता है। बटरोही कहानी के शिल्प पर बात करते हुए लिखते हैं:-"शिल्प का संबंध मुख्यतः वर्णित की जानेवाली विषयवस्तु से है यानि जो भाव वर्णित किया जा रहा है, उसे अधिक-से-अधिक स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया जाए। प्रस्तुत किए जाने का यही ढंग शिल्प कहलाता है।"[1] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि शिल्प किसी भी भाव या विचार को मूर्त रूप प्रदान करने वाला महत्त्वपूर्ण कारक है। गौरतलब है कि शिल्प ही वह महत्त्वपूर्ण तत्व है जो एक ही विषय-वस्तु पर लिखी गयी अन्य कहानियों को एक-दूसरे से भिन्न ठहराती है। कहना न होगा कि युगबोध का परिचय भी कहानीकार शिल्प के माध्यम से ही कराता है। अनुभूति का स्वर जैसे-जैसे बदलता जाता है वैसे-वैसे कला रूपों के मानदंड भी बदलते जाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिदृश्य पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि आजादी के बाद सामाजिक परिस्थितियां जटिल से जटिलतर होती चली गयी। ऐसे में जहाँ संयुक्त परिवार का विघटन हुआ वहीं मनुष्य की भूमिकाएँ बदल गयी। मनुष्य आत्मकेंद्रित होता चला गया। उदारीकरण और भूमंडलीकरण ने सांस्कृतिक मूल्यों को पटखनी दी और मनुष्य बाजार का उपभोक्ता मात्र बन कर रह गया। कहना न होगा कि नए कहानीकारों और समकालीन हिंदी कहानीकारों ने अपने समय की इन जटिल परिस्थितियों को बखूबी स्वर दिया है। ऐसे में कहानी समीक्षा के पारंपरिक मानदंड भी बदले हैं। आज कहानी का शिल्प बहुत बदल गया है। मीडिया, सोशल मीडिया, बाजारवाद आदि का प्रभाव साहित्यिक विधाओं पर पड़ा है।

आठवें दशक के बाद समकालीन हिंदी कहानी को स्थापित करने में जिन कहानीकारों की सराहनीय भूमिका रही है उनमें संजीव, शिवमूर्ति, असगर वजाहत, उदय प्रकाश आदि के साथ स्वयं प्रकाश का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। अपने समय की जटिल परिस्थितियों को व्यक्त करने के लिए समकालीन कहानीकारों ने शिल्प और विषय के स्तर पर प्रयोग भी किए। यह प्रयोग फैंटेसी, जादुई यथार्थवाद आदि के रूप में सामने आया है। इस तरह के प्रयोगों ने हिंदी कहानी को रचनात्मक स्तर पर जहाँ मजबूत किया वहीं प्रतीकात्मक कलेवर में हिंदी कहानी अपने समय के ठोस यथार्थ को व्यक्त कर पाने में भी सक्षम हुई है। कहना न होगा कि इस तरह के प्रयोग परिस्थितियों की ही देन थी जिसमें अतिवादिता का स्वर था। इस तरह के शिल्पगत प्रयोग से बुनी गयी कहानियों में नायक किसी दूसरी दुनिया का ही जीव नजर आता है। स्वयं प्रकाश अपने समकालीन जनवादी रचनाकारों के शिल्पगत प्रयोग और कहानियों को लेकर कहते हैं-"ये हर दौर में होता है कि जब कोई एक अच्छी चीज शुरू होती है, तो उसके साथ ही साथ उसके अतिरेकी स्वर भी उभरने लगते हैं, एक पेंडुलम की तरह से यह हो जाता है, तो उसमेंबहुत कम आपको कोई ऐसी जगह दिखाई देती है जिसमें कोई सम्यक संतुलन दिखाई दे। हुआ ये कि उस जनवादी कहानी में भी उस तरह के अतिरेक दिखाई देने लगे और सीधे-सीधे एक किसान जमींदार से लड़ रहा है और उसे मार रहा है और उस तरह के महानायक पैदा होने लगे, जैसे यथार्थ जीवन में नहीं होते, लेकिन कहानी में संभव हैं। जैसे एक उदाहरण काफी है 'टेपचू' और दूसरा उदाहरण'देवीसिंह' या तीसरा उदाहरण 'बलैत माखन भगत', ये मैं बहुत अच्छे कहानीकारों की बहुत अच्छी कहानियों के उदाहरणदे रहा हूँ, लेकिन इस तरह के नायक सिर्फ फैंटेसी में ही हो सकते हैं, जीवन के संघर्ष में इस प्रकार के नायक यकायक बन जाना, मनुष्य को फिर से यथार्थ पलायन करके किसी कल्पना-लोक में पहुँचाने जैसा हो जाता है।"[2] गौरतलब है कि स्वयं प्रकाश कहानी में अतियथार्थवादी आग्रह की जगह कथ्य की प्रामाणिकता को अधिक महत्त्व देते हैं। अपनी कहानियों में स्वयं प्रकाश छोटे कैनवास पर ज़िन्दगी को व्यक्त करते हुए व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों के तह तक उतरते हैं और पाठक को सोचने पर मजबूर भी करते हैं। इनकी कहानियां प्रेमचंद की उस साहित्यिक कसौटी पर खरी उतरती है जिसके अंतर्गत प्रेमचंद कहते हैं-"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भावहो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] स्वयं प्रकाश साम्यवादी विचारधारा के पक्षधर हैं। लेकिन उनकी कहानियों में विचारधारा रचना दृष्टि के रूप में कहानी के साथ चलती

रहती है बगैर किसी शोर-शराबे के। कहानी और विचारधारा के अन्तःसम्बन्ध को लेकर स्वयं प्रकाश बतौर लेखक खुद कहते हैं कि-"विचारधारा कोई गरम मसाला नहीं है जो कहानी की सब्जी में डाल दिया जा सकता हो। विचारधारा जीवन को, विश्व को देखने की एक समग्र दृष्टि है जो मनुष्य धीरे-धीरे अपने में विकसित करता है, अपनी चेतना में धारित करता है। विचारधारा का काम वहीं से शुरू हो जाता है जहाँ से आप आँख खोलकर दुनिया को देखते हैं।"[4] स्वयं प्रकाश के लिए विचारधारा महज एक दृष्टि है जो मनुष्य का परिष्कार करती है। उनकी कहानियों का लक्ष्य भी मनुष्य जाति का परिष्कार ही रहा है। उनकी कहानियां आम जिंदगी के ही इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। सैद्धांतिक वाद-विवाद से परे होकर स्वयं प्रकाश का कहानीकार मन लेखन को अपना सामाजिक सरोकार मानता है। लेखन उनके लिए एक जिम्मेदारी है। वीरेन्द्र मोहन ठीक ही लिखते हैं-"स्वयं प्रकाश रचना के लिए सिद्धांतों के बजाय जीवन को ही उपजीव्य मानते हैं। वे जिंदगी से सीखने की बात करते हैं, क्योंकि सिद्धांत के चौखटे में रचनात्मकता का सत्यानाश हो जाता है। इसलिए कहानी के आदर्श, नैतिकता, उपदेश, वस्तु रूप सबकी संगति जीवन यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में ही संभव है।"[5] इस दृष्टि से स्वयं प्रकाश 'कला कला के लिए' जैसे सौंदर्यवादी दृष्टिकोण की जगह 'कला जीवन के लिए' जैसे मूल्यवादी दृष्टिकोण के हिमायती नजर आते हैं जो उनके कथा-शिल्प में भी देखी जा सकता है।

कला की कसौटी पर भी हिंदी कहानी ने खुद को स्थापित किया है। जहाँ हिंदी कहानी ने वैश्विक पटल पर अपनी उपस्थिति दर्ज की है वहीं हिंदी कहानी आलोचना की स्थिति चिंतनीय बनी हुई है। हिंदी कहानी की आलोचना सम्बन्धी इसी समस्या को लेकर सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं-"हिंदी कहानी के सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न आज के रचना-सन्दर्भ में जटिल हो गया है। मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि इन समस्याओं के रहते हुए हम सौंदर्यशास्त्र गढ़ सकने में अक्षम हैं। मगर कहानी का सौंदर्यशास्त्र केवल उसके प्रभाव और रचनात्मक संस्कार से रचा नहीं जा सकता। विशेषकर आज की परिस्थिति में। कथा-शैली के प्रयुक्त रूपों की रचनात्मक अनिवार्यता और संतुलन को तोड़कर अगर आज की कहानी आगे बढ़ गई है तो उसकी सम्भावनाओं पर हमें स्वतंत्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही हमें उस स्थानान्तरण पर भी ध्यान देना होगा, जिसके भीतर कहानी चरित्र और सम्वेदना से हटकर परिस्थितियों के मूर्त रूप पर आकर टिक गई है।"[5]

आज कथा-शैली में जहाँ विविधता आई है वहीं स्वयं प्रकाश गहरे सरोकारों को सहज-स्पष्ट शैली में व्यक्त करने में माहिर हैं। व्यवस्था जनित समस्याएँ, मनुष्य की आकांक्षाएं और संभावनाएं स्वयं प्रकाश की कहानियों में

पारदर्शिता के साथ सहज ही व्यक्त है। वे अपनी कहानियों में शिल्प के स्तर पर बहुत कम प्रयोग करते हैं। स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में कथा-शैली के जिन-जिन रूपों का प्रयोग किया है वे निम्नवत हैं :-

**आत्मकथात्मक शैली**:

स्वयं प्रकाश इस दौर में एक ऐसे कहानीकार के रूप में सामने आते हैं जो रचनात्मक धरातल पर प्रेमचंद, अमरकांत, भीष्म साहनी सरीखे कहानीकारों की परम्परा से सीधे जुड़ते हैं। उन्होंने वर्णन की सहजता को आत्मसात करते हुए किस्सागोई की ठहरी हुई परम्परा को विकसित किया है। दरअसल वे कहानी लिखते नहीं है वे कहानी कहते हैं बिल्कुल उसी अंदाज में जैसे पंचतंत्र की कहानियां हुआ करती थी। अपनी कहानियों में वे पाठकों से संवाद करते हुए नजर आते हैं और यह संवाद कहानी की पहली पंक्ति से ही शुरू हो जाती है और अंत तक बनी रहती है। यह संपृक्ति उनकी अधिकांश कहानियों में दिखाई देती है, इसको लेकर वे कहते हैं-"मेंरी कोशिश शुरू से यह रही है कि कहानी में रचनाकार के साथ-साथ पाठक भी इन्वॉल्वड होना चाहिए। पाठक की भागीदारी सिर्फ ग्रहणकर्ता के रूप में नहीं रहनी चाहिए बल्कि एक सहचिंतक के रूप में रहनी चाहिए और इसलिए मैं सायास अनेक कहानियों के अन्दर स्वयं एक कहानीकार के रूप में या पात्र के रूप में या हस्तक्षेपकर्ता के रूप में उतरकर अनेक बार कहानी के अंत में और कभी-कभी कहानी के बीच में भी पाठकों से सवाल पूछता हूँ , उनको छेड़ता हूँ, उनको चिढ़ाता हूँ और उनको ललकारता हूँ कि इस मुद्दे पर सिर्फ मुझे नहीं सोचना है आपको भी सोचना है, आइये आप और हम मिलकर सोचें। इसे आप चाहें तो स्वयं प्रकाश की शैलीगत विशेषता मान सकते हैं लेकिन यह बिलकुल सोचा-समझा है और एक योजना के तहत किया गया है।"[6] कुछेक कहानियों के माध्यम से इस संपृक्ति को देख सकते हैं। यहाँ कहानीकार अपनी कहानियों में "मैं" के रूप में पाठकों से संवाद करता नजर आता है तो वहीं अपनी अन्य कहानियों में वाचक के रूप में सवाल करता हुआ। स्वयं प्रकाश वाचक की तटस्थ भूमिका छोड़कर आत्मकथात्मक रूप में 'मैं' को कहानी के मध्य स्थापित करते हुए कहानी कहते हैं। 'पार्टीशन' कहानी का एक उदाहरणयहाँ देख सकते हैं। कहानीकार यहाँ 'मैं' के रूप में उपस्थित है और कहानी के अंत के प्रति पाठकों का रुझान बढ़ाते हुए पाठकों को एक उत्तरदायित्व भी सौंप जाता है –"इस कहानी का अंत अच्छा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि आप उसे नहीं पढ़ें और पढ़ें तो यह जरूर सोचें कि क्या इसका कोई और अंत हो सकता था ? अच्छा अंत? अगर हाँ, तो कैसे?"[7]

कहानीकार की यह संपृक्ति 'बेमकान' कहानी में प्रश्नानुकूलता और वैचारिकता के साथ प्रकट हुई है जो महत्त्वपूर्ण है। लेखक पाठकों से सवाल करता है -"मोहनलालजी का सामान गली में बिखरा पड़ा है। उनके बच्चे रोती हुई माँ से छिपते अपने पिटते हुए बाप को देख भय से थरथरा रहे हैं। उनके पास रहने का कोई मकान नहीं है। क्या आप मोहनलालजी को अपने मोहल्ले में कोई मकान दिलवा देंगे ? या जब तक मकान न मिले, उन्हें अपने साथ बतौर पेइंग गेस्ट रख लेंगे?"[8] जाहिर है कि लेखक का यह प्रश्न जहाँ संवेदना को झकझोर देता है वहीं इस तरह के प्रश्न उनकी कहानियों के शिल्प वैशिष्ट्य का अनिवार्य हिस्सा भी हो जाता है। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि स्वयं प्रकाश अपनी कहानियों में प्रश्न खड़े करते हैं जो सामाजिक चेतना के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

स्वयं प्रकाश की आत्मकथात्मक शैली 'सूट' कहानी में बहुत ही प्रभावी ढंग से व्यक्त हुई है। इस कहानी का एक उदाहरण दृष्टव्य है :-"और आखिर एक दिन मैंने सूट पहन ही लिया। लगा, वाकई कुछ लग रहा हूँ। आईने के सामने कई तरह से मटका। खुद का अक्स खुद को ही अटपटालग रहा था। चटपटा भी। लगा, आज शहर का हर आदमी मुझे देखेगा और मुझसे अदब से पेश आएगा। लेकिन निकला तो लड़कपन की तरह हीन भावना की चपेट में आ गया। क्या सब लोग मुझ पर हंस रहे हैं ? एक लड़के ने पीछे से हंसकर चिढ़ाया भी- देखो-देखो, कौआ चला हंस की चल ! वह लड़का, मेरे भीतर ही बैठा हुआ था।"[9] यहाँ पर कहानीकार ने कहानी के 'मैं' के अंतर्द्वंद्व को बखूबी स्वर दिया है।'सूरज कब निकलेगा', 'अशोक और रेनु की असली कहानी', 'चौथा हादसा', 'नन्हा कासिद', 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा', 'संहारकर्ता' और 'पिताजी का समय' जैसी कहानियां इस दृष्टि से प्रमुख हैं। कहना न होगा कि स्वयं प्रकाश की यह संपृक्ति पाठक को रचनाकार से सीधा जोड़ता है। ऐसे में पाठक को यह मालूम रहता है कि किसी सहयात्री की तरह उसका कथाकार उसके साथ है। इससे हम अपने कथाकार की विचारधारा,आस्था-अनास्था, आकांक्षा आदि को समझने लगते हैं। स्वयं प्रकाश इस दृष्टि से एक पारदर्शी कहानीकार हैं। उनके व्यक्तित्व को उनकी कहानियों के माध्यम से भी आसानी से समझा जा सकता है। यही नहीं लेखक की यह उपस्थिति पाठकीय भागीदारी का आह्वान भी करती है। जो निश्चित तौर पर सराहनीय है। स्वयं प्रकाश पाठक की भागीदारी को सुनिश्चित करना चाहते हैं। यह भागीदारी पाठक को तटस्थ भूमिका से निकालकर केंद्र में लाने की एक कोशिश ही है।

**<u>लोक-कथात्मक शैली :</u>**

स्वयं प्रकाश की कहानियों में कथा-वस्तु की भव्यता नहीं मिलती। वे छोटे-छोटे अनुभवों को परम्परागत शैली में कहने के हिमायती हैं। इस दृष्टि से स्वयं प्रकाश प्रेमचंद की कहन शैली को अपनाते हुए नजर आते हैं। इसी के अंतर्गत अपनी कहानियों में कई बार वे निष्कर्ष देने से भी नहीं चूकते। कहना न होगा कि जिस दौर में अंत से विहीन कहानियों का जोर पकड़ रहा था उस दौर में स्वयं प्रकाश पुनः अपनी कहानियों में निष्कर्ष लिखने का जोखिम उठाते हैं। सोवियत संघ के विघटन, उदारीकरण और भूमंडलीकरण के बाद विकसित व्यवस्था में जहाँ जीवन इतना जटिल और द्वंद्व भरा हो गया हो वैसे में कहानी भी अमूर्तिकरण का शिकार हो गयी। जबकि इस दृष्टि से स्वयं प्रकाश अपनी सहजता, पारदर्शिता, संवादधर्मिता और पारंपरिक किस्सागोई परम्परा के कारण अपने समकालीन कहानीकारों में अपनी अहम् उपस्थिति दर्ज कराते हैं। अपनी इसी स्पष्टवादिता और सहज शैली के कारण स्वयं प्रकाश बच्चों के लिए लिखने में भी सक्षम हो सके हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियों के चरित्र मूलतः मध्यवर्गीय परिवेश से आते हैं। लेखक ने कई बार अपने साक्षात्कारों में यह कबूल किया है कि उनकी कहानियों के बहुत से पात्र काल्पनिक न होकर उनके रिश्तेदार या मित्र मण्डली से जुड़े हुए हैं। यह स्वयं प्रकाश के कहानीकार मन का यथार्थ के प्रति आग्रह ही है। विनोद तिवारी कहानी की रचना प्रक्रिया को लेकर लिखते हैं-"कहानी के शिल्प में कहानीकार घटनाओं, परिस्थितियों, पात्रों, समस्याओं, आदि को यथार्थ में पाकर भी उसे कल्पना के शिल्प में ढालता है, गढ़ता है और उसे एक नए यथार्थ में रूपांतरित करता है। कथ्य को एक नया रूपबंध देता है। यथार्थ का यह रूपांतरण, यह नया रूपबंध ही दरअसल कथानक की आत्मा है और कहानी की भी।"[10] इस दृष्टि से स्वयं प्रकाश अपनी कहानियों में जिस रचनात्मक यथार्थ की रचना करते हैं वह समाज को आईना दिखाती है। अपनी कहानियों में स्वयं प्रकाश जहाँ सामाजिक विसंगतियों की आलोचना करते हैं वहीं स्वयं प्रकाश खुद को भी इस आलोचना से बाहर नहीं रखते।

कमला प्रसाद स्वयं प्रकाश के कहानी कौशल पर बात करते हुए लिखते हैं –"स्वयं प्रकाश की कहानियां-प्रायः समाज की आसन्न समस्याओं की खोज और प्रश्नों की जड़ों तक पहुँचने की कोशिश हैं। कोई कहानी निरुद्देश्य नहीं है। विचारों से रिक्त नहीं है। यह उनका कौशल है। कहानियों में सृजन आवेग इतना घनीभूत होता है कि कथ्य, विचार और उद्देश्य भाषा के रसायन में अपनी पृथकता खो देते हैं। वस्तु रूप के जिस गहरे और अंतर्ग्रथित रिश्ते की मांग उन्नत कला से की जाती है , स्वयं प्रकाश की कहानियां उसे पूरा करती है।"[11] गौरतलब है कि स्वयं प्रकाश की कहानी कला के वैशिष्ट्य पर बात करते हुए जहाँ उन्हें प्रेमचंद, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन जैसे

कहानीकारों की परम्परा से जोड़ कर देखा जाता है वहीं उन्हें लोक-कथा शैली के पैरोकार के रूप में भी देखा जा सकता है। यह सही है कि स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में लोक में व्याप्त पारम्परिक कथा शैली का इस्तेमाल किया है लेकिन वे किस्सागोई की इस परम्परा का फिर से संस्कार करते हैं और समकालीन परिवेश की जटिल विसंगतियों को लक्ष्य करते हैं। लोक-कथा पर बात करते हुए उनके विचार भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। वे 'कानदांव' की रचना प्रक्रिया पर बात करते हुए लिखते हैं -"अक्सर लोककथाएँ सामंती समाज की निर्मितियां होती हैं इसलिए उनकी वर्गीय प्रतिबद्धताएं भी पूर्व परिभाषित होती हैं। राजकुमार चाहे जितना बेवकूफ हो, हमेंशा घोड़े पर ही सवार है और लकड़हारा चाहे जितना ईमानदार और परिश्रमी हो, बेचारा और गरीब है। फिर दलितों और स्त्रियों की कामना, एषणा और वेदना तो सिर्फ आशीर्वाद या श्राप में ही मुखरित होती है। एक आधुनिक कहानीकार का काम मात्र लोककथा के पुनर्लेखन से नहीं चलेगा, उसे कथा का पुनर्संस्कार भी करना पड़ेगा और उसे अपने समय के व्यापक सन्दर्भों से जोड़ना पड़ेगा, तभी उसका आज कहा जाना सार्थक होगा अन्यथा तो वह मात्र मनोरंजन और वक्तकटी होकर रह जाएगा।"[12] इस दृष्टि से स्वयं प्रकाश की कहानी 'कानदांव', 'गौरी का गुस्सा', 'जंगल का दाह' आदि को देखा जा सकता है। जिसमें कहानीकार क्रमशः मैच फिक्सिंग, मध्यवर्गीय लोलुपता, अतृप्त आकांक्षाओं और आदिवासी संस्कृति के विनाश को दिखाते हैं। 'जंगल का दाह' कहानी का प्रारंभिक दृश्य दृष्टव्य है-"मामा सोन अपने समय के प्रख्यात धनुर्धर थे। मामा सोन जंगल में रहते थे, लंगोटी लगाते थे और वनवासियों के बच्चों को तीर-कमान चलाना सिखाते थे। अपना धनुष और अपने बाण भी वह स्वयं बनाते थे। वनवासी खेती करना नहीं जानते थे। वहाँ जमीन ऐसी थी भी नहीं जिस पर आसानी से खेती की जा सके। उनकी आजीविका पशुपालन, वनोपज और शिकार से ही चलती थी। यह जरूरी था कि हम वनवासी, चाहे लड़का हो या लड़की, अपनी रक्षा और आजीविका के लिए तीर-कमान चलाना जरूर सीखे।"[12] लोक-कथा की शैली में शुरू हुई यह कहानी धीरे-धीरे किसी नाटक की तरह खुलती है और आदिवासी समाज के विस्थापन जैसी गंभीर समस्याओं को उद्घाटित करती है। इसी कड़ी में स्वयं प्रकाश की कहानी 'गौरी का गुस्सा' भी देख सकते हैं जिसमें लेखक ने एक रूपक का सहारा लेकर लोक-कथा शैली में मध्यवर्गीय प्रवृति का मखौल उड़ाते हुए नजर आते हैं। कहानी की शुरूआत दृष्टव्य है-"यह एक सुहाना दिन था। नंदी पर आरूढ़ शिव-पार्वती आकाशमार्ग से विचरण कर रहे थे। धराधाम की शोभा निहारते। मगन और मुदित। कहीं बर्फ ढंके पहाड़, कहीं नीलम-सा समुद्र, कहीं मूंगे-से मैदान, कहीं चाँदी-सी धूप। कहीं बागों में बहार तो कहीं कलियों पर निखार। सहसा पार्वती की नजर

रतनलाल अशांत पर पड़ी, जो पंचरतन टाकिज के सामने फत्तू नाई की केबिन के बाहर बैठा अपनी फूटी किस्मत को कोस रहा था।"[13] कहानी के प्रारंभ में स्वयं प्रकाश ऐसे ही वर्णन शैली को अपनाते हुए कहानी को लोक-कथात्मक परम्परा के संस्कार में ढालते हुए नजर आते हैं।

**व्यंग्य का प्रयोग- शैली के रूप में** : स्वयं प्रकाश की कहानियां जहाँ साफगोई के कारण अपनी एक अलग पहचान बनाती है वहीं उनकी व्यंग्यात्मक शैली हरिशंकर परसाई की बरबस याद दिलाती है। व्यंजना व्यंग्य का आधार होती है। स्वयं प्रकाश की व्यंग्य शैली अभूतपूर्व है। स्वयं प्रकाश की अधिकांश कहानी में व्यंग्यात्मक शैली के विभिन्न प्रयोग देखने को मिलते हैं। कभी वह टिप्पणी के रूप में आया है तो कभी चरित्र का परिचय देने में। व्यंग्य का यह स्वरुप पाठक को सिर्फ हँसाता नहीं है बल्कि सोचने पर भी मजबूर करता है। व्यंग्य को लेकर स्वयं प्रकाश लिखते हैं:-"मेंरा तो ऐसा मानना है कि व्यंग्य का जन्म क्रोध और असहायता की मिली-जुली भावना से होता होगा।"[14] वहीं वे आगे लिखते हैं –"व्यंग्य इस तरह विरेचन का काम भी करता है। मानो 'मधुर विरेचन' जो आयुर्वेद में एक अत्यंत लोकप्रिय औषध है। आप व्यंग्य करके मान सकते हैं कि जिसे आप पीटना चाहते थे उसे उसकी अनुपस्थिति में भी आपने डंडे से न सही शब्दों से तो पीट ही दिया ! लोक में इसका सबसे शानदार उदाहरण अकबर–बीरबल के चुटकुले हैं जिनमें बगैर किसी मुरव्वत एक बादशाह को मूर्ख ठहरा दिया जाता है।"[15]

व्यंग्यधर्मिता उनकी प्रत्येक कहानी का प्राण तत्व है। 'गौरी का गुस्सा' कहानी के पात्र रतनलाल अशांत के नाम में 'अशांत' जोड़कर लेखक मध्यवर्गीय चरित्र की अशांति को लक्ष्य करते हैं। रतनलाल का 'काश' देखने लायक है –"काश! वह दस-बीस साल पहले पैदा हुआ होता, जब बगैर बी.एड. किए भी मास्टरी मिल जाती थी। काश! वह किसी अमीर घर में पैदा हुआ होता ! काश! कोई उसे घरजमाई बना लेता। काश! वह एस.सी.-एस.टी. होता ! काश ! किसी एस.सी.- एस.टी. ने उसे गोद ही ले लिया होता !"[16] कहना न होगा कि यहाँ व्यंग्य सार्थक बन पड़ा है। रतनलाल का यह काश! जहाँ उपभोक्तावादी संस्कृति की विसंगतियों को उजागर करता है वहीं मध्यवर्ग की सुविधा-सुलभता के प्रति अतिरिक्त मोह पर भी चोट करता है। व्यंग्यात्मक शैली की दृष्टि स्वयं प्रकाश की कहानी 'बस' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस कहानी में स्वयं प्रकाश कॉमरेड बुद्धिप्रिय को शौकिया राजनीति करने वाले ऐसे युवक के रूप में चित्रित करते हैं जिससे आज की राजनीति का पर्दाफाश हो जाता है। स्वयं प्रकाश कॉमरेड बुद्धिप्रिय के चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं –"कॉमरेड बुद्धिप्रिय गुप्त कम्युनिस्ट नहीं थे। उनकी आस्था किसी 'वाद' में नहीं थी। राजनीति को वह एक गंदगी दलदल समझते थे और

तमाम राजनैतिक पार्टियां उनकी राय में – यदि आप उसे महत्त्व दें-भ्रष्ट, अवसरवादी, सिद्धान्तहीन और सत्ता की भूखी थी। वह रूस, चीन, वियतनाम, समाजवाद से प्रभावित थे और वियतनाम पर तो उन्होंने एक कविता भी लिखी थी जिसमें उसे अफ्रीका का एक महान देश बताया गया था। लेकिन भाषण उन्हें सबसे अच्छा अटलजी का लगता था और चिंतन रजनीश का। उन्होंने मार्क्स, लेनिन आदि सज्जनों की पुस्तकें नहीं पढ़ी, पर साथ में रखते जरूर थे। उन्हें कॉमरेड कहना-कहलवाना अच्छा लगता था। वह भारत के लिए एक मौलिक समाजवाद की खोज में थे और एक नयी देशभक्त क्रांतिकारी पार्टी बनाना चाहते थे। पार्टी का नाम, झंडा, संविधान तक उन्होंने तैयार कर लिया था। पर शहर में कोई 'फ़ॉलोवर' नहीं मिलने से वह निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि भारत की अस्सी प्रतिशत जनता गाँव में रहती है। इसलिए अब गाँव जा रहे थे। उस बेचारे को अपना कार्यक्षेत्र बनाने।"[17] इस कहानी का अंत भी काफी हास्यास्पद है जहाँ कॉमरेड गुप्त की वापसी तथाकथित समाजवाद की पोल खोल कर रख देता है। इस कड़ी में व्यंग्यात्मक शैली की दृष्टि से 'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी' और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जहाँ तमाम विसंगतियों और हास्यास्पद स्थितियों के बावजूद पाठक अविनाश मोटू के चरित्र का कायल हो जाता है। स्वयं प्रकाश , अविनाश मोटू की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखते हैं-"मजे की बात यह है कि मजाक अविनाश के सामने किये जाते और वह हँसता रहता। बच्चों जैसी निश्छल हँसी। कभी-कभी ताली पीटकर हँसता। ऐसी जिन्दादिली मैंने सरदारों के सिवा किसी में नहीं देखी। यह भी नहीं कि वह पलटकर दूसरों का भी ऐसा ही मजाक उड़ाता हो। दूसरों से वह सारा बदन मटकाकर शिरीमान जी या जनाबेसदर कहकर भले बात कर ले, बेअदबी कभी नहीं करता था। लगता था, वह दूसरों की हँसी का कारण बनकर भी बस इसी से खुश था कि उसकी वजह से दूसरों को ख़ुशी मिल रही है।"[18] इस कड़ी में स्वयं प्रकाश की अन्य कहानियां मसलन 'तीसरी चिट्ठी', 'पांच दिन और औरत', 'नीलकांत का सफ़र', आदि को भी देख सकते हैं।

**लघु-कथा का प्रयोग :** स्वयं प्रकाश ने पर्याप्त मात्राओं में लघु कहानियां भी लिखी हैं। इस दृष्टि से उनका कहानी संग्रह 'छोटू उस्ताद' महत्त्वपूर्ण है। गौरतलब है कि आकार में छोटी ये कहानियां लघुकथाओं के एकायामी आवरण को तोड़ते हुए बड़े व्यापक परिदृश्य को हमारे सामने खोलती है। इस संग्रह में मौजूद कहानियों में जहाँ पारंपरिक किस्सागोई की झलक दिखाई देती है वहीं इन कहानियों में ललित निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र जैसी विधाओं का छौंक भी मिलता है। शिल्प की ही भांति कथ्य के धरातल पर भी ये कहनियाँ परिवेश की विविध विसंगत स्थितियों का आख्यान पेश करती हैं। चंद पंक्तियों में लिखी गई कहानी 'संस्कार' का उदाहरण दृष्टव्य है-

"किसी सड़क पर से एक अरथी गुजर रही थी। साथ चलने वालों में शोक का वातावरण था। एक चौराहे पर सामने से भी एक अरथी आती दिखाई दी। उधर भी शोक का वातावरण था। दोनों अरथियां जब बराबर से गुजरने लगीं तो अचानक आसमान में बिजली चमकी। शूं की तेज आवाज हुई और इसी के साथ एक अरथी पर पड़ा मुर्दा उठ बैठा। उसने दूसरी अरथी को ईर्ष्या के साथ देखा और बोला-' भला उसका कफन मेरे कफन से सफ़ेद क्यों?' कहना कठिन था कि कहीं शोक का वातावरण था या नहीं।"[19]

इस दृष्टि से संग्रह की अन्य कहानियां मसलन 'लाइलाज', 'आदरबाज़ी', 'बिछुड़ने से पहले', 'बाबूलाल तेली की नाक', 'लड़ोकन', 'नसीहत', 'विचित्र बीमारी' आदि को देख सकते हैं।

**संक्षिप्तता और सांकेतिकता:**

आज की हिंदी कहानी की बहुत बड़ी उपलब्धि सांकेतिकता है। यह शिल्प और वस्तु दोनों की दृष्टि से अपनी उपयोगिता सिद्ध करती है। आज की कहानी ने भाषा के रचनात्मक स्तर पर सांकेतिकता के माध्यम से नए अर्थों की तलाश की है। जिससे भाषा की व्यंजना शक्ति को बल मिला है। गौरतलब है कि यह सांकेतिकता प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद जैसे कहानीकारों के यहाँ भिन्न-भिन्न स्तरों पर पहले से मौजूद है। प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात', 'कफन' और जयशंकर प्रसाद की कहानी 'आकाशदीप' सांकेतिक अर्थवत्ता को बहुत अच्छे से व्यक्त करती हैं। हालांकि आज की कहानियों में सांकेतिकता का प्रयोग अधिक सूक्ष्म स्तर पर होने लगा है। सांकेतिकता के सफल प्रयोग की दृष्टि से राजेंद्र यादव की 'प्रतीक्षा', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'सूटकेस', कमलेश्वर की 'मांस का दरिया', उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ', अमरकांत की 'दोपहर का भोजन', मन्नू भंडारी की 'यही सच है' आदि कहानियां महत्त्वपूर्ण है। मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' का एक उदाहरण दृष्टव्य है :-"खाने में मेरा जरा मन नहीं लग रहा है, पर यन्त्रचालित सी खा रही हूँ। शायद वह भी ऐसे ही खा रहा है। मुझे फिर लगता है कि उसके होंठ फड़क रहे हैं, और स्ट्रॉ पकड़े हुए उंगलियाँ काँप रही हैं। मैं जानती हूँ, वह पूछना चाहता है, दीपा तुमने मुझे माफ़ तो कर दिया ना।"[19] यहाँ पर लेखिका ने नायक और नायिका के शारीरिक क्रियाओं द्वारा मानसिक द्वंद्व की ओर संकेत किया है। परमानन्द श्रीवास्तव सांकेतिकता पर अपनी बात रखते हुए कहते हैं :-"सांकेतिक अर्थवत्ता से युक्त होने पर ही आज की कहानी सीधे चेतना तथा अनुभूति के गहरे स्तरों को छूने में समर्थ हो सकी है। आज के कहानीकार के व्यक्ति-मन और परिवेश में जो विरोध भी है उसे संकेतों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। आज की कहानी

सौन्दर्यानुभूति के उस स्तर की कहानी है जिसमें रचनाकार बंद कमरे की खिड़की से आते हुए आलोक को देखकर अपनी संवेदना के सहारे ही मूर्त कर लेता है।"[20] यह सांकेतिकता स्वयं प्रकाश की कहानियों में भी कहीं सूक्ष्म तो कहीं स्थूल रूप में व्यक्त हुई है जो कहानी की अर्थवत्ता को बल प्रदान करती हैं। इस दृष्टि से स्वयं प्रकाशकी कहानी 'अशोक और रेनु की असली कहानी' से एक उदाहरण दृष्टव्य है :

"आज तुम्हारी नीली कमीज की जेब से एक रसीद निकली। रेनु ने कहा।

-नीली कमीज़ ?

-धो रही थी।

-सेल ख़रीदे थे टॉर्च के। बेकार हैं।

-फिर चुप।

-चलें ? कुछ देर बाद अशोक ने पूछा।

- दोनों चल पड़े।

-रोज के रास्ते। रोज की तरह ख़ामोश।"[21] इस प्रसंग में कहानीकार ने अशोक और रेनु के दाम्पत्य जीवन की ओर संकेत किया है। इस प्रसंग को पढ़कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पति-पत्नी के मध्य संवादहीनता की स्थिति बनी हुई है।

इसी कड़ी में स्वयं प्रकाश की कहानी 'संक्रमण' को देख सकते हैं। कहानी का 'मैं' पैंसठ वर्षीय बुजुर्ग है जो कहानी के युवक 'तुम' को उसके वैवाहिक जीवन को सुलझाने में अपनी राय देता है। पूरी कहानी 'मैं' और 'तुम' के बीच का संवाद है जिसमें 'मैं' ही अधिक बोलता है। कहानी का 'मैं' सही मायने में आधुनिक जान पड़ता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है :-"बात यह है कि इंसान को बदलने में बड़ा समय लगता है। और बदलने की भी एक प्रक्रिया होती है। तुम रातोंरात किसी को बदलना चाहो, सो संभव नहीं।उसे समय दो। देना ही पड़ेगा। और हरेक को अलग समय लगता है। बदलाव कैसे शुरू होता है ? पहले विचार बदलते हैं। फिर भावनाएं। फिर संवेदना। फिर आवेग। फिर आचरण। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से फिर स्थूल। यही जीवन का द्वंद्व है। इसी में विकास है।"[22] यहाँ विकास प्रक्रिया पर बात करते हुए कहानीकार एक नवविवाहित स्त्री की मनःस्थिति की ओर भी संकेत करता है। साथ ही पुरुषवादी सोच की तरफ भी संकेत करता है। जिसका प्रतिनिधित्व कहानी का 'तुम' कर रहा है। स्वयं

प्रकाश की अन्य कहानियों में 'बस', 'नीलकांत का सफ़र', 'चोर की माँ', 'सम्मान', 'बलि', 'सूट', 'उज्ज्वल भविष्य' आदि सांकेतिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इन कहानियों में लेखक ने चरित्र के मानसिक द्वंद्व को उद्घाटित करने के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के विसंगत रूप की ओर संकेत करने के लिए भी सांकेतिकता का सहारा लिया है।

**बिंब-विधान का प्रयोग :**

"'बिंब' अंग्रेजी के 'इमेंज'(Image) शब्द का हिंदी रूपांतरण है। इसका अर्थ है किसी पदार्थ को मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना अथवा मानसी प्रतिकृति उतारना। 'बिंब' एक प्रकार का भावगर्भित शब्द-चित्र है जो सिर्फ हमारी चक्षु-इंद्रिय को ही तृप्त नहीं करता अन्य इन्द्रियों की भूख भी मिटाता है। भाव जगाना उसका प्रमुख कार्य है।"[23] आज का कहानीकार अपने युग की जटिल स्थितियों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों का अर्थपूर्ण प्रयोग करता है। कहानीकार मनोवैज्ञानिक स्थितियों के चित्रण के लिए बिम्बों का सार्थक प्रयोग करता है। मोहन राकेश लिखते हैं :-"कहानीकार बिम्बों के माध्यम से एक भाव या विचार को सफलतापूर्वक तभी व्यक्त कर सकता है जब वे बिम्ब यथार्थ की रूपकृतियों से भिन्न न हों- उनके संघटन में जीवन के यथार्थ को पहचाना जा सके।"[24] तात्पर्य यह है कि जब वे बिंब यथार्थ की रूपाकृतियों से भिन्न न हो तो उनके संघटन से जीवन के यथार्थ को पहचाना जा सकता है। गौरतलब है कि स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में बिम्बों का अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। पात्रों के परिचय से लेकर उसके मनःस्थिति के वर्णन तक में स्वयं प्रकाश बिंब का अर्थपूर्ण प्रयोग करते हैं। उन्होंने परिवेश के चित्रण में बिम्बों का अच्छा प्रयोग किया है जिससे पाठक कहानी-पाठ के दौरान कहानी को देखता हुआ महसूस करता है। इस प्रयोग में उनकी किस्सागोई वाली शैली सहज ही उनका साथ देती है। 'सूरज कब निकलेगा' कहानी बिंब-विधान की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बिंब-विधान इतना अर्थपूर्ण बन पड़ा है कि भैराराम के परिवार संग पाठक भी सूरज के निकलने का इन्तजार करने लगते हैं। बारिश और बाढ़ के पानी के बीच फंसे भैराराम और उसके परिवार की स्थिति को देखिए :-"बादल फिर गरजने लगे। बारिश तेज हो गई। सांय–सांय करती हुई तूफ़ानी ठंडी हवा भी बहने लगी। अचानक गाड़ा हचमचाया ...और जरा घूमकर एक फुट आगे चला गया...फिर पीछे आ गया ...और घूमने लगा। दोनों बच्चे हड़बड़ाकर जाग गए और डर के मारे चीखने लगे। भैराराम ने हाथ झुलाकर देखना चाहा कि पानी कहाँ तक पहुंचा है, पर उसकी उम्मीद से बहुत ही ऊपर उसके हाथ ने पानी छू लिया। पानी गाड़े की सतह तक पहुँच गया था...यानि गाड़ा अब लगभग तैर रहा था। खटिया कभी भी

गिर-ढह-सरक या बह सकती थी। दोनों ने एक-एक बच्चा गोद में उठा लिया और सोचने लगे कि क्या किया जाए ? बच्चों की डरी हुई चीख-पुकार ने उन्हें और ज्यादा घबरा दिया था। वे कभी ऊपर आसमान की तरफ देखते, कभी एक-दूसरे की तरफ।"[25] यहाँ पर लेखक ने ऐसा बिंब–विधान रचा है कि पाठक पढ़ते हुए सारे दृश्य देखता हुआ महसूस करता है। लेखक ने बिम्बों के माध्यम से बाढ़ से जूझ रहे भैराराम और उसके परिवार का सिर्फ सजीव चित्रण नहीं किया है बल्कि भैराराम और उसके परिवार की जिजीविषा को भी मूर्त रूप दिया है। साथ ही लेखक भैराराम और उसके परिवार की मनःस्थिति को भी बिम्बों के माध्यम से पाठक के सामने रखता है। स्वयं प्रकाश की अधिकांश कहानियां बिंब-विधान की दृष्टि से लबरेज है। इस कड़ी में हम 'अगले जनम', 'कानदांव', 'बस', 'नीलकांत का सफ़र', 'बर्डे', 'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी', 'पार्टीशन', 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा?', 'नैनसी का धूड़ा', 'सम्मान', 'बेमकान', 'एक छोटी सी लड़ाई', 'लाइलाज', 'बाबू तेली की नाक' आदि कहानियां देख सकते हैं।

**चरित्र-चित्रण का वैविध्य :**

स्वयं प्रकाश अपनी कहानी की शुरूआत बहुत ही सरल अंदाज में करते हैं। कई दफ़ा वे चरित्र का वर्णन करते हुए पाठक को चरित्र के साथ आत्मीयता के साथ जोड़ देते हैं। उनकी कहानियों के चरित्र हमारे आस-पास के सामाजिक परिवेश के ही मालूम होते हैं। उनकी कहानियाँ अपनी ही कहानी लगती है। इसलिए 'नीलकांत का सफ़र' का नीलकांत, 'बस' कहानी का कॉमरेड बुद्धिप्रिय, 'बर्डे' कहानी की श्रीमती बैंजल, 'मंजू फालतू' की मंजू, 'एक जरा सी बात' के शचीन्द्र बाबू , 'बेमकान'के मोहनलालजी, 'उल्टा पहाड़' के सरूर साहब , 'इनका जमाना' के केवलराम , 'संहारकर्ता' के सत्यकांत , 'सूरज कब निकलेगा' का भैराराम , 'अशोक और रेनु की असली कहानी' की रेनु आदि से हम आत्मीयता के साथ जुड़ जाते हैं और कहीं न कहीं इन चरित्रों में अपना हिस्सा तलाशने लगते हैं। गौरतलब है कि स्वयं प्रकाश अपनी कहानियों में समाज की विसंगतियों को उजागर करने के साथ-साथ मनुष्य की जिजीविषा को भी रेखांकित करते हैं। यह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इनकी कहानियों के पात्र पाठक के लिए प्रेरणा बन जाते हैं। तमाम विषमताओं से जूझते हुए, विडम्बनाओं में जीते हुए स्वयं प्रकाश की कहानियों के पात्र हिम्मत बटोर कर अपने लिए नया सवेरा ढूंढ लेते हैं। इनके पात्र जिंदगी की वह पगडण्डी तलाश लेते हैं जो बाजारवाद को मुंह चिढ़ाते हुए नजर आते हैं। 'सूरज कब निकलेगा' कहानी के भैराराम और उसके परिवार की जिजीविषा देखने लायक है। भैराराम अपनी पत्नी और बच्चों के साथ गोंदी के पेड़

पर चढ़ा हुआ है क्योंकि बारिश के कारण नदी का पानी घर और उसके आसपास बहने लगा है। उसकी जिंदगी में यह स्याह रात काल की रात है। लेकिन जीवन के प्रति उसकी आस्था देखने लायक है। लेखक वर्णन करते हुए लिखता है –"पेड़ हिला, पेड़ कांपा, पेड़ की जड़ें उखड़ी-टूटीं-और पेड़ गिर गया। भैराराम और सुगनी ने जिंदगी में कभी इतनी सख्ती से कुछ नहीं पकड़ा होगा, जितनी सख्ती से इस समय एक हाथ से पेड़ की डाल और दूसरे से बच्चों को चिपटाकर उन्होंने पकड़ा-भींचा, गड़ गए- एक हो गए। और उन्हें आश्चर्य हुआ कि पेड़ के पानी में गिर पड़ने के बाद भी वे चारों सलामत थे-जिन्दा थे। क्योंकि पेड़ जमीन पर नहीं, गाड़े पर गिरा था, जो पानी में डूब गया था पर बहा नहीं था। अब वे पानी की सतह पर लटके हुए , बच्चों को थामेंहुए ...जिन्दा थे ...और यह यह ज़िन्दगी मौत से भी बदतर थी ...मौत का भी कलेजा दहला देने वाली थी।"[26] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि स्वयं प्रकाश जीवन के प्रति आस्था को रचने वाले कहानीकार हैं।

**कथा-भाषा**:

भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का साधन नहीं होती हैं बल्कि वह भावों की वाहिका भी होती है। हरेक रचनाकार भाषा के माध्यम से ही अपने विचारों को मूर्त रूप देता है। गौरतलब है कि कोई भी भाव बिना भाषा के व्यक्त नहीं हो सकता। साथ ही भाषा की भाव-विहीनता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भाषा के माध्यम से ही कहानीकार चरित्र के वास्तविक स्वरुप को उद्धाटित करता है। हेमलता लिखती हैं -"कहानी के केन्द्रीय तत्त्व संवेदना और उसका आधार कथानक संप्रेषण के अभाव में महत्त्वहीन हो जाते हैं। संवेदना और कथानक के सम्प्रेषण का यह महत्त्वपूर्ण कार्य भाषा करती है। संवाहक के रूप में भाषा कहानी का एक आवश्यक अंग है। भाषा का आधार ग्रहण करके कहानी अपने अन्य आवश्यक उपादानों सहित सजीव हो उठती है।"[27] जब हम स्वयं प्रकाश की कथा-भाषा पर दृष्टिपात करते हैं तो यह आसानी से कहा जा सकता सकता है कि लेखक के लिए सम्प्रेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जीती-जागती स्थितियां उनकी कहानियों में अपनी भाषा सहित आती हैं। उन्होंने सरल और सहज भाषा अपने परिवेश से अर्जित की है, जिस भाषा में उनका समकालीन यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए स्वयं प्रकाश के यहाँ भाषा की सम्प्रेषणीयता बेजोड़ है। कनक जैन इसी प्रश्न पर गौर फरमाते हुए लिखते हैं –"उत्तर आधुनिकता और जादुई यथार्थवाद के कथित फैशन वाले दौर में भी उन्होंने भाषा में जादुई चमत्कार खड़ा करके पाठक को अचंभित करने का कुचक्र नहीं रचा। उन्हें भाषा की कीमियागिरी पसंद नहीं। वे कथा-कहानी के जरिये अपनी बात पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं इसलिए भाषा की सम्प्रेषणीयता का हरसंभव ध्यान रखते हैं।

वे कहानी के पाठक से अपनी विद्वत्ता का लोहा नहीं मनवाना चाहते, उन्हें पता है कि पाठक कहानी में अपनी जिंदगी, समस्याएँ, आकांक्षाएं और भावनाएँ खोजने के मकसद से दाखिल हुआ है। इसलिए उनकी कहानियों में भाषिक संरचना की सहजता उपलब्ध होती है। उनके कथा शिल्प में आमतौर पर कोई उलझाव या रहस्य नहीं दिखता है। कथ्य को समृद्ध बनाने के लिए उन्होंने राजस्थानी और मालवी के शब्दों का सफल प्रयोग किया है। वे शब्द अपरिचित भले ही लग सकते हैं, पर स्पष्ट भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं होते। स्वयं प्रकाश जानते हैं कि हिंदी को यदि समृद्ध भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होना है, तो उसे क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों को अपनाना पड़ेगा।"[29]

**(क) उर्दू शब्द** - स्वयं प्रकाश की भाषा पाठकों को बांधने में कारगर है। उनकी भाषा आम जनता के बीच की भाषा है जिससे पाठक सहज ही जुड़ जाता है। गौरतलब है कि स्वयं प्रकाश कहानियों में उर्दू के ऐसे शब्दों का भी खूब प्रयोग करते हैं जो हिंदी में घुल-मिल गए हैं। 'रशीद का पाजामा', 'तलबी, 'नन्हा कासिद', 'गुमशुदा', 'चौथा हादसा' जैसी कहानियों के न केवल शीर्षक बल्कि पूरी कहानी में उर्दू शब्दों की प्रधानता देखी जा सकती है। 'रशीद का पाजामा' शीर्षक कहानी का एक उदाहरणदेखिए –"आख़िर किसी तरह रशीद के लिए गरम कोट, तिन जोड़ी कपड़ों और जूते स्वेटर वगैरह का जुगाड़ किया गया और उन्हें रवाना किया गया। जाते समय उसकी जेब में पचास रुपए का नोट भी रख दिया और ताकीद की गई कि पहुंचते ही पोस्टकार्ड डालें कि सलामती से पहुँच गए हैं। पते लिखे पोस्टकार्ड अटैची में हैं ही। ताकीदों की सूची लंबी थी। उन्हें दोहराने का सिलसिला ट्रेन के प्लेटफार्म छोड़ देने तक जारी रहा। फिर चौरसिया से लिए गए कर्जे के ख्याल ने चांप लिया।"[30]

स्वयं प्रकाश भाषा की परिधि में बंधते नहीं हैं। उन्होंने इन्द्रधनुष के ख़ूबसूरत रंगों की भांति अपनी कहानियों में भाषा के विविध रंगों को समाहित किया है। उनकी कहानियों की भाषा हिन्दुस्तानी के बेहद करीब है। यहाँ वे उर्दू के शब्द-भंडार का इस्तेमाल बखूबी करते हैं। 'जमाना कितना बदल गया' कहानी का एक उदाहरणदृष्टव्य है-"ये सब समाज के संभ्रात और सुविधासंपन्न तबके के लोग थे, जिनका सड़े टमाटरों और आढ़तियों और मुंशी-मुनीमों से दूर का भी कोई परिचय नहीं था। इनकी मखमली दुनिया में बियर के झाग और गुदगुदे दीवान और सफ़ेद झक्क गावतकिए और रेशमी संगीत और दिलचस्प सियासत और नफीस मजाक और पोशीदा मोहब्बतें और बेरोक बहकर आती आमदनियां थीं और अच्छे खानदान और अच्छी परवरिश, अच्छी सेहत, अच्छे टेस्ट और सुखी-संपन्न-संतुष्ट जीवन की तमाम अलामतें थी, लेकिन इनके तजुर्बों और जकीरों का फायदा उठाने की नीयत से इनकी तरफ खिंचते सुरूर साहब यह सोचना भूल ही गए कि ये अंततः शत्रु हैं या मित्र और उनकी कॉफ़ी और

उनके काजुओं ने सुरूर साहब के मन में जमा नफरत को कुछ कम तेज कर दिया और वे सफलता की मीनार पर छलांगे मारते चढ़ जाने का सपना देखने लगे।"[31]

गौरतलब है कि स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में उर्दू शायरी का भी अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। 'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी' कहानी से एक उदाहरण दृष्टव्य हैं-

*"फ़क़त पासे-वफ़ादारी है, वरना कुछ नहीं मुश्किल।*
*बुझा सकता हूँ अंगारे, अभी आँखों में पानी है।"*[32]

इसी तरह की उर्दू शायरी का प्रयोग स्वयं प्रकाश 'उल्टा पहाड़' कहानी के चरित्र सरूर साहब के मनःस्थिति और उनके चरित्र को उद्घाटित करने में भी करते हैं। उदाहरण दृष्टव्य है -

*"हर तरफ जिंदगी का मेंला है,*
*चार सू इक न इक झमेंला है।*
*और इस जिंदगी के मेंले में,*
*आदमी किस कदर अकेला है।।"*[33]

इसी तरह स्वयं प्रकाश अपनी कहानी 'एक छोटी-सी लड़ाई' में इकबाल नामक पात्र अपने जोशीले अंदाज में शायरी के माध्यम से शिक्षक-संघ के हड़ताल में जान फूंकता हुआ नजर आता है। उदाहरण दृष्टव्य है -

*"कदहो-गेसू में कै सो-कोहकन की आजमाइश है।*
*जहां हम हैं वहां दारों-रसन की आजमाइश है।।*
*रगों पर मैं जब उतरे जहन गम तब देखिए क्या हो।*
*अभी तो तल्खिए कामो-दहन की आजमाइश है।।"*[34]

**(ख) राजस्थानी शब्द** :

स्वयं प्रकाश की कहानियों में राजस्थानी मिश्रित शब्दावलियों का प्रयोग सहज देखा जा सकता है। ध्यातव्य है कि कई बार वे शब्द हमें अपरिचित से लगते हैं किन्तु भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं बनते हैं। वे अपनी कहानियों में प्रांतीय शब्दावलियों का प्रयोग कथ्य को विस्तार देने के क्रम में करते हैं। शैदाई, तवील, तमाजी,

टाबर, झूंपा, सोगरा, खड़ीन, तिरेड़ जैसे शब्द जो अरबी-फारसी और राजस्थानी के हैं स्वयं प्रकाश की कहानियों में सहजता के साथ देखी जा सकती है। राजस्थानी शब्दावलियों का मिश्रित रूप देखिए –

-"अप्पू नहीं आया ? लोग उसकी बातें करके ही हंसने की कोशिश करने लगे।

- पंखों के पीछे पड़ा है तीन दिन से।

- मिस्त्रीपने का घणा सौख है बिसको।

- उसका बस चले तो बाल-बच्चों के भी कल-पुर्जे खोलके बैठ जाए।

- ग्रीस ऑयल लगाके बंद कर दे।

- तो कुछ न कुछ जरूर बाहर छूट जाए।

- या पता चले, बेटी का सर बेटे के लग गया।"[35]

'जो हो रहा है' कहानी स्वयं प्रकाश की दलित विमर्श से सम्बंधित कहानी है। रंजीत एक ग्रामीण युवा है जो पढ़ा लिखा है और ठाकुरों और सवर्ण मास्टर के द्वारा दलित जाति के स्कूली बच्चों के शोषण के खिलाफ आवाज उठता है। यहाँ बच्चों और रंजीत के बीच के संवाद में राजस्थानी मिश्रित शब्दावलियों के प्रयोग को देख सकते हैं:-

-"मास्साब ने मालिश करवाई ! क्यों करवाई ? रंजीत ने बेचैन होते हुए पूछा।

-रोज करवाते हैं। बड़े ने कहा।

-...और है न ! बरतन भी घिसवाते हैं। छोटा बोला।

-दूसरे बच्चों से तो गाभे भी धुलवाते हैं।

-हाँ, पर मेंघवालों से ही धुलवाते हैं। बनियों और राजपूतों के छोरों से नहीं धुलवाते।

-और है न ! भाईसाब ! एक दिन हमसे झाड़ू भी लगवाई।

-पोता भी फिरवाया।

-और उसकी लुगाई है न भाईसाब ! वो हमसे घी भी मंगवाती है।

-घी भी। और धन भी।

-नहीं तो रिजल्ट नहीं बताते।

-फेल कर देते हैं।

-टाटपट्टी भी भाईसाब, हमको नहीं देते।

-हां भाईसाब! हमको कहते हैं, तुम जमीन पर बैठो। तुम नीच हो।"[36]

(ग) **खड़ी बोली** :

शुद्ध हिंदी खड़ी बोली का ही प्रयोग स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों में ज्यादातर किया है। लेकिन पात्रानुकूल भाषा प्रयोग की दृष्टि से स्वयं प्रकाश कहीं-कहीं चूकते भी नजर आते हैं। गौरतलब है कि इनकी कहानियों में हर वर्ग के चरित्र आए हैं। मजदूर, किसान से लेकर उच्चवर्गीय चरित्र तक। जहाँ स्वयं प्रकाश स्थानीय शब्दों के प्रयोग से कहानी के देश-काल को स्पष्टता प्रदान करते हैं वहीं पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग में कहीं-कहीं मात खा जाते हैं। भाषागत स्तर पर स्वयं प्रकाश पात्रों के वर्गीय चरित्र को उद्घाटित करने में प्रायः असक्षम रहे हैं। अधिकांश जगह उन्होंने खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'परिधि' का भाई-बहन के बीच का यह संवाद दृष्टव्य है :-

-"अम्मा कैसी है? उसने पूछा।

-ठीक है।

-और बाबू?

-ठीक। चलना-फिरना बंद हो गया है बिलकुल। सब कुछ खटिया पर ही होता है।

-कौन करता है?

-अम्मा, और कौन?

-क्यों ? तू वहां नहीं है ?

-मैं तो शहडोल में हूँ ना !"[37]

समग्रता में देखें तो स्वयं प्रकाश अपने शिल्पगत वैशिष्ट्य के कारण समकालीन जनवादी कहानीकारों में अपना एक अलग स्थान रखते हैं। इन्होंने भारतीय किस्सागोई की परम्परा का पुनर्संस्कार करते हुए हिंदी कहानी को रचनात्मक स्तर पर मजबूत करने का सराहनीय प्रयास किया है। इनकी कहानियों में एकान्विति अपने सफलतम रूप में मौजूद है। कहानियों में संवादधर्मिता को लेकर स्वयं प्रकाश अपने आप में बेजोड़ हैं। स्वयं प्रकाश की कहानियों की विशेषता यह है कि कहीं किसी जगह भी कहानी में बनावटीपन नहीं दिखाई देता है। स्वयं प्रकाश

एक प्रबुद्ध रचनाकार हैं। यह प्रबुद्धता उनकी कहानियों में आए विचार-दर्शन को पढ़कर समझा जा सकता है जो कहानी को गहरी अर्थवत्ता प्रदान करती है। गौरतलब है कि इनकी कहानियों में सामाजिक यथार्थ किसी उथले रूप में नहीं बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि के साथ आया है जो पाठक की संवेदना को कहीं गहरे तक हिला कर रख देती है। आज जब कहानी का रंगमंच एक मुकाम हासिल कर चुका है वैसे में स्वयं प्रकाश की कहानियां अपने में रंगमंचीयता की तमाम संभावनाएं लिए हुए हैं।

**संदर्भ:**

1.कहानी की रचना प्रक्रिया और स्वरुप, बटरोही, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1973, पृष्ठ संख्या-59
2 .मेरे साक्षात्कार- स्वयं प्रकाश, संपादन- रेणु व्यास, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2015, पृष्ठ संख्या-55-56
3.'कुछ विचार'- प्रेमचंद, डायमंड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2002, पृष्ठ संख्या-8
4 .जनसत्ता- स्वयं प्रकाश,16 अप्रैल 2001, पृष्ठ संख्या-7
5.समकालीन कहानी : परम्परा और परिवर्तन- वीरेन्द्र मोहन , मेंधा बुक्स, संस्करण- 2009, पृष्ठ संख्या- 122
6 .हिंदी कहानी रचना और परिस्थिति- सुरेन्द्र चौधरी, संपादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन,गाजियाबाद, संस्करण- 2009, पृष्ठ संख्या-79-80
7. वही, पृष्ठ संख्या- 140
8.'पार्टीशन'- स्वयं प्रकाश, चर्चित कहानियां- स्वयं प्रकाश, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 2005, पृष्ठ संख्या -42
9.'बेमकान'- स्वयं प्रकाश, पार्टीशन (कहानी संग्रह), रचना प्रकाशन, जयपुर, संस्करण-2002, पृष्ठ संख्या-67
10. 'सूट', इक्यावन कहानियां, स्वयं प्रकाश,समय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2017, पृष्ठ संख्या-71
11.कथालोचना दृश्य-परिदृश्य – प्रधान संपादक- हरिमोहन शर्मा, संयोजक व संपादक- विनोद तिवारी, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण- सितंबर 2016, पृष्ठ संख्या-3
12.मार्मिक और पारदर्शी कहानियों का रचनाकार- कमला प्रसाद, आधारशिला (पत्रिका), अंक- जुलाई 2011, पृष्ठ संख्या-16
13. कानदांव की रचना प्रक्रिया- स्वयं प्रकाश, आधारशिला(पत्रिका), अंक- जुलाई 2011, पृष्ठ संख्या- 9
14.'जंगल का दाह'- स्वयं प्रकाश, मेंरी प्रिय कथाएँ (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, ज्योतिपर्व प्रकाशन,गाजियाबाद, संस्करण-2012, पृष्ठ संख्या- 11
15.'गौरी का गुस्सा'- स्वयं प्रकाश, दस प्रतिनिधि कहानियां(संग्रह)- स्वयं प्रकाश, किताबघर प्रकशन, दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या -118
16. मेरे साक्षात्कार- स्वयं प्रकाश, संपादन- रेणु व्यास, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2015, पृष्ठ संख्या-28

17.वही,पृष्ठ संख्या- 28
18.'गौरी का गुस्सा'- स्वयं प्रकाश, दस प्रतिनिधि कहानियां(संग्रह)- स्वयं प्रकाश, किताबघर प्रकशन, दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या -119
19.'बस'- स्वयं प्रकाश, चर्चित कहानियां (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या- 28
20.'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी'- स्वयं प्रकाश, चर्चित कहानियां (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या- 44
21.'संस्कार'-स्वयं प्रकाश, छोटू उस्ताद (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, किताबघर प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ संख्या- 35
22.'यही सच है, मन्नू भंडारी की श्रेष्ठ कहानियां, मन्नू भंडारी, नेशनल बुक ट्रस्ट,दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-136
23.कहानी की रचना प्रक्रिया, परमानन्द श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012, पृष्ठ संख्या-173
24..'अशोक और रेनु की असली कहानी', इक्यावन कहानियां, स्वयं प्रकाश, समय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2017, पृष्ठ संख्या- 256
25.'संक्रमण,' वही, पृष्ठ संख्या- 174
26.हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली, चौथा छात्र संस्करण-2016, पृष्ठ संख्या-247
27.'कहानी नए सन्दर्भ की खोज', मोहन राकेश, नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति ,संपादक- देवीशंकर अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2013, पृष्ठ संख्या-93
28.'सूरज कब निकलेगा',इक्यावन कहानियां, स्वयं प्रकाश, समय प्रकाशन,दिल्ली,संस्करण-2017, पृष्ठ संख्या-97
29.'सूरज कब निकलेगा'- स्वयं प्रकाश, चर्चित कहानियां (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या- 117
30.नई कहानी की संरचना, हेमलता, वंदना बुक एजेंसी, दिल्ली, संस्करण-2013, पृष्ठ संख्या-43
31.असम्भव के विरुद्ध : कथाकार स्वयं प्रकाश- संपादक –कनक जैन, भूमिका- कनक जैन, अमन प्रकाशन,कानपुर, संस्करण- 2018, पृष्ठ संख्या- 7
32.'रशीद का पाजामा', इक्यावन कहानियां- स्वयं प्रकाश, समय प्रकाशन, संस्करण-2017, पृष्ठ संख्या-132
33.'ज़माना कितना बदल गया'-स्वयं प्रकाश, चर्चित कहानियां- स्वयं प्रकाश,सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या- 46
34.'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी'- स्वयं प्रकाश, इक्यावन कहानियां (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, समय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2017, पृष्ठ संख्या- 326

35.'उल्टा पहाड़', वही, पृष्ठ संख्या-412

36.'एक छोटी-सी लड़ाई', वही, पृष्ठ संख्या- 56

37.'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी'- स्वयं प्रकाश, चर्चित कहानियाँ (कहानी संग्रह)- स्वयं प्रकाश, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या -49

38.'जो हो रहा है', इक्यावन कहानियां – स्वयं प्रकाश,समय प्रकाशन,दिल्ली,संस्करण-2017,पृष्ठ संख्या- 35

39.'परिधि', वही,पृष्ठ संख्या-149

---

*** शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली |**
**ईमेल- sam.gaurav013@gmail.com, संपर्क- 9015326408**

# 'स्वर्णिम भारत के शब्द-साधक पद्मश्री गिरिराज किशोर'

**डॉ. सोमाभाई जी. पटेल ,**

## सारांश :

*वरिष्ठ हिंदी साहित्यकार गिरिराज किशोर आज हमारे बीच नहीं रहे; किंतु अपनी शब्द-साधना ने उन्हें अमरता प्रदान की।मरते दम तक उनकी रूह गांधीवादी विचारधारा की अनुयायी रही। साहित्य की विधाओं में उनका शब्द दस्तावेज़ बन चुका है।उनके सृजन को देश-विदेश की प्रतिभाओं ने सम्मान की दृष्टि से देखा है।गिरिराज के साहित्य में अंतर्निहित दार्शनिकता समाज को स्वर्णिम बनाने में सहायक है। प्रेरक साहित्य-निर्माण से समाज को लाभान्वित करने हेतु भारतभर की विश्वविद्यालयों ने उनके जीवन-दर्शन और साहित्य पर एम० फिल० एवं पीएच०डी० उपाधि हेतु खूब शोध-कार्य करवाया। इतना ही नहीं; विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में उनकी रचनाएँ स्थान पा चुकी हैं। यही तो उनकी साहित्योत्कृष्टि का साक्ष्य है। बहरहाल देखना रहा कि गिरिराज किशोर के साहित्य में ऐसा कौन-सा तत्व है जिसने उन्हें पद्मश्री बना दिया !*

*उन्होंने समकालीन समाज को नखशिख निरूपित किया है। यदि समकालीन अनेक हिंदी कवि हिमगिरि हैं तो किशोर जी गिरिराज हैं। समकालीन साहित्य के सृजन-प्रक्रिया के क्रमश: बदलते परिदृश्य के साक्षात्कार से हमें विविध संदर्भों में मजबूत एवं प्रभावक स्वर मिलते हैं। किशोर जी के साहित्य में सामंतवादी मूल्यों का विरोध और नयी चेतना का उदय अंकित हैं। इन रचनाओं में व्यक्त है कि स्वराज पूर्व ब्रिटिश सत्ता तथा अंग्रेज़ अफसरों के अंध-भक्त जो लोग या वर्ग था, जिनका अस्तित्व स्वतंत्रोन्मुख भारतीय लोगों के मानस के लिए अपना-अपना बिस्तर बांधते अफसरों और अंग्रेजी सत्ता के लिए चाय पीने के बाद फेंके जाने वाले कुल्हड़ों-सी हो गयी थी। गिरिराज किशोर के साहित्य का दूसरा मजबूत स्वर विघटन है। संयुक्त परिवारों में अनेक कारणों से हुए विघटन गिरिराज के उपन्यासों में मिलते हैं।इतना ही नहीं विघटन को कैसे रोका जाएँ; संकेत भी किया है। उनका आशय रहा है कि पृथ्वीलोक पर लगाव स्वर्ग है और अलगाव नरक। यह संदेश किशोर जी कायम करना चाहते हैं। इस अर्थ में उनका साहित्य विशिष्ट उपलब्धि है।*

*गिरिराज का 30 प्रतिशत साहित्य तो राजनीतिक पृष्ठभूमि से सीधे जुड़ा हुआ है। किशोर जी के साहित्य में वर्ग-संघर्ष को विशिष्ट स्थान मिला है। उनके द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था विरोध एवं संघर्ष की भावना जनमानस को मजबूत करने में सहायक सिद्ध है। साथ-साथ सांप्रदायिक सद्भाव फैलाकर उन्होंने देश की गरिमा को बरक़रार किया है। उनकी दृष्टि मानवीय एवं व्यापक संदर्भों के साथ जुड़ी हुई है। समाज की ओर उनका नज़रिया कायम सकारात्मक रहा है। यत्र-तत्र उद्घाटित चरित्रों द्वारा वे नैतिक आदर्श की स्थापना की प्रतिष्ठापना में सफल हैं। लगातार छ: दशक तक उन्होंने मानवीय सरोकारों का स्वर फूंका है। भावी सामाज की रचना करने में एवं आदमी की पहचान बनाने में अपनी संवेदना और अनुभव को गहनता के साथ प्रस्तुत किया है। अत: अनेक प्रश्नों के साथ पूरी व्यवस्था को बेपर्दा करने वाले गिरिराज ने मजबूती के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज की है। वे भले आज नहीं रहे; उनका लेखन साहित्य-जगत में पदचिन्ह है। भारतीय होने के नाते उन्हें याद करना हमारा सच्चा तर्पण होगा !*

**बीज शब्द** – *समकालीन, प्रतिबद्ध, परिदृश्य, मूल्य विघटन, यथार्थ बोध, वर्ग-संघर्ष, विघटन, अस्तित्वबोध, संवेदना, जीवनदृष्टि, समष्टिवाद, समतावाद, प्रयोगधर्मी आदि।*

## भूमिका

प्राणवान साहित्य के धनी, वरिष्ठ हिंदी साहित्यकार गिरिराज किशोर आज हमारे बीच नहीं रहे; किंतु अपनी शब्द-साधना ने उन्हें अमरता प्रदान की। 8 जुलाई, 1937 के रोज़ पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुज़फ्फरनगर के जमींदार परिवार में जन्म होने से लेकर 9 फरवरी, 2020 के रोज़ 83 वर्ष की समस्त जीवन-यात्रा को समेटते हुए वे सही अर्थ में अमरता के शिखर पर पहुँचे। जीवन को मक़ाम पर पहुँचाने में सामंतवादी परिवार और परिवेश ने खुला मैदान दिया। बचपन से ही प्रेमचंद और शरतचंद्र से प्रभावित वे रचनात्मक जीवन में ख़ासकर प्रसाद, शैलेश मटियानी, अमरकान्त से प्रेरित हुए। किंतु मरते दम तक उनकी रूह गांधीवादी विचारधारा की अनुयायी रही।

किशोर जी बहुमूखी प्रतिभा के धनी थे। लेखन ही उनका जीवनोद्देश्य रहा। साहित्य की विधाओं में उनका शब्द दस्तावेज़ बन चुका है। 'लोग', 'चिड़ियाघर', 'यात्राएँ', 'जुगलबन्दी', 'इंद्र सुनें', 'दावेदार', 'तीसरी सत्ता', 'यथा प्रस्तावित', 'दो', 'परिशिष्ट', 'असलाह', 'अंतर्ध्वंस', 'ढाई घर', 'यातनाघर', 'पहला गिरमिटिया', 'बा' (कस्तूरबा पर पहला उपन्यास) अलग-अलग क्षेत्र को रूपायित करने वाले उपन्यास हैं। 'नीम के फूल', 'चार मोती बेआब', 'पेपरवेट', रिश्ता और अन्य कहानियाँ', शहर दर शहर', 'हम प्यार कर लें', 'जगत्तारनी एवं अन्य कहानियाँ', 'गाना बड़े गुलाम अली खाँ का', 'वल्दरोजी', 'यह देह किसकी है', 'आंद्रे की प्रेमिका तथा अन्य कहानियाँ', 'हमारे मालिक सबके मालिक', 'दुश्मन और दुश्मन' (समग्र कहानियाँ पाँच खंडों में), 'मेरी राजनीतिक कहानियाँ' आदि संकलनों में स्थित डेढ़ सौ से ज्यादा कहानियाँ उन्होंने निर्मित की हैं। 'घास और घोड़ा', 'नरमेघ', 'प्रजा ही रहने दो', 'चेहरे चेहरे किसके चेहरे', 'केवल मेरा नाम लो', 'जुर्म आयद', 'काठ की तोप', 'गांधी को फाँसी दो', 'मोहन का दुख', बादशाह-गुलाम-बेगम' (एकांकी-संग्रह) आदि नाट्य-साहित्य का प्रणयन किया तो 'संवाद सेतु', 'लिखने का तर्क', 'कथ-अकथ', 'सरोकार', 'एक जन भाषा की त्रासदी', 'सप्तपर्णी' जैसे निबंध-आलोचना-संस्मरण ग्रंथ पदचिन्ह हैं। बाल-साहित्यकार के रूप में भी वे ख्यात हैं। बड़ी बात यह कि उनकी 60-70 प्रतिशत रचनाएँ अनेक भारतीय और जर्मन-फ्रेंच जैसी विदेशी भाषाओं में अनूदित हुई हैं। उनके सृजन को देश-विदेश की प्रतिभाओं ने सम्मान की दृष्टि से देखा है। महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीकी अनुभव पर आधारित महाकाव्यात्मक उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' ने उन्हें न केवल हिन्दी या भारतीय भाषा; बल्कि विश्व भाषा-साहित्य क्षेत्र में विशिष्ट पहचान दिलायी। यह कृति मराठी, गुजराती, उड़िया, अंग्रेजी, कन्नड़ आदि भाषाओं में अनूदित हुई है। उनके द्वारा रचित और अन्य भाषा में अनूदित रचना को भी सम्मानित किया गया है। समाजोपयोगी रचनाकर्म को 'पद्मश्री', 'व्यास सम्मान', 'साहित्य भूषण', 'शतदल सम्मान', 'साहित्य अकादेमी', 'गाँधी सम्मान', 'वासुदेव सिंह स्वर्ण पदक', 'भारतेन्दु पुरस्कार', विरसिंह देव पुरस्कार', 'जनवाणी सम्मान' जैसे अनेकविध पुरस्कारों से नवाजा गया है। छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर द्वारा वे डी०लिट० की उपाधि से सम्मानित हुए हैं। अत: निर्विवाद गिरिराज किशोर हिन्दी साहित्याकाश का जगमगाता सितारा हैं। स्वभावत: "सत्य के आकांक्षी, अन्याय के विरुद्ध बेचैन, भविष्य के प्रति आस्थावान, संघर्षशील,

लेखन को ही अपना जीवन मानने वाले, यथार्थवादी एवं बहुमुखी साहित्यकार गिरिराज किशोर का व्यक्तित्व समग्र हिन्दी प्रेमियों के लिये प्रेरणादायी है।"[1]

गिरिराज के साहित्य में अंतर्निहित दार्शनिकता समाज को स्वर्णिम बनाने में सहायक है। प्रेरक साहित्य-निर्माण से समाज को लाभान्वित करने हेतु भारतभर की विश्वविद्यालयों ने उनके जीवन-दर्शन और साहित्य पर एम॰ फिल॰ एवं पीएच॰डी॰ उपाधि हेतु खूब शोध-कार्य करवाया। इतना ही नहीं; विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में उनकी रचनाएँ स्थान पा चुकी हैं। यही तो उनकी साहित्योत्कृष्टि का साक्ष्य है। बहरहाल देखना रहा कि गिरिराज किशोर के साहित्य में ऐसा कौन-सा तत्व है जिसने उन्हें पद्मश्री बना दिया !

सशक्त साहित्य लिखने के पीछे उनकी प्रकृति का हाथ अवश्य है। एक तो सृजनात्मता के लिए जन्म से ही मुज्जफ़रनगर जैसी साहित्यिक और सांस्कृतिक भूमि विरासत में मिली। दूसरा, वे स्वभाव से ही घुमक्कड़, संवेदनशील, निडर, स्पष्टवक्ता, मानव धर्म के पक्षधर, राष्ट्र एवं प्रकृति-प्रेमी और प्रतिबद्ध रहे हैं। दक़ियानूसी विचारों से हटकर वे प्रगतिशील लेखक हैं। उनका जीवन-यापन अनेक पड़ावों से गुज़रा है और हर कदम हुए अनुभव को उन्होंने साहित्य रूपी कैमरे में क्लिक किया है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक जीवन का गहरा निरूपण, विश्लेषण एवं उनका भारतीय संदर्भ में विवेचन साहित्यिक कृति के स्तर पर उच्च कोटि के दस्तावेज़ हैं।

समकालीन हिंदी साहित्यकारों में गिरिराज किशोर पहली पंक्ति के रचनाकार हैं। उन्होंने समकालीन समाज को नखशिख निरूपित किया है। यदि समकालीन अनेक हिंदी कवि हिमगिरि हैं तो किशोर जी गिरिराज हैं। समकालीन साहित्य का सीधा किन्तु व्यापक मतलब उस साहित्य से है जिसका कथ्य-कथन कुछ ऐसा हो जैसा वर्तमान में, यथार्थ में, जिया जा रहा हो, भविष्य में भी जिसे कुछ तो जिया जा सके और जो अतीत में, या अतीत होकर भी, कुछ तो नष्ट न हो सके। समकालीन साहित्य के सृजन-प्रक्रिया के क्रमश: बदलते परिदृश्य के साक्षात्कार से हमें विविध संदर्भों में मजबूत एवं प्रभावक स्वर मिलते हैं। समकालीन हिंदी साहित्य का परिदृश्य देखते हैं तो पता चलता है कि इसमें सामाजिक-धार्मिक-राजनैतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक सरोकार व्यक्त हैं। किशोर जी की कथ्य-चेतना अनेक आयामों को लेकर उजागर हुई है। भ्रष्ट सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का विरोध समकालीन साहित्य का प्रमुख विषय रहा है। इसी बलबूते स्वार्थपरकता, मूल्यहीनता, सत्तालोलुपता जैसी अनेक बुराइयाँ फैली हुई हैं। आस्थावादी और संघर्ष में विश्वास रखने वाले किशोर जी ने साहित्य द्वारा जनमानस को उसके खिलाफ संघर्ष करने की ओर प्रेरित किया है। "ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक दायित्व बोध का विजन उनके पास पहले से ही सुरक्षित होने से वह मासिज को काल से खंड करके देख ही नहीं सकते थे। ये स्थितियाँ चाहे राजनीतिक हों या पारिवारिक, उनकी दृष्टि राजनीति और समाज दोनों के परिवर्तनशील बोध में देखी जा सकती हैं।"[2]

किशोर जी के साहित्य में सामंतवादी मूल्यों का विरोध और नयी चेतना का उदय अंकित हैं। जिन आदर्शों, मूल्यों की स्थापना आज़ादी से पहले रही उन्हीं आदर्शों-मूल्यों का विघटन आज़ादी के बाद तेजी से होने लगा। सत्ताधारियों की नज़रें अपने स्वार्थ पर केन्द्रित हो गई। इससे कई विसंगतियाँ पैदा हो गई। समयान्तर भारतीय जन-जीवन, परिवेश, संस्कृति का आजादी से पूर्व रहा, उसमें त्वरित गति से परिवर्तन आया और सामाजिक विकास की

दिशाएँ खुलीं। प्रजातन्त्र आने और जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के साथ सामंतवादी मूल्य समाप्त हो गये। किशोर जी की तमाम विधाओं में समकालीन यथार्थ बोध निरूपित हुआ है और अनेक विसंगतियों पर पर्दाफाश कर उनसे बाहर निकलने के लिए गुरुचाभी भी दी है। यहाँ प्रस्तुति की मर्यादा को ध्यान में रखकर प्रतीक स्वरूप उनके कथासाहित्य; उपन्यास की चर्चा होगी। 'लोग', जुगलबंदी', ढ़ाई घर' उपन्यास संपूर्णत: जमींदारी उन्मूलन विषय पर आधारित हैं। इन रचनाओं में व्यक्त है कि स्वराज पूर्व ब्रिटिश सत्ता तथा अंग्रेज़ अफसरों के अंध-भक्त जो लोग या वर्ग था, जिनका अस्तित्व स्वतंत्रोन्मुख भारतीय लोगों के मानस के लिए अपना-अपना बिस्तर बांधते अफसरों और अंग्रेजी सत्ता के लिए चाय पीने के बाद फेंके जाने वाले कुल्हड़ों-सी हो गयी थी। रायसाहब कहते हैं, "गंगा बाबू, आप चीफ जस्टिस रह चुके हैं, मैं बहुत साधारण आदमी हूँ लेकिन इतना समझता हूँ सिक्का बादल गया। हमें अपनी-अपनी दूकान समेट लेनी चाहिए।"[3] 'जुगलबंदी' का प्रारम्भ ही सामंतवाद के दरकने के संकेत से होता है। एकाएक रस्सी का टूटना और झाड़ के टूटकर गिर और बिखर जाने से संकेत मिलता है कि जमीदारी प्रथा भी टूट रही है। 'ढ़ाई घर' में भी जमीदारी उन्मूलन पर जमींदारों की संवेदना व्यक्त की है। 'यथा प्रस्तावित' यथास्थितिवाद के विरोध में परिवर्तन का हिमायती है, जबकि 'पहला गिरमिटिया' दक्षिण अफ्रीका में कुली के रूप में भेजे गए भारतीयों की दुर्दशा के निरूपण के साथ-साथ अंग्रेज़ सत्ता को उखाड़ फेंकने का इतिहास ग्रंथ है। यहाँ महत्वपूर्ण समय का निरूपण है। ये उपन्यास अंग्रेज़परस्ती और शानसौकत की टूटन के दस्तावेज़ हैं। किशोर जी का परिवार मूलत: सामंतवादी है। अत: उन्होंने भोगे हुए जीवनानुभाव को बड़ी शिद्दत के साथ निरूपित किया है और समाज को गुलामी, घुटन, अत्याचार, शोषण से उगार कर स्वस्थ समाज स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है।

गिरिराज किशोर के साहित्य का दूसरा मजबूत स्वर विघटन है। वर्तमान औद्योगिक विकास ने संयुक्त परिवार को बादल दिया है। एक तरफ गांवों से नगरों की ओर भागने की प्रवृत्ति ने, दूसरी तरफ पुरानी एवं नयी पीढ़ियों के बीच संघर्ष के कारण संयुक्त प्रणाली में विघटन आने लगा। आर्थिक विषमता, प्राचीन मान्यताएँ, स्वार्थपरता, वैचारिक भिन्नता, स्वच्छंद जीवनयापन और अन्य अनेक कारणों से एकाकी परिवार को प्रोत्साहन मिला। हरिराय के परिवार में सोना के लिए जेवर बने तो सारंगा भड़क उठी। "मेरे और मेरे बेटे के लिए इस घर में कोई जगह नहीं। मैं तो बाँदी ही हूँ, मेरा बेटा भी जिन्दगी भर इन सब की तावेदारी करेगा। मेरे बच्चे को नौकरों की तरह कुर्ता-पाजामा और रघुवर को राजकुमारों की तरह सूट-बूट। अपनी बेटी को सोने के जेवर, मुझे बामनियों की तरह धोती। मैं नौकरानी बनकर नहीं रहूँगी। लोगों के बर्तन माँझ लूँगी पर इन हालतों इस घर की बहूँ होने का नाम नहीं धराऊंगी।"[4] संयुक्त परिवारों में अनेक कारणों से हुए विघटन गिरिराज के उपन्यासों में मिलते हैं। 'ढ़ाई घर' के कृष्णराय की बच्चे पैदा करने की असमर्थता भी दाम्पत्य-जीवन में विघटन करती है। 'तीसरी सत्ता' की नायिका डॉ० रमा जो स्वचेता और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने पर भी अपने पति की शंकित दृष्टि एवं दुर्व्यवहार से तंग आ जाती है और अलग रहने का निर्णय करती है। कहीं पति की लापरवाही तो 'दो' की नीमा जैसी स्त्रियाँ पति की आक्रामकता और पाशविकता से ऊब कर अलग हो जाती हैं। 'अंतर्ध्वंस' का दीपक पचौरी आर्थिक पक्ष को लेकर अमेरिका की प्रयोगशाला में बिक जाता है और पत्नी और परिवार से दूर हो जाता है। गिरिराज किशोर ने अपने तमाम उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को अंकित किया है। इतना ही नहीं विघटन को कैसे रोका जाएँ; संकेत भी

किया है। उनका आशय रहा है कि पृथ्वीलोक पर लगाव स्वर्ग है और अलगाव नरक। यह संदेश किशोर जी कायम करना चाहते हैं। इस अर्थ में उनका साहित्य विशिष्ट उपलब्धि है।

गिरिराज के प्रत्येक उपन्यास में 'भ्रष्ट राजनीति और भ्रष्टाचार' प्रश्न उठा है। 30 प्रतिशत साहित्य तो राजनीतिक पृष्ठभूमि से सीधे जुड़े हुए हैं। 'लोग' में जाहिर है कि लोग मौका पाकर अपने मन कि मुराद पूरी करते हैं। रायसाहब यशवंत राय का बेटा अपने पिता कि विजय के लिए शराब से लेकर वेश्यावृत्ति तक का सहारा लेता है। 'ढ़ाई घर' का भास्कर स्कूल में रामदीन के बेटे को चाकू मार देता है तो बड़े राय कि सिर्फ चिट्ठी से मामला छूमंतर हो जाता है। 'चिड़ियाघर' में इम्प्लॉइमेंट एक्चेंज के दफ्तर में काम दिलाने के नाम पर जितनी लूट-खसोट, छीना-झपटी, रिश्वतख़ोरी और बेईमानी होती है, उसका ज्यों-का-त्यों दृश्य उपस्थित कर दिया है। स्वयं लेखक ने बताया है, "पूरा एम्प्लायमेंट एक्सचेंज क्या है – अच्छा खासा चिड़ियाघर है – बिलकुल आज के हिंदुस्तान कि तरह। नौकरी दिलाने वालों की मेजों के सामने नौकरी तलाश करने वालों की कतारें खड़ी हैं- आशा और याचना से भरी आँखें लिए।"[5] इस संदर्भ में बलराज सिंहमार ने सच कहा है, "नयी पीढ़ी के कथाकारों में गिरिराज किशोर का नाम काफी चर्चित रहा है। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के कार्यालयों की वास्तविक स्थिति, दफ्तरों में जड़ जमाए हुए भ्रष्टाचार, बेकारी, बिरोजगारी, घूसख़ोरी की समस्या का चित्रण किया है।... स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्यक्ति के जीवन में अनेक नयी समस्याएँ उभरकर आयी हैं। दफ्तर दफ्तर न रहकर चिड़ियाघर बने हुए हैं।"[6] भ्रष्टाचार अमरबेल की तरह फैला हुआ है। 'परिशिष्ट' उपन्यास में अनुकूल की पढ़ाई के लिए सिफ़ारिश करनी पड़ती है। चौधरी साहब के घर सिफारिशखोरों की कतार लगी हुई है। सच पूछो तो मिनिस्टर हो या संसद-सदस्य, इनके यहाँ दो ही भाषाएँ चलती हैं- नोट की या वोट की। 'यथा प्रस्तावित' और 'यातनाघर' में अपने भोगे हुए नारकीय अनुभव को गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। "आज के शिक्षण संस्थान भ्रष्टाचार, घिनौनी राजनीति, आंतरिक कलह, अहम के टकराव, पश्चिमी जीवन की फूहड़ नकल आदि व्याधियों से ग्रस्त हैं और किसी भी ईमानदार आदमी के लिए यातनाघर से कम नहीं है।"[7]

गिरिराज की राष्ट्रीय चेतना का अच्छा रंग 'ढ़ाई घर' में दिखता है। अली हसनैन जब पाकिस्तान जा रहे थे तब बड़े राय उन्हें जाने से मना कर रहे थे। तब गांधी जी के विचार द्वारा अली हसनैन ने राष्ट्र के प्रति लगाव का बोध कराया। "मुल्क भले ही बंट गया हो पर हिंदुस्तान सबका है।"[8] 'इंद्र सुनें' में मृत्युलोक के लोग देवलोक में प्रविष्ट होते हैं। उन्हें भरमाया गया था कि देवलोक और मृत्युलोक एक हो जाएँगे। पर बाद में पता चला कि राजनीति में ही धूर्तता है। मृत्युलोक वाले सफल न हुए तो उनकी चिल्लाहट में राष्ट्र-प्रेम झलकता है। "देश हमारा है, धरती हमारी है। जो लोग हमारी धरती पर अधिकार जमाकर, हमें विदेशी बना देना चाहते हैं उन्हें वहाँ से जाना होगा। धरती हमारी है तो उस पर बना देवलोक भी हमारा है।"[9] 'परिशिष्ट' की नीलम्मा में भी राष्ट्रभावना भरी पड़ी है। 'अंतर्ध्वंस' बिलकुल राष्ट्र चेतना का द्योतक है। दीपक पचौरी अमरीका का ग्रीन कार्ड तो प्राप्त करता है लेकिन वह भीतर से भारतीय है।

किशोर जी के साहित्य में वर्ग-संघर्ष को विशिष्ट स्थान मिला है। उनके द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था विरोध एवं संघर्ष की भावना जनमानस को मजबूत करने में सहायक सिद्ध है। साथ-साथ सांप्रदायिक सद्भाव फैलाकर उन्होंने देश की गरिमा को बरक़रार किया है। उनकी दृष्टि मानवीय एवं व्यापक संदर्भों के साथ जुड़ी हुई है। समाज की ओर उनका

नज़रिया कायम सकारात्मक रहा है। यत्र-तत्र उद्घाटित चरित्रों द्वारा वे नैतिक आदर्श की स्थापना की प्रतिष्ठापना में सफल हैं। उसी व्यक्ति का जीवन महान है जो मृत्युलोक के प्रत्येक प्राणी को समता से देखें। किशोर जी स्वभाव से ही समष्टिवादी, समतावादी और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति रखने वाले हैं। उनके हृदय में मानवेत्तर प्राणियों के प्रति भी सहानुभूति रही है। सच उनके विमर्श में पूरी समाज-व्यवस्था शामिल है।

गिरिराज न सिर्फ कथ्य बल्कि शिल्प की दृष्टि से भी प्रयोगधर्मी रहे हैं। "वे निरंतर विषयवस्तु भाषा संवेदना के स्तर पर नये-नये प्रयोग करते रहे हैं। ऐसे प्रयोग नहीं जो अपरिपक्व हों बल्कि ऐसे जो संवेदना और अनुभूति को समृद्ध करते हैं।"[10] उनके उपन्यासों में सामंती परिवेश यथार्थ बन पड़ा है। मेरठ, मुज्जफ़रनगर आदि पश्चिमी जिलों में बोली जानेवाली खड़ीबोली प्रयोग से अभिव्यक्ति सहज बन पड़ी है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के वक्त का भारतीय सामंतों का परिचाय देनेवाले उपन्यासों में तत्कालीन अंग्रेजी-शासन का असर भाषा में भी दिखाई देता है। अंग्रेजों के पैरों तले फल-फूल रहे भारतीयों की भाषा में भी अंग्रेजीपन दिखाई देता है। किशोर के साहित्य में परिवेशानुरूप अंग्रेजी शब्द ही नहीं, कहीं-कहीं पूरे वाक्य अंग्रेजी भाषा में हैं। 'दुकान समेत लेनी चाहिए', 'सिक्का बादल गया' जैसे प्रतीकों से रोचकता-प्रभविष्णुता निखरी हैं। 'दावेदार' तथा 'इंद्र सुनें' उपन्यास के रूप में फंतासी हैं; अत: वहाँ उपमान थोड़े दुरूह हैं। जीवन की जटिल से जटिल गुत्थियों को कम से कम शब्दों में सूक्ष्म स्तरों पर प्रस्तुत करने के लिए इन उपमानों से काम लिया है। पात्रानुकूलता सहज है, "जहाँ मूरत को देखित है तो चौकित हैं। जरूर धन्ना सेठन का दलाल हुई। वे तो भैया हैं जो इन सब साँपन को संभाले हैं। एक बार छूटे तो रामहि मालिक।"[11]

गिरिराज की प्रस्तुति में शिल्प के नए आयाम उभरे हैं। "छोटी-छोटी अनुभूतियों को बिम्बों-विजुअल्स और बिंबों की भाषा की सांकेतिकता में व्यक्त करने की शैली शायद अकेले गिरिराज के पास है। छाया और प्रकाश के हर कोण को जीवंत कैमरे से देखने की कला गिरिराज ने बेहद खूबसूरत और प्रभावशाली प्रयोग किया है। वस्तुओं और अनुभूतियों के आपसी सम्बन्धों की सूक्ष्मता को गिरिराज की तरह पकड़ सकना सबके लिए संभव नहीं है।"[12] गिरिराज ने आत्मकथात्मक, सूत्रात्मक, व्यंग्य जैसी सामान्य शैलियों के अलावा डायरी, पत्रात्मक, पूर्वाभास, भाषण, मिथक का प्रयोग बखूबी किया है। कथाप्रस्तुति की बहुस्तरीयता उनके उपन्यासों में मिलती है। किस्सागोई सामंतवादी उपन्यासों में मिलती है। क्योंकि तीन पीढ़ियों के निरूपण द्वारा लेखक को जो कहना है उसके लिए ऐसी तकनीक का प्रयोग उचित है। 'परिशिष्ट' शैली-प्रयुक्ति के कारण उपन्यास-जगत में विशिष्ट है। कथा 12 खंडों में प्रवाहित है और अंत में परिशिष्ट देकर अलग रूप से निष्कर्ष देने का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। राजेंद्र यादव के शब्दों में "समाज के एक पूरे वर्ग को हमने मूल पाठ से काटकर 'परिशिष्ट' ही तो बना डाला है। हाँ, क्या यह जरूरी है कि 'परिशिष्ट' नाम के कारण ही बाद में बकायदा एक 'परिशिष्ट' भी लगा ही दिया जाए ? जो बात तुमने इस 'संलग्नक' के माध्यम से की है, वह पूरे उपन्यास में उजागर है।"[13] 'यथा प्रस्तावित', 'अंतर्ध्वंस' का मोटा भाग पत्रात्मक में प्रस्तुत है, जो मनोभूमि की प्रस्तुति के लिए उपयुक्त है। 'दावेदार' पूरा का पूरा मिथक है। 'दो' फ्लैश बैक को लेकर सिद्ध है। बाकी तमाम शैलियाँ भरे-पुरेपन के साथ उनके उपन्यासों में प्रयुक्त हैं।

**निष्कर्ष**

समग्रत: गिरिराज का जीवन और विचार-दर्शन भारतीय जन-जीवन पर ही नहीं बल्कि विश्व की सभ्यता और संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाल चुका है। उनके साहित्य में संवेदना उद्वेलन का सामर्थ्य दिखता है। उन्होंने आज की जिंदगी को संपूर्ण रूप में फैलाव और वैविध्य के साथ रेखांकित किया है। उनमें विषयों की वैविध्यता, विचारों की निर्भयता एवं अभिव्यक्ति की सक्षमता का त्रिवेणी हुआ है। लगातार छ: दशक तक उन्होंने मानवीय सरोकारों का स्वर फूंका है। भावी सामाज की रचना करने में एवं आदमी की पहचान बनाने में अपनी संवेदना और अनुभव को गहनता के साथ प्रस्तुत किया है। अत: अनेक प्रश्नों के साथ पूरी व्यवस्था को बेपर्दा करने वाले गिरिराज ने मजबूती के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज की है। वे भले आज नहीं रहे; उनका लेखन साहित्य-जगत में पदचिन्ह है। भारतीय होने के नाते उन्हें याद करना हमारा सच्चा तर्पण होगा !

**संदर्भ**

1. डॉ॰ सुरेश चांगदेव सालुंके, गिरिराज किशोर के उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, पृ॰ 32
2. परिशोध – मार्च 1986, अंक-1, पृ॰ 57
3. गिरिराज किशोर, लोग, पृ॰ 178
4. गिरिराज किशोर, ढ़ाई घर, पृ॰ 365
5. गिरिराज किशोर, चिड़ियाघर, पृ॰ फ्लेप से
6. बलराज सिंहमार, मानवमूल्य और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ॰ 375
7. गोपालराय, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 300
8. गिरिराज किशोर, ढ़ाई घर, पृ॰ 313
9. गिरिराज किशोर, इंद्र सुनें, पृ॰ 135
10. गिरिराज किशोर, अंतर्ध्वंस, पृ॰ फ्लैप से
11. गिरिराज किशोर, तीसरी सत्ता, पृ॰ 219-220
12. राजेन्द्र यादव, अठारह उपन्यास, पृ॰ 177
13. राजेन्द्र यादव, उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, पृ॰ 108-109

---

***असिस्टंट प्रोफ़ेसर,**
**नीमा गर्ल्स आर्ट्स कोलेज – गोझारिया,**
**चलभाष-९४२९२२६०३७,**
**Somtraswadi77@gmail.com**

# हिन्दी ग़ज़ल में फ़िक्र और ज़िक्र

-डा. जियाउर रहमान जाफरी*

अगर आप पिछले दस वर्षों के काव्य साहित्य का इमानदारी पूर्वक अध्ययन करें, तो यह निष्कर्ष स्वतः निकाला जा सकता है कि हिंदी कविता के पाठक जहां घटे हैं, वहीं गजल पर पाठकीय प्रतिक्रिया अधिक आई है. कभी उर्दू में कविता का मतलब ही ग़ज़ल समझा जाता था. हिंदी की स्थिति भी कमोबेश ऐसी ही है. गजल को छोड़कर कविता का पाठक उस रूप में नजर नहीं आता. गजल पाठकों की संवेदना और उसकी समझ दोनों के नजदीक है.आलोचक जो भी कहते रहें साधारण पाठक यह मानकर चलता है कि कविता और कहानी में कुछ न कुछ तो अंतर होना ही चाहिए. ग़ज़ल उस तकाज़े पर खरी उतरती है. छंद को कविता की आत्मा मानने का एक अर्थ यह भी है कि गद्य और पद्य दोनों की शैली अलग है.

हिंदी ग़ज़ल की स्थिति और बेहतर होती अगर वह अभिमान, आत्म प्रशंसा, अहंकार और गुट बंदे का शिकार न हो गई होती. हिंदी का हर दो में से एक ग़ज़ल कार अपने को श्रेष्ठ और दूसरे की ग़ज़लों का अवमूल्यन करने में लगा हुआ है. ग़ज़ल के विशेषांक आ रहे हैं, लेकिन ये भी जबरदस्त भेदभाव और किलाबंदी का शिकार है. उसके विशेषांक में कई महत्वपूर्ण गज़लगो छोड़े जा रहे हैं, और जिन्हें ग़ज़ल का अता पता भी नहीं है वह जुगाड़ टेक्नोलॉजी से शामिल हो रहे हैं. हिंदी के किसी बड़े दो ग़ज़लकार के बीच संवाद नहीं है, यह स्थिति जो ग़ज़ल की है वह कविता की किसी धारा छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, या अन्य वाद में भी कभी नहीं देखी गई. फिर भी हिंदी की ग़ज़ल विकास पर गामज़न है उसकी वजह है कि हिंदी में वाकई अच्छी ग़ज़लें लिखी जा रही हैं. ग़ज़ल का स्वरूप और तकनीक को समझने की कोशिश की जा रही है. उसके मुहावरे और मिजाज को महसूस किया जा रहा है. कुछ लोग हिंदी ग़ज़ल का मतलब हिंदी शब्दों की ग़ज़ल समझ रहे हैं. इस पूर्वाग्रह के कारण उनके एक शेर भी अच्छी नहीं बन रहे हैं. इस सच्चाई से भी इंकार नहीं है कि दुष्यंत की ग़ज़लें हिंदी ग़ज़ल की भाषा को समझने के लिए काफी है. दुष्यंत अपनी आक्रामकता में भी अपने ग़ज़लों का लहजा नहीं बदलते. भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि दुष्यंत बेलौस चोट करने वाला आदमी था.1 असल में दुष्यंत गजल में इसलिए आए कि उन्हें महसूस हुआ कि ग़ज़ल के माध्यम से वह अपने आप को बेहतर ढंग से व्यक्त कर सकते हैं. इसलिए उन्होंने अपनी ग़ज़लों की घोषणा पत्र भी जारी की और कहा सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं

मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए2

उन्हें पता था कि वतन के जो हालात हैं उस मसले का हल खामोशी से होने वाला नहीं है इसलिए उन्होंने फिर वह बात दोहराई जो एक बार कह चुके थे-

पक गई है आदतें बातों से सर होगी नहीं
कोई हंगामा करो ऐसे गुज़र होगी नहीं 3

हंगामा करने का जो नतीजा निकलेगा वह उन्हें पता था लेकिन वो ऐसे दिये नहीं थे जो हवाओं से बुझ सकते थे, इसलिए उन पर जब भी प्रहार हुआ उन्होंने दोहरी ताकत लगा कर फिर से कहा..

एक बार ऊपर गया जब से
और ज्यादा वजन उठाता हूं4

ऐसा नहीं है कि उनका यह रूप इकाइक ग़ज़ल में आ गया था, वह अपनी कविताओं में भी इस बेचैनी का इजहार कर चुके थे और ऐसी तमाम समस्याओं के सामने मजबूती के साथ खड़े थे..
अब मेरे कोमल व्यक्तित्व को
पहाड़ों ने कड़ा कर दिया है5

जाहिर है दुष्यंत की शायरी उस दौर की शायरी से अलग थी जो साकी, पैमाना, मैखाना के आगे नहीं बढ़ सकी थी-
दूर से आए थे साकी सुन के मैखाने को हम
बस तरसते ही चले अफसोस पैमाने को हम6
- नजीर अकबराबादी

यह अलग बात है कि उस समय भी फैज अहमद फैज और इंशा जैसे शायर अपने ग़ज़लों को जन समस्याओं की तरफ जोड़ चुके थे—
यह जो महंत बैठे हैं राधा के कुंड पर
अवतार बनके बैठे हैं परियों के झुंड पर7
-इंशा

तुम्हारी याद के जब जख्म भरने लगते हैं
किसी बहाने तुम्हें याद करने लगते हैं8
फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

हिंदी में ग़ज़ल खुसरो, कबीर, भारतेंदु, निराला, त्रिलोचन, शमशेर से होते हुए दुष्यंत तक पहुंचती है.इस तरह हिंदी गजल अपना सफर तो तय करती है लेकिन उसकी फिक्र राज दरबारों और जमींदारों से आगे नहीं बढ़ पाती. रीतिकालीन साहित्य का उस पर जबरदस्त प्रभाव दिखलाई देता है. जहां यह या तो प्रणय निवेदन करती है या अपने आका की खुशामद में लगी रहती है. कुछ शेर देखने योग्य है-

दाग दिल पर यह रहेगा कि तेरे कूचे तक
थी रसा की ना रसाई मेरा जी जानता है9
भारतेंदु हरिश्चंद्र

क्या कहूं बात आंखों की इन्हें पर्दा नहीं आता

कहीं कुछ वेदना देखी के आंसू बह निकलता है
**त्रिलोचन**

लेकिन यह गजल जैसे ही हिंदी के समकालीन गजल कारों तक पहुंची उन्होंने अपनी फिक्र बदल ली उन्हें लगा दुनिया सिर्फ स्त्री से गप्पें लड़ाने का नाम नहीं है बल्कि इस जमाने में मोहब्बत के सिवा और भी गम हैं. हिंदी की प्रगतिवादी साहित्य की तरह ग़ज़ल रोजमर्रा की जरूरतों और जनसमस्याओं तक पहुंची, जहां आना इसके पहले मुमकिन न हो सका था. हिंदी ग़ज़ल की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने समाज को अपना वर्ण्य विषय बनाया, और उससे पलायन कर शायरी नहीं की. कुछ शेर देखने योग्य हैं -

समय ने जब भी अंधेरों से दोस्ती की है
जला के अपना ही घर हमने रोशनी की है
नीरज

अरे दोस्त जिंदगी से ना इतना निराश हो
झूठी भी है नदी तो समझ रास्ता हुआ
सूर्य भानु गुप्त

मुझको देखा तो शैतान चिल्ला उठा
आदमी आदमी बाप रे आदमी
निरंकार देव सेवक

यह हमको नचाता है इशारों पर रात दिन
यारों हमारा पेट मदारी की तरह है
कुंवर बेचैन

गजल महल से निकलकर गांव तक गई. उसमें किसानों की फिक्र और दुनियादारी आई व्यवस्था के प्रति रोष उत्पन्न हुआ देखें कुछ शेर..

दिन निकलते ही रात के सपने
दाल रोटी में डूब जाते हैं
भवानी शंकर

मजूरी को गया होरी शहर में
उसी की बाट धनिया जोहती है
रामचरण राग
सोचता हूं मैं कि अच्छे वो ज़माने थे बहुत
गांव की चौपाल पर जब नाच गाने थे बहुत

मधुरेश

चाय बिस्कुट से नहीं करते बिदा
गांव में है मेजबानी आज भी
डॉ भावना

हिंदी ग़ज़ल के इस चिंतन का प्रभाव उर्दू शायरी में भी दिखलाई पड़ी और वह शेर जो शराब और शबाब को अपना विषय बना रहे थे वह भी जनता की जरूरतों और रोजमर्रा की तकलीफों से जुड़ गई

जिंदगी तू कब तलक दर-दर फिराएगी हमें
टूटा फूटा ही सही घर बार होना चाहिए
मुनव्वर राना

कोई बचने का नहीं सब का पता जानती है
किस तरफ आग लगाना है हवा जानती है
मंजर भोपाली
पलट कर फिर नहीं आ पाएंगे हम
वह देखे तो हमें आजाद करके
परवीन शाकिर
अपने होने का हम इस तरह पता देते थे
राख मुट्ठी में उठाते थे उड़ा देते थे
राहत इंदौरी
कोई किसी की तरफ है कोई किसी की तरफ
कहां है शहर में अब कोई आदमी की तरफ
निदा फ़ाज़ली

ऐसे ही बदले हुए हालात का वर्णन हिंदी गजल आरंभ से करती आई है. गांव समाज और देश की जैसी भी स्थितियां हो हिंदी गजल उसे पूरी ताकत के साथ उठाती है. यही कारण है कि समाज के हर तबके को लगता है कि हिंदी ग़ज़ल में उसी की बात उठाई गई है. उसकी अपनी संवेदना भी इस ग़ज़ल के साथ जुड़ जाती है. कुछ शेर देखे जा सकते हैं.

ये थकी भेड़ें कहां तक जाएंगी
गांव की सड़कें अभी भी गर्म है
अनिरुद्ध सिन्हा

उडी पुरखों की वो पगड़ी हवा में खानदानी भी

था खाली पेट पहले ही गई खेती किसानी भी
विनय मिश्र

रहज़नों की बस्ती में नेकियाँ नहीं मिलती
प्यार और शराफत की बोलियां नहीं मिलती
विकास

एक ज़रा सी दुनिया घर की
लेकिन चीज़ें दुनिया भर की
विज्ञान व्रत

ये कैसा दौर है जादूगरी का
मदारी को जमूरे बेचते हैं
ज़हीर कुरैशी

हम देखते हैं कि हिन्दी ग़ज़ल जब राजघराने को छोड़कर अपने ग़रीबखाने की तरफ लौटती है, तो उसका असर दूसरी भाषाओं की ग़ज़लों पर भी होता है, और वो ग़ज़लें भी अब इश्क़ मुश्क के चक्कर में सिर्फ नहीं पड़ती, बल्कि हालात के मुताबिक अपनेआप को ढाल लेती है.कुछ शेर मुलाहिजा हो..

मैं अपने आप को इतना समेट सकता हूं
कहीं भी क़ब्र बना दो मैं लेट सकता हूं
मुनव्वर राना

उनसे कह दो हमें खामोश ही रहने दें वसीम
लब पे आएगी तो हर बात गिरां गुज़रेगी
वसीम बरेलवी

मेरे बढ़ने से जल गए हो तुम
दोस्त कितने बदल गये हो तुम
उर्मिलेश

ये बनाया जायेगा अब देवताओं का नगर
और मारे जायेंगे वो लोग जो इंसान हैं 10
महेश्वर तिवारी
लौट आती है मेरे पास मेरी आवाज़े

बंद कमरे भी कई बार सज़ा देते हैं11
ज्ञानप्रकाश विवेक

कहना न होगा कि कविता की खूबसूरती का प्रश्न ग़ज़ल पर आकर हल होता है. हिन्दी ग़ज़ल के पास आज शायर भी है और उनके अपने आलोचक भी. ये अलग बात है कि हिन्दी कविता के आलोचक को ग़ज़ल वाली विधा पच नहीं रही है, पर वो ग़ज़ल से हटकर अपनी बात भी पूर्ण नहीं कर पा रहे. हिन्दी के कई समकालीन ग़ज़लकारों -ज़हीर क़ुरैशी, विनय मिश्र, विज्ञान व्रत, कुंवर बेचैन, उर्मिलेश, चन्द्रसेन विराट, अनिरुद्ध सिन्हा, मधुवेश, रामकुमार कृषक, हरेराम समीप इत्यादि ने हिन्दी ग़ज़ल को वहां लाकर खड़ा कर दिया है, जहां ये विधा समकालीन काव्य साहित्य में पूरी ताक़त के साथ ख़डी है.

**संदर्भ ग्रंथ**

1. दुष्यंत रचनावली भाग 1-पृष्ठ 57, संपादक -विजय बहादुर सिंह

2. साये में धूप, दुष्यंत कुमार, पृष्ठ 51

3. वही......पृष्ठ 51

4. वही..... पृष्ठ 49

5. जलते हुए वन का वसंत, दुष्यंत, पृष्ठ 90

6. उर्दू की बेहतरीन शायरी, प्रकाश पंडित, पृष्ठ 76

7. उर्दू भाषा और साहित्य, फिराक गोरखपुरी, पृष्ठ 54

8. फैज़ अहमद फैज़ और उनकी शायरी, प्रकाश पंडित, पृष्ठ 80

9. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग 2, ब्रजरत्न दास, पृष्ठ 220

10. आजकल, पृष्ठ 3जून 1990

11. दरवाज़े पर दस्तक, ज्ञानप्रकाश विवेक, पृष्ठ 20

***स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग**
**मिर्ज़ा ग़ालिब कॉलेज गया, बिहार**
**9934847941**

# दारगे नरबू : शव काटने वाला आदमी

**विजय कुमार***

जीव अपने पूर्वजन्म में किए गए सद्कर्म के आधार पर मानव योनि में जन्म लेता है, पूर्वजन्म के पुण्य-परोपकार के हिसाब से इस जन्म में सुख-सुविधा प्राप्त करता है, इस जन्म में किए गए सद्कार्य मनुष्य के लिए मुक्ति का रास्ता बनते हैं, अंत्येष्टि हो जाने पर आत्मा ईश्वर की शरण में चली जाती है अर्थात् मुक्ति मिल जाती है, मृत शरीर का क्रिया-कर्म रीति-रिवाजानुसार न होने पर आत्मा भटकती है और लोगों का अहित करती है। ऐसी अनेक मान्यताएं मानव समाज में भिन्न-भिन्न आवरणों में प्रचलित हैं। इन तमाम सामाजिक धारणाओं, मान्यताओं व विश्वासों के चलते मनुष्य अपने कार्यों को अंजाम देते हैं। जैसा की विदित है हिन्दू धर्म में सोलह संस्कारों का प्रावधान किया जाता है जो जन्म पूर्व से मृत्यु पर्यन्त चलते हैं। 'अंत्येष्टि संस्कार' अंतिम संस्कार होता है जो मृत्यु के बाद किया जाता है। जिसके अंतर्गत शव को पूर्व निर्धारित कर्मकांड व विधि अनुसार अग्नि के हवाले किया जाता है और जल चुके शव की राख को बहते जल में प्रवाहित कर यह संस्कार संपन्न किया जाता है। मुस्लिम धर्म के अनुयायी शव को जमीन में दफनाते है और इसी तरह ईसाई धर्म में भी शव को एक ताबूत में बंद करके जमीन में दफना दिया जाता है। यह बात सभी जानते हैं लेकिन जो बात सभी नहीं जानते वह यह है कि भारतवर्ष के पूर्वोत्तर में बसने वाली 'मनपा' जनजाति में शव को न दफनाया जाता है और न ही उसे जलाया जाता है बल्कि यह जनजाति शव को 108 टुकड़ों में काट कर नदी में प्रवाहित कर अंत्येष्टि का कार्य सम्पन्न करती है। उपन्यास 'शव काटने वाला आदमी' में इस परम्परा को करीब से दिखाया गया है।

पद्मश्री येसे दरजे थोंगछी द्वारा असमिया भाषा में लिखित उपन्यास 'शव कटा मानुह' का हिंदी अनुदित संस्करण है- 'शव काटने वाला आदमी'। जिसका अनुवाद दिनकर कुमार ने किया है। यह उपन्यास अरुणाचल प्रदेश में बसने वाली मनपा जनजाति की रोचक व भयावह अंत्येष्टि क्रिया के माध्यम से इस जनजाति की समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करता है। बौद्ध धर्म में अपनी आस्था रखने वाले मनपा समुदाय में परम्परा है कि शव को 108 टुकड़ों में काट कर नदी में प्रवाहित किया जाता है। शव काटना पुण्य का काम माना जाता है। शव किसी बड़े लामा या संन्यासिन का होने की स्थिति में सिर को कपड़े में लपेटकर जमीन में गाड़ दिया जाता है। निकट भविष्य में शुभ मुहूर्त में पूजा-पाठ करने के बाद खोपड़ी को निकाल लिया जाता है और बाद में खोपड़ी को पूजा के समय मदिरा रखने के लिए प्रयोग किया जाता है। उपन्यास का नायक 'दारगे नरबू' शव काटने का यही काम करता है परिणामस्वरूप समस्त अंचल में वह 'थांपा' के नाम से प्रसिद्ध है। मनपा भाषा में 'थांपा' का अर्थ है- 'शव काटने वाला'। यह उपन्यास दारगे नरबू के बनते-बिगड़ते-संवरते-अंत होते जीवन का चिट्ठा है। यह इतिहास मिश्रित एक काल्पनिक उपन्यास है। कथानक में आये केवल तीन पात्र दलाई लामा, टी. के. मूर्ति और लेफ्टिनेंट जनरल निरंजन प्रसाद वास्तविक किरदार हैं बाकि समस्त पात्र काल्पनिक है। उपन्यास का कथानक 1950 का भयानक भूकंप, 1952 में तवांग का प्रशासन तिब्बत सरकार से भारत सरकार को हस्तांतरण एवं 1962 में भारत-चीन युद्ध के ऐतिहासिक घटनाक्रम को लिए हुए है।

'शव काटने वाला आदमी' का नायक दारगे नारबू दिरांगजंग गाँव से बाहर नदी किनारे निर्जन स्थान पर अपनी गृहस्थी बसाये है। परिवार में तीन सदस्य है पत्नी 'गुईसेंगमू', एक विकलांग बेटी 'रिजोम्बा' और स्वयं

दारगे। वह शव काटने का काम करता है। यह काम उसे पिता से विरासत में मिला है। मनपा लोग मुख्य रूप से कृषि एवं पशुपालन करते हैं किन्तु दारगे मुख्य रूप से शव काटने का काम करता है और उसकी पत्नी पेट पालने के लिए खेती के काम में लगी रहती है। उपन्यास के आरम्भ में दारगे एक घिनौने पात्र के रूप में आता है जिससे कोई भी ग्रामीण नजदीकी नहीं बढ़ाता और न ही सामाजिक व्यवहार रखना चाहता है। वह दिन-रात नशे की हालत में रहता है और लोगों को गालियां देता भटकता है। वह शवों को काटते-काटते घृणित भेष अपना चुका है- "लोगों के शव काटते समय खून, पीप, सडा हुआ मांस, चर्बी, पेशाब, मल आदि के छींटों की वजह से कपड़ों पर एक मोटी परत जम चुकी है और उसके ऊपर अनगिनत जुओं ने अपना प्रजनन क्षेत्र और विचरण भूमि तैयार कर लिया है।"[1] उसका पूरा परिवार घृणित जीवन-शैली अपनाये हुए है- "खाने के बाद बरतन धोने की कोई जरूरत नहीं। खाने से पहले भी बरतन धोने की कोई जरूरत नहीं। उन लोगों की जीभ ही चाट-चाटकर यह काम कर देती है।...उनके खाने की थाली, खाना पकाने के बरतन, घर में लाए जाने के बाद एक बार भी पानी से धोये नहीं गए हैं।"[2] दरअसल परिवार की ऐसी हालत के पीछे दारगे की मानसिक स्थिति है, वह अपने जीवन में घटित त्रासदी से आहत है। अचानक, एक दिन अपनी विकलांग बेटी 'रिजोम्बा' के प्रति उमड़े स्नेह और दायित्व बोध ने दारगे के जीवन को नया मोड़ दिया। इस प्रकरण के बाद धीरे-धीरे दारगे और उसका परिवार सभ्य होता चला जाता है और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। शनैः शनै: कथा खुलती है तथा दारगे के परिवार की वर्तमान स्थिति के कारणों का विस्तृत एवं सिलसिलेवार तरीके से वर्णन करते हुए उसका समाज से जुडाव बनाते हुए धर्म-कर्म से जुड़ने की कथा कहती है। कथा वर्त्तमान और पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) में चलती है।

लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से मनपा जनजाति की इस अनोखी अंत्येष्टि परंपरा को साहित्यिक पटल पर दर्ज करते हुए विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। शव को काटने की प्रक्रिया का एक नमूना देखिये- "लाश की गर्दन के नीचे एक तख्ता रखकर दाव के प्रहार से सिर को धड़ से अलग किया जाता है उसे बाद की प्रक्रिया के तहत मर्द की लाश को औंधा करके रखना चाहिए, औरत की लाश होने पर उसे चित्त रखना चाहिए।...मर्द होने पर पहले दायाँ पैर, दायें हाथ से काटना शुरू करना चाहिए, औरत होने पर बायीं तरफ से शुरूआत करनी चाहिए सिर के साथ एक सौ आठ टुकड़े करने चाहिए।"[3] मनपा लोगों का घोर विश्वास है कि इस प्रकार शव संस्कार ने हो पाने की स्थिति में मृतक को 'अईपेमे' (स्वर्ग) की प्राप्ति नहीं होती। शव संस्कार करने वाले को पुण्य मिलता है। उपन्यास में कई बार वीभत्स वर्णन किया गया है जो भयानक भी हैं और पाठक के मन में सिहरन पैदा कर जाते हैं। "फूफा ने इस बार दाव रखते हुए नुकीली कटारी निकाली और शव की नाभि के नीचे घुसेडते हुए पेट को चीर दिया। पेट के भीतर से अंतड़ियाँ, आधा हजम खाद्य पदार्थ और मल बाहर निकल आये।"[4] उपन्यास दारगे के शव काटने के अनुभव को विस्तार से वर्णन करता है। कथानक का अधिकांश भाग दारगे के जीवन पर आधारित है किन्तु तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिदृश को समेटे हुए है। भूकंप और चीनी आक्रमण के कारण दारगे और उसके परिवार पर पड़े प्रभाव की मार्मिक कहानी को बारीकी से दर्शाया गया है। तवांग के रास्ते दलाई लामा का भारत आना एक ऐतिहसिक घटना है जिसे उपन्यासकार ने कहानी में सहज रूप से पिरोते हुए पेश किया है।

[1] शव काटने वाला आदमी, येसे दरजे थोंगछी, वाणी प्रकाशन, 2015, पृष्ठ-10

[2] वही,पृष्ठ 16

[3] वही, पृष्ठ 93-94

[4] वही, पृष्ठ 95

पूरा उपन्यास सैंतीस अध्यायों में विभाजित है। चूँकि उपन्यास हिंदी में अनुदित है और मनपा समुदाय से सम्बन्धित है इसलिए मनपा भाषा के शब्दों का यथोचित प्रयोग होने की स्थित्ति में उनके शब्दार्थ अध्याय के अंत में दिए गए हैं। जो उपन्यास को अधिक पठनीय एवं सहज बना देते हैं। संवाद सहज एवं छोटे हैं जिससे कथानक में गति बनी रहती है। कुछ एकालाप बड़े होते हुए भी बोझिल नहीं हैं। यह उपन्यास अपने रंग-ढंग का अनोखा एवं रोमांचक दस्तावेज है। जिसमें भारत के सुदूर पूर्वोत्तर में बसने वाले मनपा समुदाय की सुन्दर झांकी मिलती है जिन्हें कभी किसी ने प्रकाश में लाने का प्रयास नहीं किया।

---

***शोधार्थी, हिंदी विभाग**
**राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर**
**vijayvipakshi@gmail.com**

# गुमनामी के अंधेरों में खोया सितारा : इंद्र बहादुर खरे

डॉ.नूतन पाण्डेय*

इंद्र बहादुर खरे हिंदी जगत की वे महान विभूति हैं,जिन्होंने भौतिक रूप से इस संसार में कुछ ही दिनों के लिए अवतरण लिया, लेकिन अल्प समय में ही वे साहित्य को इतना कुछ दे गए, जिसके लिए हिंदी साहित्य सदैव उनका ऋणी रहेगा। आयु की दृष्टि से रोबर्ट बर्न्स, बायरन ,कीट्स ,पुश्किन और रांगेय राघव आदि महान साहित्यकारों की परंपरा का अनुसरण करने वाले इंद्र बहादुर खरे को मात्र बत्तीस वर्ष की आयु (16/12/1922-13/04/1953) का वरदान मिला, लेकिन वीणापाणि माँ सरस्वती ने उनकी कलम को अपने आशीर्वाद से यथासंभव अभिसिंचित किया। अपनी लेखनी की अद्भुत प्रभावोत्पादकता के बल पर उन्होंने जो लिखा,जितना लिखा उसकी गुणवत्ता को साहित्य जगत द्वारा कतई नजरंदाज नहीं किया जा सकता। जीवन की अल्पावधि में ही इंद्र बहादुर खरे ने साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी कलम चलाकर गंभीर साहित्य का सृजन किया लेकिन उनकी अधिकांश रचनाएं उनके जाने के बाद प्रकाशित हुईं। यह हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उनके जीवनकाल में उनकी रचनाएं लोगों तक नहीं पहुँच सकीं लेकिन उनकी लेखनी में एक ऐसा जादू था, शिल्प का एक ऐसा चमत्कार था, भावों का एक ऐसा अपूर्व संयोजन था, पाठक जिसके वशीभूत हुए बिना नहीं रह सकते। इंद्र बहादुर खरे के साहित्यिक प्रदेय की बात करें तो मूलरूप से वे कवि के रूप में चर्चित रहे। भोर के गीत,सुरबाला,सिंदूरी किरण ,विजन के फूल,रजनी के पल (गद्य कविता), हेमू कालानी, नीड़ के तिनके और आंबेडकर एक नई किरण कविता संग्रहों में समय-समय पर लिखी गई उनकी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। उनके गीतों की संख्या लगभग पांच सौ के ऊपर पहुँचती है, जिनमें राष्ट्रपरक गीतों के साथ ही बालगीतों की भी बहुलता है। अपने देशभक्तिपरक गीतों के माध्यम से इंद्र बहादुर खरे ने अपने प्रशंसकों के मध्य एक विशिष्ट स्थान बनाया। कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने गद्य की अनेक विधाओं ,जैसे –कहानी,उपन्यास और अनेक विषयों पर आलेख भी लिखे । आरती के दीप,सपनों की नगरी,आजादी के पहले आजादी के बाद और जीवन पथ के राही उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं जिनमें समाज के गंभीर विषयों को वर्ण्य विषय बनाया है । कश्मीर,जीवन पथ के राही, मेरे जीवन नहीं और लख होली आदि उपन्यासों ने इंद्र बहादुर खरे को एक पुख्ता आधार-स्तंभ प्रदान किया जिससे उनको बहुमुखी साहित्यकार के रूप में स्थान बनाने में सहायता मिली। साहित्य सृजन के अतिरिक्त अन्य विविध साहित्यिक गतिविधियों से भी उनकी आजीवन सक्रिय रूप से संलग्नता बनी रही। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट रुचि थी। अपनी इसी रुचि के कारण उन्होंने समय-समय पर अनेक पत्रिकाओं का संपादन कार्य किया,जिनमें ख्यातिलब्ध साहित्यकार रामकुमार वर्मा के साथ "प्रकाश" पत्रिका, हरिशंकर परसाईं के साथ "हरिंद्र" पत्रिका और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के साथ "युगारंभ" पत्रिका का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है ।

इंद्र बहादुर खरे को मूलतः उनके गीतों के लिए स्मरण किया जाता है। गीत लिखना शायद उनके हृदय के सर्वाधिक नजदीक और सबसे प्रिय कर्म था । वे कविता लिखना अपने जीवन का आधार मानते थे जिसके बिना उनका जीवन अपूर्ण था, तभी वह कविता लिखने के क्षण को अपने जीवन की सबसे सुखद अनुभूति मानकर कहा करते थे -"जिस दिन मेरे मन के अंतस में गीत की कली खिलती है,उस दिन ऐसा लगता है मानो जिन्दगी के दिगंत व्यापी रेगिस्तान में बाढ़ आ गई हो । जन्म- जन्म की प्यासी आँखों में जैसे कोई शीतल मीठा स्वप्न विहंस गया हो । कविता मेरे जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति है। कविता में ही मुझे आनंद की चिरशांति के दर्शन होते हैं।"

"भोर का गीत" इंद्र बहादुर खरे की प्रसिद्ध और सर्वाधिक लोकप्रिय कृति कही जा सकती है,जिसमें संकलित गीतों को उन्होंने सन 1939-42 के मध्य अर्थात सत्रह से बीस वर्ष की आयु में लिखा था। गीत लिखना उनकी सहजात और स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है जो स्थाई भाव होकर उनके हृदय के अंतस्थल में विराजती थी, और स्वतः ही गीतों के रूप में फूट पड़ती थी। गीत लिखने का यह उद्वेग कब और कैसे प्रवाहित हो जाता था इससे वे बिलकुल अनजान होकर कहते हैं कि-" कह नहीं सकता कि मैंने कब से गीत लिखना प्रारंभ किया।प्रेरणा की एक निश्चित तिथि नहीं।डाली पर खिलने वाला फूल जैसे अपनी मधु , अपनी आभा,अपनी खुशबू की परिभाषा नहीं कर सकता, अपनी नाभि में बसी कस्तूरी की खुशबू को मस्त मृग जैसे अपने को मालिक नहीं मान सकता वैसे ही मैं भी नहीं जानता कि मेरे गीतों के फूलों ने कब खिलना सीख लिया।"

इंद्र बहादुर खरे प्रकृति सौंदर्य के अनुपम पुजारी थे। उनके गीतों में प्रकृति के कण-कण की सुखद अनुभूति व्याप्त है और ये अनुभूति मात्र भौतिक और बाह्य नहीं है बल्कि उसका एक आभ्यंतरिक दृष्टिकोण भी है जो उन्हें छायावादी कवियों के समकक्ष ला खडा करता है। प्रकृति का मौन निमंत्रण उन्हें न केवल परमात्मा के और निकट ले जाता है बल्कि उसके निस्सीम सौंदर्य के साक्षात् दर्शन भी कराता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। सृष्टि के सौंदर्य की रहस्यमय अभिव्यक्ति इंद्रबहादुर खरे के गीतों का वह ख़ूबसूरत पक्ष है जो दैहिक होने के बावजूद देहातीत है,लौकिक होने पर भी परलौकिक है और भौतिक होने पर भी अध्यात्म की ओर प्रवृत्त है। तभी तो कवि यह स्वीकार करता है कि-" मेरे गीतों की भूमि बिलकुल पार्थिव है ,आध्यात्मिक नहीं है। धरती पर नर-नारी ,फूल – पौधे,नदी-तालाब,पर्वत-घाटी के रूप में जो राशि-राशि सौंदर्य बिखरा पडा है मैं उसी का पुजारी हूँ। रूप की प्रस्तुति मुझे प्रिय है। यह सौंदर्य ही मेरी आत्मा का रस है – मेरे गीतों की पार्श्वभूमि है। उपर्युक्त स्वीकरण के बावजूद वह इस वास्तविकता को अस्वीकृत नहीं कर पाता कि-" भावों के अभिव्यक्तिकरण में मैंने सदा बौद्धिक पीठिका का सहारा लिया है। इसमें यह भ्रम न हो कि मैं बुद्धि और हृदय को एक मानता हूँ। मेरा तात्पर्य यह है कि हृदय की बातें जब एक भोली गंभीरता के साथ,जब अज्ञान बनकर भी अपने समस्त ज्ञान के साथ व्यक्त की जाती हैं तब मुझे अभिव्यक्तिकरण में सुखद तृप्ति का अनुभव होता है। कवि जब तक जीवन के समस्त व्यापारों के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रश्रय नहीं देता ,उसकी सारे बातें बच्चों के सामान चंचल और सारहीन होती हैं,भले ही उनमें थोड़ी देर को श्रोता को लुभाने की शक्ति हो। दार्शनिक दृष्टिकोण को मैंने सदैव महत्त्व दिया है। " अपने इसी अध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण कवि हृदय का प्रकृति के रहस्यमय स्वरूप की ओर आकर्षित होना अत्यंत स्वाभाविक है जिससे प्रभावित होकर वे सहसा गा उठते हैं :

तुमसे क्या पहचान बढाऊँ
तुम रहस्य हो, मैं जिज्ञासा
युग-युग डूबूं, थाह न पाऊँ

जीवन के विविध भावों को ग्रहण करने के लिए जिस प्रकार की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि एक कवि में अपेक्षित होती है और उन भावों को गहनता से शब्दों में उतारने के लिए भाषा और छंद को अनूठे ढंग से संयोजित करने की जैसी क्षमता एक कुशल कवि में होनी चाहिए, उस सन्दर्भ में इंद्रबहादुर खरे की लेखनी निश्चित ही धनी मानी जाएगी। छंद्बधता और लयात्मकता की जुगलबंदी इनके गीतों को अपूर्व गेयता प्रदान करती है और इस जुगलबंदी के पीछे उनकी दीर्घ स्वर साधना और शिल्प पर उनका पूर्णाधिकार है। इंद्र बहादुर खरे ने अपने गीतों में अनेक प्रयोग किये

जिनका प्रभाव उनके पूर्ववर्ती कवियों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । इंद्र बहादुर खरे के गीतों में आशा और उत्साह की खनक है,प्रेरणा की लहराती हिलोरें हैं ,संसार में बिखरे सौंदर्य के प्रति रागभाव है ,परमात्मा के प्रति समर्पण के लिए निष्ठा है, सांसारिक जगत के प्रति सहज मानवीय संवेदना है और इन सबके साथ ही इस जीवन पर अगाध विश्वास भी है । तभी तो जीवन के अंतिम समय में असाध्य बीमारी से जूझने के बावजूद उनमें जीवन-सौंदर्य की अदम्य अभिलाषा और जीने की भरपूर इच्छा है :

सच मानो संसार बहुत ही है प्यारा,
अब लाख बुलाये मृत्यु ,मैं न जाउंगा

गीतकार होने के साथ ही इंद्र बहादुर खरे ने गद्य विधा में भी अपनी कलम चलाई है।उनके कई कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनकी कहानियाँ कलात्मकता सौदर्य और भावबोध की दृष्टि से बेहतरीन मानी जाती हैं, बावजूद इसके वे खुद को कहानीकार के रूप में नहीं देखते और बड़ी विनम्रता से स्वीकारते हैं कि वे न तो जन्मजात कहानी लेखक हैं और न ही उन्हें ऐसा वातावरण मिला कि कहानीकार के साँचें में खुद को ढाल सकते । लेकिन जिसने भी उनकी कहानियों को पढ़ा है ,वह इस बात से इत्तेफाक रखता है कि उनकी कहानियाँ जीवन के बहुत करीब हैं, जो अपने भावबोध द्वारा समाज को व्यापक रूप से चित्रित करती हैं, उसकी समस्याओं को उठाती हैं, उन्हें अभिव्यक्ति देती हैं और इसी कारण आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं,जितनी उस समय थीं जब वे लिखी गई थीं । इस सन्दर्भ में मैं यहाँ उनकी एक कहानी का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूंगी, जिसका शीर्षक है 'जीवन पथ के राही'। अपनी इस कहानी के बारे में इंद्र बहादुर जी के महत्वपूर्ण विचार उल्लेख्य हैं,जहाँ वे कहते हैं कि-" यह जीवन के पथ की कहानी है, ऐसी कहानियाँ जीवन का सत्य बन जाती हैं जो दुनिया के हर साधारण मनुष्य का हाथ पकड़ उसी की कहानी बन जाती हैं –और हर मनुष्य की कहानी आलेख्य नहीं-इसीलिए विश्वास नहीं होता ।"

इस कहानी में भारतीय समाज में स्त्री की शोचनीय स्थिति का चित्रण करते हुए स्त्री विमर्श के नए रास्ते खोले हैं । हमारे समाज में यह स्त्री की दुर्नियति ही कही जाएगी कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में उसे समाज के ठेकेदारों द्वारा विविध प्रकार के शोषणों का सामना करना पड़ता है । प्रस्तुत कहानी भी फूलो नामक एक लडकी की कहानी है ,जब वो बहु बनकर सोना लोधी के घर जाती है तो उसे सर आँखों पर रखा जाता है ,लेकिन दुर्भाग्यवश उसके पति की असमय मृत्यु से उसके भाग्य पर ताले ला जाते हैं और उसे ससुराल में "एक जवान लड़के को चाट जाने" के अपराध में दिन – रात अपमान सहना पड़ता है । अकेले जीवन काटती फूलो के जीवन में अचानक उसी गाँव का नंदन नामक एक आधुनिक विचारों वाला युवक प्रवेश करता है । नन्दन के मन में उसके प्रति प्रेम का भाव उपजता है, गाँव वालों से यह सहन नहीं होता और उबके द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर वह गाँव छोड़कर चली जाती है । लेकी दुर्भाग्य उसका पीछा नहीं छोड़ता और वह वैश्यवृत्ति करने वाली एक महिला के फ़ंदे चढ़ जाती है,लेकिन फूलो की निश्छलता देखकर वह उसे अपनी बेटी मान लेती है । भाग्य उसे एक बार फिर नंदन के सामने लाकर खड़ा कर देता है और नन्दन उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है । नंदन के पिता जो गांव के ठाकुर हैं वे भी इस विवाह के लिए अपनी रजामंदी दे देते हैं । फूलो की कहानी सुखद मोड़ की ओर जाती लगती है,लेकिन नंदन जब फूलो ,अपने प्रथम प्यार के चिह्नों को देखने आम के पेड़ के नीचे जाकर देखता है तो पाटा है कि फूलो ने प्राण त्याग दिए थे,न जाने क्यों? लोगों का कहना था कि शाम को घर लौटे हुए किआनों,चरवाहों ने उसे देखा और

जैसे-तैसे कटने वाले गाँव के कलंक को पुनः गाँव में घुसते जान उसका अंत कर दिया। कहानी के अंत में कहानीकार का कथन जहाँ हृदय विदारक और दिल को छूने वाला है वहीँ समाज पर एक तमाचा है, एक कडा प्रहार है, जिसे सहना तथाकथित सभ्य समाज के लिए आसान नहीं होगा– नन्दन अब रूपपुर का जमींदार है उसने फूलो की समाधि बनवा दी है। समाधि का ऊपरी हिस्सा सदा ही फटा रहता ही। लोगों का कहना है कि फूलो की आत्मा रोती है,इसलिए वह समाधि फट जाती है। नंदन रोज सुबह शाम उसकी पूजा करता है और गाँव वाले जमींदार की बात नहीं टालते : वे भी उसे "प्रेम की देवी" मानकर उस पर फूल चढाते हैं। वे 'पुन्य' लूटने से भला क्यों बचें ? कितना क्रूर और कटु सत्य है यह हमारे दोहरे आवरण वाले समाज का जिसका इंद्र बहादुर इस कहानी में पर्दाफ़ाश करते हैं। वही समाज जो उसे चैन से जीने नहीं देता, उस पर तरह-तरह के लांछन लगाकर उसका अपमान करता है,वही उसकी जान लेने के पश्चात् उसे देवी का तमगा दे देता है। इंद्र बहादुर समाज की इस कठोर विसंगति पर अट्टहास करते हैं,व्यंग्य करते हैं साथ ही उस पर अपनी पीड़ा भी व्यक्त करते हैं। इन सबके साथ ही वे समाज की व्यवस्था और कुरीति पर अनेक प्रश्न भी खड़े करते हैं जिसमें स्त्री की समाज में असुरक्षा,विवाह के बाद के नारकीय जीवन ,अपने भविष्य के लिए स्वतंत्र निर्णय लेने की असमर्थता ,घर-बाहर हर जगह शारीरिक-मानसिक शोषण और समाज का उसके प्रति असमानता और दोयम दर्जे का अमानवीय व्यवहार आदि मुद्दों का समावेश हो जाता है। कहानी सोचने पर विवश करती है कि समय के परिवर्तन के साथ क्या स्त्री के प्रति समाज के रवैये में सकारात्मक परिवर्तन आया है या फिर स्थितियां अभी भी जस की तस बनी हुई हैं।

जीवन-पथ के राही कहानी के समान ही इंद्र बहादुर खरे की अन्य सभी कहानियाँ जीवन के अनेक मूल्यवान अनुभवों से परिपूर्ण हैं जिनमें समाज की विसंगतियों,जीवन मूल्यों , प्रेमपरक आदर्शों और स्त्री उत्थान से संबंधित विभिन्न मुद्दों को उठाया गया है। इंद्र बहादुर खरे की कहानियाँ समाज के लिए महत्वपूर्ण सन्देश लेकर चलती हैं और एक स्वस्थ सोच युक्त समाज निर्माण की कामना रखती हैं। उनकी कहानियों में सत्यता के साथ कल्पना का,जग के साथ हृदय का मेल है और इनके लिए वे पाठकों से भी अपेक्षा रखते हैं कि -"न तो इनमें कोई दर्शन की खोज करे, न शाश्वत चिंतन की आशा और न विश्व को खुली आँखों से देखने की चेष्टा, केवल कहानी के ही निकटस्थ आकर इन्हें समझे और सोचे कि कहाँ तक बात ठीक है और कहाँ तक बालकों की बातों सी नादान है।"

इस प्रकार कह सकते हैं कि इंद्र बहादुर खरे ने साहित्य जगत को जितना दिया, निश्चित ही उसका मूल्यांकन करना अभी शेष है। यह हमारे समाज का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि इंद्र बहादुर खरे जैसे साहित्य को समर्पित अनेक निस्वार्थ साधक ऐसे हैं जिन्हें जीवित रहते वह मान- सम्मान नहीं मिल पाता, जिसके वे अधिकारी हैं। यहाँ तक कि उनकी साधना, उनकी कृतियों का भी परिस्थितिवश संतोषजनक और सम्यक मूल्यांकन नहीं हो पाता। यह संतोष की बात है कि खरे जी के परिवार के प्रयत्नों से पिछले कुछ समय से मध्यप्रदेश और विभिन्न राज्यों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में उनकी कृतियों को शामिल किया गया है और विद्यार्थियों द्वारा उनके साहित्य पर शोध कार्य भी किए जा रहे हैं। देश के प्रकाशन के क्षेत्र में अग्रणी वाणी प्रकाशन,दिल्ली द्वारा उनकी कई किताबों का प्रकाशन भी किया गया है।

एक साहित्य साधक को क्या चाहिए, बस पाठकों तक उसके लेखन की पहुँच ,साहित्य जगत में उसकी एक निश्चित पहचान और उसकी रचनाओं को साहित्यिक जगत की स्वीकृति। लेकिन कई बार साहित्य जगत इन विभूतियों को जीते जी पहचान नहीं पाता जिस कारण वह इन विराट व्यक्तित्वों की छाँव से वंचित रह जाता है। लेकिन निश्चित ही यह सभी हिंदी प्रेमियों के लिए संतोषजनक है कि इंद्र बहादुर जी के परिवारीजनों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से आज उनकी रचनाएं प्रकाशित होकर साहित्य प्रेमियों तक पहुँच रही हैं और डॉ.खरे अपनी रचनाओं के माध्यम से हमारे आसपास हैं, हमारे भीतर पुनर्जीवित हो रहे हैं।लेखक की असली पूंजी,असली धरोहर उसकी रचनाएं ही होती हैं, जिनसे वह अपने पाठकों तक पहुँचता है। सरकार और संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे इस दिशा में आगे आयें और इस तरह की योजनाएं अमल में लायें जिसके माध्यम से डॉ. खरे और उन जैसे साहित्य सेवकों का लेखन व्यर्थ न जाए और उनके साहित्य की सार्थकता अनंत काल तक बनी रहे।

---

***सहायक निदेशक,केंद्रीय हिंदी निदेशालय**
**शिक्षा मंत्रालय,भारत सरकार**
**ई-मेल-pandeynutan91 @gmail.com**

# स्त्री के दुख की अकथ गाथा का दस्तावेज:देह ही देश

**मनोज शर्मा**

देह ही देश' एक संस्मरणात्मक डायरी है यह गरिमा श्रीवास्तव जी के क्रोएशिया प्रवास के दौरान 2009-10 में लिखी गयी है।यद्यपि यह डायरी की भांति तिथि वार नही तथापि इसमें तारतम्यता है और दो अकादमिक सत्रों में लिखी सर्ब सैन्य शक्तियों द्वारा स्त्रियों पर की गयी क्रुरता वहां के रहन-सहन और वहां की संस्कृति,विकास का जो अब धीरे धीरे सहज पथ पर आने लगी है का सार्थक चित्रण है।यात्रावृत-डायरी को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो थर्राई हुई ज़िन्दगी जैसे पुनः प्रगति पथ पर लौटने लगी हो और शायद इसी का नाम ज़िन्दगी है।

गरिमा श्रीवास्तव जी ने जैसा कि आरंभ में ही लिखा है।यह क्रोएशिया के अंतिम दशक का भयावह सच है।

"युद्ध की ऐसी अनेकानेक स्मृतियों में से किन स्मृतियों का चुनाव किया जाए है-भय,घृणा की स्मृतियां जो पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में पाई जाएंगी, या वे जिन्होंने किसी के इशारे पर बलात्कारियों को अंजाम तो दिया लेकिन समय के साथ साथ मासूम चीखों को नहीं भुला पाए,वे निरपराध बच्चियों और औरतें उनके मानसिक विचलन का कारण बनी और राष्ट्रप्रेम भी उन्हें ग्लानि से मुक्त नहीं कर सका।किसका सच प्रमाणित माना जाए-सामूहिक बलात्कार की शिकार बनकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठी स्त्री का सच या अपने नवजात की जान बचाने के लिए निर्वसन होने वाली का सच या एरिज़ोना मार्केट में देह-व्यापार में डूबती-उतराती स्त्रियों का सच!मेरी कोशिशें अनकहे सन्नाटो को सुनने की रही है संभव है,संभव है हमें उनके सुनाए आख्यानों के टुकड़ों में उग्र राष्ट्रवाद के नाम पर होने वाले युद्धों और बलात्कारों की विभीषिकाएँ,आधुनिक मनुष्य के जीने और सोचने में क्या विसंगतियां पैदा करती है, यह दिख जाएं या इतिहास को देखने की हमारी दृष्टि में क्या किसी बदलाव की जरुरत है,इस प्रश्न से मुखामुखम करने की आवश्यकता महसूस करें।"

(लेखिका की ओर से 'देह ही देश')-इस पुस्तक से

युद्ध विभीषिका और शोषित स्त्री वेदना की स्मृतियां आज भी जीवित है।लेखिका का सत्य को उजागर करने के प्रति एकनिष्ठता व जुझारूपन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।जगह-जगह ऐसे स्थलों का कई मर्तबा दौरा करना जिनमें अनेक बाधाएं थी जैसे भाषा रहन-सहन खानपान वहां की संस्कृति आदि उनमे से सर्वप्रमुख बाधा संप्रेषण की थी जिसको शब्दकोशों व परिचित व्यक्तियों की सहायता और पत्रों के माध्यम से गरिमा श्रीवास्तव जी ने सुलझाया।देह ही देश युद्ध की विभिषिकाओं से उत्पन्न ऐसा यथार्थ है जिसका डर आज भी स्त्रियों के भीतर देखा जा सकता है।लेखिका के संपर्क में आयी कई स्त्रियां इसी तरह की हैं जो उस भय के सच को दोहराने में हिचकती दिखाई दी हैं।

"यातना की बात दोहराने से यातनाएं बढ़ती ही हैं,कम नहीं होती।"

(देह ही देश)गरिमा श्रीवास्तव

गरिमा श्रीवास्तव की क्रोएशिया डायरी में जहां एक ओर युद्ध की विभीषिका है स्त्रियों पर हुए अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा है वहीं दूसरी ओर वहां की स्त्रियों पर किये गये शोध रिपोर्टों द्वारा दिया गया संदेश है।यथा-

"चोटों को भूलो,पीड़ा की जगह आनंद और सुख को प्रतिस्थापित करो,अपनी कल्पना शक्ति,रचनात्मकता और राजनीतिक पुनुरुत्पादन से आशा की राजनीति में कदम रखो और राजनीति की मुक्ति योद्धाओं के रूप में सामने आओ।"

(देह ही देश)पृष्ठ संख्या-11

'देह ही देश'कठिन समय में लुटी पीटी देहों का पोस्टमार्टम है।ये पीड़ा उस वक्त भी झेली थी और आज पुनः दोहराते हुए भी उसी तरह अनुभव की जा सकती है।गरिमा श्रीवास्तव ने पीड़ित स्त्रियों के मानसिक अवसाद को ज्यों का त्यों दिखाया है।डर के साये में जीती ऐसी ऐसी औरते जिन्हें चीखने पर भी रोंदा जाता था।उन्हें शरीर से ही नहीं बल्कि आत्मा से भी नंगा कर दिया जाता था।जो जी सकी वो रोज़ रोज़ की यातनाएं सहने को और जो न जी सकी वो खुली आंखों से लहुलुहान रक्तबीज होकर।

यात्रावृत में कितने ही ऐसे दृश्य अंकित हैं जिनमें छोटी -बड़ी स्त्रियों के साथ जबरन घिनौने कृत्य हुए हैं।खूंखार सैनिकों ने परिवार के किसी मर्द को नहीं छोड़ा और लाचार स्त्रियों को गिरफ्त करके उनके साथ ऐसे कृत्य किये जो मानवीय संवेदनों को ध्वस्त करने लायक थे।सर्ब सैनिको ने बोस्नियाई मुस्लिम स्त्रियों को शारीरिक एवम् मानसिक रूप से यातनाएं दी।

कहा जा सकता है कि 'देह ही देश'स्त्री-पीड़ा का सच्चा दस्तावेज है जिसमें किसी अकेली स्त्री की त्रासदी नहीं बल्कि हजारों लाखों स्त्रियों के मान मर्दन की सच्ची कहानी है।1992-95 में क्रोएशिया में जो हुआ वो दर्दनाक था असहनीय था पीडादायक व अशोभनीय था जिसकी जितनी भी भर्त्सना की जाए उतनी ही कम है क्योंकि देह पर दागे गये वो नश्तर आज भी वैसे ही है। स्त्रियां जैसे जीना ही भूल चुकी हो।जो जिन्दा है वो इतनी डरी सहमी कि वो अपने अतीत के विषय में कुछ भी बोलने को तैयार नहीं।गरिमा श्रीवास्तव जी ने एक अनुबंध के तहत उनसे मिलकर उस सच्चाई को जानने में अपना दायित्व दिखाया है।भय और पीड़ा का प्रतिबिंब आज भी उतना ही घिनौना और दर्दनाक है जितना उन दिनों था।उन दिनों की सच्चाई को ब्यां करते हुए लेखिका ने परिवारों की स्त्रियों के उत्पीड़न की दास्तान को दिखाया है साथ ही साथ क्रोएशिया बोस्निया जैसे देशों में हुई त्रासदी के उपरांत आये बदलावों को भी अपनी डायरी में दर्शाया है।पूरे परिवार के सामने स्त्रियों के साथ कुकृत्य करना और लगातार उनकी देह पर अत्याचार करते रहना युद्ध के सैनिकों का प्रमुख हथियार था।

'देह ही देश' में जहां एक ओर कटु सत्य है तो दूसरी ओर और नंगा यथार्थ है जैसा मंटो की कहानियों में दिखाई देता है।समय बीत चुका है घटनाएं हो चुकी है पर उन घटनाओं के साये आज भी जैसे के तैसे है।डायरी के

भीतर कुछेक पत्र भी हैं जिनके पीड़ित स्त्रियों के सहमे चेहरों का उल्लेख है और ये चेहरे इतने असहाय और भयभीत हैं कि आज तक वो चुप्पी साधे हैं। भोगा हुआ अतीत मानो उनकी स्मृति में रच बस गया है तभी तो वो कुछ भी कहने में असमर्थ हैं।युद्ध का कारण कुछ भी रहा हो पर स्त्री समाज को इतना कूचला मसला गया था कि उनकी आत्मा तक पर भी चोट की गयी हो।डायरी में बोस्निया सरकार ने 50,000 स्त्रियों के यौन शोषण की रिपोर्ट दी वास्तव में इनकी संख्या का आंकडा इससे कहीं अधिक का था।

'देह ही देश' एक नरसंहार का कच्चा चिट्ठा है जिसमें लाखों लोग मार दिये गये।सैन्य शक्तियों द्वारा घर के बुजुर्गों,बच्चों व मर्दों को ज़िन्दा जला दिया गया था व घर की सभी स्त्रियों के साथ सामुहिक बलात्कार किया गया था।स्त्रियों का चीखना वर्जित था तभी उन्हें कहीं भी किसी कोने में बाथरूमों में रौंद दिया जाता था।इतने सालों के उपरांत आज वहां की स्त्रियों को दोबारा बहुत कुछ करते हुए देखकर यकीनन् बेहतर प्रतीत होता है।नवंबर 1991 में बुकोवार पर सर्ब सैनिकों द्वारा बलात्कार की शिकार स्त्रियां जिनमें रूजिया बारबरिक,स्नेजाना मालजेक और मरिया स्लिसको ने मिलकर सैलून खोला।ऐसी ही कई स्त्रियों को मुआवजे के रूप में कुछ राशि यानि 2500 कूना और आजीवन मुफ्त बीमा देने की घोषणा हुई। मुआवजे को लेकर सबकी अलग-अलग राय है,एक का कहना है-"देर से ही सही कुछ तो मिला...न्याय सिर्फ़ एक शब्द में भर में नहीं है।यह तो तय है कि यह कानून मेरा जीवन आर्थिक तौर पर बदल डालेगा,लेकिन इससे भी ऊपर मुझे लगता है कि कानून बनने के बाद मैं मनुष्य यौनि में लौट आयी हूं।"दूसरी का कहना है-"कितना भी मुआवजा दिया जाए उससे असल नुक्सान की भरपाई हो नहीं सकती,मुझे न्याय और केवल न्याय चाहिए।"

(देह ही देश)पृष्ठ संख्या-104

"वे दोनों क्रोएशियन नागरिक थी और उससे भी पहले थी लड़कियां-ताज़ा,ज़िन्दा टटका स्त्री मांस।लिलियाना उन अभागी लड़कियों में से एक थी,जिन्हें नोचा-खसोटा और पीटकर कैद में रखा गया।कई लड़कियों को अश्लीलता के सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए बाध्य किया जाता रहा,यौनांगों को सिगरेट से दागा गया और एक दिन में कई बार बलात्कार किया जाता रहा।"

(देह ही देश)वही

कहा जा सकता है कि देह ही युद्ध का कारण है और शायद देह ही बचाव है अर्थात् साधन और साध्य स्त्री की देह ही है।स्त्री समाज को दैहिक व मानसिक तौर पर प्रताडित किया गया था।गरिमा श्रीवास्तव ने सच को उघाड़ने का भरसक प्रयास किया है ताकि आने वाले समय में यातना भरे दिनों की क्रुरता को जाना जा सके।

यह मात्र प्रवास डायरी नहीं वरन डायरी के भीतर शोषित स्त्री का डरा सहमा रूप है जो इतना डरावना है कि डायरी का हर पन्ना उस डर को ब्यां कर रहा है।यायावरी लेखिका के शब्द और शैली भयावह दृश्यों को और मन मस्तिष्क में बसे ख़ौफ को उजागर करने में सफल रहे हैं।लेखिका ने पीड़ित स्त्रियों पर हुए घृणित आघातों को यथार्थ

रूप में प्रस्तुत किया है।कितने ही अनचाहे गर्भ और कोख अनाथ बच्चों की देह को ढोहती स्त्रियों के मार्मिक दृश्य इस कृति में देखे जा सकते है।एक स्त्री कई सैनिकों के कब्जे में होती थी जो यातनाओं को कई कई दिनों तक लगातार सहती थी।उन्हें ना केवल भला बुरा कहा जाता वरन् अमानवीय कृत्य किये जाते और ठंडे फर्श पर नंगा लिटा दिया जाता और चुप रहकर सबकुछ सहने पर मजबूर किया जाता।ऐसे घिनौने भयावह कृत्यों हेतु छोटी उम्र की लड़कियां पहले परोसी जाती।अधेड व बुजुर्ग महिलाओं को चौकीदारी या युवा लड़कियों के संरक्षण हेतु रखा जाता और बाकी औरतों को खाना पकाना और दूसरे कामों के लिए प्रायः प्रयोग में लाया जाता।कोई भी लड़की भागने की कोशिश करती तो उसे तुरंत मार दिया जाता या उसके भीतर जबरन थूक ,वीर्य आदि छोड़कर उसे प्रताड़ित किया जाता।क्रोएशिया वोस्नियां आदि में ऐसे भयानक कृत्यों की शिकार लड़कियां आज भी वेश्यावृति आदि में लिप्त हैं चूंकि अब उनका कोई घर नहीं परिवार नहीं।युवा स्वप्न कब के टूट चुके हैं फिर अब इस गंदे बदन को लेकर कहां लौटे और फिर कौन इन्हें अपनाएगा।मानो जीना ही भूल चुकी हो और अब वो ज़िन्दा लाश हों जिनको जीने की इच्छा नहीं बल्कि एक ऐसे कलंक के साथ वो जी रही हैं जो कभी न समाप्त होने वाली व्यथा है।डायरी के एक पन्ने में लिलियाना जब होसेसिस से पूछती है तो होसेसिस का जवाब है

"जब मैं नीचे लेटी होती थी,वे निपट रहे होते थे तब लगता था मैं एक नाली हूं जिसमें गंदगी बहाई जा रही है,एक न एक दिन इसका अंत होना ही है।मेरी बेटी का मासूम चेहरा था कि मैंने अपने मन को मज़बूत किए रखा।हां इतना जरूर था कि घर लौटने पर मेरे पति ने तलाक ले लिया क्योंकि मैं बिस्तर पर बर्फ़- सी पड़ी थी।पर अब मैं खूब मेहनत करती हूं और अपने बच्चों को अच्छी ज़िंदगी मेंने दी।"

(देह ही देश)पृष्ठ संख्या-49

कितना आसान होता है सुनना और कितना कठिन होता है झेलना...।जाने कितनी ही भीष्ण त्रासदियों को झेला होगा।जैसे बोलते होठ,यातनाओं को सुनाते शब्द अब थम गये हों।डायरी के पन्नों में कहीं किसी जगह उदासी है तो कहीं खुशनुमा पल।कई कई दिनों तक लगातार यात्राएं करना और सूखे ब्रैड जैम आदि के सहारे जीवन यापन करना बेहद कष्टप्रद था पर गरिमा श्रीवास्तव जी ने सच्चाई को आत्मीयता के साथ इस यात्रावृत-डायरी में प्रकट किया।क्रोएशिया और बोस्नियां की कितनी ही छोटी बड़ी स्त्रियां देह व्यापार में लिप्त है इसके कहीं कोई आंकडे नहीं।डायरी के कुछेक पन्नों में लेखिका ने अपने अनुभव साझा किये हैं जिनमें उनकी छोटी बड़ी यात्राएं हैं।ट्रेनों के भीतर की खामोश उदासी है देर रात तक चलती पार्टियां हैं।सर्द गर्म मौसम और बारिश की फुहारें भी अंकित हैं ।डायरी के एक पन्ने में ऐसी ही बात कही गयी है।

"तुमने भोजन के बारे पूछा था। खाना तो खुद ही बनाती हूँ, पकाने सजाने में दिन ज़रा ताजा-सा हो जाता है।किचन में कई ऐसे उपकरण हैं जिनसे भोजन पकाना बहुत सुगम हो जाता है। मांसाहारी भोजन के लिए क्रोएशिया पूरे यूरोप में प्रसिद्ध है। ताजे पानी की मछली,गोमांस ,सूअर का मांस मैडिटेरियन टन से बनी सब्जियां यहां की ख़ासियत है।"

(देह ही देश)पृष्ठ संख्या-22-23

इवान ,मिरता,बैलेंटीना,बोजैक अक्सर मिलने-जुलने वाले विद्यार्थी हैं। अनिंदीता दी, उक्की आदि लेखिका की भारतीय मित्र हैं जिनको पत्रों के माध्यम से लेखिका ने वहां के रहन-सहन,चाल चलन व आबोहवा की सूचना प्रदान की है।विदेशी लोगों से संप्रेषण करते वक्त लेखिका ने स्वयं को गैरी नाम से संप्रेषित किया है जो उनकी दूरदर्शिता को दर्शाता है।डायरी के मध्य कुछ हाइकू कविताएं है जिनका अनुवाद भारतीय मूल के लेखकों द्वारा किया गया है जैसे

"सब कुछ बीतने के बाबजूद

उसका कुत्ता

हमारे मिलने पर दुम हिलाता है

अब भी"

और दूसरा हाइकू,

श्यामवर्णी

समुद्र-पाखी

डुबकी लगाता

समुद्र श्यामल हो जाता।"

(देह ही देश )पृष्ठ संख्या-54

इस तरह डायरी में रोचक दृश्यों के आ जाने से आरंभ से अंत तक आत्मीयता व जिज्ञासा बनी रहती है।137 पृष्ठों की कोएशिया की डायरी वास्तव में डायरी न होकर गद्य की एक नयी विधा के रूप में सामने आयी है।डायरी में बीच-बीच में बांग्ला भाषा द्वारा अपनी बात को संप्रेषित करना यकीनन् अपनी भाषा के प्रति बेहद लगाव का होना दर्शाता है।शांति निकेतन में बिताए हुए दिनों की स्मृति को दोहराना गरिमा श्रीवास्तव जी के भारत प्रेम को भी व्यक्त करता है।

डायरी के पन्नों में कितनी ही स्त्रियां भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर मरी चूंकि ना केवल उन्हें भूख प्यास की यातना दी गयी बल्कि ऐसी स्त्रियों के साथ  पहले जबरन कुकृत्य होता फिर उन्हें जवान बेटे के सामने निर्वस्त्र किया जाता

और फिर उसी चाकू से बेटे को मौत के घाट उतार दिया जाता।ये सिलसिला मिनटों घंटो और दिनों लगातार चलता और जीवित छोड़ने के बदले उनकी देह के साथ खेला जाता।

उन्हें सैनिकों के समर्पण करना ही पड़ता चाहे अपनी मर्जी से चाहे उन क्रुर सैनिकों के ख़ौफ़ से।रोज़ अस्मिता लुटी जाती रोज़ देह पर सैकड़ों वार किये जाते।अंग रौंदे जाते गुप्तांगों को लहुलुहान किया जाता चेहरे बिगाड़ दिये वो ना कुछ बोल सकती थी ना चीख सकती थी।इतनी बर्बरता इससे पूर्व कहीं नहीं देखी जा सकती है।ख़ौफ के साये में जीती स्त्रियों की दुर्दशा बद से बदतर थी जो आज भी कुछ हद तक वैसी ही है यद्यपि न्यूयार्क में अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून की विशेषज्ञ रोंडा कोंप्लोन का मानना था कि स्त्रियों की अनुमति/सहमति के बिना ऐसे मामलों में उनकी पहचान को सार्वजनिक करना ग़लत है।बोस्निया की मुस्लिम बहुल आबादी में ऐसी स्त्रियां बहुत कम थी,जो आरोपियों को पहचानने के लिए आगे आयीं।

डायरी लिखना और ख़ासकर पीड़ित स्त्रियों के संग रहकर उनकी आपबीती को पन्नों में उतारना कोई आसान कार्य नहीं था।सेम्का ने विस्तार से आपवीती सुनाई है-

"सुनने के बाद मन अजीब-सा हो आया है, मुंह में कड़वा-कसैला स्वाद,बायीं करवट लेते ही घबराहट-सी उठी है। इस बार इस यात्रा की एक रात भी मुझे निर्विघ्न नींद नहीं मिली-धीरे-धीरे भोजन के प्रति उत्साह मरता जा रहा है, बस चावल और दही खाती हूं,यहां का मुख्य भोजन मांसाहार ही हैं-रात में डायरी और विवरण लिखते कुछ खाने की इच्छा नहीं होती।"

(देह ही देश)

इसी तरह गरिमा श्रीवास्तव ने एक स्थान पर लिखा -

"सोचा करती थी यूरोप में स्त्रियों की स्थिति एशियाई स्त्रियों से कहीं बेहतर होगी लेकिन ऊपर से दिखता प्रमुख बियर उत्पादक देश अपने भीतर लहूलुहान इतिहास छिपाए हुए हैं। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के विभाजन के समय लाखों निर्दोष लोग बेघर हुए और लगभग एक लाख स्त्रियां यौन शोषण और हिंसा का शिकार हुई। ऐसा क्यों होता है,युद्ध कहीं हो....किसी के बीच हो,मारी तो जाती है औरतें ही।"

(देह ही देश)

अर्थात् देश कोई हो युद्ध देह के लिए ही लड़ा जाता हे।भूख से बिलखते बच्चों के लिए देश के लिए स्त्री की देह ही सर्वोपरि है उसी को जीता है और उसी को हारा जाता है।

"शब्दों से अपर्याप्त अपमानित करने के बाद मेजाविक ने नंगे फर्श पर लेटने को कहा और शरीर के साथ मनमानी की,ऐसा लगभग चार घंटे चलता रहा।फिर मुझे वापिस लौटा दिया गया।मैंने दुखते शरीर की आह को भीतर जज़्ब

कर दिया,किसी को कुछ बताया नहीं,किसी ने कुछ पूछा नहीं।यह एक तरह का अनकहा नियम था कि औरतों के साथ जो भी घटता,वे उस पर बात नहीं करती।"

इस वाक्य में दुःख की इंतिहा है चुप रहो और सहते रहो।यात्रावृत अत्यंत मार्मिक है इसी से गरिमा श्रीवास्तव ने बीच बीच में टैगोर की कविता के अंशों को दोहराया है ताकि पाठक प्रकृति के सौंदर्य में बहकर कुछ पल आंसू पोंछ सके।टैगोर की कविता है न-

"एकटी शिशिर बिंदु

बहु दिन धरे,बहु कोश दूरे

बहु व्यय कोरे,बहु देश घूरे

देखते गियेछि पर्वत-माला,देखते गियेछि शिन्धु

देखा होए ना चक्षु मेलिया

घर होते शुधु दुई पा फेलिया

शारा देश घूरे,देखा होए न एकटी घास उपरे

एकटी शिशिर बिंदु"

(मैं कई वर्षों तक हजारों मील घूमा,खूब खर्च करके बहुत सारे देशों में घूमता रहा,पर्वत मालाएं-सागर देखता रहा,लेकिन इन आँखों ने उसे नहीं देखा जो मेरे घर से दो कदमों की दूरी पर था।पूरा देश घूमकर भी जो चीज दिखाई न पड़ सकी, वह थी मैदान में घास के शीर्ष पर टंकी ओस की एक बूंद)

(देह ही देश)पृष्ठ संख्या-87

इसी तरह लेखिका एक स्थान पर वर्ड्सवर्थ की कविता डेफ़ोडिल्स की अंतिम पंक्तियां भी दोहराती है।

For oft when on my couch I lie
In vacant or in pensive mood,
They flash upon that inward eye
Which is the bliss of Solitude, And than my heart with pleasure files,
And dances with the daffodils.
William Wordsworth
(देह ही देश)पृष्ठ संख्या-89

'देह ही देश'में यौन हिंसा का शिकार सिर्फ़ स्त्रियां ही नहीं पुरूष और बच्चे भी बने,जिसका रूप अकथनीय और वीभत्स था,सैनिक शिविरों में कैदियों को आपस में अप्राकृतिक आचरण के लिए मजबूर किया जाता।इवान का कहना है कि भूखे नंगे बीमार ठठरी मात्र रह गये कैदी को दूसरे कैदी के साथ अप्राकृतिक कर्म करने के लिए मजबूर किया जाता जिसकी तस्वीरे सैनिक खींचा करते , बंदूक की नोक पर कैदियों को विवश किया जाता,'ग्रेटर सर्बिया'बनाने की दिशा में यह एक कदम था जिससे अंतरराष्ट्रीय मीडिया को बताया जा सके कि बोस्नियाई-क्रोआती सांस्कृतिक रूप से कितने निकृष्ट हैं।

गरिमा श्रीवास्तव ने देह ही देश के माध्यम से स्त्री-पीड़ा को प्रकट किया है जिससे वहां की स्त्रियों का मानसिक संतुलन बिगड़ चुका है वो आज भी भयभीत है और ऐसे जीवन जीने को मजबूर हैं जिससे मृत्यु कहीं भली है उनके ज़िस्मों पर सैकड़ों घाव हैं और इन घावों ने न केवल ज़िस्मों को भेदा है वरन् आत्मा तक को झंझोड़ दिया है।ऐसे प्रांतों की औरते मात्र नुमाइश बनकर रह गयी थी। जिन्हे रोज़ कई कई बार रोंदा गया पर ऐसी त्रासदी झेलने के बावजूद आज वहां की स्त्रियां इतनी मजबूत है जो सबकुछ भूलाकर पुनः अपने पैरों पर खड़ी हैं।परिवार की देखरेख के साथ-साथ अपने बच्चों को बेहतरीन ज़िन्दगी देने में सक्षम हैं ।गरिमा जी ने आरंभ में ही इस यात्रावृत डायरी से संबद्ध लोगों,पुस्तको, जगहों आदि का व्यौरा देकर इस डायरी को पुख़्ता कर दिया है।अतः देह ही देश समकालीन साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

**संदर्भ विशेष**

**देह ही देश(क्रोएशिया प्रवास डायरी)-गरिमा श्रीवास्तव, 2017**

---

**सी-73 बादली एक्स्टेंशन दिल्ली-42**
**9868310402**
**mannufeb22@gmail.com**

**अर्चना त्यागी की कविता**

## "परिवर्तन"

परिवर्तन ज़रूरी है
परन्तु ऐसा भी क्या ?
हम मूल सहित हो जाएं परिवर्तित।
हमारी जड़ें फली फूली हैं जिसमे
जिसके पोषण से हम उगे,
इतने ऊंचे उठे कि,
सोच सकें आसमां छूने की।
उस मिट्टी से कटकर,
चेष्टा करें वहां उगने की
जहां पूर्णता है।
सोचना आवश्यक है,
परखना बेहतर है कि वह मिट्टी ही है।
रेत नहीं है।
कहीं हम उग ही न सकें,
जब तक सुध आए
हमारी अपनी मिट्टी, हो जाए परिवर्तित
चट्टानों में।
और उसे मान बैठें हम बंजर।
अर्चना त्यागी
मौलिक एवं स्वरचित।

**संक्षिप्त परिचय**
**नाम - अर्चना त्यागी**
**जन्म स्थान - मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश**
**वर्तमान पता- B-50, अरविंद नगर जोधपुर राजस्थान**
**संपर्क – 9461286131**
**ई मेल- tyagiarchana31@gmail.com**

**राजेन्द्र ओझा की कविता**

## दरिया और मनुष्य

पैर के तलुए
पहली बार छूते हैं जब
दरिया का खारा पानी
वह तैयार करते हैं खुद को
उतरने के लिए दरिया में
दरिया में बहुत भीतर तक जाने के लिए
छोटी लहर पर फिसलने से
सुनामी तक से लड़ने के लिए

दरिया आकर्षित करता है हमेशा
जी नहीं करता
दरिया में उतरने के बाद
बाहर आने का।
बड़ी लहरों से भिडने
और उसे मात देने के लिए
ज़िद करके दूर तक जाना
दरिया छूने के पहले पाठ का
विस्तार है।
तलुए से आगे
समा देना पूरा शरीर दरिया में।

दरिया भिगाता है,
दरिया डराता है,
दरिया थकाता है,
दरिया डुबोता है,
दरिया गिराता है,
वह दरिया है -
मनुष्य को हराने के हर प्रयत्न के बाद
वह इंतजार करता है
'डरे हुए मनुष्य का'
और मनुष्य
नृत्य की मुद्रा में सवार रहता है
कंपकंपाने
और भयभीत करने वाली लहरों पर।

**राजेन्द्र ओझा , पहाड़ी तालाब के सामने , बंजारी मंदिर के पास**
**वामनराव लाखे वार्ड (66), कुशालपुर , रायपुर (छत्तीसगढ़), 492001**
**मोबाइल नंबर**
**9575467733**
**8770391717**
**ईमेल- ozarajendra30@gmail.com**

**कहानी**

## वजूद

**डॉ. रंजना जायसवाल**

सुधा के एम. ए. करते ही घर में जोर-शोर से शादी की बातें चलने लगी ।पापा अखबारों और पत्रिकाओं में सर डाले बैठे रहते और अपनी लाडो के लिए योग्य वर की तलाश करते रहते। कागजों के छोटे-छोटे टुकड़े पर योग्य वर...सुधा को न जाने क्यों कभी-कभी ऐसा लगता वो लड़कों का बायोडाटा नहीं एक लॉटरी है लगी तो ठीक वरना...।सुधा एक अजीब सा जीवन जी रही थी,हर दूसरे-तीसरे महीने घर की साफ-सफाई शुरू हो जाती ।चादरें बदली जाने लगती,सोफे के नीचे झाड़ू डाल-डाल कर सफाई होने लगती ,सुधा माँ की इस हरकत पर मन ही मन मुस्कुरा देती।लड़के वाले उसे देखने आ रहे या फिर उसके घर को...पर माँ का यह भगीरथ प्रयास भी न जाने क्यों विफल हो जाता। सुधा देखने-सुनने में ठीक-ठाक थी पर न जाने क्यों लड़के वाले उसे हर बार मना कर देते।

लड़के वालों की मनाही कही न कही पूरे परिवार को तोड़ देती, कई दिनों तक घर मे एक अजीब सी नीरवता छा जाती।सब एक-दूसरे से नजरें चुराते रहते,सुधा एक अजीब सी आत्मग्लानि से भर जाती। लड़के वालों के आने से पहले होने वाले तामझाम के पीछे छिपे अनावश्यक खर्चों से वो कशमशा कर रह जाती। पापा लड़के वालों को लुभाने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ते पर फिर भी...एक अजीब सा अपराधबोध सुधा को लगातार घेर रहा था। लड़के वालों की लगातार मनाही से वो अंदर ही अंदर टूट रही थी। एक दिन माँ भैया पर बुरी तरह चिल्ला पड़ी थी,

" कितनी बार कहा कि सुधा की फोटो किसी कायदे के स्टूडियो में खिचवाओं, पर मेरी सुनता कौन है।"

"माँ!तुम भी न…फोटो का क्या है।मैंने तो उससे कहा भी था कि एक शेड गोरी करके प्रिंट निकालना पर पता नहीं इन लड़को वालो का कुछ समझ नहीं आता।आखिर उनको बहू लानी है कि हीरोइन।"

माँ न जाने क्यों अचानक से वहमी होती जा रही थी,

"सुधा के पापा.. अबकी लड़के वाले आये तो उन्हें काजू वाली नहीं पिस्ते वाली मिठाई परोसेंगे। शुक्लाइन कह रही थी शुभ काम में सफेद नहीं रंगीन मिठाई खाई और खिलाई जाती है।हो सकता है लाडो की शादी इसी वजह से न हो पा रही हो।"

सुधा की साड़ियों का रंग भी हर लड़के वाले कि मनाही के साथ बदलता जा रहा था,शायद …???

नवीन और उसका परिवार पिछले महीने ही देख कर गया था, नवीन के परिवार ने सुधा को देखते ही पसन्द कर लिया। माँ के पैर तो जमीन पर ही नहीं पड़ रहे थे।सुधा ने भी कही न कही राहत की सांस ली,इस रोज -रोज के दिखावे से वो भी तंग आ चुकी थी। दो साल का वनवास आज ख़त्म हो गया था,वो खुश थी शायद इसलिए... क्योंकि घर मे सब खुश थे। आज तक वो उनकी खुशी में ही तो खुश होती आई थी।खुद की खुशी क्या है... वो कब का भूल चुकी थी।

पापा और मम्मी नवीन के परिवार से आगे की बात करने के लिए कल सुबह ही निकल गए थे, रात में

पापा के फोन आने के बाद घर में एक अजीब सा भूचाल मचा हुआ था।सुधा पूरी रात सो नहीं पाई थी। भैया सुबह-सवेरे ही उसके कमरे में चले आये थे,वो उसे काफी देर तक समझाते रहे।सुधा विचारों के भंवर में डूब उतरा रही थी।भैया बिस्तर से उठ खड़े हुए,

"सुधा सोच लो,कोई दबाव नहीं है।पापा-मम्मी …ने मुझ पर ये जिम्मेदारी छोड़ रखी है।कोई तुम्हारा बुरा नहीं चाहता, तुम जो फैसला लोगी वो सबको मंजूर होगा।"

भैया ने हाथ बढ़ाकर कमरे के पर्दे को हटाया और कमरे से बाहर निकल ही रहे थे कि सुधा ने पीछे से आवाज लगाई,

"भैया…??"

"क्या हुआ... कुछ कहना चाहती हो...बोलो मैं सुन रहा हूँ।"

भैया चुपचाप बिस्तर पर आकर बैठ गए,सुधा के चेहरे पर एक अजीब सी बेचैनी थी।वो समझ नहीं पा रही थी कि बात कहाँ से शुरू करें।

"भैया!!...आप बुरा न माने तो एक बात पूछूँ.."

"बोल न ..मैं सुन रहा हूँ।"भैया ने बड़े प्यार से सुधा के सर पर हाथ फेरा।

"भैया!..अगर ऐसा ही रिश्ता आपके लिए आया होता तो क्या आप...आप तैयार होते,आप शादी के लिए हाँ कर देते।"

शायद ये बात कहने के लिए सुधा को बहुत हिम्मत जुटानी पड़ी थी,उसके चेहरे पर न जाने कितने रंग आये और गए। उसकी सांसे फूल रही थी,जैसे वो न जाने कितने मीलों का सफर तय करके आयी थी।सच ही तो था, वो आज तक एक सफर में ही थी।एक ऐसा सफर जिसकी मंजिल की डोर हमेशा दूसरे के हाथों में थी।आज पहली बार उससे उसका फ़ैसला पूछा गया था । फैसला! अपनी ज़िंदगी का फैसला ...आज तक वो सिर्फ दूसरे के फैसले सुनती आई थी और मानती भी आई थी।

शिकायत नहीं थी उसे किसी से.. होती भी तो किससे…फैसले लेने वाले लोग भी अपने ही तो थे पर आज तक उसके जिंदगी के फैसले दूसरों ने ही लिए थे।किस साइड से उसे पढ़ना है, कौन से विषय उसे लेने चाहिए,कॉलेज जाने के लिए इस रंग का सूट नहीं… बिल्कुल भी नहीं, पढ़ने जा रहे हैं कोई बाजार-हाट घूमने नहीं। कॉलेज से इतने बजे तक आ जाना….उफ्फ।सुधा ने अपने कान बन्द कर लिए...चारों तरफ विचारों का एक अजीब सा कोलाहल था पर भीतर एक गहरा सन्नाटा पसरा हुआ था। माथे पर पसीने की चंद बूंदे चुहचुहा गई।

"बोलिये न भैया!...क्या आपने ऐसे रिश्ते के लिए हाँ कही होती।"

"नहीं...बिल्कुल भी नहीं!"

सुधा भैया के चेहरे पर अपने सवालों के जवाब ढूंढ़ती रही, भैया के इस एक शब्द से उसकी दुनिया हिल गई।

"क्यों..?"

"मेरे पास इतने सारे विकल्प है तो मैं क्यों ऐसी लड़की को पसन्द करूंगा।मुझे एक से एक लड़कियाँ मिल जाएगी।पढ़ा-लिखा हूँ,अच्छा-खासा कमाता

हूँ, मुझे लड़कियों की कौन सी कमी....जो मैं ऐसी लड़की से शादी करूँ।"

सुधा आश्चर्य से भैया का मुँह देखती रह गई,भैया अपनी ही दुनिया में मस्त थे।पुरुष होने का दम्भ अचानक से उनके चेहरे पर दिखने लगा था, पढ़ी-लिखी तो वो भी थी। शायद परिवार का प्रोत्साहन मिल जाता तो नौकरी भी कही न कही मिल ही जाती पर...

"हमारी जाति में ज्यादा पढ़ाया नहीं जाता। इतना पढ़ा-लिखा लड़का कहाँ से लाएंगे,वैसे भी सम्भालनी तो गृहस्थी ही है, फालतू में समय और पैसा क्यों बर्बाद करना।"

कितनी आसानी से कह दिया था माँ ने,कितना लड़ी थी उस दिन वो माँ से...

"अपनी जाति में लड़के न पढ़े इसलिए मैं भी न पढ़ूँ ये कहाँ का न्याय है। मेरे सपनों को क्यों कुचल रही हो माँ.."

न जाने क्या सोचकर सुधा की आँखें भीग गई,पर भैया न जाने किस दुनिया मे खोए हुए थे।

"सुधा!...गनीमत है लड़के वालों ने कुछ छिपाया नहीं, ये तो उनकी शराफत है वो चाहते तो छुपा भी सकते थे।भगवान का शुक्र है हमें शादी से पहले ही पता चल गया।"

"ऐसे कैसे छुपा लेते भैया...शादी-ब्याह का मामला है।दो परिवारों के विश्वास की बात है।उन्हें लगा होगा किसी तीसरे से पता चले उससे अच्छा है कि खुद ही बता दे।"

" तू कितनी भोली है,अभी तूने दुनिया देखी ही कहाँ है.."

"भैया!...उन्हें भी डर था कि अब गोद भराई तक बात पहुँच गई है ,अब नहीं बताया तो सब गड़बड़ हो जाएगा पर गड़बड़ तो हो गई न..."

" गड़बड़ कैसी...?"

"इतना बड़ा सच उन्होंने हमसे छुपाया और आप कह रहे हैं..."

"दिक्कत क्या है सुधा...इंजीनियर है...इकलौता है..शहर के बीचों-बीच दो मंजिला मकान है।पूरा परिवार तुम्हें हाथों-हाथ लिए रहेगा और क्या चाहिए तुम्हें...?"

"भैया!उसके पैर में रॉड पड़ी है।कल...!!"

"सुधा!..वो एक दुर्घटना थी। हड्डी टूट गई,डॉक्टर ने रॉड डाल दी। तुमने भी देखा है नवीन को चलने-फिरने में कोई दिक्कत नहीं है।"

"पर कल..!"

"कल क्या...उन्होंने बताया कि रॉड जिंदगी भर भी पड़ी रहे तो भी कोई दिक्कत नहीं और निकाल ले तो भी..."

"पर..!!"

"पर-वर कुछ नहीं।"

सुधा की आशंका गहराती जा रही थी,सुधा के पास इस रिश्ते से इंकार करने का सारे तर्क भैया ने ध्वस्त कर दिए थे। एक तरफ सबने फैसले लेने के सारे अधिकार भी उसके नाम से सुरक्षित कर दिए थे और दूसरी तर्क पर तर्क दे उसकी शंका, उसके सवालों

को ध्वस्त करते जा रहे थे। न जाने क्यो... उसे ऐसा लग रहा था मानो वो कोई विज्ञापन देख रही हो जहाँ सामान की कोई गारन्टी नहीं लेना चाहता और उद्घोषक वैधानिक चेतावनी के नाम पर नियम-कानून इतनी तेजी से बोलता है कि आप सुनकर भी सुन नहीं पाते।

"सुधा!..एक बात कहूँ, पति अपने से कुछ कमतर हो तो जीवनभर एहसान तले दबे रहता है। परिवार तुम्हे देवी की तरह पूजेगा और समाज की नजरों में तुम हमेशा महान बनी रहोगी।जानती हो नवीन की मम्मी बता रही थी कि नवीन ने अपना सर्टिफिकेट भी बनवा रखा है ट्रेन में उसका टिकट मुफ्त हो जाता है और साथ चलने वाला का आधा… मौज ही मौज रहेगी तुम्हारी। "

सुधा आश्चर्य से भैया को देख रही थी,नवीन अपने परिस्थितियों के आगे अपाहिज थे, लाचार थे...ईश्वर ने उनके साथ अच्छा नहीं किया पर क्या ये समाज भी मानसिक रूप से अपाहिज नहीं है।महान बनने का इससे अच्छा शॉर्ट कट कोई हो ही नहीं सकता था,कही न कही इस रिश्ते के लिए पापा-मम्मी और भैया का मन भी गवाही नहीं दे रहा था, जिंदगी भर उसके हर छोटे-बड़े फैसले आज तक वो ही लोग ले रहे थे पर आज...।कही न कही भैया ने अपनी बातों से ये जता भी दिया था कि लड़कियों का क्या है उनके लिए कुछ भी चलता है पर क्या सच में...कल समाज को जवाब देते-देते वो थक जाएगी।कमी उसमें नहीं नवीन में थी पर उंगलियाँ हमेशा उस पर उठेगी,जरूर कोई बात होगी जो घर वालों ने ऐसे लड़के से शादी कर दी।

---

महान बनने का इससे अच्छा मौका उसे नहीं मिलेगा पर क्या वो सचमुच अपने पति को बेचारे की तरह उम्र भर चाहना चाहती है ...आज पहली बार किसी ने उससे उसकी राय,उसका फैसला पूछा है ,एक बारगी उसे नवीन पर दया भी आती थी पर कही न कही वो भी तो समाज के मानसिक विकलांगता की शिकार थी।

सुधा फैसला कर चुकी थी,इस फैसले का जो भी परिणाम हो पर अब वो समाज की खोखली विकलांगता का शिकार नहीं हो सकती।सभी को अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी,चाहे सामने कोई भी हो।

"भैया ! मैं माफी चाहती हूँ, मैं ये शादी नहीं कर सकती।मम्मी-पापा को बता दीजियेगा...लड़के वालों को मनाकर दें।"

भैया हक्के-बक्के से सुधा को देख रहे थे,शायद उन्हें सुधा से इस बात की उम्मीद नहीं थी।शायद वो भी ये मानकर चले थे कि लड़कियों के लिए कुछ भी चलता है पर नहीं बस अब और नहीं।किसी न किसी को तो कदम तो बढ़ाना ही होगा..सुधा का चेहरा आत्मविश्वास से चमक रहा था।सुधा के एक फैसले ने जता दिया कि लड़कियों के लिए कुछ भी नहीं चलता। सुधा सोच रही थी कि सही मायने में विकलांग कौन था नवीन या फिर समाज…?

---

**परिचय:** लाल बाग कॉलोनी, छोटी बसही, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, पिन कोड 231001
दिल्ली एफ एम गोल्ड ,आकाशवाणी वाराणसी और आकाशवाणी मुंबई संवादिता से लेख और कहानियों का नियमित प्रकाशन, पुरवाई,लेखनी,सहित्यकी, मोमसप्रेशो, अटूट बन्धन, मातृभारती और प्रतिलिपि जैसी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय ऐप पर कविताओं और कहानियों का प्रकाशन,

# हिमाचल प्रदेश और लोकजीवन

**डॉ. ममता***

भारत के हिमालय क्षेत्र के पश्चिमी मध्य क्षेत्र में बसा हुआ पहाड़ी प्रांत है। भारतीय मानचित्र में हिमाचल प्रदेश एक अद्भुत राज्य है। यहां गगनचुंबी शैल शिखर ,देवदार के वृक्षों से भरे वन, फल और फूलों से सज्जित धरा, कल - कल करते झरने ,विभिन्न स्वरों में चहचहाते पक्षी समूह, दूर पर्वतों की ओट में संध्या का ढलता सूरज , सतलुज की गहराई से लेकर कैलाश पर्वत की ऊंचाइयों तक बिखरी छटा ,अनुपम है। अपनी प्राकृतिक शोभा लिए हुए युगों-युगों से सब को सम्मोहित करता आया है। हिमाचल प्रदेश आज भी करोड़ों लोगों के आकर्षण का केंद्र है। यहां प्रत्येक ऋतु अपना अलग सौंदर्य लेकर उपस्थित होती है। भारत के महत्वपूर्ण पहाड़ी प्रदेशों में यह प्रदेश 'हिम' और 'अचल' दो शब्दों के मेल से बना है जिसका अर्थ है 'हिम' अर्थात 'बर्फ'और 'अचल 'अर्थात पहाड़ । यानी बर्फ से लदे पहाड़।इस प्रदेश के गिरी शिखरों पर सदैव बर्फ की सफेद चादर तनी रहती है। पर्वतों का सदैव बर्फ से ढके रहना इसके नाम की सार्थकता को प्रमाणित करता है। हिमाचल अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिए समूचे भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि विश्व भर में अपनी अलग पहचान बनाए हुए है।

हिमाचल का प्राकृतिक धरातल विविधता लिए हुए हैं। यह प्रदेश अनेक जातियों के लोगों तथा संस्कृतियों का संगम स्थल है। यहां कई बोलियां तथा विभिन्न प्रकार के पहनावे प्रचलित हैं। प्रत्येक प्रांत अथवा समाज में कई प्रकार की धारणाएं एवं मान्यताएं एक साथ विद्यमान रहती हैं और उसी परिवेश में वहां की ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक ,राजनीतिक विचारधारा तथा अर्थव्यवस्था, धर्म संस्कृति आदि मूल्य दृष्टियां दिखाई देती हैं।

हिमाचल का लोकजीवन ऊंची-ऊंची पर्वत श्रेणियों तथा घाटियों के मध्य सक्रिय है। यहां के नदी -नाले ,लहलहाते हरे -भरे खेत और चीड के वृक्ष, लोग जीवन में नैसर्गिक आनंद एवं उत्साह भरते हैं ।हिमाचल प्रदेश का लोक - जीवन प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर है। सच्चाई पर रहना यहां के लोगों का विशेष गुण है। हिमाचली लोक जीवन कई तरह के व्यवसाय में व्यस्त हैं। खेती-बाड़ी यहां के गांव के सामाजिक-आर्थिक ढांचे की रीढ़ है। यहां के लोग मेहनती और ईमानदार हैं। हिमाचल वासियों का जीवन धर्म के इर्द-गिर्द घूमता है। धर्म लोक- जीवन में विस्तृत भूमिका का काम करता है। लोक गीत ,लोक कथाएं, देव कथाएं कहावतें लोगों के मनोलोक में विद्यमान हैं। बड़ी से बड़ी बात या छोटी से छोटी बात के लिए गांव के देवी -देवताओं के समक्ष दुहाई दी जाती है। हमारे चारों ओर जो बुराइयां हैं ,विचित्रताएं हैं ,विशेषताएं और कमियां हैं उनका मूल कारण कर्मों का फल बताया जाता है अर्थात यहां का संपूर्ण लोग जीवन धर्म की परिधि में चक्कर लगाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति का जीवन धर्म की धुरी पर चलता है। व्यक्ति का प्रत्येक कार्यकलाप धर्म से अभिप्रेरित रहता है।

हिमाचल का जीवन सरलता ,उदारता, मानवता एवं सहिष्णुता के गुणों से भरपूर है। यहां के लोग भोले ,उदार और इमानदार हैं।भारत के अन्य प्रांतों की भांति हिमाचल का समाज भी अपने में विविधता लिए हुए हैं। हिमाचल प्रदेश को उच्च सामाजिक आदर्शों एवं सांस्कृतिक वैभव का प्रतीक माना गया है। इस प्रदेश के लोग संयुक्त परिवार प्रथा को अच्छा समझते हैं। यहां संयुक्त परिवार के साथ लघु परिवार तथा अणु परिवार की प्रथा की झलक भी मिलती है। परिवार के सारे सदस्य आपस में मिल जुल कर रहते हैं तथा आपसी सहयोग के से परिवार को उन्नति के मार्ग पर ले जाने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। हिमाचली समाज में सामाजिक भावनाएं ,लोका चार जीवन की विधियां तथा

आचार -विचार परिवार के माध्यम से ही व्यक्ति तक पहुंचते हैं। संपूर्ण सामाजिक संस्थाओं में परिवार ही मूलभूत सामाजिक संस्था है जिस पर सामाजिक व्यवस्था आधारित है ।इसी के द्वारा मनुष्य का संबंध समाज के साथ जुड़ता है। व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाने के सभी उपक्रम परिवार में ही पूर्ण होते हैं। हिमाचल प्रदेश की सामाजिक परिस्थिति को देखा जाए तो ज्ञात होता है यहां वृद्धों के प्रति आदर और श्रद्धा भाव है। माता -पिता और गुरु के प्रति सम्मान की भावना देखने को मिलती है। स्वतंत्रता के पश्चात यहां के सामाजिक जीवन में बहुत बदलाव आया है। संयुक्त परिवार में सभी व्यक्तियों को खेतीबाड़ी तथा अन्य घर के काम संभाल दिए जाते हैं यदि एक हल चलाने का काम संभालता है तो दूसरा भेड़-बकरियां चराने का। संयुक्त परिवार में व्यक्ति अपने अपने कार्यों को पूरी जिम्मेदारी के साथ निभाते हैं।

यहां के लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करके हिमाचली भी वर्तमान समय में उच्च तथा प्रदेश में प्रतिष्ठित पदों पर आसीन हैं। हिमाचली स्त्रियां पहले उच्च शिक्षा प्राप्ति में असमर्थ थी। कहा जाता है कि किसी भी समाज के निर्माण में नारी का महत्वपूर्ण योगदान होता है। हिमाचली स्त्रियां पहले घरेलू कार्य में ही व्यस्त रहती थी ,इनकी परिधि घर की चारदीवारी तक ही सीमित थी लेकिन आज वही स्त्री चिकित्सा, न्यायालय ,वायु सेना, प्रशासनिक सेवा से लेकर राजनीति तक में अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं तथा पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है। हिमाचली नारी आज प्रत्येक पद की दावेदार है। इन सब क्षेत्रों में अग्रसर हिमाचल की नारी सामाजिक मर्यादाओं के प्रति भी जागरूक है तथा कोई भी कार्य सामाजिक नीतियों के विरुद्ध नहीं करती।

हिमाचली लोक धार्मिक हैं ,यहां थोड़ी- थोड़ी दूरी पर ही हर गांव में मंदिर है। स्थानीय लोग देवी-देवताओं पर अत्यधिक विश्वास रखते हैं। लोग यह मानते हैं कि मंदिर में जाकर कोई भी कामना की जाए तो वह जरूर पूरी होती है। मन्नत पूरी होने पर लोग श्रद्धा अनुसार मंदिर में पैसे ,नारियल ,धूप ,मेवा, बकरे की बलि इत्यादि देते हैं ।हिमाचल प्रदेश में देवी- देवताओं को अधिक मान्यता देते हैं। कुछेक स्थानों पर देवी-देवताओं के निर्णय को अंतिम निर्णय माना जाता है ।लोग सुख- दुख दोनों स्थितियों में देवी -देवताओं की शरण में आते हैं विवाह -शादियों के अवसर पर वधू को 'कुलजा 'माता का आशीर्वाद दिलाने की प्रथा है ।"कुल्लू जनपद के 'मलाणा 'नामक गांव में जामलू देवता का एकछत्र शासन है जिसकी अनुपालन वहां की जीवन पद्धति और रीति -रिवाज में आज भी उतनी ही श्रद्धा से लोकजीवन में परंपरीत है। इस प्रकार हिमाचल की सामाजिक जीवन पद्धति धर्म के इर्द-गिर्द निर्मित होती है।

कृषि हिमाचल प्रदेश की सामाजिक परिस्थिति को दर्शाती है। कृषि यहां का मुख्य व्यवसाय है। कृषि के अलावा पशुपालन तथा व्यापार भी यहां के मुख्य व्यवसाय हैं। खेती-बाड़ी यहां के गांव की सामाजिक-आर्थिक ढांचे की परख पहचान है। पहाड़ी जनजातियों में भेड़-बकरी तथा घोड़े खच्चर भी पाए जाते हैं। वर्तमान समय में गांव में लघु उद्योगों के प्रारंभ, मछली पालन, खनिज पदार्थों ,जड़ी बूटियों के उद्योग विकास तथा पर्यटन संबंधी योजनाओं और विद्युत परियोजनाओं के विकास ने इस प्रदेश के सामाजिक जनजीवन में क्रांति ला दी है ।आजादी से पहले हिमाचल- प्रदेश का लोक- जीवन दयनीय एवं शोचनीय अवस्था में था। यातायात, शिक्षा ,कृषि ,बागवानी उद्योग के साधन बड़े सीमित थे।आजादी के पश्चात धीरे-धीरे इन क्षेत्रों में शिक्षा तथा विकास के अनेक आयाम खुले, जिसके परिणाम स्वरुप यहां के लोक-जीवन में आर्थिक विकास हुआ। कहा जाता है कि किसी भी प्रदेश की यदि आर्थिक स्थिति ठीक हो तो सामाजिक स्थिति स्वयं ठीक होगी। हिमाचल प्रदेश का सामाजिक तथा आर्थिक स्तर

वर्तमान समय में एक मजबूत पायदान पर खड़ा है। यहां के लोगों की सामाजिक अवस्था का अनुमान इनकी स्तरीय जीवन से लग सकता है।

हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी समाज में माता-पिता ,भाई-बहन ,सास-ससुर, पति-पत्नी ,जेठ -जेठानी, देवर -भाभी, सास-ससुर ,भाई -भाभी आदि संबंधों की प्रधानता है। यहां कई स्थानों पर लड़की का जन्म अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि आधुनिक युग में माता-पिता को अनेक प्रकार की परेशानियों और मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। एक तरफ आधुनिक समाज में उपयुक्त वर ढूंढने की समस्या है। लोगों की मान्यता है कि लड़कियां पराया धन होती हैं लेकिन अब लोगों की सोच में भी परिवर्तन आने लगा है और लोग लड़कियों को अब उच्च शिक्षा दिलाकर, उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करने के पक्षधर हैं इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोग अपनी बेटियों को अच्छे स्कूलों ,महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में शिक्षा दिलवा रहे हैं। आज के बदलते सामाजिक दृष्टिकोण को देखकर यही लगता है कि हिमाचली समाज पुराने बंधनों से मुक्त होकर एक नए समाज आज की संरचना में अग्रसर है।

हिमाचल प्रदेश में जब किसी के घर में लड़का पैदा हो तब उत्सव मनाया जाता है। गांव के लोग बधाई देने आते हैं। लोगों को गुड तथा शक्कर बांटी जाती है। लेकिन इस प्रकार का रिवाज अब केवल गांव में ही देखने को मिलता है । गुड तथा शक्कर का बांटना शुभ माना जाता है। गांव के स्त्री -पुरुष तथा सगे -संबंधी उपहार लेकर बधाई देने आते हैं। शुद्धिकरण के लिए घर में 11 दिन का हवन किया जाता है। हवन वाले दिन को 'होम ', गंत्रेला', 'गूंत' ,'पंजाप 'कहा जाता है । हवन वाले दिन लोगों को खाना- खाने के लिए आमंत्रित किया जाता है तथा स्त्रियां इस दिन बधाई गीत गाती हैं। लड़का होने पर जच्चा की खूब सेवा की जाती है। लड़की के मायके वाले 'पंजाप ' के दिन आते हैं तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार बच्चे को, जमाई को ,सास-ससुर को, नन्द व जेठ- जेठानी के लिए कपड़े लाते हैं। कहीं-कहीं इस अवसर पर नाना -नानी के द्वारा 'धाम '(बड़ा भोज) देने का रिवाज है।

हिमाचल प्रदेश मेलों और त्यौहारों का प्रदेश है। यहां के सामाजिक जीवन में मेले व त्यौहार विशेष महत्व रखते हैं। यहां के व्रत ,मेले ,त्यौहार लगभग सारा साल चलते हैं। त्योहारों के अतिरिक्त यहां स्त्रियों द्वारा विशेष व्रत किए जाते हैं जिनमें से पूर्णिमा ,करवा चौथ, सत्यनारायण व्रत कथा, सोमवार व्रत कथा, नवरात्रों के व्रत ,जन्माष्टमी के व्रत बड़ी श्रद्धा और विश्वास के साथ किए जाते हैं। वैशाख की संक्रांति को 'वसोआ' या 'विशु 'मनाया जाता है। अश्विन की संक्रांति को' सैर' मनाई जाती है। 'सैर'वाले दिन अखरोट, धान के पौधे , 'पे ठे ',मक्की और फल रखकर पूजा की जाती है ।अगले दिन पूजा की हुई सामग्री जल में प्रवाहित की जाती है। इस दिन बच्चे अखरोट खेलने का भरपूर आनंद लेते हैं। पौष के महीने में लोहड़ी मनाई जाती है तथा इससे अगले दिन खिचड़ी का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन मां- बाप अपनी बेटियों को उनके परिवार सहित खिचड़ी खाने के लिए आमंत्रित करते हैं। हिमाचल में उत्सवों के अतिरिक्त कुल्लू का दशहरा मेला ,मंडी का शिवरात्रि मेला ,सुंदरनगर का नलवाड़ी मेला, चच्योट का कामरू नाग मेला, करसोग का महुन्नाग मेला, चंबा का मिंजर मेला, सिरमौर का रेणुका मेला ,रामपुर का लवी मेला, बिलासपुर का नलवाड़ी मेला इत्यादि प्रसिद्ध है इन मेलों में दूर-दूर से आकर लोग भाग लेते हैं।

हिमाचल के गांव के लोग एक दूसरे को किसी न किसी रिश्ते से संबोधित करते हैं। घर में मौजूद सबसे वृद्ध पुरुष को 'बाबा 'तथा सबसे बड़ी स्त्री को 'जी' से संबोधित किया जाता है।“[1] घर की बहूएं, ससुर ,नंदोई ,मामा इत्यादि से पर्दा करती हैं ।घर में औरतें मर्दों का नाम नहीं लेती यदि गलती से भी किसी ने अपने पति या घर के किसी पुरुष का

नाम ले लिया तो सारे गांव ,घर में चर्चा का विषय बन जाता है लेकिन बदलती परिस्थितियों और परिवेश के कारण इन सब में संतोषजनक परिवर्तन आया है।

यहां के लोगों का खान-पान तथा पहरावा सीधा साधा है। पहनावे में ऊन की कुर्ती तथा चूड़ीदार पजामी का उपयोग किया जाता है। हिमाचली लोगों के पहनावे/ वेशभूषा के संबंध में गौतम व्यथित ने लिखा है ,"हिमाचल वासियों की वेशभूषा बहुरंगी तथा आंतरिक सौंदर्य से परिपूर्ण है। ऊपरी पहाड़ी पर रहने वाले लोग प्रायः ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। लाहौल के लोग लंबे चोगे तथा तंग पजामी पहनते हैं। सिर पर मग्जी टोपी तथा पैरों में चमड़े तथा घास के बने पुलें पहनते हैं। टोपियां भी क्षेत्रीयता का बोध कराती हैं। कुल्लू के लोग सफेद चोला, काली टोपी, पायजामा तथा कुल्लुवी टोपी पहनते हैं। स्त्रियां पट्टू , ढाटू और गाजी पहनती हैं। गद्दी चोला, डोरा चूड़ीदार पायजामा ,ऊनी टोपी पहनते हैं। कमर में बंधा काला डोरा पीठ पर बोझ उठाने में सहायक होता है। गद्दी स्त्रियां रंग - बिरंगे फूलों के छपे खद्दर का चोला पहनती हैं। सिर पर किनारी वाली मोटी चादर लेती हैं। गद्दी की खोहक में मेमने सजते हैं। कमीज ,टोपी , खेस्ती,लंगोटि, सूती कपड़े का कोट, चूड़ीदार पायजामा, साफा, कलीदार कुर्ता आदि सिरमौरी वस्त्र है।"[2] समस्त इलाके में औरतें' चुन्नी', 'चादरू' तथा 'सलवार कमीज 'का प्रयोग करती है। वर्तमान समय में जमाना बदल रहा है अतः हिमाचल के पहनावे में भी विभिन्नता आई है तथा आधुनिक परिधानों के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ रहा है।

हिमाचल के ऊपरी इलाकों में सभी भाई एक ही पत्नी से विवाह कर लेते हैं ताकि मूल संपत्ति छीन भिन्न न हो सके। इस विवाह को द्रोपती विवाह कहा जाता है। बहुपति प्रथा प्रचलन किन्नौर और लाहौल में है। स्पीति चंबा के पहाड़ी क्षेत्र, कुल्लू के भीतरी भाग, महासू के पूर्वी छोर और सिरमौर के रेणुका इलाके में कहीं-कहीं इस परंपरा का आज भी अनुकरण किया जाता है। परंतु समय और परिस्थितियों के बदलने के साथ यह पुरानी प्रथाये अपना अस्तित्व खोती जा रही हैं हिमाचल में अधिकतर विवाह वैदिक रीति के अनुसार किए जाते हैं और शादी से पहले लड़के और लड़की की कुंडली पंडित के द्वारा मिलाई जाती हैं जब कुंडली के अनुसार दोनों के ग्रह मिल जाएं तो शादी पक्की की जाती है। यहां प्रेम विवाह का प्रचलन आरंभ हो गया है लेकिन समाज इस विवाह को अच्छी दृष्टि से नहीं देखता आज के समय में अंतर जातीय विवाह भी होने लगे हैं। अस्पृश्यता की भावना आज भी हिमाचल में ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद है लेकिन लोगों की आई भावना में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है।

हिमाचल प्रदेश में मृतक संस्कार भी विधिवत किया जाता है।" किन्नौर में किसी की मृत्यु पर रात को सारा गांव मृतक के यहां इकट्ठा हो जाता है जिसे ड्रम्रतदी कहा जाता है यहां मुर्दे को बड़े बर्तन लम कुनियाल के ऊपर खड़ा कर नहला धुला कर सफेद कपड़े में लपेट दिया जाता है। मूर्ति को दो व्यक्ति उठाकर श्मशान ले जाते हैं। उसे एक बड़े तख्ते पर ,टांगों को घुटनों के पीछे करके चार खूंटोके सहारे बिठा दिया जाता है। यदि टांगें सीधी रखी जाए तो शरीर में भूत प्रवेश का भय बना रहता है। लामा द्वारा मृतक की शिखा पकड़ कर उसके कान में तीन बार फोहा कहने की प्रथा है। लामा मृतक के सिर की ओर बैठकर मंत्र पढ़ता । उसकी आत्मा को बाहर जाने का मार्ग दिखाता है। इस प्रक्रिया में मृतक के सिर से खून निकलना शुभ माना जाता है। मृतक की अर्थी घर से शमशान घाट ले जाने पर दालमिली रोटी छत पर फेंकी जाती है जो कौए के माध्यम से मृतक की आत्मा को मिल जाती है। लामा द्वारा सप्ताह में (मृत्यु वाले दिन) मृतक के घर पोथी पढ़ी जाती है। सात सप्ताह पश्चात दोनों मिलकर पोथी पढ़ते हैं। घर वालों द्वारा उन्हें भोजन देकर संतुष्ट किया जाता है। मृत्यु वाले दिन लामा उन्हें मृतक के अगले जन्म की कथा बताते हैं। संकट योनि की स्थिति में दान आदि भी कराया जाता है। कुछ जातियों में सात दिन तक दीपक

जलाया जाता है। तीसरे दिन छ ओल्या रस्म तथा तेरहवें दिन कीरिया की की भांति 'दमकोचड' प्रथा होती है। पंद्रहवें दिन लामा हवन करवाता है।"[3] "लाहौल घाटी में यह प्रथा कुछ क्षेत्रीय भेद रखती है। वहां किसी वृद्ध की मृत्यु होने पर उसे लामा के पहुंचने तक छुआ नहीं जाता। लामा मृतक के कान में आत्मा को जाने का संकेत देता है। इसे फुआं कहा जाता है। तत्पश्चात मृतक को लोहे अथवा लकड़ी की कुर्सी पर बिठा कर कोने में रख दिया जाता है। घी का दिया जलाया जाता है। परिवार के स्तर अनुसार मृतक को दो तीन दिन घर में रखा जाता है। मृतक को अर्थी में कफन आदि से सजा कर शमशान भूमि को ले जाते हैं। लामा मंत्र पढ़ता है, ढोल और शंख बजते हैं और संबंधी रोते हैं। शंख तथा झंडा लिए दो व्यक्ति अर्थी के साथ साथ चलते हैं। कुछ परिवारों में अर्थी के ऊपर छाता तान कर भी चलते हैं। रास्ते में अर्थी को चेहरा देखकर ढोल, शंख तथा झंडे वाले व्यक्तियों द्वारा उसकी परिक्रमा की जाती है।"[4] "मृतक को अग्नि देकर अगले दिन अस्थियों को एकत्रित कर चंद्रभागा तट पर प्रवाहित किया जाता है। स्पीति घाटी में मृत्यु संस्कार का अपना एक विचित्र रिवाज है। यहां किसी की मृत्यु पर झावा को बुलाकर यह पता किया जाता है कि उसे जलाया जाए ,दबाया जाए अथवा काटकर पहाड़ी पशु पक्षियों के भक्षण अर्थ फेंका जाए। यहां के सभी लोग झा वा के संकेत का पालन करते हैं।"[5]

हिमाचल वासियों का खानपान सादा और क्षेत्रीय ता के अनुरूप ही पाया जाता है। "पहाड़ों में गेहूं, कोदरा तथा जौ की रोटीके साथ-साथ साग -सब्जी, छाछ की कढ़ी आदि बनाई जाती है। यहां विवाह के अवसर पर धाम में अनेक प्रकार के मीठे ,नमकीन तथा ख्ट्टे व्यंजन बनाए जाते हैं। मांश तथा चने की दाल, मदरा ,रायता ,चावल पुलाव ,मठरी ,खट्टा आदि लोकप्रिय व्यंजन है। 'कुल्लुवी'धाम में मदरा, कड़ी , तैलीय माह ,चने की दाल, रायता, मीठे चावल ,खट्टे चने आदि पकाए जाते हैं। मंडी की धाम में सेपू बड़ी और मह की दाल तथा झोल विशेष रूप से प्रसिद्ध है। गद्दी जनजाति मांस की अधिक शौकीन मानी जाती है। जनजातीय क्षेत्रों में विवाह के अवसर पर अपने सगे संबंधियों को मास की दावत दी जाती है। निचले क्षेत्रों में खानपान अधिकतर आधुनिक रीति से ही किया जाता है।"[6]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिमाचल प्रदेश का लोक जीवन बहुरंगी है। यहां के लोगों का सुशील स्वभाव, हंस मुख्ता तथा सच्चाई चारित्रिक विशेषताओं का अंकन करती है। यहां अनेक प्रकार के लोग विश्वास धार्मिक विश्वास ,विभिन्न प्रथाएं, आस्थाएं पारंपरिक रूप में प्रचलित हैं। बदलते परिवेश ,नैतिक मूल्य, शिक्षा के प्रसार एवं विज्ञान ने यहां के लोग जीवन में थोड़ी बहुत उथल-पुथल तो अवश्य की है परंतु इसके बावजूद भी लोक-संस्कृति को बड़े ही सहज ढंग से संजोए रखा है। यहां के लोगों का जीवन प्रकृति के समान सुंदर एवं शांत है। हिमाचली लोक हिमालय की तराई यों में स्थित प्राकृतिक सौंदर्य में रचा बसा है। यहां का लोक जीवन कल -कल करते नदी- नालों की मधुर लोरियो को सुनता हुआ ,स्वच्छंद मादक और शीतल वायु के स्पर्श को प्राप्त करता है। यहां के लोक जीवन अपनी परंपराओं और मान्यताओं के कारण अपनी अलग पहचान रखता है। यह जीवन कृत्रिम था एवं अतिवादी आदर्शों से मुक्त होता है सहजता से समझौता करता हुआ जीवन जीता है। जीवन की विषमता, कठिनाइयों और जीवन संघर्ष की कठोरता के बीच जहां खेलकूद, कुश्ती मेला आदि उत्सव मनोरंजन के साधन बनते हैं वहां कुछ प्रथाएं रीति- रिवाज, लोक विश्वास, त्यौहार और व्रत इत्यादि लोक जीवन का संचार करते हैं। हिमाचली लोक जीवन सभी प्रकार की सम एवं विषम परिस्थितियों में अपना स्थान बनाता है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची**

हिमाचल की हिंदी कहानी में लोकजीवन (सर्व श्री रमेश चंद्र शर्मा, सुदर्शन वशिष्ठ, पी ०सी ०के ०प्रेम, रजनीकांत शर्मा, राजेंद्र राजन, विजया प्रभाकर एवं विजय सहगल के विशेष संदर्भ में)

**शोध प्रबंध,**

हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,

शोधार्थी ममता

पृष्ठ संख्या 1,2,58,59,60से65तक

---

***डॉ. ममता, छात्रावास प्रबंधक**
**महावीर पब्लिक स्कूल**
**पुंघ सुंदर नगर, जिला मंडी (हि० प्र०)**
**98169-46470**